संस्थापक संपादक : दूधनाथ सिंह : 1975

पक्षधर

प्रतिरोध की संस्कृति का रचनात्मक हस्तक्षेप

वर्ष : 12 अंक : 24 जनवरी-जून, 2018

संपादक
विनोद तिवारी

संपादन सहयोग
अजय आनंद
आशीष मिश्र

वेब पता
www.pakshdhar.com

अक्षर संयोजन

कम्प्यूटेक सिस्टम
ई-17, पंचशील गार्डन, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32
आवरण : फैज़ल साय

मूल्य

एक प्रति : ₹ 100

सदस्यता

वार्षिक : ₹ 200
संस्थाओं के लिए : ₹ 300 (डाक खर्च सहित)
पंचवार्षिक : ₹ 1000
आजीवन : ₹ 2500
विदेश के लिए : 75 $

संपादन/प्रकाशन : अवैतनिक/अव्यावसायिक

स्वामी-संपादक-प्रकाशक-मुद्रक विनोद तिवारी, सी-4/604, ऑलिव काउण्टी, सेक्टर-5, वसुंधरा, गाजियाबाद-201012 के लिए बी.के. ऑफसेट, एफ-93, पंचशील गार्डेन, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032 से प्रकाशित और मुद्रित।

प्रकाशित रचनाओं की रीति-नीति या विचारों से संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है। संपादक और लेखक की अनुमति के बिना प्रकाशित सामग्री के किसी भी तरह के उपयोग की अनुमति नहीं होगी।

सम्पर्क

सी-4/604, ऑलिव काउण्टी, सेक्टर-5
वसुंधरा, गाजियाबाद-201012
फ़ोन : 0120-4572303
मो. 09560236569
ई-मेल : pakshdharwarta@gmail.com

PAKSHDHAR
A Bi-Annual Literary Magazine
Editor : Vinod Tiwari
Language : Hindi

ISSN : 2231-1173

अनुक्रम

संपादकीय

रचनात्मकता का कोई अंतिम पूर्णविराम नहीं होता 5

एक कवि : एक राग

पंद्रह कविताएँ / **कुमार अंबुज** 17

व्याख्यान

साहित्यकार, संस्था और संगठन / **अरुण कमल** 26

स्मरण : दूधनाथ सिंह

डायरी के कुछ पन्ने और पत्र / **दूधनाथ सिंह** 39

'महाजनी सभ्यता' और आज की दुनिया / **दूधनाथ सिंह** 51

खुदगर्ज़ राजनीति 'जुमलों' में तब्दील होती भाषा और उनका सामना करता आख्यान : आख़िरी कलाम / **नित्यानंद तिवारी** 60

आख़िरी कलाम : अंधी गली में गुम होते देश की दास्ताँ / **वैभव सिंह** 64

दूधनाथ सिंह की कहानियों का 'झूठा सच' / **रविभूषण** 70

एक बड़े बदलाव की ख़्वाहिश में / **बलराज पाण्डेय** 114

निष्कासन की त्रासदी से उपजे सवाल / **सूरज पालीवाल** 123

दूधनाथ सिंह की कहानियाँ / **रोहिणी अग्रवाल** 132

कहानियों में सारभूत दूधनाथ / **संजीव कुमार** 144

यूनिवर्सिटी 'सदाचारी' कमीनों का कबाड़खाना है / **विभु प्रकाश सिंह** 151

आलोचना का लावण्य / **ए. अरविंदाक्षन** 157

एक कलाकार के आत्म-मंथन और जन-पक्षधरता के कवि दूधनाथ सिंह / **विन्ध्याचल यादव** 163

स्मरण : केदारनाथ सिंह

केदारनाथ सिंह की कविताएँ : जनतंत्र के अकाल में सारस का प्रतिरोध / **आशुतोष कुमार** 178

तलुओं में पृथ्वी : केदारनाथ सिंह की कविताएँ / **आशीष त्रिपाठी** 189

विशेष

हस्तिनापुर की निर्वासित स्त्री (नाटक) / **घनश्याम कुमार 'देवांश'** 209

कविता

वन्दे मातरम् व अन्य कविताएँ / **अष्टभुजा शुक्ल** 234

बात कहूँ मैं खरी

अख़ीर में जीना सीख रहा हूँ / **ज्यॉक देरिदा** 240
(अनु. रामकीर्ति शुक्ल)

आलेख

भवानी प्रसाद मिश्र : सादगी के पर्दे में आत्मा का इस्पात / **अवधेश प्रधान** 255

प्रभाकर माचवे : लेखनी की सहस्र-धारा / **रणजीत साहा** 259

रंगभूमि में प्रादेशिकता और वैश्विकता का द्वंद्व / **प्रेम सिंह** 265

देश-देशांतर

कच्ची कविताओं का गुच्छा / **जय गोस्वामी** 272
(अनु. रामशंकर द्विवेदी)

अन्याय का प्रतिवाद करना कवि का काम है, प्रतिशोध लेना नहीं 284
(कवि **जय गोस्वामी** से एक साक्षात्कार) / **पायेल सेन गुप्त**
(अनु. रामशंकर द्विवेदी)

बाहरी दुनिया

नाजायज़ संतान और वेश्या / **नवल अल सदवी** 296
(अनु. सुबोध शुक्ल)

रचनात्मकता का कोई अंतिम पूर्णविराम नहीं होता

दूधनाथ सिंह बनाम दूधनाथ सिंह
(यह मेरा हमजाद है, जो जब तब मुझसे मिलने आ जाता है)

कवि, कथाकार, आलोचक, नाटककार, संस्मरण लेखक, संपादक हिंदी साहित्य में दूधनाथ सिंह की पहचान बतौर लेखक किस रूप में बनी रहेगी? जब भी समालोची, चोखे, सांद्र, मोती जैसे चमकते, संस्मरणात्मक अनूठे गद्य का जिक्र होगा तो उनका नाम लिया जाएगा। संवेदी व तर्कपूर्ण व्याख्या-विश्लेषण, शोधपरक गांभीर्य और संस्मरणात्मक अंतरंगता वाली आलोचना की जब बात होगी तो उनकी आलोचनात्मक पुस्तकें उदाहरण के लिए प्रस्तुत की जाएंगी। परंतु, हिंदी साहित्य में अपनी जिस पहचान के साथ वे जीवित बचे रहेंगे वह उनका कथाकार रूप ही है/होगा। दूधनाथ सिंह की पहली कहानी 'चौकोर छायाचित्र' 21-22 साल की उम्र में लिखी गयी, जब वे इलाहाबाद विश्वविद्यालय में एम.ए. के छात्र थे। 1957-58 में लिखी यह कहानी हिंदी विभाग की पत्रिका 'कौमुदी' में प्रकाशित हुई थी। कुछ लोग 'तुमने तो नहीं कहा' (धर्मयुग, 1958) को उनकी पहली कहानी के रूप में पेश करते हैं, पर यह सही नहीं है। वैसे, कहानी लेखक के रूप में उनको पहचान मिली उनकी कहानी 'सपाट चेहरों वाला आदमी' (लहर, 1959) से। उसके बाद से तो, बीच में कुछ पारिवारिक संलग्नताएँ और कुछ समय-संगति या कहें की समय के साथ चूल न बिठा सकने की कमी और तद्जनित ठहराव के अलावा अंतिम समय तक यह जारी रहा। अपनी मृत्यु के पहले तक वे दो उपन्यासों पर कार्य कर रहे थे। जिसमें से एक लगभग पूरा है। अधबनी, अधलिखी कई कहानियाँ कच्चे-पक्के ड्राफ्ट के रूप में मिली हैं। इस तरह, उनका कथा-लेखन लगभग 60 वर्षों में फैला हुआ है। जब उन्होंने कहानी लिखना शुरू ही किया था, 'नयी कहानी आंदोलन' की शुरुआत हो चुकी थी। नए कहानीकारों से अधिक नए ढंग की कहानियों को आगे ले आने और 'कथा-समीक्षा की एक नयी पद्धति विकसित करने' की गरज से नामवर सिंह एक कवि के हवाले से यह कहते हुए, 'व्हेन मी दे फ्लाई

आइ एम देयर विंग्स' इस आंदोलन को प्रोत्साहन दे रहे थे। बकौल दूधनाथ सिंह, भैरवप्रसाद गुप्त 'कहानी' और 'नई कहानियाँ' से उनकी और उनके पीढ़ी के कहानीकारों की कहानियाँ लौटा देता थे।

'नयी कहानी' का आंदोलन एक दशक (1956-1965) के भीतर ही अपनी सफलता-असफलता और सार्थकता-निरर्थकता के साथ सम्पन्न मान लिया गया। इस दशक में एक साथ कहानी की अनेक प्रवृत्तियाँ दिखाई देती हैं। एक साथ कई तरह के कहानी लेखक हिंदी कहानी में सक्रिय हैं। 'नयी कहानी' के साथ-साथ 'अकहानी' (1960), 'सचेतन कहानी' (1964) जैसे कहानी आंदोलन इसी दशक में सामने आए और खत्म हो गए। जिसे आगे चलकर 'साठोत्तरी कहानी' कहा गया उसकी पृष्ठभूमि यही दशक है। 'नयी कहानी' आंदोलन से लगे, एक अलग ढंग के कथ्य और शिल्प के साथ कहनीकारों की जो नयी पीढ़ी आई - जिन्हें आगे चलकर साठोत्तरी कहानीकार कहा गया—उन्हें शुरू में कोई तवज्जो नहीं दी गयी, उन्हें बहुत खराब ढंग से लिया गया। भैरवप्रसाद गुप्त, मार्कण्डेय, कमलेश्वर, धर्मवीर भारती आदि ने खूब मजाक उड़ाया, लिहाड़ी ली। मार्कण्डेय ने इस पीढ़ी को 'दो फसलों के बीच उगने वाली घास' कहा। कमलेश्वर ने 'सारिका' में धर्मवीर भारती से लेख लिखवाया—'चिकनी सतहें बहता पानी'। खुद 'ऐय्यास प्रेतों का विद्रोह' नाम से लेख लिखा। भैरवप्रसाद गुप्त ने साठोत्तरी पीढ़ी को उच्छृंखल, व्यक्तिनिष्ठ, आधुनिकता से त्रस्त, कामदग्ध, कुंठित एवं अमूर्त रचनाकारों की पीढ़ी कहा। रवींद्र कालिया ने ज्ञानरंजन के बारे में लिखते हुए एक घटना का जिक्र किया है—''उन दिनों साठोत्तरी पीढ़ी की पहचान बन रही थी। दूधनाथ सिंह भी आज का दूधनाथ सिंह नहीं था। मैं आज के दूधनाथ की बात नहीं कर रहा जो याचक, हारामी, झूठा पदयात्री कहे जाने पर भी विचलित नहीं होता, बल्कि अब उसे इन विशेषणों में 'मनुष्य के अंतर्विरोधों' और 'भावमय पवित्र क्षणों की कलावंतता' नजर आती है। मैं बीस बरस पहले (ज्ञानरंजन पर लिखा यह संस्मरण 1996 में प्रकाशित पुस्तक 'सृजन के सहयात्री' में संकलित है, इसी पुस्तक में दूधनाथ सिंह पर भी एक संस्मरण है जो 'गोसाईं दूधनाथ' शीर्षक से 25 अगस्त, 1991 के 'संडे मेल' में पहले-पहल छप था) के उस दूधनाथ सिंह का जिक्र कर रहा हूँ जो सन् साठ की पीढ़ी को हरामियों की पीढ़ी कहे जाने पर आग-बबूला हो गया था। मैं और ज्ञान सिविल लाइंस में टहल रहे थे कि अचानक दूधनाथ नमूदार हुआ। वह गुस्से में पत्ते की तरह काँप रहा था। उसने बताया की अभी-अभी शेखर जोशी और मार्कण्डेय के साथ टहलते हुए भैरवप्रसाद गुप्त ने घोषणा की है कि सन साठ की पीढ़ी हरामियों की पीढ़ी है। हम लोगों को फौरन से पेश्तर इसका माकूल जवाब देना चाहिए।...ज्ञान हँसा, उसने कहा, 'दूधनाथ तुम संघर्ष करो हम तुम्हारे साथ हैं।' दूधनाथ इस जवाब से संतुष्ट नहीं हुआ। उसने कहा, 'इसका मुँहतोड़ जवाब देना चाहिए। उस बात की गंभीरता को समझिए।' 'क्या करना चाहिए?' ज्ञान ने पूछा। 'फासिस्ट शक्तियों का डटकर मुकाबला करना चाहिए', दूधनाथ बोला।...'भैरव का घेराव करते हैं।' ज्ञान ने अपना निर्णय सुनाया, उन्हें अपने शब्द वापस लेने होंगे।...रात के लगभग दस बज चुके थे, जब हम लोग लूकरगंज स्थित भैरव दादा के निवास स्थान पर पहुँचे। उन दिनों कथा-जगत में भैरवप्रसाद गुप्त का बहुत रौब-दाब था। वह अपने को हिन्दी कहानी का स्तालिन समझते थे। ज्ञान ने आगे बढ़कर भैरवप्रसाद गुप्त का दरवाजा खटखटाया। मालूम हुआ भैरव सो गए हैं। 'उन्हें जगाओ, कुछ हरामी उनसे मिलने आए हैं' ज्ञान ने कहा। जवाब में घर की तमाम बत्तियाँ गुल हो गईं। हम लोग बाहर घास पर बैठ गए और तय किया गया कि रात भर भैरव दादा को सोने नहीं देंगे। हम लोग चिल्लाते रहे—''भैरवप्रसाद गुप्त बाहर आओ, हिम्मत हो तो बाहर आओ। लेकिन भैरवप्रसाद गुप्त बाहर नहीं निकले।'' बहरहाल, निर्मल वर्मा ने 'अंधेरे में चीख'

(1970) शीर्षक लेख लिखकर कहानी विधा की मृत्यु की ही घोषणा कर दी। यह लेख शुरू ही इस वाक्य से होता है, ''बीसवीं शताब्दी में जो विधा सबसे पहले अपने अंतिम छोर पर आकार खत्म हो गयी, वह कहानी थी।'' निर्मल वर्मा जिस तरह की कहानियों के खत्म होने का संकेत उक्त लेख में करते हैं, सचमुच उस तरह की कहानियों का दौर समाप्त हो गया था, पर इसका यह तात्पर्य नहीं कि, अब कहानी हम से नहीं सध रही तो कहानी विधा ही खत्म मान ली जाय। यही वह विवश अशक्तता है, यही वह प्रस्थान बिन्दु है जहाँ से हिन्दी कहानी एक नई उड़ान के लिए प्रस्थान करती है। इसी प्रस्थान-बिन्दु को रेखांकित करते हुए दूधनाथ सिंह उस वातावरण और मनःस्थिति का जिक्र करते हैं—''सन् 60 तक आते-आते जब मैंने और मेरे समकालीनों ने लिखना शुरू किया तो वास्तविकताएँ हमारी समझ में आने लगीं थीं। कुहासा हमारे सामने से छटने लगा था। इसलिए मैं कहता हूँ कि हमने अपने लेखन से एक नए परिवर्तन की सूचना दी। क्योंकि हम पिछले वैचारिक कुहासे से ग्रस्त नहीं थे, इसलिए स्थितियों और वास्तविकताओं की सीधी, सहज पकड़ हमारे लिए आसान थी। हमारे सामने आजादी का दुःखान्त ही ज्यादा प्रमुख था और आज भी है। इसी को मैं आज के लेखक का मोहभंग कहता हूँ, जिसको उसने, और उसी ने क्यों, सारे भारतीय जनमत ने, आजादी के अर्थ को, अपने इतिहास, प्रजातन्त्र, अपनी संसद को, गाँधीवाद को, नेहरू की पवित्र स्वप्नदर्शिता को नए सिरे से पुनः परिभाषित करने का जोखिम उठाया। यही जोखिम आज के भारतीय साहित्य और भारतीय जीवन का मूल स्वर है।...आजादी लाने वालों ने आजादी को जिस पवित्र धारणा और आदर्श के रूप में सँजो रखा था, दरअसल आजादी के बाद भारतीय समाज, राजनीति और व्यक्ति का विकास उस रूप में नहीं हुआ। उस धारणा का खंडन इतनी जल्दी हमारे सामने और हमारी पीढ़ी के सामने प्रकट हो जाएगा इसकी उम्मीद नहीं थी। हमारी पहले की पीढ़ी के सामने यह अंतर्विरोध प्रकट न हो सका। मुक्ति की बाहरी चमक में वह छिपा रहा। जब तक जवाहर लाल थे तब तक वह चमक बाकी रही। हालाँकि, अपने अन्तिम दिनों में भारतीय राजनीति, समाज और व्यक्ति का दुःखद विघटन शायद उन्हें भी नजर आने लगा था।...अतः हमारे लिए तो लड़ाई अपने ही लोगों से थी। अंग्रेज तो हमारे लिए इतिहास था। लेकिन लाला मुसद्दीलाल जरूर दो रुपये घूस के लिए चश्मे के भीतर से झाँक रहे थे। लड़ाई जब बाहर वालों से होती है तो आदमी घूँसा तान कर खड़ा हो जाता है। लेकिन जब वह अपनो से होती है तो अक्सर वह घूँसा अपनी ही नाक पर मार लेता है। हमारी पीढ़ी की यह अन्तरमुखता, घुटन, यह चुप इसी परिवर्तित मानसिक बनावट की सूचना देती है।'' (1973 में रमेश रौनक को दिया गए साक्षात्कार से, 'कहा-सुनी' में संकलित)। तो यह है, साठोत्तरी हिंदी कहानी की मानसिक पृष्ठभूमि और उसकी बनावट। राजनीतिक और सामाजिक रूप से 1967 के नक्सलबाड़ी से उठे आंदोलन ने भी इस पीढ़ी को प्रभावित किया। हालाँकि, दूधनाथ सिंह पर यह प्रभाव सबसे कम है। इस पीढ़ी में, इस आंदोलन का सबसे अधिक प्रभाव काशीनाथ सिंह की उस समय की कहानियों पर देखा जा सकता है और एक हद तक रवीन्द्र कालिया पर।

साठोत्तरी कथाकारों में दूधनाथ सिंह और ज्ञानरंजन की कहानियाँ अपने दृश्य और कथ्य के तेवर में काशीनाथ सिंह और रवीन्द्र कालिया से अलग हैं। मध्यवर्गीय जुगुप्सा, वासना, ढोंग, चतुराई, छद्म, कींच और कचरे को कहीं एक जगह पाना हो तो दूधनाथ सिंह की कहानियाँ हैं। दूधनाथ सिंह और ज्ञानरंजन मध्यवर्गीय सुख-दुःख, की 'सफरिंग' और 'ब्रूडिंग' में कहीं-कहीं एक से हैं पर उसकी विचित्रता और बेचारगी के चित्रण में दोनों में भिन्नता है। दूधनाथ सिंह गाँव और नगर के बीच आवाजाही करने वाले कथाकार हैं। गाँव और उसकी प्रेत छायाएँ अगर संवादी अतीत हैं, तो नगर और उसका छीलकर नंगा कर देने वाली मध्यवर्गीय कुरूपता, वीभत्सता,

अश्लीलता और नीरीहता निपट विवादी वर्तमान। इस निपट वर्तमान से तो वे लड़ भी लें पर उस अतीत से कैसे लड़ें, कैसे पार पाएँ। अपने छूटे हुए अतीत से वे लड़कर, संघर्ष कर छूटना चाहते हैं पर वह छोड़े तब न। वह अतीत ही तो वह 'रीछ' है जो शहर तक उनका पीछा करता है और गाँव व शहर के बीच 'रक्तपात' करता है। दूधनाथ सिंह और ज्ञानरंजन की भिन्नता इसी जगह पर देखी जा सकती है। ज्ञानरंजन उस प्रेत-छाया से मुक्त हैं। 'रीछ' कहानी अतीत व वर्तमान संघर्ष की सबसे महत्त्वपूर्ण कहानी है। अतीत और वर्तमान के संघर्ष के बीच स्त्री-पुरुष संबंधों की जटिल संरचना में आत्मसाक्षात्कार की एक अनूठी कहानी इसे कह सकते हैं। 'रीछ' हम सबके जीवन की अंडरग्राउंड अंधेरे की प्रेत-छाया है। इस कहानी के बारे में, खुद दूधनाथ सिंह का कहना है कि, ''रीछ का मुख्य कथ्य यह है कि अगर आप पीछे-देखू हैं, अतीतजीवी हैं तो आपके लिए रास्ता एक ही है कि आप या तो अतीत का वध कर दें और नहीं तो अतीत आपका वध कर देगा। यानी आदमी को अतीतजीवी नहीं होना चाहिए। बस इतनी-सी बात पर कहानी लिखी गई। कहानी में आया हुआ रीछ उसी अतीत का प्रतीक है जो हर समय उस आदमी का पीछा करता है और अन्ततः जब वह आदमी उसे मारने की कोशिश करता है तो वह अतीत उसके दिमाग को फाड़कर उसके दिमाग के अन्दर प्रवेश कर जाता है। कहानी लिखते वक्त कहानीकार के नाते मेरा यह निश्चय था कि अतीतजीवी ही मरे, अतीत नहीं। क्योंकि कहानी का पूरा कथ्य इसी ओर ले जाता था। जाहिर है कि कहानी इस प्रतीक में उलझी हुई है। एक ओर पत्नी है जो उस आदमी का वर्तमान जीवन है और दूसरी ओर एक विफल प्रेम है, जो रीछ की खूंखार शक्ल में उसके वर्तमान जीवन का पीछा करता है। ऐसी स्थिति में सेक्स और संभोग जैसी आनन्दमयी प्रक्रिया घनघोर यातना है।'' यहाँ पर दूधनाथ सिंह की एक-एक कहानी और उपन्यास को लेकर विवेचन-विश्लेषण संभव नहीं। वह अलग से किसी लेख का विषय होगा। परंतु, यह जरूर है कि दूधनाथ सिंह के 'कथा-शिल्प' और 'कथा-दृष्टि' को संक्षेप में कुछ संकेतों और कुछ सूत्रों के सहारे खोला जाय।

सन् 1967 तक दूधनाथ सिंह की चौदह-पंद्रह कहानियाँ प्रकाशित हो चुकी थीं। वे हिंदी कहानी के परिदृश्य पर छाए हुए थे, उन्हीं के शब्दों में उनका 'जादू सिर चढ़कर बोल रहा था।' 1967 में राजेंद्र यादव के 'अक्षर प्रकाशन' से उनका पहला कहानी संग्रह 'सपाट चेहरे वाला आदमी' प्रकाशित होकर आया। ये कहानियां मध्यवर्गीय व्यक्ति की अंतर्मुखता, घुटन, छटपटाहट, स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों में प्रेम, विवाह और सेक्स की जटिल मनःस्थितियों की कहानियाँ हैं। साढ़े चार यारों में से एक विजयमोहन सिंह ने इस संग्रह की समीक्षा लिखी थी, जिसका शीर्षक था 'सामयिकता की रूढ़ियों से अलग'। दूधनाथ सिंह की कहानियों को पहले-पहल किसी समीक्षक ने विस्तृत संदर्भों से जोड़ते हुए, उन्हें अपने समय के महत्त्वपूर्ण कहानीकार के रूप में स्थापित किया। विजयमोहन सिंह लिखते हैं, ''दूधनाथ एक सीमा तक ऐसे संस्कारशील कहानीकार हैं जिन्होंने कहानी में 'कहानीपन' की परम्परा को बड़ी सतर्कता, कौशल और कारीगरी के साथ ग्रहण किया है।...यह दूधनाथ की विशेषता ही कही जाएगी कि पुराने-सड़े प्रतीकों को, जिन्हें सामयिकता बेजान और बेकार समझकर घूरे पर डाल चुकी है, वे उठा लेते हैं और उन्हें जानदार-चमकदार बना देते हैं—आज के 'सन्दर्भों' से पूरी तरह जोड़ते हुए।''

बहुत सारे कथाकार जीवन भर कथा और कथात्मकता के बीच भटकते रहते हैं पर 'कथा' की रचना नहीं कर पाते। 'कथा' के नाम पर वे या तो कथात्मक इतिहास रचते हैं या सामाजिक विमर्श या फिर साहित्यिक-चलन की रचना करते हैं। दूधनाथ सिंह की खूबी (और खामी भी) यह है कि वे अपनी रचनात्मकता में इनसे बचने की आखिर-आखिर तक भरसक कोशिश करते रहे। सचमुच, उन्होंने सामाजिक-विमर्श और साहित्यिक-चलन की कहानियाँ कभी नहीं लिखीं।

यह उनकी 'सतर्कता', 'कौशल' और 'कारीगरी' ही है। ये ही, वे तत्त्व हैं जिनके आधार पर उनके कथा-शिल्प को शुरू से आखिर तक जाँचा-परखा जा सकता है। वे फैशन को, फार्मूले को सृजन नहीं मानते थे। वे कहानी में अनहोनेपन की बात कहते हैं—''कहानी बिना अनहोनेपन के नहीं होती, कहानी में कुछ न कुछ अनहोना होना चाहिए। भई, फैशन और फार्मूले में, प्रचलित यथार्थ में अनहोनापन कैसे होगा, अनहोनापन ही क्रिएटिविटी है, रचनात्मकता है।'' दूधनाथ सिंह इस 'अनहोनेपन' को अपनी रचनात्मकता में 'कोर-एसेंस' की तरह सतर्क कौशल और कारीगरी के साथ 'समसामयिक रूढ़ियों से अलग' रहकर जीवन भर रचते रहे। यही उनकी मौलिक प्रतिभा थी। उनकी इस मौलिक प्रतिभा को ममता कालिया ने भी रेखांकित किया है—''विषम कल्पना को यथार्थ के धरातल पर खींचकर ले आना और उसे तर्क के सहारे गढ़कर स्थापित करने की अद्‌भुत प्रतिभा दूधनाथ सिंह में थी।'' (साहित्य विकल्प, दूधनाथ सिंह विशेषांक)। उनकी कहानियाँ हों या उनका उपन्यास, 'कोर-एसेंस' के रूप में इस प्रतिभा की तलाश मुश्किल नहीं। इस 'विषम-कल्पना' को, इस 'अनहोनेपन' को रचने की जिद में वे एक-दो बार नहीं, कई बार, दूसरों को क्षत-विक्षत, लहूलुहान और तिरष्कृत करने के साथ-साथ खुद भी क्षत-विक्षत, लहूलुहान और तिरष्कृत हुए हैं, पर वह भी उनकी नजर में 'रचनात्मक आनंद' की उपलब्धि है, एक तरह की 'कॉमिक रिलीफ' है, सफरिंग नहीं। अनिल कुमार सिंह को दिये एक साक्षात्कार में अनिल जी द्वारा यह पूछे जाने पर भी कि आपने व्यक्ति-चरित्र केन्द्रित जो रचनाएँ लिखीं उनमें आप लेखक होना भूलकर आनंद और लिहाड़ी लेने लगते हैं, यह किस तरह की 'क्रिएटिविटी' है? इस पर उनका जो जवाब है वह कम मानीखेज नहीं है—''तुम ठीक कह रहे हो लिहाड़ी नहीं लेना चाहिए...लेकिन यह लिहाड़ी रस कभी-कभी छोड़ता नहीं।...वह रचना के सत्व को कमजोर करता है। यह प्रतिशोध नहीं है। रचनात्मक श्रम और अवसाद को कम करने के लिए एक कॉमिक रिलीफ की तरह मैं इसका इस्तेमाल करता हूँ।'' ('कहा-सुनी' में संकलित)।

रचना और रचनाकार के पारस्परिक संबंध को लेकर कई तरह की बहसें बीसवीं शताब्दी में हुई हैं। यहाँ उन बहसों में जाने का अवकाश नहीं है। पर, यह सवाल यहाँ जरूर है कि, क्या कोई भी रचना रचनकर के व्यक्तित्व का पूँजीभूत प्रतिफलन है? दूधनाथ सिंह को उनके व्यक्ति-चरित्र से इतर उनकी अलग, अकेली, अनोखी और विवादी रचनाशीलता में ही समझा जा सकता है? उनका व्यक्ति-चरित्र (और हर लेखक का व्यक्ति-चरित्र) उनकी रचना-प्रक्रिया को समझने में कितना मददगार हो सकता है? ये ऐसे सवाल हैं जो दूधनाथ सिंह की रचनाओं का मूल्यांकन करने वालों के लिए महत्त्वपूर्ण सवाल हैं। लूसिएं गोल्डमान के 'जेनेटिक स्ट्रक्चरलिस्ट मेथड' की मानें तो ''लेखकीय जीवनीगत सूचनाएँ उसकी रचना की समग्रता को समझने में केवल पूरक और सहकारी दायित्व निभा सकती हैं।'' ऊपर दूधनाथ सिंह के 'कथा-शिल्प' को समझने में मददगार कुछ संकेतों और सूत्रों का उल्लेख किया गया है। अब उनकी 'कथा-दृष्टि' पर संक्षेप में कुछ बातें। दूधनाथ सिंह की समग्र कथा-रचना का विश्लेषण और आकलन करते हुए यह कहा जा सकता है कि वे व्यक्ति के नैतिक-अनैतिक संवेगों, उसकी चेतन-अचेतन-अवचेतन संगति-विसंगति को, उच्छेदन-विच्छेदन के रास्ते, रचनात्मक कौशल के सहारे अंततः उसे एक सामाजिक प्रश्न बनाने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रयत्न में वे कहीं-कहीं सफल भी होते हैं—'धर्मक्षेत्रे-कुरुक्षेत्रे', 'कोरस', 'माई का शोकगीत, 'काशी नरेश से पूछो' 'आइसबर्ग' जैसी कुछ कहानियों और एक हद तक 'आखिरी कलाम' का नाम लिया जा सकता है।

दूधनाथ सिंह का 'छायावाद' के बाद के पंत जी के बारे में लिखा हुआ एक कथन है—''एक लेखक समय के समग्र-शिल्प में जीवित रहता है, उसके किसी एक भाग में नहीं। जो लेखक

समय के समग्र शिल्प में जीवित नहीं रहता उसकी विकलांगता निश्चित है।'' यह जितना पंत जी के लिए सही कथन है उतना ही किसी भी रचनाकर के लिए। यहाँ नाम न लिया जाय तो भी यह कहने से परहेज नहीं होना चाहिए कि समय के समग्र शिल्प से जो लेखक अपने को नहीं जोड़ पाता या तो उसका लिखना छूट जाता है या वह लिखता भी है तो उसका लिखा अपने ही को हल्का करने, मेटने जैसा होता है। दूधनाथ सिंह सदैव इस बारे में सचेत बने रहते हैं। उनके कथा लेखन के एक नहीं, दो नहीं, तीन-चार चरण हैं। इस पर विस्तार से, इसी अंक में सुपरिचित आलोचक रविभूषण जी ने लिखा है। इसलिए, उस ओर जाने का कोई औचित्य नहीं। समय की समग्रता में बने रहने की कामना ने ही दूधनाथ सिंह से 'आखिरी कलाम' जैसा महत्त्वपूर्ण उपन्यास लिखवाया। दूधनाथ सिंह की रचनात्मक महत्त्वाकांक्षा का आइवरी टावर—इंटेलेक्चुअल पर्स्युट। 'आखिरी कलाम' में दूधनाथ सिंह अपनी रचनात्मकता के महत्तम तक गए हैं, बॉम डास्टिक होने के खतरे तक। यह उपन्यास अयोध्या में बाबरी मस्जिद विध्वंस की घटना के सहारे धर्म, समाज-धर्म, राज-धर्म के पतन का एक दस्तावेजी रूपक है। इस उपन्यास में दूधनाथ सिंह ने तत्सत पाण्डेय के चरित्र में एक साथ दास्तयवस्की की 'मेलोड्रामिक-आत्मपीड़ा' और तालस्ताय के 'अराजक-आदर्शवाद' को मिलाने की कोशिश की है। स्मृति, स्वप्न, बीता हुआ भयानक यथार्थ और वर्तमान स्थिति इन सबका बेजोड़ सृजन है—आखिरी कलाम। कहा गया है कि, लेखक की चेतना अपने अनुभव और विवेक से अपने साहित्यिक चरित्रों में अपना समकक्ष ढूँढती है। तत्सत पाण्डेय लेखक का अपना ऐसा ही एक समकक्षी है। जिसकी पहचान लेखक इंदौर के एक कम्युनिस्ट नेता होमी दाजी के रूप में करता है—''तत्सत पाण्डेय के किरदार की प्रेरणा मुझे सीपीआई के वरिष्ठ नेता होमी दाजी से मिली। मैंने जब लिखना शुरू किया तो मुझे लगा कि मैं होमी दाजी को एक प्रतिरोध की शक्ति के रूप में दर्ज कर रहा हूँ।'' हम सब जानते हैं कि उपन्यास एक ऐसा ठाट है जिसमें इतिहास, भूगोल, समाज, राजनीति सबका आख्यान-प्रतिआख्यान साहित्यिक चेतना के साथ निर्मित होता है। इसलिए उपन्यास किसी एक 'देश-काल' की कथा कहते हुए भी 'निपट वर्तमान' में अवस्थित नहीं होता। क्योंकि उपन्यास का जो निपट वर्तमान होता है वह मानवीय नियति और सरोकारों का कोई इकहरा तथ्यगत विछिन्न टुकड़ा नहीं होता, वरन् एक अविछिन्न इतिहास-संदर्भ और संरचना से भी उसका संबंध होता है। इसको इस ढंग से भी समझा जा सकता है कि जिसे हम नितांत समसामयिक या निपट वर्तमान कहते हैं और इस 'वर्तमान' की जो नियामक सत्ता और संस्थाएँ हैं वे अपनी ताकत और नीतियों से न केवल वर्तमान और भविष्य को ही प्रभावित करती हैं बल्कि अतीत को भी अपने हक में बदलती, हाँकती और नियंत्रित करने की कोशिश करती हैं। इस लिहाज से उपन्यास का 'समय' 'देश-काल' से प्रभावित तो होगा पर उस देश-काल को उसकी ऐतिहासिकता से विछिन्न करके नहीं रचा जा सकता। अगर ऐसा किया जाता है तो उपन्यास में जो रचित 'समय' है वह नितांत समसामयिक होगा, उसमें चिन्हित जो 'सवाल' है वह 'निपट वर्तमान' का सवाल हो कर रह जाएगा 'समकालीन' नहीं बन पाएगा। 'आखिरी कलाम' के साथ ऐसा ही होता है। कारण वही है जिसका उल्लेख पहले 'ब्रूडिंग' या उच्छेदन-विच्छेदन की कला के रूप में किया गया है। उच्छेदन-विच्छेदन की कला में दूधनाथ सिंह इतने रम जाते हैं कि वे 'सफरिंग' का भी आनंद लेने लगते हैं जिससे 'विचार और चेतना' की सामाजिकता का प्रश्न, या उसकी भौतिक उपस्थिति या जनवादी उपलब्धि नगण्य हो जाते हैं या कहीं अन्यत्र (व्यक्ति-चेतना में) खिसक (शिफ्ट) जाते हैं। फिर, आवेगमूलक भावनाएँ, आकस्मिक घटनाओं की विषम कल्पित छायाएँ, यथार्थवादी अराजकताएँ और औसत व्यक्ति-अनुभव की निजताएँ बची रह जाती हैं। ऐसे में व्यक्ति, समाज, व्यक्ति-समाज के आपसी अंतर्विरोधी संबंध,

व्यक्ति-एकक के रूप में खुद लेखक और उसकी भूमिका सब 'निजी' बन जाते हैं। इस 'वैयक्तिक-निजता' से मुक्ति की कोशिश न करने के कारण वे (दूधनाथ सिंह) 'अधिरचना' के भीतर प्रवेश तो करते हैं पर उससे निकल नहीं पाते, उसी में फँसे कर रह जाते हैं। इसके चलते, रचना की स्थिति उस 'हिरण्यगर्भ' की तरह हो जाती है जिसका उल्लेख एक ऐसे सोने के अंडे के गर्भ रूप में किया गया है, जो कि 'चैतन्य-ज्ञान' है। पर वह 'चैतन्य-ज्ञान' अंडे से बाहर न निकले, भले ही वह सोने का ही अंडा क्यों न हो तो उसका क्या महत्त्व। यह 'आखिरी कलाम' की सीमा है। परंतु 'आखिरी कलाम' अपनी 'कथा-वस्तु' में एक महत्त्वपूर्ण उपन्यास है। भारतीय उपन्यास साहित्य का इतिहास इसके उल्लेख के बिना अधूरा रहेगा। दूधनाथ सिंह को पढ़ते हुए मेरी जो थोड़ी-बहुत समझ बनी है, उसके अनुसार उनकी उपलब्धि और सीमाओं का संक्षेप में यह एक 'पाठ' भर है और जाहिर है कि कोई भी 'पाठ' अंतिम नहीं होता। एक लेखक का जीवन तो सचमुच उसके जाने के बाद शुरू होता है। दूधनाथ सिंह का अब विस्तार से विवेचन-विश्लेषण होगा इस उम्मीद के साथ पक्षधर के संस्थापक संपादक को महाकवि निराला के इन शब्दों में भावपूर्ण श्रद्धांजलि : 'मैं जीर्ण निसाज, बहुछिद्र आज, तुम सुदल, सुवास, सुरंग, सुमन।'

[दो]

केदारनाथ सिंह

(कविता के पूरे ब्रह्मांड को एक छोटी सी साँस की डिबिया में भरता कवि)

- *मुझे कहीं भी देखा जा सकता है*
  किसी भी दिशा से
  किसी भी मोड़ पर
  किसी भी भाषा के अज्ञात
  शब्द-कोश में।

- *एक लकीर*
  पृथ्वी के सारे अक्षांशों से होती हुई
  जहाँ सौरमंडल के पास
  खो जाती है
  वहाँ मैं खड़ा हूँ।

- *एक सपाट मैदान है*
  जिसमें मैं हूँ
  और सदियाँ हैं!
  और दोनों के बीच में
  एक उड़ती हुई गौरैया
  जो उड़ती रहेगी
  सदियों तक।

किसी भी भाषा के अज्ञात शब्दकोश में, पृथ्वी के सारे अक्षांशों से होती हुई सौरमंडल में खो गयी किसी लकीर में, सपाट मैदान और शताब्दियों के बीच उड़ती गौरैया के रूप में

एक कवि अपनी मौजूदगी को दर्ज करता है। इस तरह उसका होना महज होना भर नहीं है बल्कि होते रहना है, न केवल काव्यात्मकता में बल्कि जीवन में भी। हिंदी में सन् साठ के बाद की कहानियों के लिए विजयमोहन सिंह द्वारा दी गयी 'साठोत्तरी कहानी' संज्ञा तो पदारूढ़ हो गयी पर कविता में 'नई कविता' के बाद तरह-तरह के काव्य-आंदोलनों की गूँज सुनाई देती है। केदारनाथ सिंह ने आज से लगभग 50-55 साल पहले 'धर्मयुग' (4 जुलाई, 1965) में एक लेख लिखा था 'सन् साठ के बाद की हिन्दी कविता'। इस लेख में वे लिखते हैं—''सन साठ के बाद कविता का विकास दो दिशाओं में हुआ—कविता से अकविता की ओर और शुद्ध कविता से एक खास किस्म की कविता की ओर।'' पर, खुद केदारनाथ सिंह इन दोनों प्रवृत्तियों से अलग अपनी एक जुदा राह बनाते हैं।

छंद में यति, लय और तुक की पुरानी मैत्री थी उसे हिन्दी कविता ने बीसवी शताब्दी के दूसरे-तीसरे दशक में ही तोड़ दिया था। नयी कविता तक आते-आते उसके अस्थि-पंजर तक गायब हो गए। पर इसका नतीजा यह हुआ कि 'मुक्त छंद' का अर्थ छंदों से मुक्ति माँ लिया गया। लय तक की अर्थवत्ता को धता बताकर कविता के नाम पर 'प्रोज' लिखने की प्रवृत्ति विकसित हुई। केदारनाथ सिंह ने कविता में लय की अर्थवत्ता का हिन्दी कविता में पुनर्वास किया। यह नवगीतकारों की तरह का पुनर्वास नहीं था बल्कि हिन्दी कविता का जो ठाठ छायावाद ने तैयार किया था उसकी संरचना में था। केदार जी के इसी प्रयास को लोगों ने 'कविता में लय की वापसी' कह कर संबोधित किया। केदार जी ने अपने शुरुआती दिनों में कुछ बहुत सुंदर गीत लिखे हैं। उन्हें संस्कृत और हिन्दी के छंदों के साथ उर्दू बहर का भी ज्ञान था। निराला ने स्पष्ट लिखा है—''जिसने छंदोबद्ध रचना की सिद्धि प्राप्त कर ली है वही मुक्त छंद की रचना कर पाएगा। अर्थात् मुक्तछंद का अर्थ छंदमुक्ति नहीं छंद के बंधनों से मुक्ति है।''

आज जब रोजमर्रा को व्यक्त करने की तत्परता, सूचनात्मक ज्ञान-भान की भरमार, क्रियात्मक व्यापार से विरत विचारों-धारणाओं की धुन्ध, खंडित संवेदनों की कसीदाकारी, समसामयिक रेटॉरिक की चित्रमालाएँ रचते शब्द ही कविता मान लिए गए हों ऐसे में केदारनाथ सिंह की कविताएं और अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती हैं। आप देखेंगे कि केदारनाथ सिंह की कविताओं में स्थान-नाम, व्यक्ति-नाम और भी नामवाची संज्ञाएँ न जाने कितनी बार कितने रूपों में आती हैं, पर यह केवल सूचनात्मक संदर्भ भर बनकर नहीं बल्कि सांद्र अनुभव के साथ मर्म और संवेदना को तीव्र करने के लिए आती हैं। अगर घर, मोहल्ले, गाँव, व्यक्ति कविता में संदर्भ से छूटे हुए किसी सूचनात्मक कथन की तरह आते हैं वस्तु-यथार्थ की मार्मिक-वेदना बनकर नहीं आते तो वे कवि के भाव-जगत में उसकी कविता की नाव पकड़ कर सदैव तैरते रहेंगे, गंतव्य तक कभी नहीं पहुँचेंगे। केदारनाथ सिंह भाव-जगत में गहरे उतरते भी हैं, फिर तैरकर निकलते भी हैं और कविता को उसके गंतव्य तक पहुँचाते भी हैं। बनारस, दिल्ली, कलकत्ता, आंकुसपुर, माझी का पूल, अकाल में दूब, अकाल में सारस, रसोई घर में चाकू, नूर मियाँ, जगरनाथ, रतन हज्जाम, हल चलता लालमोहर, बूढ़ा मल्लाह, उपले बटोरती स्त्री, कुम्हार, गड़रिया, मछुआरा, दर्जी, टमाटर बेचती बुधिया, चक्की में गेहूँ पीसती माँ, वियतनाम-वियतनाम चिल्लाते हुए सड़क पर अखबार बेचता हाकर ये सब संज्ञा मात्र नहीं हैं। संज्ञा को कविता में मूर्त्तिमान करने की जो क्षमता केदार जी में है वह आधुनिक हिंदी कविता में बहुत कम लोगों के यहाँ मिलता है।

केदारनाथ सिंह अपनी काव्य-प्रकृति में यदा-कदा ही नहीं स्वभावतः शहर से छूटने और छूट गए गाँव को कविता में पुनः पाने और उसमें रचने-बसने की कामना करते दिखते हैं। यह कामना इतनी जीवंत, इस कदर स्वाभाविक और आत्मीय राग-अनुराग से ओत-प्रोत है कि अपनी रचनात्मकता में वह कहीं से कृत्रिम या नॉस्टेल्जिक नहीं प्रतीत होती। भाव और

भाषा दोनों ही में वह वास्तविक है। ऐसा वही कवि कर सकता है जो अपनी जमीन से, उस जमीन की गहरी सांस्कृतिक जड़ों से रागनुरागी हो। इस अर्थ में, केदारनाथ सिंह एक व्यापक सांस्कृतिक-चेतना के कवि हैं। उनकी इस सांस्कृतिक चेतना में लोक-वेदना की समाई और लोक-चिंता का स्वर गहरे विन्यस्त है। आज जब 'सांस्कृतिक' कहने और होने का संकट पैदा हो गया है वैसे में 'बाघ' जैसी कविता रचने वाला कवि और प्रासंगिक हो जाता है :

सचाई यह है कि हम शक नहीं कर सकते
बाघ के आने पर मौसम जैसा है
और हवा जैसी बह रही है
उसमें कभी भी और कहीं भी
—आ सकता है बाघ
पर सवल यह है
कि आखिर इतने दिनों बाद
इस इतने बड़े शहर में
क्यों आया था बाघ?

केदारनाथ सिंह जीवन को उसके महत्तम राग में जीने वाले कवि हैं। जड़ से लेकर चेतन तक वह जीवन की वास्तविक सुगंध को तलाश कर बचाने का प्रयत्न अपनी कविता में करते हैं। वह घर, गाँव, परिवेश और दुनिया सबकुछ को सुंदर देखना चाहते हैं, उसे बचाना चाहते हैं, उसे अपनी एक छोटी सी साँस की डिबिया में भर लेना चाहते हैं।

भर लो
दूध की धार की
धीमी-धीमी चोटें
दीये की लौ की पहली कंपकंपी
आत्मा में भर लो
.....
और कवि जी सुनो
इससे पहले कि भूख का हाँका पड़े
और अंधेरा तुम्हें चीथ डाले
भर लो
इस पूरे ब्रह्मांड को
एक छोटी सी साँस की डिबिया में भर लो

पूरे ब्रह्मांड को साँस-साँस में भर लेने की, बचा लेने की यह कामना दरअसल, संकट के समय उसे काम में लाने की कामना है। इस बचा लेने की सुंदर कामना, उनकी एक अन्य कविता 'सादा पन्ना' में और भी गहराई के साथ व्यक्त होती है। यह कविता सब कुछ कह देने, व्यक्त कर देने, लिख देने की उद्दाम लालसा की जगह एक सादा पन्ने की जगह भर कुछ बचा लेने का (और कविता को भी बचा लेने का) जो विम्ब रचती है वह कवि-कौशल का अद्‌भुत नमूना है :

तुम्हारे प्रेम की तरह आदिम
तुम्हारी नफरत की तरह मुक्त
तुम्हारे नाखूनों की तरह सभ्य
तुम्हारे खून की तरह नमकीन

उसे छूओ
तुम्हें लगेगा अपनी गर्दन के पास की
कोई नस छू रहे हो

कविता यही करती है
यही सीधा मगर जोखिम भरा काम
कि सारे शब्दों के बाद भी
आदमी के पास हमेशा बचा रहे
एक सादा पन्ना

जीवन में बजते सौंदर्य-राग, उसकी दीप्ति, उसके उल्लास की कामना ही केदारनाथ सिंह की कविताओं की उपलब्धि है। जीवन से प्रेम करने वाला कवि ही वास्तविक प्रेम और उसकी महत्ता को समझ सकता है। केदारनाथ सिंह की प्रेम कविताएँ हिंदी कविता में अपने ढंग की अलहदा कविताएँ हैं। 'जाना' और 'आना' जैसी क्रिया को, 'सड़क' को प्रेम कविता में इस कदर मूर्तिमान कर देना कि वह मुहावरा ही बन जाय, यह केदारनाथ सिंह को आता है। उनकी ही कविता प्रेम की असीमता, उसकी अनंतता को इस तरह सोच सकती है कि जब प्यार करने वाले दो लोग सड़क के किनारे महज चुपचाप चल रहे होते हैं तो उस शहर को कितना अनंत बना देते हैं यह किसी ने सोचा है। जीवन के प्रति केदार जी के इस राग को कुछ लोगों ने जीवन के ठोस, वास्तविक जमीन से पलायन की तरह देखते हैं। पर यह पलायन नहीं है बल्कि यह उस ठोस वास्तविक दिखने-लगने वाले दुःख, उदासी और संघर्ष के प्रतिपूरक के रूप में ही आता है। यह सच है केदार जी की कविताओं में जीवन ही जीवन है, पर यह जीवन उत्सवी उल्लास में रचा-पगा जीवन है इसे मान लेना भूल होगी। उनकी कविताओं में आए तमाम किरदार इसके उदाहरण हैं। ये सभी कामगार, श्रमशील लोग हैं। केदार जी की कविताओं में श्रम की महत्ता और सम्मान का जो भाव है, वह उन्हें जीवन-आनुराग की बात करने वाले अपने कई समकालीन कवियों से अलग करता है। वह, कविता में गाँव-गिराँव के मेहनतकश लोगों के सहारे फट चुके समय को सिलने की कोशिश करते हैं। 'माँ का आधी रात को सूई-तागा लेकर बैठ जाना' या 'रात में सिलाई' कविता में 'रात को दरजी का लालटेन जलाकर बैठ जाना' और कुछ नहीं है एक कवि की अपनी रचनात्मक आत्म-छवि है। इन दोनों छवियों में फटे हुए समय को सिलने की कोशिश तो है ही उससे भी बढ़कर कवि की 'रचना-प्रक्रिया' का 'क्रफ्टिंग' का सुंदर उदाहरण हैं। कविता की बुनावट में कोई भी एक टाँका गलत नहीं पड़ना चाहिए। सुई कि नोक पर से आँख हटी कि उँगली लहूलुहान। शारीरिक श्रम से मानसिक श्रम, दरजी से कवि के रुपान्तरण को यह कविता बड़ी ही बारीकी से प्रस्तुत करती है :

देखो
कोई काँटा
गलत न पड़ जाय
देखो—सीधे सुई की नोक पर
देखो,
देखो—देखो बचाओ अपनी उँगली
टोकती है लालटेन
सुनता है आदमी

और रोशनी के आगे
झुका देता है सिर

समकालीन हिंदी कविता में सादृश्य-विधान की जो समझ केदारनाथ सिंह के यहाँ है, वैसी समझ कम कवियों के यहाँ बीच है। कवि सादृश्य-विधान के सहारे जो बिम्ब तैयार करता है, वह हिन्दी कविता में अपने ढंग का अकेला है। जल के आइनों में काँपता भूडोल, नई चा की प्यालियों में तैरता दिन, चोट खाये बादलों की टूक-टूक जिजीविषा, आलोक उत्सुक दराजों से झाँकते शब्द, और भी न जाने कितने उदाहरण दिए जा सकते हैं। इस संबंध में मैं उनकी दो कविताओं 'सूर्य' और 'आवाज' का जिक्र करना चाहूँगा। 'बाघ' शृंखला की कविताएँ तो इस सादृश्य-विधान को बहुत गहरे रूप दूर तक रचती ही हैं। 'सूर्य' और 'आवाज' उनके दूसरे काव्य-संग्रह 'जमीन पक रही है' की कविताएँ हैं। 'सूर्य' कविता में कवि सूर्य की अलग-अलग कई उपयोगी छवियाँ रचता है—वह जब आता है तो रोटी में नमक की तरह प्रवेश करता है, पतीली गरम होने लगती है, चेहरा लाल होना शुरू हो जाता है। वह आता है किसी आदमी के सर उठाने की यातना की तरह, वही अकेला है जिस पर भरोसा किया जा सकता है, आदि आदि। पर, केदार जी का जन-मन से कितना गहरा नाता है, उसकी जरूरतों से कितना साबका है, इसे कवि की उस प्रश्नावचकता से समझा जा सकता है कि, सबकुछ के बावजूद सूर्य पर रोटी नहीं सेंकी जा सकती। रोटी सेंकने के लिए तो आग चाहिए। ऐसी आग जिसकी गर्माहट आदमी के नींद और विचारों तक पहुँचे। 'आवाज' शीर्षक जो दूसरी कविता है उसमें 'चक्की' से 'माँ' का सादृश्य बिठाते हुए माँ की जिस छवि का निर्माण कवि करता है उसे चक्की के साथ, चक्की से निकलने वाली घिसती-रगड़ती एकरस आवाज और माँ के गाने की आवाज के साथ मिलाकर ही पढ़ा जा सकता है, पहचाना जा सकता है। चक्की के घूमने और माँ के गाने की आवाज में फर्क करना मुश्किल है। दोनों की आवाजें एकमेक हो गयी हैं :

यह माँ की आवाज है—मैंने कहा
चक्की के अंदर माँ थी
पत्थरों की रगड़ और आटे की गंध से
धीरे-धीरे छन रही थी
माँ की आवाज

केदारनाथ सिंह हड़बड़ी के कवि नहीं हैं। वे इत्मीनान के कवि हैं। उनकी कविताओं में एक थिरायी हुई संतुलित अनुभूति और उससे जनित जीवन-यथार्थ के गहरे बिम्ब मिलते हैं। वे कविता में शब्दों की फिजूलखर्ची के हिमायती नहीं, मितव्ययिता के पक्षधर हैं। अरुण कमल ने ठीक ही केदारनाथ सिंह को 'निपुण शब्द-व्यवहार' और 'उचित शब्दों का कम्पोजीटर' कवि के रूप में चिह्नित किया है—''शब्दों के स्वभाव, उसके गुणों की कद्र समकालीन हिन्दी कविता में जिस तरह से केदार जी ने किया है हिन्दी कविता में कम ही कवि कर पाए हैं।'' सचमुच केदार जी हिंदी कविता ही नहीं भारतीय कविता के एक हुनरमंद कवि हैं। उनकी कविताएँ दूध की धार की तरह धीरे-धीरे चोट करती कविताएँ हैं। हर हुनरमंद कलाकार की एक आकांक्षा होती है कि वह अपनी कला को अपने हुनर को मरने न दे, उसे वह सही हाथों में सौंप दे। संभवतः यही मोक्ष है एक कलाकार का। मुक्त होकर भी वह बना रहता है। केदार जी की एक कविता है : 'एक स्वप्न खंड', जिस ओर कम लोगों का ध्यान गया है। शायद नहीं ही गया है। यह केदार जी की शुरुआती कुछ थोड़ी लंबी कविताओं में से एक है। यह कविता 'स्वप्न' के शिल्प का जितना बेहतरी से उपयोग करती है वह केदार जैसे शिल्पी के लिए ही

संभव था। मिथक, कथा, लोक-परलोक, इतिहास दृश्य-परिदृश्य के नए रूप और वस्तु में खुलते हैं। इस कविता का 'मैं' लगातार चल रहा है, दौड़ रहा है स्वर्ग पतित सम्राट की तरह एकाकी सड़कों पर गुमसुम। इस कविता को पढ़ते हुए बार-बार मुक्तिबोध की कविता 'अंधेरे में' का नाटकीय शिल्प कौंधता है। यह कविता अलग से इसलिए रेखांकित की जानी चाहिए कि यह केदार जी के काव्य-शिल्प से इतर शिल्प की कविता है पर उन्हीं की है। इस कविता में जो 'मैं' है वह किसी को ढूँढ रहा है, घर, खंडहर, गली, चारागाह, नदी, पर्वत, सड़क, चट्टानों, मीनारों से पुकार रहा है :

'ओ है कोई'?
मैं चिल्लाया उस निर्जनता की सबसे ऊँची चोटी से
निश्शब्द, फूटकर, बिनाकंठ।
ओ है कोई!
मैं जिसे सौंप दूँ
पृथ्वी का यह संदेशा।
ओ है कोई!
मैं जिसे तप्त यह सोने का जयमाल पिन्हाकर
चूक जाऊँ।
ओ है कोई! ओ है कोई!
मैं इन सबका क्या करूँ?
आह बिखरूँ भी तो कितना बिखरूँ।
फैलूँ भी तो कितना फैलूँ
जो ढक लूँ मानव-विहीनता का पठार।

'ओ है कोई!' ओ है कोई! ओ है कोई! की यह पुकार, सीमित शक्ति में भी फैलकर 'मानव-विहीनता के पठार को ढँक लेने' की असीम कामना और 'तप्त सोने का जयमाल पिन्हाकर' निश्चिंत होने की एक कवि की इच्छा कितनी उज्ज्वल और निःस्वार्थ है। उत्तरदायित्व और जवाबदेही की चिंता से लैस। कवि के जाने के बाद भी कविता की आने वाली पीढ़ियाँ इस पुकार, कामना और इच्छा को पूरा करने में अपने को थोड़ा भी कवि के प्रति कृतज्ञ पाती हैं तो उसकी कविता-कामना अमर है। यही एक कवि की अमरता का संसार है।

●●●

इस बीच, सुवास कुमार, रजनी तिलक, जयप्रकाश लीलवान, राम कुमार, राजकिशोर, सुशील सिद्धार्थ, अभिमन्यु अनत, महेंद्र भल्ला, तेजिंदर गगन, गोपालदास नीरज, अमृतलाल बेगड़, वी.एस. नॉयपाल, विष्णु खरे जैसे कई महत्त्वपूर्ण साहित्यकार, संस्कृतिकर्मी, कलाकार और पत्रकार हमें अलविदा कह चले। उन सबको हमारी भावभीनी श्रद्धांजलि। पक्षधर के इस अंक में हम कहानी और पुस्तक समीक्षाएँ नहीं दे पाये हैं। उन्हें अगले अंकों में प्रकाशित किया जाएगा। हमारा अगला अंक रजत जयंती अंक (25वां अंक) है। उक्त अंक की योजना की घोषणा हम जल्दी ही करेंगे। इस अंक के सभी सहयोगी रचनाकारों के हम आभारी हैं। उनके सहयोग के बिना, पाठकों ने जो प्यार और विश्वास पक्षधर को दिया है, उसकी रक्षा शायद हम नहीं कर सकते।

–विनोद तिवारी

पंद्रह कविताएँ

कुमार अम्बुज

दिक्कत की शुरुआत

सोचो तो आखिर आदमी के जीवन में रखा ही क्या है
वह मुश्किल से रोता-तड़पता जन्म लेता है
फिर रोज-रोज बढ़ती ही जाती हैं उसकी मुश्किलें
उन्हीं सबके बीच वह हँसता-गाता है, लड़ता-झगड़ता है
और होता ही रहता है इस दुनिया से असहमत
कभी-कभी बीच में दखल देकर वह कह देता है
कि आदमी का जीवन ऐसा नहीं बल्कि ऐसा होना चाहिए
नहीं तो आदमी जिंदा रहते हुए भी मर जाता है
यह कहते ही वह घिर जाता है चारों तरफ से
घिरे हुए आदमी की फिर कभी कम नहीं होतीं मुसीबतें
आदमी के जीवन में रखा ही क्या है आखिर
वह मरता तो है ही एक दिन
लेकिन दिक्कत यहाँ से शुरू होती है कि उसे हमेशा
उस एक दिन से पहले ही मार दिया जाता है यह कह कर
कि आखिर आदमी के जीवन में रखा ही क्या है—
एक धायँ के अलावा।

अंत का जीवन

खिड़की से दिखती एक रेल गुजरती है, भागती हैं जिसकी रोशनियाँ
उजाला नहीं करतीं, भागती हैं मानो पीछा छुड़ाना चाहती हैं अँधेरे से
उसकी आवाज थरथराहट भरती है लेकिन वह लोहे की आवाज है
उसकी सीटी की आवाज बाकी सबको ध्वस्त करती

आबादी में से रेल गुजरती है रेगिस्तान पार करने के लिए
लोग जीवन में से गुजरते हैं प्रेमविहीन आयु पार करने के लिए
आखिर एक दिन प्रेम के बिना भी लोग जिंदा रहने लगते हैं
बल्कि खुश रहकर, नाचते-गाते जिंदा रहने लगते हैं
पीछे छूट गई बारीक, मटमैली रेत में
मरीचिका जैसा भी कुछ नहीं चमकता

प्रेम की कोई प्रागैतिहासिक तस्वीर टँगी रहती है दीवार पर
तस्वीर पर गिरती है बारिश, धूल और शीत गिरता है,
रात और दिन गिरते हैं, उसे ढक लेता है कुहासा,
उसकी ओट में मकड़ियाँ, छिपकलियाँ रहने लगती हैं
फिर डॉक्टर कहता है इन दिनों आँसुओं का सूखना आम बात है
इसके लिए तो कोई आजकल दवा भी नहीं लिखता

एक दिन सब जान ही लेते हैं : प्रेम के बिना कोई मर नहीं जाता

धीरे-धीरे इस बात की आपसी समझ बन जाती है
कि रोज-रोज मेल-मुलाकात मुमकिन नहीं
सारे विस्थापित जान चुके हैं
अब वे किसी गाँव-कस्बे के निवासी नहीं

कुछ ही दूरी पर जो एक बहुत बड़ा कॉम्पलेक्स है
गूगल-अर्थ में शहर के नाम पर दिखती है इसी इमारत की तस्वीर
अब यही गगनचुंबी इमारत है इस शहर का पर्यायवाची
लांग शॉट में हजारों प्रकाशमान खिड़कियों से आलोकित
यह किसी उज्ज्वल द्वीप की तरह दिखाई देती है

अलबत्ता इसी शहर में ऐसी भी खिड़कियाँ हैं असंख्य
जिनके भीतर भी रहे चले आते हैं जीवित मनुष्य
लेकिन उधर से कोई रोशनी नहीं आती
बस, दिखता हुआ खिड़कियों के आकार का अँधेरा है
जिसे आसपास की रोशनियाँ और ज्यादा गाढ़ा करती हैं।

यदि तुम नहीं माँगोगे न्याय

यह विषयों का अकाल नहीं है
यह उन बुनियादी चीजों के बारे में है जिन्हें
थककर या खीझकर रद्दी की टोकरी में नहीं डाला जा सकता

जैसे कि न्याय–
जो बार-बार माँगने से ही मिल पाता है थोड़ा-बहुत
और न माँगने से कुछ नहीं, सिर्फ अन्याय मिलता है
मुश्किल यह भी है कि यदि तुम नहीं माँगोगे
तो वह समर्थ आदमी अपने लिए माँगेगा न्याय
और तब सब मजलूमों पर होगा ही अन्याय

कि जब कोई शक्तिशाली या अमीर या सत्ताधारी
लगाता है न्याय की गुहार तो दरअसल वह
एक वृहत्, ग्लोबल और विराट अन्याय के लिए ही
याचिका लगा रहा होता है।

नमक हराम

जिस थाली में खाता है उसी को मारता है ठोकर
जिस घर में रहता है उसी में लगाता है सेंध

तुम याद करो
तुमने उसकी थाली में वर्षों तक कितना कम खाना दिया
याद करो तुमने उसे घर में उतनी जगह भी नहीं दी
जितनी तिलचट्टे, चूहे, छिपकलियाँ या कुत्ते घेर लेते हैं।

आश्वस्ति

इतने बाँधों और परियोजनाओं पर
सड़कों, पुलों और इमारतों पर
कारखानों, संस्थानों और सितारों पर भी
लिख दिए गए हैं उनके नाम
जैसे वे आश्वस्त रहे हों कि उन्हें
उनके कामों से याद नहीं रखा जा सकता।

अधूरी इच्छाएँ : वर्गानुक्रम

कथा-कहानियों में और इधर के जीवन में भी
आसपास कोई न कोई हमेशा मिलता है जो सोचता है
कि कभी बैठ सकूँगा हवाई जहाज में
एक शाम फाइव स्टार होटल में पी जाएगी चाय
कि इन सर्दियों में खरीद ही लूँगा प्योरवूल का कोट

एक स्त्री सोचती है वह लेगी चार बर्नर का चूल्हा
एक आदमी करता है करीब के हिल स्टेशन का ख्याल
इन इच्छाओं की लौ जलती है सपनों में लगातार
इसी बीच यकायक बुझ जाती है जीवन-ज्योति ही

उधर एक आदमी सपना देखता है भरपेट भोजन का
कल्पना में लगाता है मनचीते व्यंजनों का भोग
नींद में ही लेता है स्वाद नानाप्रकार
सपने में आ जाती है तृप्ति की डकार
ओंठों से ठोड़ी तक रिसकर फैलती है लार
भिनभिनाती हैं मक्खियाँ।

मध्यवर्गीय विजयवर्गीय

उनका सपना यही था कि तनख्वाह से चला लूँगा घर-बार
कभी सुन लूँगा संगीत, घूमूँगा-फिरूँगा, मिलूँगा-जुलूँगा सबसे
लेकिन नामाकूल पैकेज देकर चलवाए जा रहे हैं उनसे
तमाम बैंक, शो-रूम, मॉल, सुपर बाजार
जहाँ बजता ही रहता है वह लोकप्रिय संगीत
जो परिवार में भर देता है अटपटी रफ्तार
एक गजब का ज्वार

इस तरह विजयवर्गीय हैं एक मध्यवर्गीय बेकरार
एक अधूरे नागरिक, एक अधूरे खरीददार
पूरा होने के लिए आजाद लेकिन चाकरी है चौदह घंटे की
वे आजाद हैं मगर उन्हें ऑफिस में ही मिलती है रोटी और चाय
वे आजाद हैं लेकिन इंद्रधनुष देखे गुजर गए ग्यारह साल

उधर बढ़ते ही जाते हैं अजीबो-गरीब सामान बनानेवाले कारखाने
इधर खिड़की से गायब हो जाते हैं खेत, नदियाँ, पेड़ और पहाड़
दिखने लगता है अट्टालिकाओं का कबाड़

उनके घर में भी जुटता चला जाता है सामान दर सामान
इतना कि वे समझ जाते हैं यदि एक शब्द भी बोले खिलाफ
तो उनके पास खोने के लिए कितना कुछ है एक साथ।

यह ज्यादा बहुत ज्यादा है

कुछ लोगों के पास हर चीज जरूरत से बहुत ज्यादा है
वे लोग ही जगह-जगह दिखते हैं बार-बार
उनमें बार-बार दिखने की सामर्थ्य ज्यादा है

वे लोग दिन-रात बने रहते हैं अखबारों में,
टेलिविजन में, हमारी बातचीत में, सरकारी चिंताओं में
अनेक रहने लगे हैं पाठ्य पुस्तकों में और विद्यार्थियों की इच्छाओं में

घर से बाहर निकलने पर भी वे दिखते हैं
चौराहों पर, अस्पतालों में, रेस्तराँ में,
और सुलभ कॉम्पलेक्स के पोस्टरों में भी
सार्वजनिक जगहें अब उनकी हैं
पार्क में उनके क्लब की मीटिंग चलती है
सड़कों पर गड़ जाते हैं उनके तंबू
बचे हुए पेड़ों की छाया उनकी है
सूखती नदियों का पानी उनका
बच्चों के खिलौनों पर उन्हीं की तसवीरें
सस्ती से सस्ती टी शर्ट पर भी लिखा है उनका नाम
हर विज्ञापन में उनके परफ्यूम की खुशबू

ये वे ही हैं जिनके पास सब कुछ जरूरत से बहुत ज्यादा है

कपड़े ज्यादा हैं, गहने और क्रॉकरी ज्यादा,
घड़ियों-चश्मों की भरमार, जूतों की अलग अलमारियाँ,
अंडरवियर्स और एअर कंडीशनर्स ज्यादा हैं
बँगले-मकान, जमीनें, कार-मोटर, फर्नीचर ज्यादा,
शेयर्स, कंपनियाँ, शो-रूम्स, बैंक बैलेंस ज्यादा,
नगदी ज्यादा, एलेडी, कंप्यूटर, मोबाइल ज्यादा,

मुश्किल यह नहीं कि बहुत ज्यादा लगनेवाला यह विवरण ज्यादा है
मुश्किल यह है कि उनका यह बहुत ज्यादा, कानून के मुताबिक है
मुश्किल यह है कि यह नियमों के अनुसार है और बहुत ज्यादा है।

उत्तर-कथा

नौदुर्गों की साँझ में गली के छोर से आती थी
विह्वल करती चौपाई-गायन की आवाज
सोरठे तक आते-आते गहराने लगती थी रात
जीवन खड़ा हो जाता था रंगमंच के आगे

रास्तों में मिलते थे झरे हुए फूल
चितवनें, वाटिकाएँ, छली, बली, मूर्च्छाएँ
और उन्हीं के बीच उठती पुत्र-मोह की अंतिम पुकार
नावों, जंगलों, गाँवों और पुलों से होकर गुजरते थे
राग-विराग, ब्रह्मास्त्र और वरदान के बाद के विलाप
लेकिन नहीं खेली जाती थी अश्वमेध की लीला

जो अब उत्तर-कथा में खेली जा रही है दिन-रात
जिसे कलाकार नहीं, बार-बार खेलते हैं वानर-दल
गठित हो रही हैं नई-नई सेनाएँ
रोज एक नाटक खड़ा हो जाता है जीवन के आगे।

जिसे ढहाया नहीं जा सका

जिसे तुमने सचमुच गोली मार ही दी थी
वह अब भी मुसकराता है तुम्हारे सामने दीवार पर
तुम्हारे छापेखाने उसी की तस्वीर छापते हैं
तुम दूसरे द्वीप में भी जाते हो तो लोग तुमसे पहले
उसके समाचार पूछते हैं तब लगता है तुम्हें
कि दरअसल तुम मरे हुए हो और वह जिंदा है

बुदबुदाते हुए हो सकता है तुम गाली देते हो मन में
लेकिन हाथ जोड़कर फूल चढ़ाते हो और फोटू खिंचाते हो
तुम शपथ लेते हो वह सामने हाथ उठाए दिखता है
तुम झूठ बोलते हो वह तुम्हारे आड़े आ जाता है
घोषणापत्र में तुम विवश दोहराते हो उसीकी घोषणाएँ

अब तुमने ढहा दी है उसकी मूर्ति तो देखो
सब तरफ सारे सवाल उसी मूर्ति के बारे में हो रहे हैं
बार-बार दिखा जा रही हैं उसी मूर्ति की तस्वीरें
उसी चौराहे पर इकट्ठा होने लगे हैं तमाम पर्यटक

जिन्हें बताया जाता है कि यहाँ, यहीं, हाँ, इसी जगह,
वह मूर्ति थी।

कुशलता की हद

यायावरी और आजीविका के रास्तों से गुजरना ही होता है
और जैसा कि कहा गया है इसमें कोई सावधानी काम नहीं आती
बल्कि अकुशलता ही देती है कुछ दूर तक साथ

जो कहते हैं : हमने यह रास्ता कौशल से चुना
वे याद कर सकते हैं :
उन्हें इस राह पर धकेला गया था

जीवन रीतता चला जाता है और भरी बोतल का
ढक्कन ठीक से खोलना किसी को नहीं आता
अकसर द्रव छलक जाता है कमीज और पेंट की संधि पर
छोटी सी बात है लेकिन गिलास से पानी पिए लंबा वक्त गुजर जाता है
हर जगह बोतल मिलती है जिससे पानी पीना भी एक कुशलता

जो निपुण हैं अनेक क्रियाओं में वे जानते ही हैं
कि विशेषज्ञ होना नये सिरे से नौसिखिया होना है

कुशलता की हद है कि एक दिन एक फूल को
क्रेन से उठाया जाता है।

आकस्मिक मृत्यु

रोज-रोज की अनुपस्थिति आखिर उसे विश्वसनीय बना देगी

आदमी कई बार उस तरह नहीं गलता
जैसे अपनी ही आँच में धीरे-धीरे पिघलती है मोमबत्ती
वह यकायक उस तरह से हो जाता है ओझल
जैसे जादू के खेल में आँखों के ऐन सामने गायब होता है हाथी
फिर पता चलता है कि यह कोई जादू नहीं था, जीवन है

अब सिर्फ साहस चाहिए
जो एक-दूसरे का मुँह देखने से कुछ-कुछ आता है
और इसी वजह से कभी-कभी टूट भी जाता है।

विस्मृति
(पिता के लिए)

एक दिन गड्डमड्ड होने लगती हैं चीजें, क्रियाएँ,
नाम, चेहरे और सुपरिचितताएँ
फिर तुम स्मृति का पीछा करते हो
जैसे बचपन की उस नदी का जो अब निचुड़ गई है
और हाँफते हुए समझने की कोशिश करते हो
कि विस्मृति ही अंतिम अभिशाप है या कोई वरदान

कुछ याद करना चाहते हो तो एक परछाईं सी दिखती है
जो विलीन हो जाती है किसी दूसरी परछाई में
इस अनुभव के आगे सारे दुःख फीके हैं और बीत चुके हैं
दूर कहीं तुम उनकी तरफ देखकर मुस्करा सकते हो
लेकिन उनके मुखड़े याद नहीं आते
यही असहायता है, इतनी ही शेष रह गई है ताकत

ईर्ष्याएँ याद नहीं आ रहीं, क्रोध के सूर्य अस्ताचल हुए
प्रेम के चंद्रमा डूब गए, वासनाएँ जारी हैं
जाने कैसे बची रह गई है स्पर्श की आदिम स्मृति
किसी को न पहचानने से अब कोई अपमानित नहीं होता
अगर पहचान लो तो वह अप्रतिम खुशी से भर जाता है

कोरी हो चली स्लेट पर लिखी जा रही हैं नई इबारतें
और सबक हैं कि याद नहीं रह पाते।

इसलिए आशा

सख्त सर्दियाँ धीरे-धीरे दाखिल हो ही जाती हैं फाल्गुन में
शनिवार मुँडेर पकड़कर कूद जाता है इतवार के मैदान में
एक दृश्य की धुँध में से प्रकट होता है एक कम धुँधला दृश्य

कभी विस्मय की तरह, कभी महज विषयांतर

अनुभव का आसरा यह है कि धूल और लू भी
आखिर बारिश में घुल जाती है
और बारिश शरद की तारों भरी रात में

नेत्रहीन कहता है मैं ध्वनि से
और स्मृति से देखने की कोशिश करता हूँ

और पत्तों में हवा गुजरने की आवाज से
पुकार लेता हूँ वृक्षों के नाम।

कुछ समुच्चय

दुःख
(चेखव के इतने बरस बाद)
आदमी, बैल, घोड़ा, चिड़िया, मेरे आसपास कोई नहीं
इस मोटरसाइकिल से कैसे कहूँ अपना दुःख।

जरावस्था
जब हमारी गवाही देने की ताकत कम होने लगती है।

जाहिर सूचना
प्रिय नागरिक! न्याय मुमकिन नहीं
मुआवजे के लिए आवेदन कर सकते हैं।

विकास
जो एक वर्ग किलोमीटर के दायरे में भी एक सरीखा नहीं है।

विजेता
घर में घुसते ही गिरता हूँ बिस्तरे पर
यह एक दिन को जीत लेने की थकान है।

मिथुन
फिर संगीत भरता है खाली जगहों में।

वसंत
भूलती नहीं उड़ती सूखी पत्तियाँ
अमर है उनकी उड़ान।

विदा
तलहटी में चिपकी रह ही जाती है कुछ राख।

बचपन की आवाज
टीन की चादरों पर बारिश की कर्कश आवाज
वर्षों बाद सुनाई देने लगती है सिम्फनी की तरह।

निर्वासन
यह मेरा दिमाग एक द्वीप
जिस पर बार-बार होता हूँ निर्वासित।

साहित्यकार, संस्था और संगठन

अरुण कमल

इस विषय पर बोलने के लिए सहमति जब विनोद जी ने दी तब मुझे लगा कि विषय मैंने थोड़ा अटपटा चुन लिया। इलाहाबाद मैं लंबे समय से आता रहा और अधिकांशतः सत्यप्रकाश जी के बुलाने पर आता था। सत्यप्रकाश जी ने इलाहाबाद की कई संस्थाओं को जीवनदान दिया। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के बहुत से कार्यक्रमों में मैं आया। वहाँ वे साहित्य मंत्री थे और मुझे याद है कि पहली बार जब मैं उसके कार्यक्रम में आया तो रात का समय था। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सत्य-नारायण कुटीर का एक कमरा मच्छर मारने वाली कुंडली के धुएँ से भरा हुआ था। उसमें दो लोग सोये थे या जगे थे ऐसी हालत में थे। वे सोमदत्त और राजेश जोशी थे। वो समय था कवियों के कुम्भ का। मेरी समझ से कविता पाठ का इतना बड़ा आयोजन, इतनी सारी पीढ़ियों के कवियों के साथ जिसमें पहली बार मेरे जैसे कवियों ने प्रभाकर माचवे, गिरिजा कुमार माथुर के साथ कविता पढ़ी। इतना बड़ा कुम्भ फिर नहीं हुआ। इलाहाबाद ही नहीं कहीं नहीं हुआ। सत्यप्रकाश जी ने बहुत से कार्यक्रम सम्मेलन के जरिए किए। मुझे स्थायी समिति का सदस्य भी बनाया और बाद में उनकी जगह पर मैं साहित्य मंत्री भी रहा कुछ वर्षों तक। जो काम सत्यप्रकाश जी कर सकते थे और किया वो काम मैं नहीं कर सका, कर भी नहीं सकता था, हो भी नहीं सकता था। और फिर साहित्य सम्मेलन की सक्रियता भी आप सब जानते हैं। वो सक्रियता अब नहीं रही। सत्यप्रकाश जी ने इलाहाबाद संग्रहालय में भी बहुत बार बुलाया। आज ये कार्यक्रम वहीं होना था और उचित था। बहुत से कार्यक्रम सत्यप्रकाश मिश्र जी ने वहाँ किए। मुझे एक कार्यक्रम की विशेष तौर पर याद है वो कई दिनों का था और साहित्य के विभिन्न पक्षों पर था। वैसा बड़ा कार्यक्रम, वैसी बड़ी वैचारिक गोष्ठी उसके बाद हिन्दी जगत में दूसरी नहीं हुई। यह मैं अतिरंजना में नहीं कह रहा हूँ। यह बिलकुल सच है। सत्यप्रकाश जी ने इलाहाबाद विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग को भी फिर से जीवित किया। जीवित तो वो पहले भी था, अभी भी है। बड़े लोग पहले भी थे, अभी भी हैं लेकिन मुझे याद है कि निराला व्याख्यान माला के लिए उन्होंने मुझे बुलाया था। उस समय जो सूची उन्होंने

पढ़ी थी, उसके बाद मुझे लगा था कि अभी भी समय है, मैं जाकर कह दूँ कि ये व्याख्यान मैं नहीं दे पाऊँगा। वो अज्ञेय, महादेवी वर्मा, पंत जैसे लोगों से भरी हुई सूची थी। कई काम विभाग में सत्यप्रकाश जी ने किए। आज वो सब याद करने की चीजें हैं। इन तीन संस्थाओं को उन्होंने जीवित किया। इतने बड़े-बड़े काम किए, वो कर सकते थे। हम भी कर सकते हैं। हो सकता है लेकिन नहीं हो रहा है, नहीं हो पा रहा है। मुझे लगा कि हम लोगों को ये बातें भी करनी चाहिए। इसलिए भी मैंने ये विषय चुना। दूसरी वजह ये थी विषय चुनने की कि आम तौर पर हम आपसी बातचीत में, कई बार अखबारों, पत्रिकाओं में भी और दूसरे माध्यमों में भी इन बातों पर बहुत चर्चा करते हैं कि फलानी संस्था में वो क्यों गए? फलानी संस्था क्या कर रही है? फलाना संगठन क्या कर रहा है? कौन किस संगठन में है आदि-आदि। तो मुझे लगा कि इसको केवल गपशप की चीज नहीं माननी चाहिए।

हम लोगों को एक बार सोचना चाहिए कि ये क्या हैं संस्थाएँ और संगठन? और साहित्यकारों का क्या रिश्ता इनसे बनता है। तो ये भी कारण है। मैं शुरू में कह दूँ कि यह जो मैंने विषय चुना है साहित्य का विषय नहीं है। यह साहित्य के बाहर का विषय है। यह रचना कर्म का सीधे-सीधे विषय नहीं है। यह रचना कर्म के बाहर का विषय है। और साथ-साथ यह भी कह दूँ कि किसी बड़े रचनाकार को किसी भी संस्था, किसी भी संगठन की कभी भी जरूरत नहीं होती। वो सब के ऊपर होता है और उसकी रचना ही अंततः जीवित रहती है। समर्थन, विरोध सब कुछ के बावजूद। इसलिए मैं इस बात से अवगत हूँ और मैं जोर देकर कह रहा हूँ कि जो श्रेष्ठ रचना होती है, उनसे इनका संबंध सीधे सीधे नहीं होता। तब मैंने ये क्यों चुना? उसकी वजह यह है कि आप देखें वाल्मीकि और व्यास को, क्या उस समय संस्थाएँ थीं? कोई संगठन था? नहीं था। लेकिन, कालिदास के समय में राज्याश्रय तो था। एक बहुत बड़ी संस्था थी। राजसत्ता थी, राजा था उसके नवरत्न भी थे। यानी राज्याश्रय था। आगे थोड़ा बढ़ते हैं, अमीर खुसरो को भी देखें, राज्याश्रय तो था। भक्ति आंदोलन एक बहुत बड़ा आंदोलन था, एक संगठन था। वह भी राज्याश्रय के विरोध में था लेकिन एक बहुत बड़े संगठन के अंतर्गत था वह उसे धार्मिक मात्र कहकर हम खारिज नहीं कर सकते हैं। वह जन संगठन था, एक बहुत बड़ा आंदोलन था। राज्याश्रय के विरोध में था। उसके बाद जिसे हम हिन्दी कविता का रीतिकाल कहते हैं, उसमें काफी बड़ी संख्या में कवि राज्याश्रय की तरफ गए। यानी सत्ता थी, संस्था थी। उसके बाद भारतेन्दु के समय से नई स्थिति शुरू होती है। न तो राज्याश्रय था और न ही कोई संगठन था जैसा भक्ति आंदोलन के समय में था। यहाँ से नए तरह के संबंध की शुरुआत साहित्यकार और शेष समाज के बीच होती है। ऐसा छायावाद में भी नहीं था। लेकिन गाँधी जी ने शुरू किया। गाँधी जी का लेखकों से संपर्क था, उन्होंने लेखकों को संगठित करने का प्रयास किया। गाँधी जी ने हिन्दी प्रचार सभाओं का भी श्रीगणेश किया। उन्होंने सैकड़ों काम किए संगठन के और फिर 1936 में प्रगतिशील लेखक संघ का भी गठन हुआ। तो हम ये देखते हैं कि वाल्मीकि और व्यास के समय में तो वैसा नहीं था लेकिन बाद में किसी न किसी रूप में संस्थाएँ थीं या संगठनात्मक आंदोलन थे।

इसके साथ ही ये भी सोचें कि क्या पुरस्कार थे? भारत में ही देखें तो क्या कोई पुरस्कार उन्नीसवीं शताब्दी में था? विदेशों में भी क्या पुरस्कार थे? क्या संस्थाएँ पुरस्कार देती थीं? इस पर काफी शोध करने की जरूरत है। तब कुछ दिलचस्प परिणाम भी सामने आएँगे। मंगलाप्रसाद पारितोषिक था। हो सकता है अभी भी वो दिया जाता हो। लेकिन और कोई बड़ा पुरस्कार नहीं था। कुछ राशि मिलती थी कवि सम्मेलनों में। कुछ मानदेय पत्रिकाएँ देती

थी। पुरस्कार नहीं थे। पश्चिम में भी नहीं थे। ये मुख्य रूप से नोबेल पुरस्कार के साथ शुरू होता है। आज इतने पुरस्कार हैं, हजारों की तादाद में। दुनिया की सभी भाषाओं में। आजादी के पहले साहित्य की कोई संस्था नहीं थी। जिसे हम सच्चे रूप में संस्था कहें, जिसे सरकारी अनुदान मिलता हो। अंग्रेजों की दिलचस्पी इसमें नहीं थी। आजादी के बाद ही ये संस्थाएँ सरकारी अनुदान वाली संस्थाएँ बनीं। नहीं तो नागरी प्रचारिणी सभा थी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन था। इनके अलावा और भी छोटी-छोटी संस्थाएँ थीं। यह कैसे शुरू हुआ, इस पक्ष पर विचार करेंगे तो देखेंगे पूरी दुनिया में संस्थाओं का निर्माण, अभी जिन्हें हम संस्था समझते हैं, और उसके साथ-साथ संगठनों का निर्माण भी आधुनिक काल की देन है। ये मुख्य रूप से पिछले दो सौ वर्षों की देन है। फ्रांसीसी क्रांति के बाद खासतौर से जब संस्थाओं का निर्माण शुरू होता है। जब हम संस्था कहते हैं तो केवल साहित्य की ही संस्था नहीं कह रहे होते हैं, उसमें विज्ञान की संस्थाएँ भी शामिल हैं, इतिहास की संस्थाएँ भी शामिल हैं और ज्ञान के सारे क्षेत्र में जो भी संस्थाएँ सक्रिय हैं, वो सब शामिल हैं। लेकिन जो सबसे बड़ी संस्थाएँ पुरी दुनिया में है, वह हैं शिक्षा की संस्थाएँ। इससे बड़ी संस्था कोई नहीं है। शिक्षा की ये संस्थाएँ पहले यूरोप में मुख्य रूप से चर्च के अधीन थीं। आप सोचिए, बिलकुल बच्चे से लेकर सबसे ऊपर की पढ़ाई तक और ज्ञान के समग्र उपकरणों पर नियंत्रण और इस तरह से मनुष्य के मस्तिष्क का निर्माण, ये सब कुछ पहले चर्च के अधीन था। फ्रांसीसी क्रांति के बाद दो सौ वर्षों तक लगातार संघर्ष के बाद सत्ता ने यह एकाधिकार चर्च से छीन लिया और उसने अपनी संस्थाएँ बनाईं। आप भारत को भी देखें, यहाँ शिक्षा पहले गुरुकुल आधारित थी। अंग्रेजों ने उसको तोड़ा और गुरुकुल से उसको सत्ता पोषित शिक्षा व्यवस्था की तरफ ले आए। आज वही शिक्षा व्यवस्था चल रही है। गुरुकुल नहीं है अब या होंगे भी तो उनका कोई असर नहीं है। चर्च ने बहुत संघर्ष किया और उसने पूरे तौर पर अपने इस अधिकार को नहीं छोड़ा। आज भी नहीं छोड़ा है और वह सफल भी हुए। लेकिन जो वृहत्तर ज्ञान उपकरण हैं वे सब के सब सत्ता द्वारा संपोषित हैं। चाहे वो सत्ता कोई भी हो और कहीं भी हो। शिक्षा को सबसे पहले सत्ता ने पकड़ा। अल्थयूसर ने इसपर विस्तार से विचार किया है और उन्होंने कहा है कि सत्ता के दो तरह के उपकरण होते हैं—एक तो वह जिसे उन्होंने 'रिप्रेसिव स्टेट अपरेटस' कहा है। यानी जो दमन करने वाले उपकरण हैं जैसे फौज, पुलिस, कोर्ट-कचहरी ये एक तरफ होते हैं सत्ता बिना इनके चल नहीं सकती, चाहे कोई भी सत्ता हो। दूसरी तरफ उन्होंने कहा कि 'आइड्योलॉजिकल स्टेट अपरेटस' होते हैं। विचार, विचार प्रधान वैचारिकी, विचारधारात्मक उपकरण। उसमें सर्वोपरि है शिक्षा। लेकिन और भी उपकरण हैं—अकादमियाँ, परिषदें ये सब के सब और इनका नियंत्रण आमतौर पर सरकारें करती हैं। यही काफी नहीं हैं, इनके अलावे भी समाज में संस्थाएँ होती हैं। सरकार के अधीन जो संस्थाएँ होती हैं वो किसके हक में वो काम करती हैं? उत्तर बहुत सीधा है और मेरा मानना है; अल्थ्यूसर को उद्धृत कर रहा हूँ मैं यहाँ पर कि समाज में दो वर्ग होते हैं शोषक और शोषित, जिसमें आर्थिक शोषण का संबंध सर्वोपरि होता है। सरकार नियंत्रित जो संस्था-सत्ता होती है वह हर वर्ग के हित में काम करने की बात करती है। पर इसके अलावा समाज में जो संस्थाएँ होती हैं वह निश्चित वर्ग के हित में काम करती हैं। वो संस्थाएँ भी सरकार द्वारा पोषित संस्थाओं की तरह ही काम करती हैं। लेकिन वो ज्यादा स्वायत्त होती हैं। ये सभी संस्थाएँ मिलकर एक वैचारिक वातावरण का निर्माण करती हैं।

आप पूछ सकते हैं कि विश्वविद्यालय है तो इससे साहित्य को क्या? ये साहित्य का नियमन कैसे कर सकता है और क्यों उसे करना चाहिए? पहले तो विश्वविद्यालय नहीं थे।

तब क्या होता था? विश्वविद्यालय बनने के बाद और हिन्दी विभाग बनने के बाद क्या हुआ? भारत में पहले विश्वविद्यालय थे और अंग्रेजों के पहले बौद्धों ने ये कोशिश की थी। गुरुकुलों से उन्होंने शिक्षा को छीना था और अपने विश्वविद्यालय, आज की तर्ज पर बनने वाले विश्वविद्यालयय स्थापित किए थे। उस समय नालंदा भी था, विक्रमशीला भी था। उसने ये प्रयत्न किया कि ऐसी शिक्षा व्यवस्था हो जो गुरुकुल की शिक्षा व्यवस्था से भिन्न हो। यानी जो ब्राह्मणवादी वर्चस्व वाली शिक्षा व्यवस्था थी, उससे भिन्न हो। बहुत दूर तक उनका यह प्रयत्न सफल भी रहा। वो बहुत बड़ा प्रयत्न था। वहीं नालंदा से सरहपा निकले। उन्हीं सरहपा ने हिन्दी, जिसे हम आज खड़ीबोली के तौर पर जानते हैं, के आदिकवि के रूप में लेखन आरंभ किया। यानी, विश्वविद्यालय कैसे काम करते हैं, सरहपा के तौर पर बहुत पहले का एक उदाहरण मैंने दिया। लेकिन आप अभी की स्थिति को देखें तो विश्वविद्यालय कैसे काम करते हैं? मान लीजिए कि हिन्दी विभाग न हों तो क्या हो? और न ही हिन्दी की किताबें पढ़ाई जाएँ, न बच्चों को और न आगे की कक्षाओं को, तो क्या हो? मुझको हमेशा लगता है कि हिन्दी विभागों की जितनी भी आलोचना निंदा हम करें स्कूल से लेकर कॉलेज, यूनिवर्सिटी तक लेकिन अगर ये विभाग न होते और यदि इनके द्वारा तैयार की गई किताबें न होती तो आज मैं और मुझसे कम उम्र के सारे लोग घनानंद, बिहारी यहाँ तक की कबीर, तुलसी और मीरा का नाम भी ठीक से नहीं जानते। ये कितना बड़ा काम है कि हम सब जो यहाँ बैठें हैं और जो पढ़ कर आए हैं स्कूलों व कॉलेजों से, हम सभी की स्मृति में वही पंक्तियाँ और वही कवि हैं जिनको हम बचपन से पढ़ते आ रहे हैं। इस तरह हमारा एक भाव जगत बनता है। जिसे कुछ लोग राष्ट्रीय एकता कहते हैं। वो नहीं जानते कि राष्ट्र की एकता कैसे बनती है? वो हृदय से बनती है। हमको, आपको जोड़ने वाली वो कौन सी चीजें हैं, वो कौन से भाव हैं ये वही भाव हैं जो तुलसी, कबीर, मीराँ और बाद में मीर, गालिब, नजीर अकबराबादी इन सब ने हमें दी हैं। लेकिन हम यहीं क्यों रुकें? आदमी तो हर जगह है पूरी पृथ्वी पर। क्या हममें जो भाव हैं वो शेक्सपीयर ने नहीं दिए? टाल्स्टॉय ने नहीं दिए? तब हमें लगता है कि इन संस्थाओं ने कितना बड़ा काम किया। अगर ये संस्थाएँ नहीं होतीं तो इन कवियों और लेखकों को हम नहीं जानते। एक अच्छा काम ये संस्थाएँ विद्यालय, विश्वविद्यालय सभी करते हैं साहित्य के लिए। लेकिन कई बार ऐसा भी तो होता है कि वो बहुत खराब लेखकों की किताबें भी लगा देते हैं पाठ्यक्रम में। या उनके शिक्षक इतने योग्य नहीं होते जो उन कविताओं को ठीक से पढ़ा सकें। इसके लिए वो ऐसा वातावरण भी तैयार करते हैं जिसमें श्रेष्ठ साहित्य के लिए जगह कम हो। ये काम भी संस्थाएँ ही करती हैं। यानी जैसी सत्ता व्यवस्था होगी ज्ञान की ये संस्थाएँ भी वैसा ही काम करेंगी। बल्कि मेरा तो यह मानना है कि कोई सत्ता कैसी है? उसका चरित्र कैसा है? वो इस बात से जाना जा सकता है कि उस सत्ता को कौन सी किताबें पसंद है। कौन से कवि लेखक पसंद हैं। पूरी दुनिया में आधुनिक काल में इस तरह से संस्थाओं का निर्माण शुरू होता है। यानी एक निश्चित ज्ञान क्षेत्र के लिए, उसके विकास संवर्धन के लिए, एक सार्वजनिक स्थल के रूप में ये संस्थाएँ विकसित होती हैं। और जब ये विकसित होती है तो उसमें सत्ता की भी बहुत बड़ी भूमिका होती है।

सत्ता के अलावा जो निजी उद्यम होते हैं उनकी भी भूमिका होती है। आप देखिए भारत में साहित्य की कोई संस्था इस तरह से नहीं थी आजादी के पहले। आजादी मिलने के बाद साहित्य अकादमी की स्थापना होती है—1954 में। साहित्य अकादमी की स्थापना ने भारत के निर्माण में बहुत बड़ी भूमिका निभाई। जो अनुवाद हुए भिन्न भाषाओं से विभिन्न भाषाओं

में, मलयालम से हिन्दी में, हिन्दी से मराठी में, मराठी से तेलुगु में, ये काम साहित्य अकादमी ने किया। जो छोटी भाषाएँ थी उनको भी जीवित रखा और उसमें पुरस्कार भी दिए। साहित्य अकादमी की स्थापना के बाद ही निजी क्षेत्र ने भी पहल की और उसने भी कई संस्थाएँ बनाईं। उनमें ज्ञानपीठ सबसे पहले प्रसिद्ध है। बिड़ला ने भी बनाई। मोदी ने भी बनाई। उन्होंने भी पुरस्कार वगैरह देना शुरू किया। केडिया ने भी देना शुरू किया। मतलब बहुत से उद्यम हैं। विदेशों को अगर आप देखें तो बहुत हैं वहाँ। इतने तरह की फेलोशिप, इतने तरह के अनुदान वो देते हैं। ये संस्थाएँ इस तरह से काम करती हैं। इस तरह वो साहित्य का कला का पोषण करती हैं। ये तो एक बात हुई लेकिन अब दूसरी बात इसमें यह है कि कैसे संस्थाएँ नियंत्रण करती हैं समाज में कला और साहित्य का? जब ये संस्थाएँ हैं तो ये चुनेंगी कि हम किसको आगे बढ़ाएँ और किसको पीछे छोड़ दें किसको कितना महत्त्व दें। इसमें कई चीजें अभी खास तौर से दुनिया में बहुत प्रचलित हैं और उनका बहुत प्रभाव आ रहा है साहित्य पर। इसमें एक तो अनुवाद है। अनुवाद ने पूरी दुनिया में बहुत बड़ी भूमिका निभाई। जैसे भारत में साहित्य अकादमी वालों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। आप ये देखें कि इन अनुवादों के माध्यम से जो दुनिया भर का साहित्य है यहाँ से वहाँ आता-जाता है। लेकिन क्या कारण है कि हिन्दी भाषा के महान कवि निराला की कविताओं के अनुवाद कम से कम हुए दूसरी विदेशी भाषाओं में? क्या कारण है कि मुक्तिबोध का अभी तक एक भी अच्छा संकलन अंग्रेजी में नहीं है? ये सोचने की बात है। नागर्जुन का भी नहीं है। त्रिलोचन का भी नहीं है। शमशेर का भी नहीं है। जबकि बाद के बहुत से कवियों के अनेक भाषाओं में अनुवाद मिलते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कोई एक संकलन उपलब्ध नहीं है अंग्रेजी में। ये संस्थाएँ क्या करती हैं? वही करती हैं जो उन्हें करना चाहिए। चुनती हैं। चुनकर अपनी राजनीति करती हैं, उनको लगता है कि इसको आगे बढ़ाना चाहिए, इसको नहीं बढ़ाना चाहिए। तो हम कहते हैं कि यह एक राजनीतिक निर्णय है। ये निर्णय सही नहीं है क्योंकि साहित्य के उच्चतर मूल्यों की रक्षा इससे नहीं होती और ये निर्णय उन मूल्यों को आगे नहीं बढाते हैं। इसी के साथ आप और देखिए अभी साहित्य अकादमी का मैंने जिक्र किया। साहित्य अकादमी के पिछले साठ साल के इतिहास में बहुत से अध्यक्ष हुए। अभी तक कोई भी अध्यक्ष इसमें मार्क्सवादी या कम्युनिस्ट नहीं हुआ। क्या ऐसा कोई योग्य लेखक नहीं था भारत में? क्यों नहीं हुआ? ये सोचने की बात है। सोचने की बात सिर्फ इसलिए है ताकि हम कुछ उन बातों की तरफ आगे बढ़ें कि ये संस्थाएँ काम कैसे कर रही हैं? मैंने अनुवाद का जिक्र किया। इसी तरह दुनिया के देश अपने कवियों अपने लेखकों को दूसरी भाषाओं में आगे बढ़ाते हैं। जब सोवियत संघ था तो एक लेखक जो मुझे बहुत प्रिय थे और हैं रसूल हमजातोव। मैं मानता हूँ कि उनकी कृति 'मेरा दागिस्तान' दुनिया की महान कृति है। 'अवार' भाषा इसको दस लाख लोग बोलते हैं, उसके वो कवि थे। सोवियत संघ ने उसका अनुवाद कराया और वो किताब पूरी दुनिया में सभी भाषाओं में अनूदित हुई। वैसी किताब दुनिया में दूसरी है ही नहीं। मैं अपने थोड़े पढ़ने-लिखने के अनुभव के आधार पर कह रहा हूँ। किसी दूसरे कारण से नहीं। जो सोवियत संघ कभी किताबों का देश कहा जाता था, कवियों का देश कहा जाता था, आज वहाँ किताबों की दुकानें नहीं हैं। वहाँ कविता पुस्तक छपना मुश्किल है। छपेंगी तो बस तीन सौ प्रतियाँ छपेंगी। आप कहेंगे कि लेकिन भारत में जो अंग्रेजी के लेखक हैं उनका कैसे इतना रुतबा है? ये संस्थाएँ यही तो काम कर रही हैं। भारत में जो अंग्रेजी विभाग हैं, जो अंग्रेजों के समय से हैं और अभी भी सबसे ज्यादा फल फूल रहे हैं। उनके बिना ये तथाकथित साहित्य पनप

ही नहीं सकता। अब अंग्रेजी विभागों में यही पढ़ाया जाता है मुख्य रूप से। इन्हीं पर शोध होता है मुख्य रूप से। और एक बहुत बड़ा बाजार इनको मिला। ये हिन्दी में भी हो सकता है, हो रहा है। हिन्दी में भी ऐसे लोगों पर शोध हो सकता है, हो रहा है जिन्हें हम महत्त्वपूर्ण नहीं मानते हैं। लेकिन संस्थाएँ ऐसा कर सकती हैं। एनसीईआरटी भी ऐसा कर सकती है, वो ऐसे कवियों को पढ़ा सकती हैं जिनको हम अच्छा नहीं मानते हैं। संस्थाएँ इस तरह से साहित्य को प्रभावित करती हैं और अंततः वो आपको प्रभावित करती हैं। एक और तरीका है आप सब जानते हैं। फेलोशिप दी जाती है, अनुदान दिए जाते हैं। ये बहुत सी संस्थाएँ, बहुत से विश्वविद्यालय करते हैं दुनिया भर में। ये किनको देते हैं, क्यों देते हैं और क्या चाहते हैं? ये उस अनुदान के जरिए एक तरह का नियंत्रण स्थापित करते हैं और जाने अनजाने बहुत से कवि भी, बहुत से लेखक भी इसमें फँसते हैं। जैसे 'फोर्ड' के माध्यम से अमरीका करता है। हमको पता नहीं होता है लेकिन वो हम पर प्रभाव डालते हैं और इस तरह साहित्य के पूरे वातावरण के निर्माण में उन संस्थाओं की बहुत बड़ी भूमिका हो जाती है। ये तो एक तरीका है संस्थाओं के काम करने का लेकिन संस्थाएँ और भी तरह से काम करती है, जो साहित्य को प्रभावित करता है। उसमें प्रकाशन भी है। अभी भी एक नए कवि की किताब का छपना, अगर कोई अच्छा कवि है; बहुत मुश्किल है। प्रकाशन, वितरण, खरीद, बिक्री, सरकारी खरीद ये सब बाहर की चीजें हैं साहित्य के लेकिन ये अंततः प्रभावित करती हैं कि कौन सी किताब छपेगी? किसकी छपेगी, किसकी नहीं छपेगी और किसकी कितनी छपेगी? मुझे याद है जब मैं युवा था तब नागार्जुन अपनी किताब खुद ही छाप करके बेच रहे थे। मैंने भी एक प्रति ली थी 'तालाब की मछलियाँ'। ये उन्नीस सौ चौहतर-पचहतर की बात है। किताब नहीं छप सकती थी उनकी। शमशेर की किताब छपी पचास साल की उम्र में। केदारनाथ अग्रवाल की भी काफी बाद में छपी, यहीं इलाहाबाद से, 'परिमल' प्रकाशन से। मुक्तिबोध की मरणोपरांत छपी जबकि बाकी कवियों की किताबें तो छप रही थीं उस समय भी। संस्थाएँ इस तरह से साहित्य का नियमन करती हैं और ऊपर से देखने में ये बात लगती है कि ये साहित्य के बाहर की बात है। लेकिन जैसे जैसे हम इसके भीतर जाते हैं तब लगता है नहीं साहित्य का बहुत गहरा संबंध इससे है।

अब आते हैं पुरस्कारों पर। नोबल पुरस्कार के बारे में आप सब जानते हैं। यह पुरस्कार रवीन्द्रनाथ को मिला था, उन्नीस सौ तेरह में और उनको बाँग्ला के लिए नहीं मिला। बाँग्ला के कवि के रूप में वो समादृत नहीं थे। उनको ये पुरस्कार मिला था अंग्रेजी कविता के लिए। किसी भारतीय नागरिक को यह पुरस्कार नहीं मिला था, वो ब्रिटिश सब्जेक्ट, ब्रिटिश प्रजा को पुरस्कार मिला था। हम गुलाम थे। लेकिन ये पुरस्कार टाल्स्टॉय को नहीं मिला। टाल्स्टॉय से बड़ा उपन्यासकार दुनिया में कोई हुआ नहीं। उनके जीवन काल में ही यह बात सिद्ध हो गई थी कि वो कितने बड़े हैं, लेकिन उन्हें नहीं दिया गया। किपलिंग को दिया गया। किपलिंग बहुत बड़े हैं। लेकिन टाल्स्टॉय को नहीं दिया गया। खास तौर पर इस बात को मैं रेखांकित कर रहा हूँ क्योंकि टाल्स्टॉय का जो सोचना था, वो उस समय की सत्ता के विरोध में था। टाल्स्टॉय को चर्च ने बाहर भी निकाला था। टाल्स्टॉय जो अराजकतावादी थे अपने घर में उनको जगह देते थे, छिपाते थे। टाल्स्टॉय के विचार बहुत क्रांतिकारी थे। लेकिन उनको नोबल प्राइज नहीं मिला। ये सब भी एक कारण हो सकता है। इसके अलावा इन संस्थाओं में दो वर्गों का संघर्ष ही नहीं चलता है, कई प्रवृत्तियों के बीच संघर्ष चलता है, जैसे पुरातन प्रवृत्तियाँ। मान लीजिए कि कोई है जो पुराने ढंग के गीत, कविताएँ आदि लिखता है। हो सकता है कि उन संस्थाओं पर उसका वर्चस्व हो।

अपने यहाँ जो संस्था है उत्तर प्रदेश में, उसका भी आप यदि ध्यान से पिछले पचास साल का आकलन करें, तब आप पायेंगे कि कब किसका-किसका उसपर प्रभुत्व रहा और आज किसका है, कल किसका था। अतः प्रवृत्तियों के बीच भी संघर्ष चलता रहता है सभी जगह। जैसे साहित्य अकादमी की अभी जो नई कार्यकारी समिति बनी है उसमें जो हिन्दी खंड है बाईस लोगों का उसमें एक भी रचनाकार नहीं है। ये पहली बार साहित्य अकादमी के इतिहास में हुआ है। यानी एक संघर्ष ये भी चल रहा है। कई तरह की प्रवृत्तियों के बीच संघर्ष। नोबल प्राइज में भी यही संघर्ष चल रहा है। अब एक बुकर प्राइज है। सारे अखबार भरे रहते हैं लॉग-लिस्ट, शॉर्ट-लिस्ट सब कुछ के। हमारे यहाँ अरुंधति जी को भी मिला था। अरुंधति राय ने लिया लेकिन जब साहित्य अकादमी का पुरस्कार उन्हें दिया गया तो उन्होंने नहीं लिया। उन्होंने कहा कि ये सत्ता का पुरस्कार है और मैं इस सत्ता के विरुद्ध हूँ। लेकिन बुकर उनको अच्छा आदमी लगा जिसने करोड़ो मजदूरों का शोषण किया कैरिबिआई देशों में। जिसके शुगर प्लांटेशन्स थे। ईख के उद्यम थे। उसी का पैसा था उसके पास। मजदूरों के खून का पैसा। वो स्वीकार किया। ये बहुत छोटी सी बात लग सकती है, कोई ले ना ले। ठीक है, लेकिन इससे यह जानना चाहिए कि कब कहाँ क्या हो रहा है। उसी समय ''लंडन मैगजीन'' में एक लेख आया था कि इंग्लैंड और अमेरिका के बाहर के जो लेखक हैं, तीसरी दुनिया के लेखक जहाँ कभी अंग्रेजों की हुकूमत थी। वहाँ पर लेखक अगर युवा है, अगर स्त्री है, अगर सुंदर हैं, अगर अँग्रेजी में लिखती है, अगर वहाँ की जहालत के बारे में लिखती है और कम्युनिस्टों के खिलाफ लिखती है, तो उनको बुकर प्राइज दिया जा सकता है। और सारे पुरस्कार मिल सकते हैं। ऐसा कह कर न तो मैं अरुंधति राय को छोटा कर रहा हूँ न 'गॉड ऑफ स्माल थिंग्स' को छोटा कर रहा हूँ। मैं सिर्फ ये कह रहा हूँ कि यह चलता है पर्दे के पीछे। यह साहित्य की दुनिया जिसे हम ऊपर से इतना पवित्र समझते हैं उसके भीतर जो संस्थाएँ है वो कैसे काम करती हैं। तो इस तरह का काम, प्रवृत्तियों के बीच का संघर्ष वहाँ भी चलता है। समाज में जहाँ कहीं भी कोई भी संस्था है वहाँ पर कई तरह के संघर्ष एक साथ चल रहे होते हैं। हर जगह, ये हो नहीं सकता है कि वो संघर्ष न चले। अब यह संघर्ष क्या रूप लेगा, कौन विजयी होगा, ये एक अलग बात है। तो इन संस्थाओं का निर्माण इस दुनिया के हर देश की सत्ता ने किया और कर रही है। वो छोड़ नहीं सकती। अपने उत्थान काल में भारत ने आजादी के बाद महान संस्थाओं को जन्म दिया। जिसमें साहित्य अकादमी भी है, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान भी है, हिन्दुस्तानी अकादमी भी है, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् भी है। सभी संग्रहालय भी हैं। ये सब हैं। लेकिन उनको बाद में देखिए, जैसे-जैसे सत्ता के चरित्र में गिरावट आती गई वैसे-वैसे इन संस्थाओं में भी गिरावट आती गई। ये संस्थाएँ खत्म हो गईं।

ये संस्थाओं के अपने चरित्र के बारे में कुछ बातें हैं। अब एक बात और इसके साथ कि ये तो सत्ता पोषित संस्थाएँ ऐसा कर रही हैं निजी संस्थाएँ क्या करती हैं? इसमें भी दो तरह की संस्थाएँ होती हैं। एक तो बड़े पूँजीपतियों की संस्थाएँ जो प्रकाशन करते हैं मुख्य रूप से। कभी-कभी कुछ गोष्ठियाँ भी कर लेते हैं और पुरस्कार भी देते हैं। ज्यादा पैसे वाले पुरस्कार वो देते हैं। वहाँ पुरस्कार का अर्थ पैसा होता है। यानी साहित्यकार को हमेशा एक लालसा होती है कि शायद मुझे भी ग्यारह लाख वाला मिले। आप सोचिए जिन्होंने सब कुछ छोड़ दिया, महान कवि तुलसीदास, कबीर, रैदास, मीराँ, सूरदास, अगर आप उनके वंशज हैं तो आप ऐसा क्यों सोचेंगे? ये खुद एक अश्लील घटना है कि हमारे समाज में जहाँ अधिकांश लोगों को ठीक से भोजन नहीं मिलता वहाँ एक कवि को ग्यारह लाख की राशि ईनाम के तौर पर दी जाए। क्या ये राजशाही है? क्या ये राज्याश्रय है? लेकिन है। तो ये काम भी

होता है और इस तरह ये निजी संस्थाएँ भी अपने मूल्यों को स्थापित करती हैं। यानी सर्वोपरि क्या है? सर्वोपरि है धन, धन की महिमा। लेकिन एक साहित्यकार के लिए इन संस्थाओं की जरूरत नहीं होती। एक साहित्यकार इन संस्थाओं के बगैर काम करता है और उसको करना चाहिए। लेकिन एक फिल्मकार वो कैसे काम करेगा? उसको तो पैसा चाहिए नहीं तो वो फिल्म नहीं बना सकता। आपको मालूम है कि एक समय में राष्ट्रीय फिल्म वित्त निगम बहुत काम करता था उससे बहुत फिल्में बनी। बहुत अच्छी-अच्छी फिल्में बनीं। अब वो लगभग खत्म हो गया है। तो अच्छी फिल्म बनाने वाले कहाँ जाएँगे? उन्हीं स्मगलर्स के पास, उन्हीं पूँजीपतियों के पास, उन्हीं धंधेबाजों के पास जाना होता है। जापान के महान फिल्मकार कोरोसावा जिनका बहुत गहरा असर सत्यजीत राय पर था, को अपने अंतिम दिनों में कहीं से भी एक भी पैसा नहीं मिल रहा था अपनी फिल्म बनाने के लिए क्योंकि वो बहुत क्रांतिकारी फिल्मकार थे और लगता था कि वो खत्म हो गए। एक फिल्मकार क्या करेगा, कैमरा ऐसे ही रखा हुआ है कुछ नहीं कर सकता। तब उनको मदद दी सोवियत संघ ने, तब उनको मदद दी अमेरिका के कुछ संस्थाओं ने और उन्होंने कई महान फिल्म बनाई और बनाते रहे। आज क्या होगा? अब आप वैज्ञानिकों के बारे में सोचिए। हम लोगों का काम है कागज-कलम चाहिए हो जाएगा काम लेकिन एक वैज्ञानिक कैसे काम करेगा? दुनिया में सबसे ज्यादा मुश्किल आज वैज्ञानिकों को है। उनको प्रयोगशाला ही नहीं मिलती। अमेरिका में अधिकतर जो काम होते हैं, वो युद्ध से संबंधित शोध कार्य होते हैं—नब्बे प्रतिशत। ऐसे में एक वैज्ञानिक क्या करेगा? इंग्लैंड में रॉयल सोसाइटी की स्थापना गरीब घरों से आए हुए वैज्ञानिकों ने की थी। एडीसन, डेविड जैसे लोगों ने। इनको ठीक से फ्रेंच या लैटिन नहीं आती थी। इन्होंने रॉयल सोसाइटी की स्थापना करते हुए कहा कि अब से हम अपना सारा काम अपनी भाषा यानी अंग्रेजी में करेंगे। वहाँ से चलकर दुनिया में अंग्रेजी यहाँ पहुँची। क्या भारत का वैज्ञानिक ऐसा निर्णय ले सकता है? आज भारत का कोई भी वैज्ञानिक अपनी भाषा में काम नहीं करता है। संस्थाएँ क्या कर सकती हैं आप देखिए। जगदीश चंद्र बसु ने अंग्रेजों के विरुद्ध घोष इंस्टीच्युट की स्थापना की थी। उन्होंने अंग्रेजों की नौकरी छोड़ दी लेकिन उनके पास पैसे नहीं थे। उनको सबसे पहला अनुदान मिला महान कवि रवीन्द्रनाथ की ओर से 10 हजार रुपये का और संस्था शुरू हुई। सबसे अंतिम अनुदान मिला महाराष्ट्र में पढ़ने वाली बच्चियों की तरफ से। उन्होंने एक दिन का अपना पॉकेट खर्च जमा किया और जगदीश चंद्र बसु को भेजा। ये सब लिखित है भारतीय विज्ञान के इतिहास में। तब वो संस्था बनी। रवीन्द्रनाथ ने शांति निकेतन शुरू किया। गाँधी जी ने इतनी संस्थाएँ खड़ी की, महान संस्थाएँ, आज उनका क्या हश्र है; ये अलग बात है। ये काम हम भी कर सकते हैं। निजी क्षेत्र ने किया, वैसे लोगों ने जो तपस्वी लोग थे। इसके साथ एक काम और होता है। आंदोलन होते हैं। कुछ कवि इकट्ठा होते हैं और वो एक आंदोलन करते हैं। इस आंदोलन के रूप में वो पत्रिका निकालते हैं। किताबें छापते हैं और समाज को बदलने की कोशिश करते हैं। बाँग्ला में 'कृत्तिवास' पत्रिका ऐसी ही पत्रिका थी। उसने ये काम किया। हिन्दी में 'सरस्वती' ने ये काम किया और बाद में भी बहुत से कवियों ने जो पत्रिका निकाली। प्रेमचंद ने 'हंस' निकाली और इन सभी ने एक समानान्तर संस्था के तौर पर काम किया।

ये तो मोटा-मोटी संस्था और साहित्यकार का संबंध है। लेकिन इसमें एक-दो बाते रह जाती हैं और वो बातें थोड़ी दिलचस्प भी हैं और थोड़ी विवादास्पद भी हो सकती हैं। विवादास्पद तो सब कुछ है लेकिन अब जो आगे मैं कहने जा रहा हूँ उसमें इसकी गुँजाइश कुछ ज्यादा है। वो यह है कि संस्थाओं के साथ हमारा संबंध क्या हो? मुझको याद है, जो हमारी उम्र

के हैं यहाँ उनको भी याद होगा। लेकिन मैं देख रहा हूँ और मुझे खुशी है कि अधिकतर लोग मुझसे छोटे हैं। जब मैंने लिखना शुरू किया तो उस समय ये एक चलन था कि हम रेडियो पर कविता नहीं पढ़ेंगे। बड़ी-बड़ी पत्रिकाओं में कविता नहीं छपवाएँगे। उस समय 'धर्मयुग', 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' बड़ी पत्रिकाएँ थी। हमारे जैसे नए लोग तो ऐसे ही नहीं छपते, छापता भी कौन लेकिन जोर-शोर से इसपर थे और ये चला। फिर मुझको याद है कि धूमिल की कविता छपी 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' में और हम लोग बिलकुल स्तब्ध रह गए कि ये क्या? यानी बहिष्कार था और उस बहिष्कार को तोड़ कर वह कविता छपी। फिर हमने देखा मनोहर श्याम जोशी संपादक हुए, उन्होंने खत मुझको लिखा था, कई लोगों को लिखा था। लेकिन मैंने अपना पालन करना ही बेहतर समझा और मैंने नहीं भेजा। लेकिन मेरे मित्रों की कविताएँ बड़े-बड़े फोटो के साथ पूरे पन्ने पर छपीं। यानी बहिष्कार के एक निर्णय को लोगों ने नहीं माना। ये बहिष्कार हमेशा चलता रहता है; बाद में यह बहिष्कार भारत भवन का भी हुआ। बहुत से लोगों ने बहिष्कार किया। फिर शामिल हुए फिर बहिष्कार हुआ फिर लोग शामिल हुए। इसी तरह बहुत बार हम संस्थाओं का बहिष्कार करते हैं और शामिल होते हैं। लेकिन ऐसा क्यों करते हैं? क्या एक सु-चिन्तित, सुसंगत निर्णय नहीं होना चाहिए। क्योंकि इन संस्थाओं का चरित्र, जैसा मैंने अभी विश्लेषित किया वो वैसा है। तो हम क्या करें? यहाँ वापस अल्थ्यूसर के पास लौटते हैं, जो दमनात्मक उपकरण हैं, सत्ता के 'रिप्रेसिव स्टेट अपेरटस' जिसमें फौज, पुलिस, न्याय व्यवस्था है वहाँ क्या करिएगा? कुछ नहीं कर सकते आप। लेकिन जो 'आइड्योलोजिकल स्टेट अपरेटस' हैं जिसमें स्कूल, कॉलेज, विश्वविद्यालय, चिकित्सालय, साहित्यिक संस्थाएँ, परिषदें, कला परिषदें इनके साथ हमारा संबंध क्या हो? यह तय करने के लिए मैं यहाँ नहीं हूँ। ये सब आप सोचिए। ये दोनों अलग-अलग उपकरण हैं, दोनों से हमारा एक जैसा संबंध नहीं हो सकता। ये सभी उपकरण भी इसीलिए हैं कि वे सत्ता की सेवा करें। एक समय था जब फणीश्वर नाथ 'रेणु' ने पद्मश्री लौटा दिया था। जयप्रकाश आंदोलन के समय, क्योंकि वो सरकारी सम्मान है, जैसे राय बहादुर की होती थी। इसी कारण जब 'जनता पार्टी' की सरकार आई तो उसने बहुत अच्छा ये काम किया कि ये सम्मान ही उसने खत्म कर दिया और दो वर्षों तक कोई सम्मान नहीं दिया गया। लेकिन फिर उनको लगा होगा कि बहुत मुश्किल है सत्ता को तो अपने चाकर भी चाहिए। कुछ लोगों को खुश भी करना चाहिए, तो उन्होंने फिर से शुरू कर दिया और वो चल रहा है। सत्ता की जब आप सेवा करते हैं या फिर समाज की आप जो सेवा करते हैं उसके एवज में वो दिया जाता है। वो लें या न लें ये भी एक सवाल है। रेणु ने लौटा दिया था। जलियाँवाला बाग हत्या कांड के विरोध में रवीन्द्रनाथ ने जो उनको नाइट-हुड की उपाधि दी गई थी यानी 'सर' वो कहलाए, उसको लौटाने के लिए उन्होंने पत्र लिखा। लौटाया नहीं उन्होंने, अनुमति माँगी कि हमें लौटाने की अनुमति दी जाए। लौटाने की अनुमति कोई देगा थोड़े ही, यानी लौटाया नहीं उन्होंने। इसका मतलब ऐसे अवसर भी आते हैं जब आपको निर्णय लेने पड़ते हैं। उन्होंने अपना विरोध प्रकट किया, रवीन्द्रनाथ ने अपना रोष प्रकट किया लेकिन किया सही किया, करना ही चाहिए। रेणु ने लौटाया सही किया, करना ही चाहिए। हमारे कुछ साथियों ने साहित्य अकादमी का पुरस्कार भी लौटाया और सही किया। उनको उस पर कायम रहना चाहिए था। लेकिन एक को छोड़कर बाकी सभी साहित्य अकादमी जाते हैं। उसके लिए काम करते हैं, वहाँ बैठे रहते हैं। निर्णय लेना चाहिए पर उस निर्णय पर कायम रहिए। साहित्य अकादमी सरकार की संस्था नहीं है। सरकार पैसा देती है। मैं, पिछली के पिछली जो कार्यकारी समिति थी उसमें सदस्य था। हमारे समय

में एक ऐसा प्रस्ताव आया जो स्वीकार्य नहीं था। हमने सर्वसम्मति से उस प्रस्ताव का विरोध किया। सरकारी प्रतिनिधि ने कहा कि हम आपको पैसा देते हैं। मैंने कहा कि आप हमें पैसा देते हैं, आपको पैसा कौन देता है? भारत के प्रधानमंत्री को पैसा कौन देता है? उसका खर्चा कौन चलाता है? क्या ये सवाल नहीं पूछा जाना चाहिए? जो हमको देता है वही तुमको भी देता है। तुम कौन हो देने वाले और अगर धार्मिक हो, तो सब ऊपरवाला देता है। तुम कहाँ से दोगे? तो ये सवाल पैदा होते हैं कि हम क्या करें? हम उन संस्थाओं में जाएँ या न जाएँ? कहाँ तक इनसे अपना संबंध बनाएँ? एक समय ऐसा आएगा कि ये संस्थाएँ स्वयं आपको बाहर कर देंगी। हिन्दी साहित्य सम्मेलन कितना सक्रिय था सत्यप्रकाश जी के समय। इलाहाबाद संग्रहालय कितना सक्रिय था। हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय कितना सक्रिय था। अब क्यों नहीं है? ये संघर्ष चलता है और जैसा समय होता है उस तरह की ये संस्थाएँ होती हैं। यही बात साहित्य अकादमी के बारे में भी लागू होती हैं। वो सरकारी संस्था नहीं है, जो भारत की साहित्य अकादमी है उसका गठन भी इस तरह का है। अभी भी वो देश की सर्वाधिक स्वायत्त संस्था है क्योंकि उसके अध्यक्ष का चुनाव होता है। उसे चुनते हैं वो लोग जो बतौर लेखक चुन कर आते हैं। वो चाहे जैसे भी लोग हों वो एक अलग बात है। तो हम क्या करें? जो पुरस्कार लोगों ने उन्हें लौटाया है वो लौटे नहीं। पैसे उनके पास हैं—ज्यों के त्यों। अभी भी उनसे गुजारिश की जा सकती है कि जो पैसे उनके पास हैं वो विभिन्न संस्थाओं को दे दें तो वो अच्छा रहेगा। लेकिन सत्ता का विरोध करना नहीं छोड़ना चाहिए। सत्ता जब-जब गलत काम करेगी तो लेखक उँगली उठायेगा। लेखक बोलेगा और लेखक सत्ता से कोई लाभ नहीं लेगा। सत्तानशीन सत्ता केवल सरकार नहीं है। पूँजी की भी सत्ता है। जैसे कि अगर मैं साहित्य अकादमी पुरस्कार लौटता हूँ तो मैं ज्ञानपीठ भी लौटाऊँगा। मैं बिड़ला भी लौटाऊँगा। मैं दयावती मोदी भी लौटाऊँगा। अगर सरकार ने मुझे कोई फ्लैट या मकान दिया है तो वो भी लौटाऊँगा। नहीं तो ये अधूरा काम होगा, अधूरा विरोध होगा और तब लोगों में हमारी कोई पहचान नहीं रहेगी। पोलिश कवि चेश्वामिलोष का एक वाक्य है—'जब सब षड्यंत्र करके चुप बैठे हों तो उसमें सच का एक शब्द भी गोली दगने जैसा आवाज करता है।' एक कवि को, एक लेखक को, अपने सच को, अपने शब्द को हमेशा बोलना चाहिए। कोई प्रलोभन, कोई पैसा, कोई पद उसको इससे विरत नहीं कर सकता। निराला को नहीं किया, महादेवी को नहीं किया और किसी को भी नहीं किया। जो बड़ा लेखक है वो विरोध करता ही है। लेकिन सत्ताओं के साथ हमारे संबंध को इस पूरे वृहत्तर परिप्रेक्ष्य में रखकर देखना चाहिए। किसी हड़बड़ी में कोई निर्णय नहीं लेना चाहिए। कई बार बहुत जरूरी होता है कि हम संस्थाएँ बनाएँ भी। जो बनी संस्था है उनका उपयोग भी करें। उनको व्यवहार में भी लाएँ और तब जो कुछ भी सर्व-जन के हित में है वह काम करें। अपने हित में नहीं।

दूसरा पक्ष है हमारी वार्ता का वो है संगठन। संगठन की क्या जरूरत होती है? संगठन कैसे बनते हैं? साहित्यकारों के ही नहीं वैज्ञानिकों के भी। दुनिया में जो सबसे बड़ा संगठन बना वो साहित्यकारों से ज्यादा बड़ा वैज्ञानिकों का था। पहले विश्वयुद्ध और द्वितीय विश्वयुद्ध के बीच में। जिसमें मदाम क्यूरी भी थीं, आइन्स्टाइन भी थे, बर्टेंड रसल भी थे। सब थे, बहुत बड़ा संगठन था और उन्होंने युद्ध का विरोध किया। उन्होंने समानता के पक्ष में आवाज उठाई और उससे प्रेरित होकर लेखकों ने भी संगठन बनाया। पहला बड़ा संगठन बना 1934 में लेखकों का पेरिस में, जो फासिज्म के विरोध में था, जो युद्ध के विरोध में था, जो असमानता के विरोध में था, जो लगातार फैलते औद्योगीकरण के विरोध में था। और उसी से प्रेरित होकर

भारत में भी 1936 में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई—'प्रोग्रेसिव राइटर्स एशोसियेशन'। जिसके पहले अध्यक्ष प्रेमचंद थे। जिसके बड़े नुमाइंदे अली अहमद फातमी साहब जो उर्दू के इतने बड़े लेखक हैं, वो यहाँ बैठे हैं। बाद में जनवादी लेखक संघ भी बना जो सी पी एम से जुड़े लेखकों का संगठन है। जन संस्कृति मंच भी बना जो सी पी आई (एम एल) से जुड़ा संगठन है। इसके अलावा जो विभिन्न कम्युनिस्ट संगठन हैं उनके अपने-अपने संगठन हैं। लेकिन क्या केवल इन्हीं के संगठन हैं? इस देश का सबसे बड़ा संगठन लेखकों और संस्कृति-कर्मियों का 'संस्कार-भारती' है। काँग्रेस का भी अपना संगठन है। जब श्रीकांत वर्मा पुरस्कार दिया जाता था तो उस दिन, काँग्रेस के उन लेखकों की बैठक होती थी। वो 'राइटर्स गिल्ड' के नाम से या किसी नाम से चलाते हैं। वह अभी भी है। बिहार में मैं जहाँ से आता हूँ वहाँ जदयू का भी सांस्कृतिक प्रकोष्ठ है और राष्ट्रीय जनता दल का भी सांस्कृतिक प्रकोष्ठ है, जिसमें लेखक भी हैं। उनके अध्यक्ष, महासचिव सब हैं। ऐसे ही सबका है। हम गलतफहमी में होते हैं कि केवल प्रगतिशील लेखक संघ, जनवादी लेखक संघ और जन संस्कृति मंच ही है। हर राजनीतिक दल के अपने लेखक संगठन हैं। उनके अपने लेखक हैं और अपने लेखकों का वो पोषण भी करते हैं। ये बहुत बड़ी सत्ता है। बहुत जगहों पर बहुत तरह के कामों के लिए बहुत तरह के लेखकों की जरूरत होती है। इसके अलावे आपको मालूम होगा कि दुनिया में एक बहुत बड़ा संगठन है 'PEN' नाम से, जो बहुत सक्रिय संगठन है। इसमें दुनिया के बहुत बड़े लेखक भी शामिल हैं। आप ये भी जानते हैं कि भारत में और पूरी दुनिया में एक और संगठन बहुत सक्रिय था 'कांग्रेस फॉर कल्चरल फ्रीडम' जिसमें अज्ञेय भी थे। अज्ञेय उसके मुख्य कर्ता-धर्ताओं में से थे। इतने तरह के संगठन हैं। इसके अलावे दलित लेखकों का अपना संगठन है। स्त्री लेखकों का अपना संगठन है। ये सब संगठन भी हैं। ये सारे संगठन काम करते हैं। इसके अलावे संगठन और भी बनते हैं। संगठन बनते हैं पत्रिकाओं के जरिये भी, जैसे जब 'दिनमान' पत्रिका निकलती थी तो वो केवल एक पत्रिका नहीं थी, वो एक पूरा संगठन था। अज्ञेय उसका संचालन करते थे। बाद में उन्होंने वात्सल्य निधि बनाई जो एक संस्था के तौर पर काम करने लगी। इसके अलावा जो बीच में मैंने एक बात कही कि कविता के क्षेत्र में जितने भी आंदोलन हुए हैं, बड़े आंदोलन, पूरी दुनिया में, वो सब संगठनों ने किए हैं। यानी कई लेखक इकट्ठा हुए, उन्होंने कुछ तय किया और एक खास तरीके से कविता लिखने को आगे बढ़ाया। सिंबोलिज्म, इमेजेनिज्म, सुर्रियलिज्म—ये सारे आंदोलन जो कविताओं में या कलाओं के क्षेत्र में हुए ये सब इन्हीं लेखकों कलाकारों के आपसी मिलने-जुलने के चलते हुए। जो विधिवत् संगठन नहीं थे, महासचिव और अध्यक्ष जिसमें न हों लेकिन वो संगठन ही थे। तो संगठनों के जरिए साहित्य का विकास होता है। पतन भी हो सकता है, लेकिन विकास होता है। संगठन की जरूरत हमेशा थी और दो सौ वर्षों से लोगों ने महसूस किया कि वो रहनी चाहिए। एक तो कला की अपनी आंतरिक अनिवार्यता होती है जैसे कि निराला ने खास तरह की कविता लिखी, उन्होंने डिंगल-पिंगल से छुटकारा पाया तो एक पूरा घोषणा-पत्र तैयार किया उन्होंने और वो एक बहुत बड़ा आंदोलन था। एक संगठन था। छायावाद ने जो नए मुहावरे पैदा किए, प्रयोगवाद ने नए मुहावरे पैदा किए, प्रगतिवाद ने नए मुहावरे पैदा किए, नई कविता ने मुहावरे पैदा किए, वो सब संगठन के जरिए ही सामने आए और वो सब संगठन अलग अलग तरह के थे। यानी कला की आंतरिक अनिवार्यता से उत्पन्न संगठन। ऐसा भी होता है। दूसरी तरफ एक बहुत बड़ा काम आज ये है कि ऐसे समाज में जहाँ सत्ता सर्वग्रासी हो, लेखकों को हमेशा बोलने के लिए तैयार रहना चाहिए। ये बात अमेरिका में, इंग्लैंड में,

रूस में, चीन में, जर्मनी में, भारत में, पाकिस्तान में हर जगह है। इसी से जुड़ी एक छोटी सी बात जो संस्था वाली बात से जोड़कर ही मुझे कहनी चाहिए वह यह है कि लेखक की एक दिक्कत है, कवि की एक दिक्कत है। दिक्कत ये है कि मैं जिस भाषा में लिखता हूँ वो भाषा आप सब की है। वही भाषा एक मजदूर भी बोलता है और माँ भी बोलती है, दादी भी बोलती है। भारत के प्रधानमंत्री भी बोलते हैं और जो भारत में खूंखार हत्यारे हैं वो भी बोलते हैं। जो बड़े पूँजीपति हैं वो भी बोलते हैं। जो बड़े लेखक हैं वो भी बोलते हैं। जो बड़े वैज्ञानिक है वो भी बोलते हैं। सबसे साधारण गरीब लोग जो भीख माँग रहे हैं वो भी बोलते हैं। अगर मैंने कोई कविता लिखी और वह किसी के दिल को छू गई तो वह सार्थक है। अभी विनोद बता रहे थे कि तुर्की में भाषा के लिए शब्द है—दिल। भाषा को तुर्की भाषा में दिल कहा जाता है। तो अगर मेरी भाषा यानी मेरा दिल आपके दिल को छू जाता है और आप मुझको चाहते हैं तो मैं ये नहीं कह सकता कि आपको चाहने का अधिकार नहीं है। ये बंदिश किसी पर कैसे लगाई जा सकती है। कोई भी चाह सकता है। मैंने ये बात क्यों कही? आपको मालूम है, अली अहमद फातमी साहब बैठे है यहाँ पर वो ज्यादा बताएँगे अगर जरूरी समझेंगे तो। फैज अहमद फैज को पाकिस्तान से फिर निकाला गया था और उनको भारत आना था। बहुत मुश्किल थी, कैसे आते वो, उस समय अटल बिहारी वाजपेयी प्रधानमंत्री थे। उन्होंने व्यवस्था कराई कि फैज सकुशल भारत आएँ, भारत में रहें। क्योंकि फैज को चाहने वाला कोई भी हो सकता है। क्या मैं फैज को पसंद करना बंद कर दूँगा कि उसको चाहने वाला एक बहुत बड़ा पूँजीपति भी है। यही होता है, यह साहित्य का अपना समवाय है। इसमें साहित्य में जो सहित का भाव है, वो है। एक और उदाहरण देकर इस प्रकरण को मैं खत्म करूँगा। वह उदाहरण है पाब्लो नेरुदा का। पाब्लो नेरुदा भाग रहे थे और रातों-रात उनको जंगल पार कर जाना था लेकिन कुछ ऐसा हुआ कि वो फँस गए। वो चिली के जंगल में अटक गए। वहाँ एक केबिन था, जो व्यक्ति उनके साथ था उसने कहा कि आइए इसी में रात बिताते हैं। सुंदर केबिन था उसमें वो गए। वहाँ पहुँचकर उन्हें मालूम हुआ कि वह केबिन तो वहाँ का जो तानाशाह है उसके सबसे करीबी दोस्त का है। उसी समय मालूम हुआ कि वो भी बस आ ही रहा है। वो आता नहीं है आमतौर पर लेकिन आज वो आ रहा है। अब तो तय था कि पकड़े जाएँगे और मार दिए जाएँगे। अब क्या किया जाए? तो हुआ यह कि उसे बता दिया गया कि नेरुदा बगल वाले कमरे में हैं। उसने बोला ठीक है। उसने उसके आगे कुछ नहीं बोला। करीब एक घंटे के बाद उसने नेरुदा का दरवाजा खटखटाया। उसने उनसे हाथ मिलाया और कहा कि यहाँ क्यों बैठे हैं मेरे कमरे में चलिए। उसने उनको सबसे अच्छा खाना खिलाया और जो भी सत्कार हो सकता था किया। उसी ने मुँह-अँधेरे अपने लोगों के साथ उनको सीमा पार करवाया। अंतिम शब्द उसने बिदा के तौर पर ये कहे कि 'पाब्लो मैं तुमको प्यार करता हूँ। तुम बहुत बड़े कवि हो।' तो इस तरह से भी चीजें होती हैं, ये भी संभव है। ये दुनिया थोड़ी अजीब है। बहुत सारे कवियों लेखकों को जर्मनी और इटली में पाब्लो नेरुदा ने तब बचाया जब फ्रांस में वो चिली के राजदूत थे। उनकी सहायता की मुसोलिनी की सरकार के होम मिनिस्टर ने क्योंकि वो उन कवियों लेखकों को जानता था और प्यार करता था। बिलकुल अजीब है, पर ऐसा चलता है, आप कुछ नहीं कर सकते इस पर। ये साहित्य की, आप कहें तो विडम्बना है और कहें तो साहित्य की अपनी आह्लादकारी शक्ति है। मिलाने वाली शक्ति है। लेकिन संगठन इसलिए जरूरी है कि हम प्रतिरोध कर सकें। हम सच को जोर से बोल सकें और हम कभी भी किसी भी सत्ता के मुखापेक्षी न बनें। अब ये

संगठन कैसे बनेगा, उनको कौन आगे ले जाएगा, ये एक अलग बात है। उसके लिए यहाँ अवकाश नहीं है। अभी आप सभी जानते हैं किसानों का बहुत बड़ा जुलूस निकला महाराष्ट्र में, पचास हजार किसान थे। महाराष्ट्र के मुख्यमंत्री, सभी पार्टियों के नेता, सभी ने उनकी खुशामद की। सबने उनकी प्रशंसा की, उन्होंने सब का दिल जीत लिया। मैं यही सोचता रहा कि आज मैं अपने घर में बैठा हूँ, क्या आज की शाम मैं भी अन्य लेखकों के साथ सड़क पर नहीं निकल सकता था उनके समर्थन में। पूरे देश में जहाँ तक मेरी जानकारी है लेखकों का कोई जुलूस उनके समर्थन में नहीं निकला। मेरे पास कोई ऐसी शक्ति नहीं थी जो मैं पाँच लोगों को भी इकट्ठा कर सकूँ। क्यों नहीं निकल पाया? हमें संगठन इसीलिए चाहिए। हमें संगठन आपसी मनमुटाव, वाद-विवाद के लिए नहीं उन सब को छोड़कर जो बड़े उद्देश्य हैं उसके लिए चाहिए, क्योंकि हमें एक नया समाज बनाना है। हमें वो समाज बनाना है जिसके स्वप्न वाल्मिकि ने देखे थे। जिसके स्वप्न तुलसी ने देखे थे, कबीर ने देखे थे। हमें वैसा समाज बनाना है और उसके लिए जरूरी है कि हम अपनी ही शक्ति अर्जित करें। इसीलिए निजी उद्यम का भी महत्त्व है। इसलिए भी सारी निजी संस्थाएँ और संगठन भी महत्त्वपूर्ण हैं। इसलिए शिक्षा की वैकल्पिक व्यवस्था भी आवश्यक है। इसलिए विभिन्न विकल्पों का होना जरूरी है। एक घर ऐसा होना चाहिए जिसमें एक ही दरवाजा न हो, बहुत से दरवाजे हों आने के भी जाने के भी। बल्कि सबसे अच्छा तो यह हो कि बे-दरोदीवार से घर बनाया जाए। एक घर ऐसा हो जिसमें कोई दीवार हो ही नहीं। संस्थाएँ, संगठन और साहित्यकार इन तीनों के बीच जो संबंध बनेगा वो इसी आदर्श को ध्यान में रखकर बनेगा। सत्यप्रकाश जी ने ये सब कर दिखाया। मेरे जैसा आदमी, मैं सार्वजनिक रूप से यह स्वीकार करता हूँ कि सत्यप्रकाश जी की गोष्ठियों में बोलने के लिए, उसके पहले अशोक वाजपेयी की गोष्ठियों में बोलने के लिए, उसके पहले और उसके साथ-साथ अभी तक प्रगतिशील लेखक संघ की गोष्ठियों में बोलने के लिए और साहित्य अकादमी की गोष्ठियों में बोलने के लिए, मुझे जो तैयारी करनी पड़ती है उसने मुझको बिलकुल बदल दिया। सत्यप्रकाश जी नहीं होते तो बहुत से विषयों पर मैं सोचता भी नहीं। सत्यप्रकाश जी ने संस्थाओं को जो पुनर्जीवन दिया, पुनरुत्थान किया, हम सब उसके लिए आभारी हैं। आज जरूरत है हम उस काम को आगे बढ़ाए। उन्होंने साहित्यकार और संस्था, इनके रिश्तों के बारे में एक नई समझ पैदा की। इसी तरह से संगठन के बारे में एक नई समझ खुद इलाहाबाद के लोगों ने, यहाँ की परिमल संस्था ने, यहाँ के प्रगतिशील लेखक संघ ने उनकी आपसी लड़ाइयों ने पैदा की। उस समय कॉफी-हाउस भी एक संस्था के तौर पर और एक संगठन के तौर पर उभर कर सामने आया। पिछले पाँच सौ वर्षों में दुनिया में प्रतिरोध के सबसे बड़े जो केंद्र हुए वो यही कॉफी-हाउस हुए, इंग्लैंड में वो पब हुए, भारत में भी वो अड्डे हुए। हम उन पब, कॉफी-हाउस और अड्डो की स्मृति में अपना सिर झुकाते हैं जिन्होंने प्रतिरोध की महान परंपरा को जीवित रखा और उसे शक्ति में बदल दिया। मैं इसी के साथ अपनी बात खत्म करता हूँ। मैं जानता हूँ कि ये विषय इस तरह का है जिसमें बहुत सी बातें छूट गईं हैं, बहुत सी बातें मैंने जान बुझकर छोड़ी हैं। बहुत सी बातें इसलिए भी छोड़ी है कि बाद में आप बात करें और सोचे कि किस तरह से हमें सोचना चाहिए। बहुत-बहुत धन्यवाद! आभार!

[11वाँ सत्यप्रकाश मिश्र स्मृति व्याख्यान, 25 मार्च, 2017, इलाहाबाद]

–लिप्यंतरण : धीरज कुमार मिश्र

डायरी के कुछ पन्ने और पत्र

दूधनाथ सिंह

[डायरी के ये पन्ने और पत्र कॉमरेड सुधीर सिंह ने हमें उपलब्ध कराए हैं। 'पक्षधर' उनका आभारी है।]

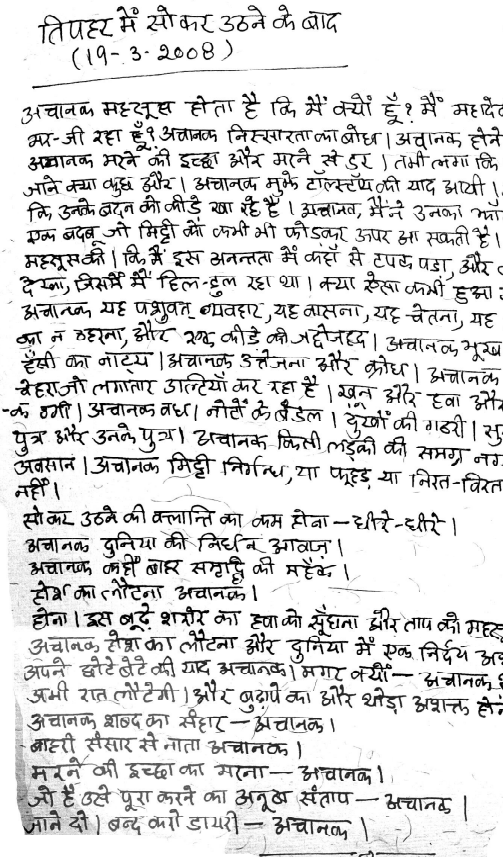

दोपहर में सोकर उठने के बाद
(19-3-2008)

अचानक महसूस होता है कि मैं क्यों हूँ? मैं महादेवी पर दो सालों से काम करते हुए क्यों मर-जी रहा हूँ? अचानक निस्सारता का बोध। अचानक होने की व्यर्थता। अचानक जीने का न जीना। अचानक मरने की इच्छा और मरने से डर। तभी लगा कि मैं बीमार हूँ। तभी कुछ और लगा—न कि, उनके बदन की बीड़ें खा रहे हैं। अचानक, मैंने उनका आँखों जंजाल देखना महसूस किया। अचानक एक बदबू जो मिट्टी की कभी भी फोड़कर ऊपर आ सकती है। अचानक मैंने खून में लिथड़ी धूरी पृथ्वी देखा, जिसमें मैं हिल-डुल रहा था। क्या ऐसा कभी हुआ होगा? अचानक यह प्रकृति की अनाहादी क्रूरता, यह पशुवत व्यवहार, यह वासना, यह चेतना, यह अहं का घनघोर व्यापार। अचानक दुनिया हँसी का नाट्य। अचानक उत्तेजना और क्रोध। अचानक शोक। कुछ अचानक। अचानक एक चेहराजो लगातार डाल्फियाँ कर रहा है। खून और हवा और हिचकी और प्रणय और आघात। अचानक एक -क हमी। अचानक वध। नीलें के तांडव। पुरखों की गाली। सुखों के निर्मम मोलेपन। अचानक पुत्र और उनके पुत्र। अचानक किसी लड़की की समग्र नग्न देह। सुरत लज्जा और वासना का अवसान। अचानक मिट्टी निर्गन्ध, या फूहड़ या निरत-विरत। अचानक स्मृति। नहीं।

सोकर उठने की क्लान्ति का कम होना—धीरे-धीरे।
अचानक दुनिया की निर्दिन आवाज़।
अचानक कहीं बाहर सभ्यता की सड़क।
दोपहर का लौटना अचानक।
होना। इस बूढ़े शरीर का हवा को सूँघना और ताप को महसूस करना—अचानक।
अचानक, दोपहर का लौटना और दुनिया में एक निर्दय अर्थ का अहसास अचानक।
अपने छोटे बेटे की याद अचानक। मगर क्यों—अचानक?
अभी रात लौटेगी। और बुढ़ापे का और थोड़ा अशक्त होना—तभी अचानक।
अचानक, शब्द का संहार—अचानक।
बाहरी संसार से नाता अचानक।
मरने की इच्छा का मरना—अचानक।
जो है उसे पूरा करने का अनूठा संताप—अचानक।
जाने दो। बन्द करो डायरी—अचानक।

तिपहर में सोकर उठने के बाद

अचानक महसूस होता है कि मैं क्यों हूँ? मैं महादेवी पर दो सालों से काम करते हुए क्यों मर-जी रहा हूँ? अचानक निस्सारता का बोध। अचानक होने की व्यर्थता। अचानक जीने का न जीना। अचानक मरने की इच्छा और मरने से डर। तभी लगा कि मैं बीमार हूँ। तभी कुछ और लगा—न जाने क्या कुछ और। अचानक मुझे टॉल्स्टॉय की याद आयी। उनके दफ़न होने की। अचानक मैंने देखा कि उनके बदन को कीड़े खा रहे हैं। अचानक मैंने उनका झाँझर कंकाल देखना महसूस किया। अचानक एक बदबू जो मिट्टी को कभी भी फोड़कर ऊपर आ सकती है। अचानक मैंने खून में लिथड़ी पूरी पृथ्वी महसूस की, कि मैं इस अनन्तता में कहाँ से टपक पड़ा और क्यों? मैंने अपनी माँ का फूला हुआ पेट देखा, जिसमें मैं हिल-डुल रहा था! क्या ऐसा कभी हुआ होगा? अचानक यह प्रकृति की आवाजाही, अचानक यह पशुवत् व्यवहार, यह वासना, यह चेतना, यह अहं का घनघोर व्यापार। अचानक दुनिया का न ठहरना और एक कीड़े की जद्दोजहद। अचानक भूख और चिंता और दुःख की अनुभूति। हँसी का नाट्य। अचानक उत्तेजना और क्रोध। अचानक शोक। कुछ अचानक। अचानक एक चेहरा जो लगातार उल्टियाँ कर रहा है। खून और हवा और हिसकी और प्रणय और आघात। अचानक ठगी। अचानक वध। नोटों के बंडल। दुःखों की गठरी। सुखों के निर्मम भोलेपन। अचानक स्मृति। पुत्र और उनके पुत्र। अचानक किसी लड़की की समग्र नग्न देह। सुखद लज्जा और वासना का अवसान। अचानक मिट्टी निर्गन्ध या फूहड़ निरत-विरत। अचानक जाग्रत मौन। अचानक कुछ नहीं।

सोकर उठने की क्लान्ति का कम होना—धीरे-धीरे।
अचानक दुनिया की निर्धन आवाज़।
अचानक कहीं बाहर समृद्धि की महँक।
होश का लौटना अचानक!
होना। इस बूढ़े शरीर का हवा के सूँघना और ताप को महसूस करना—अचानक!
अचानक होश का लौटना और दुनिया मे एक निर्दय अर्थ का अहसास अचानक!
अपने छोटे बेटे की याद अचानक! मगर क्यों—अचानक?
अभी रात लौटेगी। और बुढ़ापे का और थोड़ा अशक्त होना—तभी अचानक!
अचानक शब्द का संहार—अचानक!
बाहरी संसार से नाता अचानक!
मरने की इच्छा का मरना—अचानक!
जो है उसे पूरा करने का अनूठा संताप—अचानक!
जाने दो। बन्द करो डायरी—अचानक!

(19-3-2008)

बूढ़ों की बहार

जब मैं कार से उतरकर उस सभा स्थल की ओर चला तो मेरे आगे जिया उल हक़ साहब चले जा रहे थे। उनकी उम्र 94 साल की है। उनका ड्राइवर उनका हाथ पकड़े हुए था। आज सिर पर पहली बार ऊनी टोपी थी। इस उम्र में भी अभी दम है कामरेड जिया उल हक़ में। मैं खुद 78 साल का हो रहा हूँ। हल्का-फुल्का हूँ, इसलिए प्रकृति की कृपा से अभी तेज-तेज

चलता हूँ—ठीक-ठाक हूँ। कल से गर्दन की बायीं जकड़न है। बस इतना ही।

लेकिन सभा स्थल पर तो बूढ़ों की बहार थी। यह एक दुःस्वप्न की तरह था। मैं मंच पर गया तो मेरे साथ अकील साहब जो खुद 84 साल के हैं। अनिता ने जो कहानी पढ़ी—लाइफ लाइन वह भी घुटनों का ऑपरेशन कराये एक बुड्ढे के बारे में, जिसे एक कमसिन नर्स का इन्तजार रहता है, जो आयेगी और उसको मीठी झिड़की देते हुए चलने (सीढ़ियाँ चढ़ने) का अभ्यास करायेगी। फिर क्या था, कहानी पाठ खत्म होते ही बुड्ढों की बाढ़ आ गयी। एक बुड्ढा जो इधर मीटिंग में आना बन्द कर चुका था, अचानक अपने एक पुत्र का हाथ पकड़े नमूदार हुआ और सीधे मंच पर आ बैठा। बैठते ही उसने कहा, 'मैं बोलने का लोभ-संवरण नहीं कर पा रहा हूँ।' फिर वह उठ खड़ा हुआ और उसने कहानी लेखिका को तरह-तरह से आशीर्वाद दिया। फिर वह अपने बुढ़ापे का निजी दुःखड़ा रोने लगा। उसका एक लड़का जो सरकारी लूटपाट में लगा हुआ है, और जो पहले अपने बाप को बहुत पैसे देता था, वह श्रोताओं में बैठा था। उसके बुड्ढे बाप ने उसकी शिकायत का रोना मंच से शरू किया। उसने इशारे से बताया कि 'फलाँ मेरा बेटा वहाँ बैठा है, पहले बहुत घर आता था, अब नहीं आता। अब मेरी मदद नहीं करता। उसने बताया कि उसके कई-कई पोते हैं, जिनके साथ वह खुश है और अभ्यास (संगीत) करता है। उसने दुःखपूर्वक यह भी बताया कि वह अपने कई-कई पोतों का इन्तजार भी करता है। उसने अपने निजी दुःखड़े को कहानी के बहाने एक सार्वजनिक तथ्य में रूपांतरित कर दिया। बस, कहानी ने क्या गजब ढाया। तरह-तरह के बुड्ढे तरह-तरह से अपना दुःखड़ा व्यक्त करने के लिए मंच की ओर लपक पड़े। एक बहरा बुड्ढा मंच पर एक पुलिंदा लेकर आया। उसने कहानी में विराम-चिन्हों की गलतियों पर एक पोथा रच रखा था। वह एक प्रकाशन गृह और उसके संचालक सम्पादक पर धुँआधार आक्रमण पेल रहा था। मैं जानता था कि वह किस तरह मुकदमेबाजी करके उस प्रकाशन-गृह से 44000=00 रुपये वसूल कर चुका है। उसका नाम भर लिखित रूप में ले लो, वह आपको कचहरी चढ़ाये बिना नहीं रहेगा। वह जिस-तिस पर मुकदमा करके समझौते में पैसे वसूल चुका है। वह हिन्दी साहित्य का सबसे आतंककारी दलाल है, वह पुराने जमाने के अफगानियों की याद दिलाता है जो ऊँचे ब्याज पर गरीब-गुरबा के रुपये चढ़ाते थे और बाद में वूसली के लिए बुलेट मोटर-साइकिलों से उनका पीछा करते थे। ऐसा ही एक अफगानी बुलेट भड़भड़ाता हुआ जब 'उ-सी कासिल्स रोड' वाले हमारे मुहल्ले में आता था तो आऊट-हाऊसेज में रहने वाले सारे सागरपेशा लोग भाग जाते थे। उसने अपनी मोटरसाइकिल के नम्बर वाले प्लेट के ऊपर एक और प्लेट लगवा कर उस पर नागरी अक्षरों में लिखवा रखा था, 'बेवफा का तलाश।' मुझे 'का' व्याकरण से खटकता था लेकिन मैं उससे कुछ कह नहीं सकता था। सारे सागरपेशा लोग इस 'बेवफा' की श्रेणी में आते थे। मेरा छोटा बेटा इस इबारत पर बहुत खुश होता था और कहता था, 'पापा, 'बेवफा का तलाश में' अभी-अभी इधर से गया है।' फिर हम दोनों हँसते थे। घर छोड़कर भागने वाले सारे लोगों को हम जानते थे। मेरा बेटा उनके बच्चों के साथ दिन-भर खेला करता था। बुलेट की भड़भड़ पर वह हँसता जरूर था, लेकिन भीतर से वह बहुत गुस्सा होता था। उन घरों के भीतर की विपन्नता से वह घने रूप में परिचित था और अपने दोस्तों के पिताओं की इस दुर्दशा पर भीतर से बहुत दुःखी रहता था।

बहरहाल, बाद में तो बुड्ढों की बहुत सारी समस्याओं पर लोगों ने बातें की। उनके बच्चों के व्यवहार नयी पीढ़ी की अपने पिताओं-माताओं के प्रति उदासीनता या निपट क्रूर व्यवहार। संयुक्त परिवार की तारीफ। एकल परिवारों की स्वार्थान्धताएँ। शहर में जगहों की कमी। जीवन-

शैली के बदलाव इत्यादि। वृद्धाओं की बातें। कुल मिलाकर जो हड़बोंग वहाँ मचा वह आंतककारी था। एक बुड्ढी बार-बार अपने बुड्ढे को डिफेण्ड करती हुई कह रही थी, 'वह लिखकर लाये हैं।' उसका ही वह बुड्ढा था जो माइक या भौचक लेकिन हिंसक तरीके से खड़ा था। दरअसल, वह अपना शिकार ढूँढ रहा था कि कब कोई उसका नाम लेकर आक्रमण करे और वह उसे अदालत में खींचे और मानहानि कर बाकायदा वसूली करे।

अध्यक्ष के रूप में जब मैं बोलने खड़ा हुआ तो मैंने नारंग जी और नरवणे की उदारता की बात की जिन्होंने अपनी जायदादें और घर, बुढ़ापे में सेवा करने वाले नौकर या किसी लड़के के नाम कर दी थीं और अपनी सन्तानों को ठेंगा दिखाते हुए उच्च जीवनादर्शों का पालन किया था। फिर मैंने हृषीकेश वाले 'स्वर्गाश्रम' की भी बात की। हम दोनों की जो घर में हालत है उसके बारे में मैंने मुँह तक नहीं खोला। मेरा दुःख तो वहाँ दूसरे लोग गा ही रहे थे। मेरा दुःख वहाँ सार्वजनिक दुःख का रूप ले चुका था। लेकिन बुढ़ापे पर ऐसी और इतनी दुर्लभ बहस इलाहाबाद में ही हो सकती है।

अनिता की कहानी ने यह सम्भव किया। हालाँकि कहानी दो कौड़ी की थी।

(24.02.2014)

यहाँ मैं क्यों हूँ!

यहाँ मैं क्यों हूँ? अजब-सी प्रशान्ति और बंजरता है। कुछ नहीं हो रहा। बौद्धिक सरगर्मियाँ नदारद। अपढ़ और खाऊ और नृशंस लोग यहाँ इधर-उधर चारों ओर। इमारतों का आयोजन। लोहा-सीमेण्ट, गर्डर्स। हरियाली। जबकि वहाँ एक चीत्कार है बेबस। जबकि वह और मैं मृत्यु के बिल्कुल मुहाने पर हैं। अब गिरे-अब। वहाँ उस घर में ठण्डक, सीलन, बीमारी, बन्दर किताबें, गन्दे बिस्तर, हाहाकार। बाहर पार्क में खेलते-चिल्लाते, अपने भविष्य से अनजान बच्चे। वहाँ भय, यहाँ लूट। वहाँ गत, यहाँ विगत। आज 11 बजे दिन में ही निकला। उन प्यारी जगहों, चहलकदमियों को फिर नाप लूँ। 18 नं. बेंच पर जाकर बैठा। अब ठीक उसके पास एक बड़ा रोड ब्लाक है। हर मोटरसाइकिल, ईंटा, बालू, सीमेण्ट, पानी लादे ट्रकें और टैंकर वहाँ रुक जाते हैं। जबकि सड़क बिल्कुल खाली है। हमेशा खाली रहती है। राख-रंग की ईंटें। मजदूर-मजदूरिनें। उनके टपरे-जगह-जगह। फिर वे उजड़ जायेंगे। उजड़ती हुई जनसंख्याएँ क्या—भारत से ज्यादा कहीं और होंगी? उसमें सफेद चिथड़ों की तरह मास्टर लोग। भविष्य विहीन छात्र। रोमांस के सपने संजोये बुढ़ाती लड़कियाँ। पानी की दो टंकियाँ एक उत्तरी परिसर में, जो अभी-अभी बनी हैं। सी.सी. एम.एस. से दिखती हैं।

बहुत सारी बातें मेरे बुढ़ाते दिमाग में भय पैदा करती हैं।
जूनियर पी.सी. जोशी और शिवकूटी लाल वर्मा के एक बेटे श्याम का इंतकाल हो गया।
सुधीर का सन्देश।
मेरे कमर और पीठ से लेकर पूरी गर्दन तक जलन है।
अस्थियों की बँधी हुई राख है, जैसे थोड़ी गीली—रक्त सनी। खून ही पानी है।
कुछ भी क्यों लिखता हूँ?
चारों और एक भय बिखरा है वातावरण में

कुछ भी ऐसा नहीं जो सुकून दे सके।
सन् 2014, तुम क्या लेकर जाओगे?

(02.03.2014)

साहित्य में इतना सन्नाटा क्यों है!

जबकि इतनी पत्रिकाएँ हैं, इतने संसाधन हैं, इतने लेखक कवि कलाकार, हुड़दंगबाज हैं... ऐसा क्यों लगता है सुबह-सुबह कि कहीं कुछ नहीं हो रहा है। पत्रिकाएँ एक कर्मकाण्ड की तरह निकलती हैं। 'पहल' दुबारा निकली। उसकी जो तुर्शी थी, वह होगी लेकिन 'पहल' कहाँ है। किसी पत्रिका की दूकान पर नहीं। उसके वितरण का भावुक संसार नष्टप्राय-सा है तद्भव एक दूसरा कर्मकाण्ड। वह कभी भी 'पत्रिका' का दर्जा नहीं पा सकी—यानी साहित्यिक पत्रकारिता के संसार में उसने अपना हक़ अदा नहीं किया। वह हमेशा साहित्यिक आभिजात्य की पत्रिका बने रहने में अपना गौरव महसूस करती रही। वह वृहद् कमाई का जरिया रही, और है। श्रेष्ठ और स्थापित साहित्य छापने में वह अपना गौरव महसूस करती रही। अखिलेश ज्ञानरंजन का ही शिष्य है—सिखाया पढ़ाया। उसने 'पहल' की तर्ज पर उसके मॉडल पर 'तद्भव' निकालने का प्रयत्न किया। लेकिन 'पहल' में जो एक अचानक सी चकमक थी, जो साहित्यिक-सम्पादकीय प्रयोग थे, जो वक्त और अवसर देखकर व्यक्त किया गया एक वैचारिक-सामयिक आक्रोश अभिव्यक्त होता है, नये-पुराने लोगों के प्रति ज्ञानरंजन की अचानक जो 'फ्राउनिंग' थी, जो अभिभावकत्व था, सभी के प्रति जो असीमित अवसर-अनवसर उमड़ता हुआ, छलकता प्यार था, न लिखते हुए भी साहित्य के गले में बाँहें डाले हुए जो ज्ञानरंजन की छवि थी, वह 'तद्भव' के सारे भरे-पूरेपन के बावजूद कहाँ है? रचनाएँ हैं, साहित्यिक खलबलाहट नहीं। कहीं नहीं। पत्रिकाओं का बाकी संसार या तो विचार शून्य है, या एक कर्मकाण्ड। कलिया की खलबली भी गायब। 'नया ज्ञानोदय' से हटते ही उसका बनाया संसार बुलबुलों की तरह खत्म। लगता ही नहीं कि कहीं कुछ हुआ। 'वागर्थ' का निरामिष, पवित्र निरर्थक साहित्य संसार किसके लिए हैं? 'नया पथ' और 'वसुधा' इत्यादि समझते हैं कि वे 'पथ' के साथी हैं, वे भाड़ झोंक रहे हैं। विचित्र तरह की अहम्मन्यता का अनन्य सुखद संसार उनके इर्द-गिर्द सर्प-जाल बनाये हुए हैं।

इतनी किताबें छप रही हैं, इतने बड़े-छोटे प्रकाशक, इतनी साहित्यिक महत्त्वाकांक्षाओं के बावजूद कहीं कुछ होता हुआ नहीं दिखता। लोग 'फेसबुक' पर चले गये हैं, लाइक करते करवाते हैं। साहित्य और सांस्कृतिक अभियान सूचनाओं की वस्तु हो गये हैं। कुछ भी छुपा हुआ, निजी भारी और से संदेहग्रस्त नहीं है—वह जो कला, साहित्य का बुनियादी तत्त्व है। वह जो सोचने और मरने जीते-जी मरने के लिए तत्पर करता है, वह सब कहाँ है। इस तरह के सारे लोग बूढ़े हो गए थक गये हैं। सोकर उठते ही उनकी बीमारियों का संसार शुरू होता है। आध्यात्मिक पीड़ाएँ दैहिक दुःखों में बदल गयी है। साहित्य के सत्ता-संसार में लूट और कत्लेआम का माहौल है। ले-दे है, अभिभावकत्व का बोलबाला है। दुर्गन्ध की दमघोट है। वैचारिक निरर्थकताएँ हैं। 'हाशिये पर' और 'कभी-कभार' के जमाने, 'मतवला', 'हंस' की जमानतों का उद्बद्ध संसार खत्म है। माना कि सब कुछ वैसा ही नहीं रहता। नहीं रहता, माना तो साहित्य को आगे तो बढ़ना चाहिए। 'हिन्दी संस्थान आगरा, की मदद ने पत्रिकाओं को चमकाकर भोंथरा कर दिया है। पत्रिका निकालने को सुगम बनाकर उसकी हवा निकाल दी है। कुछ भी छाप

लो, संपादक बने रहो। 'दस्तावेज' जैसी टुटही पत्रिका पर भी हाथ फेरो तो चिकनाहट महसूस होती है। उपन्यास, कविता, कहानियों, यात्रा-विवरण, आलोचनाएँ एक 'फुस्स' की तरह हैं। एक दिन का संसार है और गिरोहबाजी है। वह भी वैचारिक नहीं, प्रतिशोधात्मक। हर 'ग्रुप' के कवि-लेखक-आलोचक हैं। सभी सक्रिय-निष्क्रिय। अजब-सा दुःखद माहौल है। रात की बहसों और एक कविता या एक कहानी में भटकते जागरण का हैंगोवर भी नहीं—उल्टियों की तरह-तरह की दुर्गन्धें हैं। और तेवर यह कि बहुत कुछ हो रहा है।
हो तो रहा है।

(06.03.2014)

हैंगोवर

नशा उतर गया है, हैंगोवर (हैंग-ओवर) अभी बाकी है। उससे सिर भारी-भारी सा रहता है। हैंगोवर उतारने के लिए कभी-कभी फिर पीने की इच्छा करती है। और यह सब शराब के बारे में नहीं है।
शब्द एक प्रतीक है।
प्रतीकार्थ भिन्न भी हो सकते हैं —
जैसे कि लिखने के बाद का हैंगोवर — असफलता
जैसे कि उम्र बीत जाने का हैंगोवर — अवसाद
जैसे कि प्रेम का हैंगोवर — खीझ
जैसे स्मृति का हैंगोवर — पछतावा
जैसे विश्वास और आस्थाओं का हैंगोवर — रुदन
जैसे कुछ नहीं का हैंगोवर — स्लेट साफ
इन सबका सम्मिलित हैंगोवर — मौत

(उसी तारीख को)

आख़िरी कलाम

कहीं एक अलबम रखने की जगह बनाते वक्त वहाँ 'आखिरी कलाम' की दो प्रतियाँ (द्वितीय संस्करण) मिलीं। पढ़ने लगा बीच-बीच से। मुझे लगा, अब इसके बाद लिखने को क्या बचा है मेरे पास। सब कुछ तो कह चुका हूँ, सब कुछ तो है, उसमें, जो कहने लायक था। सब कुछ—राजनीति, समाज, पारिवारिक नष्ट-भ्रष्टताएँ, संस्कृतियाँ, मनुष्यों के प्रतीक मनुष्य, कलह-अनिवार्य कलह और उसके दूरगामी परिणाम। रचाव—काव्यात्मक। कलात्मकता का उच्चतम सोपान। प्रयोग और प्रयोग को अन्तर्निहित दर्शन—जीवन का सच। और मृत्यु और विनष्टता के बाद भी जीवन का चल निकलना। खल्लास। अपने को पूरी तरह रिक्त कर देना और पिछले 12 वर्षों से उस रिक्तता को पुनः भरने की कोशिश। उस कोशिश में तरह-तरह के उपक्रम, हौलदिलीपन, उठापटक, हलकान होना। ना, कुछ भी दुबारा सम्भव नहीं है। जैसे किसी नारियल की गिरी को खखोल खखोलकर खाते हैं, वैसे ही मैं खा-चबा चुका हूँ अपने को। तो अब कुछ भी करने को शेष नहीं है।
लेकिन चुप बैठा नहीं जाता।

जब उस उपन्यास को खत्म करके पाण्डुलिपि भेज दी और वह छप गया, उसके बाद किस तरह से घनघोर रूप से बीमार पड़ा। बेटी के यहाँ लखनऊ में पड़ा रहा। वहीं पत्नी ने कहा; 'कुछ लिखो तो मन बहलता रहेगा।' तो यह डायरी शुरू हुई। पिछले 10 वर्षों से यह डायरी चल रही है। तब इतनी भी ताकत नहीं बची थी कि बैठ सकता और कलम पकड़ सकता। अतः शुरुआती कुछ पन्ने बोलकर लिखवाया। पत्नी की हस्तलिपि में इस डायरी की शुरूआत हुई। और अब? अब इसे भी खत्म करना चाहिए।

आमीन।

(25.4.2014)

आखिरी कलाम

25-04-2014

कहीं एक अलबम रखने की जगह बनाते वक्त वहाँ 'आखिरी कलाम' की दो प्रतियाँ (द्वितीय संस्करण) मिलीं। पढ़ने लगा बीच-बीच से। मुझे लगा, अब, इसके बाद लिखने को क्या बचा है मेरे पास। सब कुछ तो कह चुका हूँ, सब कुछ तो है उसमें, जो कहने लायक था। सब कुछ— राजनीति, समाज, पारिवारिक नष्ट-भ्रष्टताएँ, संस्कृतियाँ, मनुष्यों के प्रतीक में मनुष्य, कलह—अनिवार्य कलह और उसके दूरगामी परिणाम। रचाव—आत्मालाप। कलात्मकता का उच्चतम सोपान। प्रयोग और प्रयोग में अन्तर्निहित दर्शन—जीवन का सच। और मृत्यु और विनष्टता के बाद भी जीवन का चल-निकलना। खिलखिलाहट। अपने को पूरी तरह रिक्त कर देना और पिघलने। २ वर्षों से उस रिक्तता को पुनः भरने की कोशिश। उस कोशिश में तरह-तरह के उपक्रम, दौलदिलीपका, कहाँपटक, दूलकान होना। ना, कुछ भी दुबारा सम्भव नहीं है। जैसे किसी नारियल की गिरी को खोल-खोलकर खाते हैं, वैसे ही मैं खा-चबा चुका हूँ अपने को।

तो अब कुछ भी कहने को शेष नहीं है।

लेकिन चुप बैठा नहीं जाता।

जब उस उपन्यास को खत्म करके पाण्डुलिपि भेज दी और वह छप गया, उसके बाद किस तरह से घनघोर रूप से बीमार पड़ा। बेटी के यहाँ लखनऊ में पड़ा रहा। वहीं पत्नी ने कहा, 'कुछ लिखो तो मन बहलता रहेगा।' तो यह डायरी शुरू हुई। पिछले 10 वर्षों से यह डायरी चल रही है। तब इतनी भी ताकत नहीं बची थी कि बैठ सकता और कलम पकड़ सकता। अतः शुरुआती कुछ पन्ने बोलकर लिखाये। पत्नी की हस्तलिपि में इस डायरी की शुरूआत हुई। और अब?
अब इसे भी खत्म करना चाहिए।
आमीन।

असद ज़ैदी और अशोक वाजपेयी के नाम पत्र

दूधनाथ सिंह

बी-7, ए.डी.ए. कॉलोनी,
प्रतिष्ठानपुरी (नई झूँसी)
इलाहाबाद-211019
फोन : 2569123
मो. 09415235357
दिनांक 01-07-2010

प्रिय असद,

भुवनेश्वर की 10 अंग्रेज़ी कविताएँ (10 ही मिली हैं या हैं। बाकी अगर होंगी भी तो नष्ट हो गयी या हो सकता है किसी के पास पड़ी हों।) तुम्हें भेज रहा हूँ। इनमें से पाँच का अनुवाद तुम्हें करना है। जिनके शमशेर जी द्वारा किये गये अनुवाद मेरी फ़ाइल में नहीं हैं। जिन पाँच कविताओं के अनुवाद शमशेर जी ने किये थे, उन्हें उन अनुवादों के साथ नत्थी करके भेज रहा हूँ। 'The mist of the eyes' के दो अनुवाद शमशेर ने किये थे। दूसरे अनुवाद में लाइनें उलट-पलट कर दी हैं। यानी जो अनुवाद में भी रचने का सुख है, बेहतर बनाने का आनंद है, उस आनंद में एक बड़ा कवि मुब्तिला है...अपने अकेले एकान्त में। भुवनेश्वर बीच-बीच में कई बार शमशेर के साथ रहे। पहले तब (सन् '31 '32) जब हम भी नहीं पैदा हुए थे। बाद में कब-कब, इसका ठीक-ठाक पता नहीं, लेकिन रहे। अक्सर वे अपना लिखा-पढ़ा लोगों के पास छोड़ जाते थे। कविताएँ लिखीं और खाने-पीने ('पीने') की एवज़ में छोड़ दी। या मस्ती, उदासीनता और अटूट अवसाद में। इनमें से तकरीबन पाँच-एक कविताएँ S.D. Hostel, August 5, 1936 को एक ही रात में लिखी गयीं। कानुपर में एक कॉलेज का हॉस्टल है। हॉस्टलों में रहने वाले छात्रों पर अपनी अंग्रेज़ी विद्वत्ता का रौब जमा कर भुवनेश्वर अक्सर वहाँ डेरा डाले रहते थे। शमशेर के पास भी पहली बार (सन् '31) वे हिन्दू-बोर्डिंग हाउस'

में ही रहे। बाद में 'जस्ट फ़िट' वाले मकान में। और भी न जाने कहाँ-कहाँ। लखनऊ में कृष्ण नारायण कक्कड़ के साथ यूनिवर्सिटी (लखनऊ) हॉस्टल में। मजाज़ के साथ शराबखानों के बाहर सड़क पर, फुटपाथों पर—न जाने कहाँ-कहाँ। मजाज़ अगर मज़ाक में अपने की 'रिचर्ड द थर्ड' (शेक्सपीयर का एक नाटक, जिसकी थीम तुम्हें याद होगी) कहते थे तो भुवनेश्वर अपने को 'रिचर्ड डेनफ़' या 'डफ' जो न जाने कौन था, या था भी नहीं। कुछ अंग्रेज़ी कविताओं के नीचे कवि का नाम उन्होंने 'रिचर्ड' डेनफ़' (या डफ़) दिया है, लेकिन बगल में बी.पी. (भुवनेश्वर प्रसाद) लिखना नहीं भूले हैं।

भुवनेश्वर दरअसल, प्रेमचंद की खोज हैं। क्या यह अचम्भे में डालने वाली बात नहीं लगती। लेकिन नहीं, बड़ा लेखक अगर अपनी तरह लिखने वाले को ही पसन्द करता है तो वह बड़ा लेखक नहीं है। प्रेमचन्द ने हमेशा, (न जाने कैसे—हालाँकि यह भी महानता की कसौटी नहीं हो सकती) अपने से भिन्न लेखकों को ही, नौजवान लेखकों को ही पसन्द किया। भुवनेश्वर, जैनेन्द्र, अज्ञेय। और भुवनेश्वर को लगातार (जब भी उन्होंने लिखकर दिया) छापते रहे। प्रेमचंद के मरने पर भुवनेश्वर द्वारा लिखी 'ऑबीचुअरी' शायद उतनी संक्षिप्त और ग्रेट...दुबारा नहीं लिखी जा सकती। या कि नाटकों में संजीदा प्रेम का धुआँधार मखौल, जो कि अर्न्तवस्तु है उनके नाटकों की। या वह एक शब्द चित्र 'भाभी कॉम्प्लेक्स और मार्क्सवाद' क्या गद्य है काटता हुआ। झूठ का बेलाग पर्दाफ़ाश ही भुवनेश्वर की 'वस्तु' है और व्यक्तिगत जीवन में अक्सर बेमतलब झूठ बोलते रहना। मुझे लगता है कि हिंदी में सन् '30 से '60 तक तीन अलग-अलग किसम के 'जीनियसेज' काम कर रहे थे—भुवनेश्वर, मुक्तिबोध और निराला। और तीनों में कुछ भी मिलना-जुलना नहीं—सिवा बेसहारेपन, ग़रीबी और अटूट डिप्रेशन के। इस बात को मार्क किया जाना चाहिए। है कि नहीं? हिन्दी गद्य को किसने 'आधुनिक', 'खूबसूरत' और 'आवारा' बनाया—सिर्फ़ भुवनेश्वर ने।...बहरहाल।

तुम शमशेर जी के अनुवाद देखो। कैसे हैं, ये तुम जानो। अपनी इन कविताओं में भुवनेश्वर बेहद नर्म-नाज़ुक और कोमल-कांत लगते हैं। अपनी कातरता की खिल्ली उड़ाते हुए। 'ईसा का जन्म' वाली कविता क्या क्रिश्चियन वर्ल्ड में कभी लिखी जा सकती है? मुझे नहीं लगता। ईश्वर के द्वारा किये गये कलाकार की कल्पना अद्‌भुत है। कैसे एक बड़ा कवि सोचता है! क्या उसे इस तरह नहीं सोचना चाहिए? जैसे हमारे यहाँ वेदव्यास ने योनि से कर्ण की पैदाइश ही बदल दी। कान से पैदा हुए कर्ण। कैसी पवित्र खुराफ़ात है सोचने में। लेकिन भुवनेश्वर जो ज़ख़्म और लहूलुहान एड़ियों का ज़िक्र करते हैं। और 'द चाइल्ड ऑफ़ शेम'...किस दिमाग की उपज है यह कविता—किस धरातल पर, किस दुनिया में बैठकर एक मिथक पर पड़े पर्दे को चीड़-फाड़ देना है।

मैंने बस तुम्हें यह सब यों लिखा कि तुम्हें कभी नहीं लिखा। मैं ढेर सारे तरह-तरह के काम इस बुढ़ापे में लिये बैठा हूँ और अस लगाये हूँ कि सब पूरे हो जायें। कैसी अजीब स्थिति है। ज़वानी थी तो लगता था जवानी तो जाने से रही और टाइम गँवाना सबसे प्रिय खेल था। मारे-मारे फिरना...आवारागर्दी, तमाशाबीन और तमाशा दोनों संग-संग। कितना दुःख है, अब जो समय नहीं है, हाथ दुःखते हैं, कंधे और आँखें और सब कुछ को एक अजब-सा डर घेरे रहता है। अपने ही बच्चे अजनबी-से लगते हैं। जीवन का साधारण व्यवहार भी नहीं चलता, नहीं निभ पाता। नसें तड़कती हैं और यह सोचते-सोचते दिन—पूरा दिन—निकल जाता है कि कहाँ से शुरू करूँ। फिर सिर्फ़ रोने को मन करता है और ऐसा सोचते ही मर्दानगी भी बाहर निकलकर फुँफकारने लगती है। स्वस्थ रहना कितनी बड़ी नियामत है, जो अब पता

चल रहा है। लगता है कि वैसा क्यों नहीं किया—नाप-तौलकर, कायदे से। मुस्कुराते भी हैं लोग तो कायदे से, बोलते भी हैं तो कायदे से। अपने—से स्कीमें कभी नहीं चलीं। अब क्या चला लूँगा? कैसे पता करूँ! छोड़ो इस किस्से को। जितना होगा, होगा। मैं दुनिया का कोई अन्तिम आदमी थोड़े हूँ। लेकिन यह क्यों लगता है कि जो बैठान मेरे ज़ेहन में है, जो शब्द, जो रूप, जो एमेंडमेंट, जो व्यवस्था, जो तोड़, जो नष्ट-भ्रष्ट करके बनाने की कला...जैसे मेरा सुर सुधा है, जिस तरह—उस तरह कोई और कैसे करेगा, कैसे कर सकेगा! लोग मुझसे बेहतर करेंगे या मुझसे ख़ाम...इसकी गारंटी किससे लूँ। और क्यों लूँ? तो जाने दो और थकान को हावी होने दो।

मुझे लगता है तुम ठीक-ठाक होगे।

अगर ऐसा हो तो यह खुशी की बात है।

तुम्हारे पास उम्र है और खम, सधा हुआ हाथ और बातों को कहने की निराली कला है। वह अनोखी कला सिर्फ़ इस वक्त हिन्दी कविता में तुम्हारे ही पास है। शायद तुम ऐसी जगह बैठे हो जहाँ कोई नहीं बैठा। और एक कवि को कुछ इसी तरह, इसी रंग में होना चाहिए। लेकिन यह मत सोचना कि ये बातें बतौर ख़ुशामद हैं। अगर तुम जो हो—वैसे ही हो...

तुम्हारा

दूधनाथ सिंह

बी-7, ए.डी.ए. कॉलोनी,
प्रतिष्ठानपुरी (नई झूँसी)
इलाहाबाद-211019
फोन : 2569123
मो. 09415235357
दिनांक 18-04-2011

प्रिय अशोक जी,

'हरा चेक' कविता भेज रहा हूँ।

मुझे तो बहुत अच्छी लगती है यह कविता—आपको भी भायेगी। मैं लगातार इधर-उधर बहक रहा हूँ। मुख्य काम (उपन्यास) करते-करते कुछ दूसरा करने लगता हूँ। घबराहट और अवसाद में जिधर, जो करने में मन लगता है, खुशी मिलती है, मन में हिलोर उठती है... एक तरह का सांद्र आनन्द, वह काम उठा लेता हूँ। जैसे शमशेर वाली किताब की। उसके सबसे बड़े पारखी आप रहे। करते वक्त सोचता था कि 13 जनवरी, 2011 को आप द्वारा प्रस्तावित किताबों में एक किताब (वन्दना के प्रिय स्वरों में, एक स्वर मेरा मिला लो) यह भी हो जायेगी। ख़ैर, उस किताब का सबसे बड़ा सौभाग्य यह रहा कि उसे आपकी वजह से सैयद रज़ा साहब ने रिलीज़ की। बहरहाल... फिर मैं केदार जी वाले चयन में फँस गया— उनकी निपट सादगी और मेरे प्रति जो उनका स्नेह था, उसकी वजह से। अभी अचानक शमशेर का सब कुछ निकाला और उलझ गया। लेकिन इस 'उलझन' में राग है, रस है, निपट-निराला आनंद है। पत्नी कहती है, 'यह फिर तुम क्या ले बैठे। अपना कुछ करो। उसे छोड़ दिया।' लेकिन 'शमशेर' छूट नहीं रहे। पाँच बार सारी कविताएँ पढ़ने के बाद चयन बनाया। इतना काटा-कूटा, निकाला-पैठाया। क्या छोड़ें, यह समस्या। और एक जगत शंखधर हैं! लगता है, जिन संग्रहों का भी उन्होंने चयन किया, उसमें कुछ भी छोड़ने लायक नहीं। फिर भी चयन बनाओगे तो छोड़ना तो पड़ेगा। यह तय करना मुश्किल है, शमशेर में क्या सर्वश्रेष्ठ नहीं है। आपने जो बनाया, वह बहुत अच्छा है। लेकिन अभी देखिए न, एन.बी.टी. से नामवर जी ने 'अज्ञेय' का चयन (और भूमिका भी) कितने बेमन से किया है। 'चयन' शब्द पर विचार ही जैसे नहीं किया। अब इसकी क्या ज़रूरत है! इसलिए कि नामवर सिंह 'नामवर' सिंह हैं? इससे अच्छा तो होता कि आचार्य जी (श्री नंद किशोर आचार्य) को दे देते। उनमें वात्स्यायन जी के प्रति भक्ति, आस्था और समझ तो है। और एन.बी.टी. ने कितना खराब प्रोडक्शन किया है। वहाँ सब लोग सिर्फ़ 'नौकरी' करते हैं। फिर 'अज्ञेय' जी की रचनावली के सम्पादन को देखिये। पता नहीं, 'वत्सल निधि' ने कृष्णदत्त पालीवाल को क्यों दिया। पालीवाल जी तो एक सरल मूर्ख हैं। अज्ञेय का सम्पादन किसी रिसर्चर का काम नहीं, उसका जिसको साहित्य की गहरी समझ हो और जिसके भीतर अज्ञेय के प्रति एक प्रकार की 'भाव-भगति' हो। मैत्री-सम्पादन नहीं चलेगा, जैसे कालिया ने अपने मित्र कन्हैया लाल नंदन से वात्स्यायन जी का एक चयन करवाया। तो कालिया तो अपनी 'कान्सीट्यूएन्सी' बनाता है। इस प्रयत्न में उसने पिछले वर्षों में टनों कूड़ा 'ज्ञानपीठ' के सिर पर लाद दिया। वे प्रकाशन अभी से बेकार हो गये। लेकिन बिक्री के आँकड़े दिखाकर वह 'ट्रस्ट' को भरमाने में माहिर है। ये सब बातें हैं। तो क्या कर सकते हैं। मैंने 'रूपाम्बरा' के पुनर्संस्करण के लिये कितनी बार उससे बातें कीं। क्या हुआ?

शमशेर का चयन छपने की परेशानी नहीं है। मेरे दिमाग में उसकी भूमिका को लेकर बहुत सारी बातें चल रही हैं। रातों को बार-बार उठता हूँ और अँधेरे में कोई शब्द 'नोट' करके फिर पड़ जाता हूँ। और अब उम्र हो रही है। डर भी लगता है। सब कुछ अधूरा भी छूट सकता है। इन बातों के अलावा जीवन में कोई रस, कोई लालच, कोई उद्देश्य नहीं है। मन उबल रहा था तो आपको लिख दिया, अन्यथा कौन है, जो अब सुनता है।

आपका

दूधनाथ सिंह

दूधनाथ सिंह

बी-7, ए.डी.ए. कॉलोनी,
प्रतिष्ठानपुरी (नई झूँसी)
इलाहाबाद-211019
फोन : 2569123
मो0 09415235357

18-04-2011

प्रिय अशोक जी,

'हरा-चैक' कविता भेज रहा हूँ।
मुझे तो बहुत अच्छी लगती है यह कविता—आपको भी भायेगी।
मैं लगातार इधर-उधर बहक रहा हूँ। मुख्य काम (उपन्यास) करते-करते कुछ दूसरा करने लगता हूँ। घबराहट और अवसाद में जिधर जो करने में मन लगता है, खुशी मिलती है, मन में हिलोर उठती है... एक तरह का सौंदू आनन्द, वह काम उठा लेता हूँ। जैसे शमशेर वाली किताब की। उसके सम्बन्ध बड़े पारंपरी आप रहे। बाद के वर्क सोचता था कि 13 जनवरी, 2011 की आप द्वारा प्रस्तावित किताबों में एक किताब (वन्दना के प्रिय स्वरों में एक स्वर मेरा मिला लो) यह भी हो जायेगी। खैर, इस किताब का सबसे बड़ा सौंदाग्य यह रहा कि उसे आपकी बजह से सैयद रज़ा साहब ने रिलीज़ की। बहरहाल ... फिर मैं केदार जी वाले चयन में फँस गया—उनकी निपट सादगी और मेरे प्रति जो उनका स्नेह था, उसकी वजह से। अभी अचानक शमशेर का सब कुछ निकाला और उलझ गया। लेकिन इस उलझन में राग है, रस है, निपट-निराला आनंद है। पत्नी कहती है, 'यह फिर तुम क्यों ले बैठे। आपने कुछ कहा। उसे छोड़ दिया।' लेकिन शमशेर' छूट नहीं रहे। पाँच बार सारी कविताएँ पढ़ने के बाद चयन बनाया। इतना काटा-कूटा, निकाला-बैठाया। क्या छोड़ें, यह समस्या। और एक जगह श्रेष्ठता है। लगता है, जिन संग्रहों का भी उन्होंने चयन किया, उसमें कुछ भी छोड़ने लायक नहीं। फिर भी चयन बनाओगे तो छाँटना तो पड़ेगा। यह तय करना मुश्किल है, शमशेर में क्या सर्वश्रेष्ठ नहीं है। आपने जो बनाया, वह बहुत अच्छा है। फिर 'प्रतिनिधि कविताओं' के काम में जो नामवर जी ने किया, वह भी बहुत अच्छा है। लेकिन अभी दोपहिये न एम.बी.ठी. से नामवर जी ने 'अज्ञेय' का चयन (और भूमिका भी) कितने बेमन से किया है। 'चयन' शब्द पर विचार ही तो नहीं किया। अब इसकी क्या ज़रूरत है! इसलिये कि नामवर सिंह 'नामवर' सिंह है'? इससे अच्छा तो होता कि आचार्य जी (श्री नंद किशोर आचार्य) को दे देते। उनमें वात्स्यायन जी के प्रति भक्ति, आस्था और समझ तो है। और एन.बी.टी. ने कितना खराब प्रोडक्शन किया है। वहाँ सब लोग सिर्फ 'नौकरी' करते हैं। फिर 'अज्ञेय' जी की रचनावली के सम्पादन की देखिये। पता नहीं, 'तत्सत् निधि' ने कृष्णदत्त पालीवाल को क्यों दिया! पालीवाल जी तो एक सरल मूर्ख हैं। अज्ञेय का सम्पादन किसी रिसर्चर का काम नहीं, उसका जिसकी साहित्य की गहरी समझ हो और जिसके भीतर अज्ञेय के प्रति एक प्रकार की 'भक्ति-भगति' हो। मैत्री-सम्पादन नहीं चलेगा, जैसे पालीवाल ने अपने मित्र कन्हैया लाल नंदन से वात्स्यायन जी का एक चयन करवाया। तो पालीवाल तो अपनी 'आन्सीक्यूरिटी' ऐसी बनाता है। इस प्रयत्न में उसने पिछले वर्षों में सभी कूड़ा 'सानगोठ' के सिर पर लाद दिया। [redacted] के प्रकाशन अभी से बेकार हो गये। लेकिन बिक्री के आँकड़े दिखाकर वह 'दूरस्थ' की भूमिका में महिर है। ये सब बातें हैं। तो क्या कर सकते हैं। मैंने 'खपाम्बरा' के पुनर्संस्करण के लिये कितनी बार उससे बातें की। क्या हुआ?

शमशेर का चयन छपने की परेशानी नहीं है। मेरे दिमाग में उसकी भूमिका को लेकर बहुत सारी बातें चल रही हैं। रातों को बार-बार उठता हूँ और अँधेरे में कोई शब्द 'नोट' करके फिर पड़ जाता हूँ। और अब उम्र हो रही है। डर भी लगता है। सब कुछ अधूरा भी छूट सकता है। इन बातों के अलावा जीवन में कोई रस, कोई लालच, कोई उद्देश्य नहीं है। मन उबल रहा था तो आपको लिख दिया, अन्यथा कौन है, जो अब सुनता है।

आपका—दूधनाथ सिंह

'महाजनी सभ्यता' और आज की दुनिया

दूधनाथ सिंह

प्रेमचंद ने अपने जीवन भर की साहित्य-साधना के बाद अन्तिम वर्षों में 'महाजनी सभ्यता' नामक एक वैचारिक दस्तावेज प्रस्तुत किया। यह लेख सन् 1936 में अपनी मृत्यु के कुछ दिनों पहले उन्होंने लिखा था। यह लेख उनके समग्र चिन्तन का जैसे निचोड़ है, निष्कर्ष है। सन् 1901 से लेकर सन् 1936 तक उन्होंने अपनी अथक साहित्य रचना और वैचारिक सामाजिक संघर्षों से यह साबित कर दिया कि उनका लेखन और उनका रचना कर्म समग्र भारतीय जीवन और भारतीय मनीषा का सारतत्व है। भारतीयता को प्रतिबिम्बित करने वाले वे एक ऐसे रचनाकार हैं जिन्होंने विकट और प्रतिकूल स्थितियों से पलायन नहीं किया, हार नहीं मानी, संघर्षों से मुख नहीं मोड़ा और अपनी रचनाओं में भारतीय इतिहास, राजनीति और समाज की तत्कालीन विडम्बनाओं और अन्तर्विरोधों को सही ढंग से पहचानने में सफल रहे। इस पहचान में बहुत हद तक उन्होंने महत्मा गाँधी के विचारों सिद्धान्तों का साथ दिया। वे भी लगभग चमत्कारिक ढंग से गाँधी जी के व्यक्तित्व, चिन्तन और कर्म के मुग्ध दिखाई देते हैं। उनकी कार्य शैली के विशिष्ट प्रशंसक हैं और अपनी कथा रचनाओं में उन विचारों, बातों और तरीकों को समोने और साधन की कोशिश करते हैं। गाँधीवादी विचारधारा का वह कौन-सा पक्ष है जिसका प्रेमचंद समर्थन करते हैं? वह है—1. मनुष्य का हृदय परिवर्तन, 2. वर्ग समन्वय, 3. औपानिवेशिक गुलामी से मुक्ति के लिए बिना भेदभाव के भारत की सारी जनता का आवाहन और उसकी भागीदारी, 4. निजी और सार्वजनिक जीवन में एक साथ, बिना किस भेदभाव के नैतिक, पवित्र और खुले चरित्र का निर्माण और 5. सत्य अहिंसा के लिए निर्भय और निर्भ्रान्त हठ। ये सारी बातें हैं जहाँ प्रेमचंद गाँधी जी के विचारों का खुला समर्थन करते हैं। ये सार के विचार यदि एक ओर भारत की आजादी के संघर्ष से जुड़े हैं तो दूसरी ओर सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन का भी संकेत करते हैं। प्रेमचंद ने रचनात्मक स्तर पर एक सिद्ध कलाकार की तरह इन विचारों का उपयोग किया। अपने निहित स्वार्थों को छोड़ देना ही मनुष्य का मनुष्य के प्रति हृदय परिवर्तन

है। प्रेमचंद जब अपने उपन्यासों में अलग-अलग वर्गों की पहचान करते हैं—जैसे कि जमींदार और किसान, और छोटे जाति वाले किसान और भूमिहीन खेतिहर मजदूर; जैसे कि देसी राजे-रजवाड़े और उनके उपजीवी अमले-फैले, जैसे कि अंग्रेजी सत्ता और उनकी नौकरशाही और उनके द्वारा निर्मित शासन-तन्त्र की रखवाली करने वाली संस्थाएँ और उनमें लगे नौकरशाह और बाबू, जैसे इस आर्थिक प्रशासनिक और राजनैतिक तन्त्र के साथ गुत्थी दर गुत्थी उलझी हुई भारतीय समाज व्यवस्था को और अधिक सड़ांध की ओर ले जाती हुई जाति व्यवस्था जैसे कि दलित और स्त्रियाँ।

प्रेमचंद जब भारतीय समाज के इन अन्तर्विरोधों और गुत्थियों के आमने-सामने होते हैं तो वे जगह-जगह गाँधी जी के उन्हीं हथियारों का इस्तेमाल समाधान के लिए करते हैं। जैसे बेगार और बेदखली को खत्म करने के लिए जमींदारों का हृदय परिवर्तन, अत्यधिक लगानदारी के खिलाफ लगानबन्दी आन्दोलन, आजादी की लड़ाई में बिना भेदभाव के समग्र भारतीय जनता का आवाहन, स्त्री शक्ति का समर्थन और उनके अधिकार दिलाने का प्रबल समर्थन, पतिता स्त्रियों के लिए सेवा सदनों और सुधार गृहों का स्थापनाएँ और अनमेल विवाह का कठोर विरोध (यद्यपि कि यह काम प्रेमचंद ने एक ऊँचे कलाकार की तरह अनमेल विवाह की भयंकर त्रासदी का चित्रण करके किया है।) प्रेमचंद बड़े कारखानों की स्थापना के विरोध में भी जान पड़ते हैं। उससे पैदा होने वाले शोषण, शोर, गंदगी से वे एक पर्यावरणवादी की तरह चिन्तित दिखाई देते हैं। यही नहीं 'गबन' जैसे उपन्यास में तो प्रेमचंद शहरों की अपेक्षा गाँवों की ओर लौटने की इच्छा व्यक्त करते हुए दिखाई देते हैं।

यह सब कुछ कर चुकने के बाद भी प्रेमचंद सन्तुष्ट नहीं दिखाई देते। यह सारा काम वे सन् 1932 तक कर चुके होते हैं। यानी अपने लेखन के अधिकतम बेशकीमती वर्ष वे इन तमाम उलझनों को सुलझाने में और उलझते चले जाते हैं। ऐसा उनका आन्तरिक मानसिक अनुभव है जो 1932 में 'हंस' के सम्पादकीय नोट 'दमन की सीमा' में प्रकट होता हुआ दिखाई देता है। उन्हें लगता है कि यथार्थ कुछ और है, समाधान ऊपरी और सोचा हुआ और जबर्दस्ती लादा गया। इतनी आसानी से मनुष्य का हृदय परिवर्तन सम्भव नहीं है। अमीर-गरीब के बीच की हक-हुकूक की लड़ाई को इन ऊपरी समाधानों से नहीं पाटा जा सकता। परस्पर विरोधी और संघर्षरत वर्गों का समन्वय एक ख्याली पुलाव है। आचरण की पवित्रता या अपवित्रता निहित स्वार्थों से बँधी हुई है और वह इतनी निस्संग, निरपेक्ष और स्वायत्त नहीं है। स्त्रियों के पतित होने या उनके दमन के कारण गहरे आर्थिक कारणों की उपज हैं और उन्हें सेवा सदनों या नारी-निकेतनों की स्थापना मात्र से नहीं सुलझाया जा सकता। सत्य का पक्ष भी इतना निरपेक्ष और एकान्त नहीं है। भारतीय समाज के आन्तरिक अन्तर्विरोधों की यह झलक प्रेमचंद को अपने संघर्ष के हथियार बदलने पर मजबूर करती है। मार्क्सवाद का यह जो एक परम सिद्धान्त है कि 'व्यवहार से सीखो' तो प्रेमचंद गाँधीवादी हथियार का व्यवहार करके यह सीखते हैं कि भारतीय समाज में परिवर्तन के लिए ये हथियार कारगर नहीं हैं।

प्रेमचंद्र अपने जीवन के इन्हीं अन्तिम वर्षों में भारतीय सामाजिक अन्तर्विरोधों की खोज नये सिरे से करते हैं। एक छोटे किसान और भूमिहीन मजदूर के शोषक तत्त्व कौन हैं? विराट सामन्ती और औपनिवेशिक व्यवस्था, ब्राह्मणवादी कर्म काण्ड, कर्म फल, आशावाद, पुर्नजन्म? यह सब तो हैं ही। बीच-बीच में जाने-अनजाने प्रेमचंद का ध्यान उन छोटे-छोटे महाजनों की ओर जाता है, जो हमारे ग्रामीण बिरादरी में जोंक की तरह फैले हुए हैं। उनकी कोई जाति नहीं। वे कोई भी हो सकते हैं—खाता-पीता किराने, किसान का दूकानदार, अनाज और घी-दूध

की खरीद फरोख़्त करने वाला विचौलिया बनिया, थोड़े-थोड़े पैसे देकर, गहने, गिट्ठे, घर दुआर, खेत-खलिहान जर-जमीन गिरवी रखने वाला कोई साहूकार, पंडित, ठाकुर, पूजा-पाठ और होम-जाप कर दक्षिणा बटोरे हुए कोई छोटा लालची ब्राह्मण जो एक का सवाया, ड्योढा लेकर उधारी देता है। जो कभी कम नहीं होता, धीरे-धीरे और बढ़ता ही जाता है। इस कर्जखोरी का कोई भी कारण हो सकता है—भूखमरी, बेटी का विवाह, छोटे-मोटे लड़ाई झगड़ों से पैदा हुई मुकदमेबाजी खूदखोर के पास जाने को मजबूर करती हैं। फिर यह मजबूरी एक ऐसा अभिशाप बनकर आती है जो कभी नहीं खत्म होती। यह जानलेवा कर्जखोरी अन्ततः सचमुच जानलेवा साबित होती मुक्तिबोध की एक कविता पंक्ति है—'पिस गया वह, भीतरी औ' बाहरी, दो कठिन पाटों के बीच ऐसी ट्रेजेडी है नीच। भीतरी मजबूरी है इज्जत और मर्यादा की रक्षा। बाहरी मजबूरी है भूखमरी। इज्जत और मर्यादा और धरम बचाने की मजबूरी सदियों पुराने संस्कारों की देन है। इज्जत और मर्यादा खाये-पीये, अघाये लोगों के अनुकरण पर ओढ़ी हुई मजबूरियाँ हैं। बाहरी मजबूरियाँ भूख-गरीबी, बेकारी, तंगदस्ती से पैदा हुई, गैर बराबरी से उपजी वास्तविक मजबूरियाँ हैं। एक कृत्रिम, निरर्थक और दूसरी वास्तविक। गरीब और बेसहारा आदमी इन्साफ फर्क नहीं कर पाता और पिस जाता है। इसमें ऊपरी और बनावटी और औपचारिक मानवीय सम्बन्ध, खून, रिश्ते, मित्रताएँ से कोई काम नहीं आते। वास्तविक दुश्मन को न समझ पाने के कारण कर्जखोरी की ये छोटी-छोटी घटनाएँ बड़ी दुर्घटनाएँ पैदा करती हैं। प्रेमचंद का अंतिम संपूर्ण उपन्यास 'गोदान' इन्हीं छोटी-छोटी घटनाओं से पैदा हुई एक बड़ी दुर्घटना के सृजन का दस्तावेज है और 'महाजनी सभ्यता' नामक लेख इसी शृंखला की वैचारिक परिणति। प्रेमचंद के टूटने और खत्म होने का क्षण भी यही है। अमृत राय कहते हैं कि 'महाजनी सभ्यता प्रेमचंद का वसीयतनामा है।' इसका अर्थ यह है कि 'महाजनी सभ्यता' भारतीय समाज के वास्तविक और नये अन्तर्विरोधों की खोज का साहित्यिक और वैचारिक वसीयतनामा है।

लेकिन प्रेमचंद अपने 'महाजनी सभ्यता' नामक आलेख को 'महाजनी सभ्यता' नाम सिर्फ इसलिए नहीं देते कि छोटी सूदखोरी पर आधारित कोई नयी अमलदारी अचानक अस्तित्व में आ गयी है। प्रेमचंद का लक्ष्य और कुछ हद तक प्रेमचंद का आश्चर्य—इन दोनों के कारण बहुत गहरे हैं। इस आलेख का प्रारूप प्रस्तुत करते हुए प्रेमचंद का लक्ष्य बहुत स्पष्ट है—प्रेमचंद, अपनी यूटोपिया, अपने आदर्श, समाज और मनुष्य के प्रति अपनी गहरी संसक्ति को किसी भी शर्त पर छोड़ना नहीं चाहते। जिन आदर्शों के लिए, जिस दुःखित पीड़ित और वंचित मनुष्य के लिए, भारतीय समाज के जिस उत्थान के लिए अपने लेखन में वे जीवन भर संघर्ष करते रहे, अपनी उस 'यूटोपिया' को यथार्थ में बदलने के लिए अपने जीवन के अन्तिम दिनों में भी वे कमर बाँधे हुए संघर्षरत हैं और इसीलिए वे भारतीय समाज और दुनिया के समाजों और अमलदारियों की एक नयी भावावेशपूर्ण व्याख्या इस आलेख में प्रस्तुत करते हैं। और प्रेमचंद का सहज मानवीय आश्चर्य इसलिए कि एक रचनाकार हैं, एक सृजनधर्मी मनुष्य हैं, कोई अर्थशास्त्री, इतिहासविद् और समाजशास्त्री नहीं हैं। उनका सरोकार उच्चतम आदर्शों वाले एक लेखक का सरोकार है, इतिहास, अर्थशास्त्र और दर्शन के व्याख्याता का नहीं। तो प्रेमचंद अपने इस सहज मानवीय आश्चर्य तले क्या देखते हैं? वह देखते हैं हिन्दुस्तान सहित दुनिया की सारी समाज-व्यवस्थाओं में एक नये मध्य-वर्ग का उदय। इस आलेख में वे महाजनी सभ्यता का अर्थ सूदखोरी से न जोड़कर कुछ और ही करते हैं और वह अर्थ बहुत गहरा है। इस आलेख में प्रेमचंद महाजनी सभ्यता के दो मुख्य सूत्र प्रस्तुत करते हैं—1. समय ही धन है और 2. बिजनेस इज बिजनेस (व्यवसाय, व्यवसाय है) इन दोनों सूत्रों के वे अत्यन्त व्यंग्यात्मक मुद्रा

में पेश करते हैं। ऐसा नहीं है कि वे इससे सहमत हों। इनको प्रस्तुत करते हुए वे कुछ कुछ आहत खीझे हुए दिखते हैं। उनके मन में इस तथ्य और दिखती हुई सच्चाई को लेकर तकलीफे हैं। उनकी अन्तरात्मा नहीं चाहती कि यह ऐसे ही घटित हो। फिर वे अपने पहले सूत्र की व्याख्या करते हैं। पहले 'समय' का क्या अर्थ था? विद्यार्जन और उसके द्वारा ज्ञान का निर्विकार सेवा, यानी उसका वृहत्तर मानव समाज के लिए उपयोग। लेकिन अब क्या है? चाहे डॉक्टर हो, वकील हो, शिक्षक हो, कोई ख्यातिप्राप्त व्यक्ति हो—सभी ने अपने अर्जित ज्ञान का उपयोग मानव की निर्विकार सेवा में नहीं, लक्ष्मी की सेवा में अर्पित कर दिया है। प्रेमचंद कहते हैं कि ''कुलीनता, शराफत, गुण और कमाल की कसौटी पैसा और केवल पैसा है। जिसके पास पैसा है वहीं देवता स्वरूप है, चाहे उसका अन्तःकरण कितना ही काला क्यों न हो। साहित्य, संगीत और कला—सभी धन की देहली ('देहरी' के अर्थ में', दिल्ली के अर्थ में नहीं) पर माथा टेकने वालों में हैं।...यह हवा इतनी जहरीली हो गयी है कि इसमें जीवित रहना कठिन होता जा रहा है। इस धन लोभ ने 'मनुष्यता' और 'मित्रता' नाम शेष कर डाला है। समय धन है एक सफल व्यक्ति का।...उसे तो मुरौव्वत, दोस्ती और सौजन्य की धता बताकर लक्ष्मी की आराधना में अपने को लीन कर देना होगा?'' इस तकलीफ के पीछे प्रेमचंद जैसे आदर्शवादी की वह मानसिक व्यवस्था है जिसमें 'समय' धन है मानव सेवा के लिए अपने पूरे जीवन का उत्सर्ग कर देने में। पेशे की उस्तादी इसीलिए होनी चाहिए कि वह समाज और मनुष्यता के उत्थान, विकास और संरक्षण में अपना सहयोग दे। जीवन का सार्वजनिक सेवा के लिए उत्सर्ग—यही वह यूटोपिया है, वह आदर्श है जिसको लेकर प्रेमचंद एक रचनाकार और मनुष्य के रूप में पिछले 36 वर्षों (सन् 1901 से 1936 तक) संघर्षरत रहे लेकिन अपने जीवन के अन्तिम दिनों में वे देखते हैं कि सब कुछ उलट पुलट है। एक नये किस्म का क्रूर, निर्दय, असंवेदनशील, स्वार्थी और कमीना मध्यवर्ग एक नये किस्म का महाजन (पूँजीवादी) चारों ओर पनप रहा है जो अपने ज्ञान-विज्ञान का उपयोग अपने निजी या निहित स्वार्थों वाली नई समाज व्यवस्था के लिए कर रहा है, जिसमें हर व्यक्ति को अपनी शक्ति और सामर्थ्य भर निहत्थे और गरीब लोगों का खून चूसने की अबोध और निर्विघ्न स्वतन्त्रता होगी। प्रेमचंद का डर है और वह सच है कि खुले शोषण के लिए किसी भी व्यक्ति के पास इतनी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता एक ऐसे नये निजाम का जन्म देगी जो आने वाली दुनिया के लिए पिछली समाज व्यवस्थाओं से अधिक घातक और संक्रामक होगा। इसी बिन्दु पर आकर प्रेमचंद कहते हैं कि 'इस दृष्टि से मानो आज दुनिया में महाजनों का ही राज्य है।...किसी देश पर राज्य किया जाता है तो इसीलिए कि महाजनों, पूँजीपतियों को ज्यादा से ज्यादा नफा हो। मनुष्य समाज दो भागों में बँट गया है। बड़ा हिस्सा तो मरने और खपने वालों का है और बहुत छोटा हिस्सा उन लोगों का जो अपनी शक्ति और प्रभाव से बड़े समुदाय को अपने वश में किये हुए हैं। इन्हें इस बड़े भाग के साथ किसी तरह की हमदर्दी नहीं, जरा भी रू-रियायत नहीं।'

'महाजनी सभ्यता' के अपने दूसरे सूत्र 'बिजनेस इज बिजनेस' की व्याख्या भी प्रेमचंद मानवीय सम्बन्धों के क्षरण के रूप में करते हैं। मुझे इस व्याख्या को पढ़ते हुए किसी दूसरे सन्दर्भ में लिखी कबीर की एक पंक्ति याद आयी—'कहै कबीर सुनहु रे लोई/हम न किसी के न हमारा कोई' प्रेमचंद भी 'व्यवसाय, व्यवसाय है' इस सूक्ति को लेकर मानवीय सम्बन्धों के इसी पतन, इसी क्रूर निस्संगता पर पहुँचते हैं। व्यापार में बाप-बेटा, पति-पत्नी, मित्र सम्बन्धी इन सम्बन्धों का कोई अर्थ नहीं फायदा ही परम लाभ है। रुपया ही सम्बन्ध है वही संवेदना है, वही प्यार मित्रता, माई बाप, सन्तान, सुख यहाँ तक कि लोक-परलोक सब कुछ वही उससे

परे कुछ भी अस्तित्व में नहीं। लूट ही लक्ष्य है, दर्शन है, विचार है। उससे बाहर कुछ भी होने का कोई अर्थ नहीं प्रेमचंद दुःखी होकर कहते हैं, 'इस महाजनी सभ्यता ने दुनिया में जो नयी रीति-नीतियाँ चलायी हैं उनमें सबसे और रक्तपिपासु यही व्यवसाय वाला सिद्धान्त है। मियाँ-बीबी में बिजनेस। बाप बेटे में बिजनेस, गुरु-शिष्य में बिजनेस सारे मानवीय, आध्यात्मिक और सामाजिक नेह नाते समाप्त। आदमी आदमी के बीच कोई लगाव है तो बस इस बिजनेस का यहीं प्रेमचंद अत्यन्त वितृष्णा से, एक सरल और भावुक लेखक की तरह इस नयी व्यवस्था पर थूकते हैं, ''लानत है इस बिजनेस पर...जिसमें बिन ब्याही लड़की... एक खास उम्र के बाद अपने भाइयों की लौंडी, पूज्य पिता जी भी अपने पितृ-भक्त बेटे के टहलुए और माँ अपने सपूत की टहलुई बन जाती है।...जहाँ लेन-देन का सवाल है, रुपये का मामला है वहाँ न दोस्ती का गुजर है, न मुरौव्वत का, न इंसानियत का।''

अपने इस तकलीफदेह आलेख के भीतर से ही प्रेमचंद ने अपने अन्तिम उपन्यास, मंगलसूत्र को उठाया था, जहाँ समय धन है और बिजनेस इज बिजनेस। वे अपनी नयी रचनात्मक कृति में (संभवतः) नये सिरे से इस नयी और निमर्म समाज व्यवस्था की उलट पुलट कर देखना चाहते थे। यह तो नहीं कहा जा सकता कि अन्ततः वे इस उपन्यास में क्या करते; क्योंकि उनके असमय निधन के कारण यह उपन्यास अधूरा है। फिर भी 'महाजनी सभ्यता' जैसे विमर्श के आलोक में उपन्यास में उठाये गए मुख्य सूत्र काफी दिलचस्प हैं। एक तो यही कि पहली बार प्रेमचंद गाँव और शहर के बीच मिले-जुले कथा ढाँचे से बाहर शहरी मध्यवर्ग और महाजन से सेठ बने नये उभरते पूँजीपति वर्ग को अपनी कथा के लिए चुनते हैं—एक लेखक के परिवार को दो बेटे, एक बेटी, पत्नी और स्वयं कथानायक। एक बेटा विवाहित है और बिजनेस विजनेस में लगा है, उसकी पढ़ी-लिखी संवेदनशील पत्नी है लेकिन पति यानी बड़ा बेटा उस पर यह दबाव डालता है कि वह अपने पिता से दस हजार रुपये दिलाये जिससे वह पूज्य पिता जी द्वारा दस साल बैनामा की हुई जमीन लड़कर छुड़ा सके क्योंकि वह जमीन बढ़ती हुई शहरी आबादी के कारण अब शहर के भीतर आ चुकी है और उसकी कीमत लाखों में है। पत्नी से इस रुपये को लेकर झिक-झिक के चलते अंत में यानी बड़ा बेटा सन्तकुमार चलते-चलते धमकी भरे स्वर में यह भी कहता जाता है कि जो अधिकार यानी पति होने का अधिकार जितनी आसानी से मिल जाता है उतनी आसानी से छिन भी जाता है। पति के चले जाने के बाद पत्नी (पुष्पा) अपने पति के बारे में कुछ यों सोचती हैं, ''उनके लिए लोक या परलोक में जो कुछ था वहाँ सम्पत्ति थी। सम्पत्ति के मुकाबले में स्त्री या पुत्र की भी उनकी निगाह में कोई हकीकत न थी।'' लेकिन यह सम्पत्ति यानी जमीन तो सन्तकुमार के पूज्य पिता जी, साहित्यकार देवकुमार दस साल पहले ही बच चुके हैं उसकी रजिस्ट्री हो चुकी है और उसको खरीदने वाले और कोई नहीं शहर के मशहूर रईस सेठ गिरिधर दास जी प्रेमचंद के अनुसार, ''नये जमाने के आदमी थे, अंग्रेजी में कुशल, कानून में चतुर, राजनीति में भाग लेने वाले कम्पनियों में हिस्से लेते थे, और अच्छा बाजार देखकर बेच देते थे, एक शक्कर का मिल खुद चलाते थे, हरेक काम व्यापार के कायदे से करते थे।'' अब लेखक महोदय यानी देवकुमार अपनी बैनामा की हुई जमीन कैसे किसी ले सकते हैं? लेकिन बड़े बेटे और उसके एक दूसरे वकील मित्र के पास इसका 'रास्ता' है। वे साजिश रचते कि जिस वक्त देवकुमार ने बैनामा किया उस वक्त वह पागल थे और पागलपन का यह दौरा उन पर अभी भी बीच-बीच में पड़ता है। बेटा और उसका वकील मित्र लेखक पिता जी के पास इस बात के लिए राजी कराने जाते हैं कि इस्तगासे और वकालतनामे पर दस्तखत कर दें कि वे बैनामे के समय पागल

थे और शहादत के वक्त कचहरी में जाकर खड़े हो जाँय। आदर्शवादी लेखक जिसकी कृतियों का डंका बजता था, जो जीवन भर अपने आदर्शों के लिए लड़ता रहा, जिसने खूब मौज-मस्ती की, जमीन-जायदाद बेचकर भी की लेकिन जिसने कभी कोई समझौता नहीं किया, जिसने अपने ईमान की हर कीमत पर रक्षा की, वह इस बुढ़ापे में अब बेईमानी पर उतरे और छिः छिः, वह भी पागलपन का नाटक करे, यह कभी नहीं हो सकता। देवकुमार अपने पुत्र और उसके सहयोगी और साजिश में शामिल वकील का यह प्रस्ताव इन्कार करते हैं, ''मैं थोड़े से रुपयों के लिए अपनी आत्मा नहीं बेच सकता...। मैं सत्य की हत्या न होते नहीं देख सकता। मुझे अपना धर्म, पत्नी और पुत्र सबसे प्यारा है... आदि आदि। प्रेमचंद कहते हैं 'कि दोनों तरफ से शास्त्रार्थ होने लगा।' जब देवकुमार यह कहते हैं कि 'मैं सत्य की हत्या होता नहीं देख सकता' तो बेटा कहता है कि 'तब आपको मेरी हत्या देखनी पड़ेगी।' जब वह यह कहते हैं कि 'मैं थोड़े से रुपयों के लिए अपनी आत्मा नहीं बेच सकता' तो बेटा और उसका दोस्त सोचते हैं 'कितनी पुरानी लचर दलील।' और जब वे यह कहते हैं कि 'मुझे अपना धर्म पत्नी अैर पुत्र सबसे प्यारा है।' तो इसका जवाब सवाल कुछ यों है : 'सिन्हा ने सन्तकुमार को आदेश दिया—तुम आज दर्ख़ास्त दे दो कि आपके होश-हवास में फर्क आ गया है और मालूम नहीं क्या कर बैठें। आपको हिरासत में ले लिया जाए।'

देवकुमार ने मुट्ठी तानकर क्रोध और आवेश में पूछा, —'मैं पागल हूँ?'

'जी हाँ आप पागल हैं।'

जिस लेखक की इतनी किताबें छप चुकीं, सराही गयीं जिसको साहित्य जगत में लोग हाथों-हाथ लेते हैं, जिसका साठवाँ जन्म दिन आने वाला है, क्या हुआ इधर के दो उपन्यासों की उतनी सराहना नहीं मिली, क्या हुआ कि इधर उनका लिखने में जी नहीं लगता—उनकी पुरानी कीर्ति ही उनके अमर होने के लिए काफी है। बेटे और उसके दोस्त के चले जाने के बाद देवकुमार सोच में पड़ जाते हैं। वे समाज, नीति-अनीति, धर्म-अधर्म के कुर्तक जाल में फँसते-फँसते अन्त में बेटे के और जायदाद का वापस लेने के पक्ष में तर्क देने लगते हैं।... 'सबको समान अवसर कहाँ है? बाजार लगा हुआ है...! कहाँ है न्याय? कहाँ है? दरिन्दों के बीच में उनसे लड़ने के लिए हथियार बाँधना पड़ेगा। और अन्त में उनकी शंकाओं को इस धारणा से तस्कीन हुई कि इस अनीति भरे संसार में धर्म-अधर्म का विचार गलत है, आत्मघात है।' इन तर्कों के सहारे ही देवकुमार एक दिन सेठ गिरिधर दास के पास पहुँचते हैं और जायदाद के बैनामे को मंसूख कराने की बात उठाते हैं। जाहिर है कि यह नहीं होगा। तब देवकुमार घर लौटकर अपने लड़के और उसके दोस्त वकील को दावा दायर करने की अनुमति दे देते हैं। इस प्रसंग को पढ़ते हुए मुझे महाभारत का वह प्रसंग याद आया, जहाँ भीष्म इच्छा मृत्यु का वरदान लिए शरशैय्या पर लेटे हुए हैं और नारद उनको देखने पहुँचते हैं। उन्हें इस तरह धर्म-अधर्म, नीति-अनीति, सत्य-असत्य के गोरखधन्धे में अभी भी पड़े हुए देखकर नारद को चिढ़ होती है और वे कहते हैं।

(त्यज् धर्म-अधर्मं च, उभे सत्यानृते त्यज...)

(धर्म-अधर्म दोनों को छोड़ो, सत्य और असत्य को भी छोड़ दो)।

जब देवकुमार धर्म-अधर्म, न्याय-अन्याय के विचार को गलत ठहराते हुए उसे आत्मघात की संज्ञा देते हैं तो अपने आदर्शों के लिए जीवन भर लड़ने वाले एक लेखक की गिरावट के संकेत मिलते हैं। लेकिन महाभारत से अलग हटकर सोचें कि वह कौन-सी समाज व्यवस्था और अर्थ व्यवस्था है, जिसमें जीवन भर समादर सत्कार पाने वाले एक लेखक के ऊपर दस

हजार रुपये का महाजनी कर्ज है? वह कैसी समाज व्यवस्था है जिसमें एक लेखक बुढ़ापे में जायदाद वापसी के लिए अपने बेटे को मुकदमा करने की अनुमति दे देता है, जिसका सीधा अर्थ है कि वह पागल बनने के लिए तैयार है? इतना ही नहीं, जो लेखक जीवन भर किसी इनाम इक़राम से दूर भागता रहा, वह मुकदमे का खर्च जुटाने के लिए अपने झूठे और निरर्थक प्रशंसकों से थैली ग्रहण करते हुए एक साथ दो बातें सोचता है—1. यह सारा यशगान, यह सारी वाह-वाह अंध-भक्ति के सिवा कुछ न थी।...कोई उनके सन्देशों का समझा ही नहीं। किस प्रेरणा ने चालीस साल तक उन्हें संभाले रखा वह कौन सा प्रकाश था जिसकी ज्योति कभी मन्द नहीं हुई? और 2. यह दान नहीं प्राविडेन्ट फण्ड है। सरकार की नौकरी में लोग पैन्शन पाते हैं? क्या वह दान है? उन्होंने जनता की सेवा की है। पेन्शन लेने में क्यों लाज आये? राजा साहब ने जब थैली भेंट की तो देवकुमार के मुँह पर गर्व था, हर्ष था, विजय थी।'

एक महान और एक बड़ी, टॉल्सटायन औपन्यासिक कृति की सभी सम्भावनाओं से पूर्ण अधूरा उपन्यास अगर पूरा हो जाता तो प्रेमचंद ने क्या किया होता, इसकी कल्पना से ही रोमाँच हो आता है क्या सन्तकुमार अपने पिता देवकुमार की उनकी मर्जी से ही थोड़े समय का बहाना बनाकर पागलखाने भिजवा देता और मुकदमा जीत जाने के बाद भी उन्हें वहीं छोड़ देता? मानवीय सम्बन्धों के चौतरफा क्षरण के बीच जो महाजनी सभ्यता का विशिष्ट गुण है, प्रेमचंद कहाँ से राह निकालते? यह कहना गलत होगा कि प्रेमचंद राह नहीं निकालते और इस पूरी रचना को पूँजीवाद के विशाल बजबजाते कीचड़ में गुम होने के लिए छोड़ देते। तो क्या देवकुमार के छोटे लड़के साधु कुमार में वे सम्भावनाएँ हैं, जो आन्दोलन में पढ़ाई छोड़ चुका है और दो बार जेल जा चुका है और जो बहुत कम बोलता है। प्रेमचंद ने उसका जिक्र भर करके आगे के लिए छोड़ दिया है। तो इस उपन्यास का 'मंगलसूत्र' कहाँ है? जाहिर है कि प्रेमचंद जैसा सजग लेखक वह कोई काम नहीं करता जिसकी एक रचना में कलात्मक और यथार्थपरक गुंजाइश न हो। और यह भी सच है कि 'गोदान' की रचना तक आते-आते प्रेमचंद थोपे जाने वाले बनावटी आदर्शों से अलग हट चुके थे। प्रेमचंद कोई भविष्य वक्ता नहीं थे हाँ वे स्वप्नद्रष्टा जरूर थे। वे अपने स्वप्नों को खोना नहीं चाहते थे। कोई भी लेखक नहीं चाहेगा। प्रेमचंद अपने 'यूटोपिया' को सच होता देखना जरूर चाहते हैं। कभी गाँधी जी के साथ-साथ 'मनुष्य का हृदय परिवर्तन' और 'वर्ग समानता उनका यूटोपिया था। यूटोपिया के अवैज्ञानिक, तर्क से असम्मत, परिस्थितियों और यथार्थ से असम्बद्ध, इतिहास से असिद्ध होने का खतरा हमेशा बना रहता है लेकिन फिर भी एक लेखक-रचनाकार, एक कवि-कलाकार, एक दार्शनिक के पास यूटोपिया रहता ही है। स्वप्न के बिना रचना कर्म निरर्थक है, यह बात दीगर है कि वह स्वप्न किन संकेतों से आता है। गोदान में भी प्रेमचंद के पास एक स्वप्न है। स्वप्न का असफल होना भी कई बार एक कृति के सामर्थ्य का संकेत है। स्वप्न और यूटोपिया की असफलता से जो निर्णय पैदा होते हैं वे स्वप्न को विफल करने वाली ताकतों को कमजोर करके नष्ट भी कर सकते हैं। अनेक बार किसी कृति की सफलता उसके लेखक द्वारा देखे गये स्वप्नों की विफलता से गुणात्मक रूप में और बढ़ जाती है। फिर भी यह प्रश्न जहाँ का तहाँ है कि इस अधूरी कृति का 'मंगलसूत्र' कहाँ है? दाम्पत्य के जिस अधिकार को आसानी से छीने जाने की जो बात सन्तकुमार अपनी पत्नी पुष्पा से कहता है, क्या अतिसंवेदनशील पुष्पा उस मंगलसूत्र को स्वयं ही पलट देगी और अपने साथ-साथ सम्पूर्ण स्त्री समाज को दमन और दबाव के जुए से बाहर खींच लाने का एक प्रतीकात्मक मार्ग दिखाएगी? तब वह कौन सा स्वप्न था जिसे देखने और सच करने के लिए प्रेमचंद ने इस कथा के प्रारम्भिक सूत्र फैलाये थे? इसका

उत्तर प्रेमचंद की महाजनी सभ्यता वाले लेख में ही है।

'महाजनी सभ्यता' के प्रारम्भ में ही प्रेमचंद ने फारसी का एक शेर उद्धृत किया है और नीचे उसका अनुवाद भी दिया है :

मुजदः ए दिल कि मसीहा नफ़से मी आयद
कि जे अनफ़ास खुँशश बूए कसे मी आयद।

('हृदय तू प्रसन्न हो कि पीयूषपाणि मसीहा सशरीर तेरी ओर आ रहा है। देखता नहीं कि लोगों की साँसों से किसी की सुगन्धि आ रही है।')

इसके बाद महाजनी सभ्यता की वह व्याख्या प्रस्तुत की गयी है जिस पर प्रेमचंद लानत भेजते हैं। व्याख्या को पढ़ते हुए शुरू-शुरू में यह उद्धरण बड़ा विचित्र लगता है। इतनी भयावह और संक्रामक विश्व व्यवस्था का चित्रण और उसके ठीक विपरीत जाता हुआ इस शेर का अर्थ। लेकिन आलेख के अन्तिम हिस्से तक आते-आते इसके अर्थ का संकेत साफ झलक जाता है। वह मसीहा कौन है जिसके हाथों में अमृत का कटोरा है? जिसका सुगन्ध जनता की सांसों से आ रही है? आलेख के अन्तिम भाग में प्रेमचंद उसका वर्णन कुछ यों करते हैं : ''परन्तु अब एक नयी सभ्यता का सूर्य सुदूर पश्चिम से उदय हो रहा है, जिसने इस नाटकीय महाजनवाद या पूँजीवाद की जड़ खोदकर फेंक दी है, जिसका मूल सिद्धान्त है कि प्रत्येक व्यक्ति जो अपने शरीर या दिमाग से मेहनत करके कुछ पैदा कर सकता है, राज्य और समाज को परम सम्मानित सदस्य हो सकता है, और जो केवल दूसरों की मेहनत या बाप-दादों के जोड़े हुए धन पर रईस बना फिरता है, वह पतिततम प्राणी है। उसे राज्य प्रबन्ध में राय देने का हक नहीं और वह नागरिकता के अधिकारों का भी पात्र नहीं। महाजन इस नयी लहर से अति उद्विग्न होकर बौखलाया हुआ फिर रहा है और सारी दुनिया के महाजनों की शामिल आवाज इस नयी सभ्यता को कोस रही है, शाप दे रही है। निःसन्देह इस नयी सभ्यता ने व्यक्ति स्वातंत्र्य के पंजे, नाखून और दाँत तोड़ दिये हैं। उसके राज्य में अब एक पूँजीपति लाखों मजदूरों का खून पीकर मोटा नहीं हो सकता। उसे अब यह आजादी नहीं कि अपने नफे के लिए साधारण आवश्यकता की वस्तुओं के दाम चढ़ा सके, दूसरे अपने माल की खपत के लिए युद्ध करा दे, गोला-बारूद और युद्ध सामग्री बनाकर दुर्बल राष्ट्रों का दमन कराये। ...इस पैसा-पूजा को मिटा दीजिए, साथ ही बुराइयाँ अपने आप मिट जायेगी। जड़ न खोदकर केवल फुनगी की पत्तियाँ तोड़ना बेकार है।''

जाहिर है कि प्रेमचंद का संकेत महान अक्तूबर क्रान्ति की ओर है। यही समाधान है, यही प्रेमचंद का अन्तिम यूटोपिया, अन्तिम स्वप्न है। शोषण पर आधारित महाजनी (पूँजीपति) सभ्यता को पलट देना ही वह 'मंगलसूत्र' है जिसकी संरचना इस उपन्यास के माध्यम से वे करना चाहते होंगे। यह कैसे सम्भव होता, यह बताना अब तो असम्भव है।

प्रेमचंद का वह स्वप्न, वह यूटोपिया, वह 'मंगलसूत्र' फिलहाल, विफल तो नहीं स्थगित अवश्य हो गया है। महाजनी पूँजी आज अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय पूँजी में बदल गयी है। वह लघुकाय सूदखोरी इस वित्तीय पूँजी के माध्यम से अन्तर्राष्ट्रीय सूदखोरी में बदल गयी है। आधी से ज्यादा दुनिया आज इस खूदखोरी के चलते कर्जो से लदी हुई है। विकास के नाम पर दिए गए ये कर्ज रातों-रात राष्ट्रों की तकदीर का फैसला कर देते हैं। साम्राज्यवादी गुलामी का, शोषण का, पतन का एक नया और अनहोना दौर चालू है। चौबीस घण्टे के भीतर अनेक देशों की अर्थव्यवस्थाएँ चरमराकर बैठ जाती हैं। उनकी मुद्राएँ मूल्यरहित होती हैं। तब सहायता पैकजों द्वारा उनका उद्धार किया जाता है। लेकिन 'बिजनेस इज बिजनेस', उसमें मानवीय मूल्यों, प्रेम

और प्रतिष्ठा और जीने की बुनियादी स्वतन्त्रता का कोई अर्थ नहीं रह जाता। जो भी सिर उठाता है उसके खिलाफ आर्थिक बन्दिशें लगाकर उसका गला मरोड़ दिया जाता है। स्वतन्त्र और राष्ट्रीय विकास की गुंजाइश कमतम छोड़ी जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर शालीनता भरी धमकी के साथ उन देशों के संसाधनों का ये अन्तर्राष्ट्रीय सूदखोर दोहन करते हैं और नैतिकता, स्वतन्त्रता और मानवाधिकारों की बड़ी-बड़ी लफ्फाजी दुनिया के सामने पेश करते हैं। लेकिन जनता की वास्तविक स्वतन्त्रता और मुक्ति की आकांक्षा को वे पूरी तरह कुचलने में असमर्थ हैं। मार्क्सवाद के विचार दर्शन का अमृत कलश वे छीनने में कामयाब नहीं हो पा रहे हैं। ज्योति वसु ने अपने एक साक्षात्कार में कहा था कि 'एक कम्यूनिस्ट कभी अवकाश ग्रहण नहीं करता।' तो दुनिया में दबी-कुचली लांछित अपमानित जनता ने न अपने संघर्षों से, युद्ध से अवकाश ग्रहण किया है, न करेगी। दुनिया की मुक्ति का आवाहन करने वाली मार्क्सवादी विचारधारा ने भी अवकाश ग्रहण नहीं किया है और प्रेमचंद ने भी अपने स्वप्नों और यूटोपिया से अवकाश ग्रहण नहीं किया है। वे अपने रचनात्मक संघर्षों और मार्गदर्शक सन्देशों के साथ अमर हैं।

(यह आलेख सबसे पहले अपने पहले ड्राफ्ट में एस.एफ.आई. की पत्रिका 'स्टुडेंट स्ट्रगल' में सन् 2001 में छपा। फिर इसका संशोधित परिवर्द्धित रूप 'कहा-सुनी' में प्रकाशित हुआ।)

खुदगर्ज़ राजनीति, 'जुमलों' में तब्दील होती भाषा और उनका सामना करता आख्यान : 'आख़िरी कलाम'

नित्यानन्द तिवारी

'पक्षधर' के लिए दूधनाथ सिंह के बारे में मुझसे कुछ लिखने का आग्रह उसके संपादक ने किया था। मेरे स्वाभावानुकूल मुझे बहुत देर हो गयी। इसलिए दूधनाथ सिंह के बारे में 'कुछ' लिखकर भेज रहा हूँ।

इस 'कुछ' को लिखने के लिए आज की राजनीतिक भाषा ने मुझे बहुत प्रेरित किया है। सहसा मेरे सामने 1992 के 6 दिसम्बर की घटना कौंधती है। उस दिन बाबरी मस्जिद ढहा दी जाती है। हिन्दुत्ववाद की चरम सफलता का वह दिन था।

यह बड़ी घटना दूधनाथ के अद्‌भुत उपन्यास 'आखिरी कलाम' की थीम का आधार है। मैंने सोचा, उसके आधार पर 'कुछ' लिखा जायेगा तो वह कुछ के भीतर 'सार' पैदा कर सकता है।

पहले यह बता दूँ कि जिस घटना पर यह उपन्यास लिखा गया है उस समय उ.प्र. में बी.जे.पी. की सरकार थी। जिस समय, 2003 ईस्वी में यह उपन्यास लिखा गया उस समय भी केन्द्र में बी. जे. पी की सरकार थी और आज जब मैं उस रचना पर बात कर रहा हूँ तब भी बी. जे. पी. की ही सरकार है।

1992 में उत्तर प्रदेश में मान्यवर मुख्यमंत्री श्री कल्याण सिंह जी थे। उन्होंने प्रधानमन्त्री श्री नरसिंह राव और भारत के सर्वोच्च न्यायालय को यह वचन दिया था कि वे बाबरी मस्जिद के ढांचे की रक्षा करेंगे। इस कारण आर.एस.एस. की भयोत्पादक और हिंसक भीड़ के होते हुए भी भारत की जनता को यह भरोसा था कि 'ढाँचे' की रक्षा की जायेगी।

लेकिन उस दिन भाषा के भीतर बहुत तेज, बहुत गहरी और लबालब खून से भरी कटार घोंपी गयी। प्रधानमंत्री यानी संसद और भारत की जनता और सुप्रीम कोर्ट के सामने यानी राजनीतिक संस्थाएँ, न्यायिक संस्थाएँ सरेआम खण्डित हुई। जनता के विश्वास के साथ सबसे बड़ा धोखा किया गया। माननीय कल्याण सिंह जी ने अपने कथन पर कायम न रहने के लिए

मुख्यमंत्री पद से इस्तीफा दे दिया और विडम्बना यह कि गर्व से न केवल उनका सीना उन्नत हुआ उनकी पार्टी और उसके बड़े-बड़े नेता अद्‌भुत प्रसन्नता और विजय गर्व से भरे हुए देखे गये।

कितनी बड़ी विडम्बना है कि जिस कृत्य और घटना से पूरी भारतीय जनता विचलित और शर्मसार हुई; संसद से लेकर सर्वोच्च न्यायालय तक निरर्थ हुआ वह इस राजनीतिक पार्टी और विचारधारा के लिए सबसे बड़े गर्व और विजय की अनुभूति बनी।

ऐसी दुर्घटना आधुनिक भारत के इतिहास में कोई दूसरी नहीं हुई। लेकिन उसी पार्टी की सरकार देश में है और कोई नहीं कह सकता कि दुबारा वैसी या उससे भी भयावह घटना नहीं घट सकती।

सांस्कृतिक गर्व! सांस्कृतिक कर्म! और सांस्कृतिक भाषा! का अद्‌भुत 'माडल'! और इसी माडल पर यह उपन्यास लिखा गया है। इस राजनीति के बारे में दूधनाथ व्यंजनाओं के सहारे या बिना उसके लिखते हैं कि लोग एक साथ 'सार्थक और निरर्थक' को जिएँ। कुछ लोग उल्लास और कुछ लोग दुःख का उत्सव मनाएँ और 'इस बेनतीजा राजनीति से अंग्रेजों/ जनता को थका देंगे।

बेनतीजा राजनीति बिना अर्थ वाली चमकदार भाषा भी पैदा करती है। उससे पैदा या उसका प्रतिनिधित्व करने वाला राजनीतिक और आध्यात्मिक पुरुष ''...मूर्खता से किसी और उत्तेजक मूर्खता तक, घमण्ड से किसी दूसरे मारक घमण्ड तक... सर्वनाश से महासर्वनाश तक,.. .. निजी और सामूहिक यातनाओं के बीच निजी और सामूहिक लूटपाट, नोच खसोट करता. .. वह वीतराग बगुला भगत, सार्थक और निरर्थक एक साथ वह जिएगा।''

सार्थक और निरर्थक भाषा एक साथ बोलने वाले नेता के व्यक्तित्व के बारे में आखिरी कलाम में दूधनाथ ने लिखा—''वो एक बहुत सख्त और निर्मम आदमी है—बहुत कठोर। लगभग एक पत्थर की तरह जिसमें कोई सुराख नहीं है, जिसके आरपार देखा जा सके। और जितने सख्त उतने ही निडर।'' यह अंश लगता है गाँधी जी के बारे में लिखा गया है लेकिन इतिहास और परिस्थिति के दबाव से इसमें अद्‌भुत अर्थ—विस्तार हुआ है और यह आज के दिन सांस्कृतिक महापुरुषों, राजनीतिक नेताओं और धर्मरक्षकों के विविध प्रकार के नेतृत्व-जमात का अर्थ देता है।

'आखिरी कलाम' का पहला वाक्य है—''किताबें शक पैदा करती हैं।'' किताबें क्या-क्या करती हैं इसका अपेक्षया लंबा ब्योरा दूधनाथ ने दिया है लेकिन उसे पार कर के आज के भारतीय राजनीति का नया टेक्स्ट आँख में उँगली डालकर दिखा रहा है कि देखो भाषा कितनी अविश्वसनीय हो गयी है! कहती संस्कृति है, करती हिंसा है। सारी जनता के कल्याण की कथा कहती है लेकिन उसे 'जुमले' मानकर सार्थक को निरर्थक बना देने में उसकी जुबान नहीं काँपती।''

यह उपन्यास जुमलों से भरा हुआ है। लेकिन उन 'जुमलों' को वह परिस्थितियों के सामने भी रखता है। सबसे बड़ी बात है कि वह जुमलों को लिखकर व्यंग्य नहीं करता जैसा 'रागदरबारी' में था। 'जुमले' और तत्सम पांडेय दोनों एक दूसरे के सम्पर्क में संताप पैदा करते हैं।

इस स्तर पर इस उपन्यास की भाषा अद्‌भुत है। उसे समझने के लिए एन.डी.टी.वी. इण्डिया को उद्धृत करना चाहता हूँ। अपने चैनल पर अपने प्रसारण के उद्देश्य के सन्दर्भ में कुछ वाक्य कहे जाते हैं। देखिये—

खुदगर्जी खोखला न बना दे सोचने का तरीका...सच दिखाते हैं हम!

इस वाक्य की ताकत बड़ी तीव्रता से तब महसूस हुई जब बिहार के माननीय मुख्यमंत्री

श्री नीतीश कुमार जी ने एक बड़ा नैतिक सा लगता बयान दिया। वे सुशासन बाबू भी कहे जाते हैं। उनका कहना था कि ''अब वे भ्रष्टाचार को और अधिक बर्दाश्त नहीं कर सकते।'' और वे मान्यवर मोदी जी की गोदी में गिर पड़े। उसी मोदी की गोदी में जिसके साथ वे बैठना गवारा नहीं करते थे। इसका सिर्फ एक ही कारण है कि यह परम नैतिक मुख्यमंत्री भ्रष्टाचार के विरोध की आड़ लेकर सत्ता-लोभ नहीं छोड़ सका। यानी ख़ुदगर्जी ने उस नेता के सोचने के तरीके को खोखला बना दिया।

एक दूसरा उदाहरण है। कर्नाटक में चुनाव प्रचार करते समय राहुल गाँधी पर हमला करते हुए मान्यवर प्रधानमंत्री जी ने कहा—''वे नामदार हैं। हम कामदार है।'' और दायें हाथ पर बायें हाथ से ताली बजाते हुए वे कहते हैं...''हमारे पास तो ठीक ठिकाने के कपड़े भी नहीं।''

पूरी दुनिया में अपने कपड़ों के लिए जो प्रधानमंत्री मशहूर हो चुका हो वह ऐसी भाषा बोलने का अधिकारी हो सकता है? लेकिन पार्टीवादी स्वार्थ में अंधा एक बड़ा मानव समुदाय उसके पीछे छिपे अनर्थकारी भाषिक घटना को देखता ही नहीं। वह प्रधानमंत्री जी के कथन में उभरी वह स्वर भंगिमा, जो अपमान पूर्ण है, उसी को सच मानता है। अर्थ और भंगिमा? दोनों में अर्थ कहाँ है? वह जो भंगिमा में है या वह जो तथ्य से उभरता है? ऐसे में एन. डी.टी.वी. का वाक्य बार-बार रखा जाना चाहिए—

''ख़ुदगर्जी खोखाला न बना दे सोचने का तरीका''

''सच दिखाते हैं हम!''

लेकिन विडम्बना यह है कि खुदगर्ज राजनीति के समर्थन में मीडिया (उसमें प्रिंट मीडिया भी शामिल है) एक अलग तरह की बहादुरी दिखा रहा है। और राजनेता और उनके भाषण की प्रकृति उन विज्ञापनों की भाषा की तरह हो चुके हैं जो विज्ञापित वस्तु की असलियत की जिम्मेदारी नहीं लेता। उसी तरह राजनेता भी अपने भाषणों में निहित राजनीतिक कार्यक्रमों और जनता की भलाई की जिम्मेदारी नहीं लेता और उन्हें 'जुमले' कहकर अपनी जिम्मेदारी को नकार देता है।

दूधनाथ ने अपने उपन्यास में बेनतीजा राजनीति जो शब्दों और जुमलों पर चलती है और वह जनता जो शब्दों और जुमलों की राजनीति पर भरोसा करती है उनमें शामिल होकर जैसे अन्तर्दृष्टि प्राप्त कर लिखते हैं—''कितनी आसानी से हमें नष्ट किया जा सकता है। जो भी...जो शब्दों के भरोसे रहता है। एक ठेस ही काफी है, हमें खत्म करने के लिए।''

बेनतीजा राजनीति तब होती है जब वह जनता और समाज में परिवर्तन के मुकाबले सत्तावादी हो जाती है। तभी वह जुमलेवादी भी हो जाती है।

''दुनिया के सारे धर्मशास्त्र अंधों के लिए हैं। प्रश्न मत करो उनका अनुगमन करो।'' ऐसा लगता है बी.जे.पी. सांसद श्री नाना पटोले से मान्यवर प्रधानमंत्री जो कह रहे हों। (अखबारों ने इसकी रिपोटिंग की है।)

जब तत्सत पांडे कार से फैजाबाद की यात्रा कर रहे थे तब देखा था—''रामजी के धनुष पर किसी आभूषण विक्रेता का विज्ञापन लगा हुआ था।''

मार्केट + धर्म + विज्ञापन + राजनीति'' = अद्‌भुत राजनीति

समाज में इन चारों के गठजोड़ की जो संरचना पैदा हुई थी दूधनाथ ने अपनी प्रतिभा से उसे बहुत पहले देख लिया था और उनका 'आखिरी कलाम' संभवतः उसी राजनीति का साहित्यिक रूपक है।

फैजाबाद के लिए जो तत्सत पांडे की यात्रा है उस रास्ते में जिस तरह अवरोध खड़े

किए गये हैं वह भी अभूतपूर्व है। उसका वर्णन भी अभूतपूर्व है। कुछ लोगों के लिए वह वर्णन समानुपातिक नहीं है और उबाऊ है। लेकिन दूधनाथ का उद्देश्य उसे अनुपात में रखने का है ही नहीं। अनुपात में रखना साहित्यिक दृष्टि है। लेखक उस वर्णन को यथार्थ के अनुकूल प्रभाव पैदा करना चाहता है।

इसका महत्त्व तब पता चलता है जब 'केजेरीवाल की सरकार और पुडुचेरी की सरकार को न चलने देने के लिए अद्‌भुत बाधाएँ और अवरोध पैदा करती केन्द्र की ताकतवर सरकार के कारनामों को हम पूर्वग्रह मुक्त होकर देख लें।

वह अनुपातहीन अतिरिक्त सा लगता वर्णन राजनीतिक व्यवहार में अतिरिक्त ग्रोथ की साहित्यिक अभिव्यक्ति है। ''आचार्य जी को उतार कर लिटाया। वे लगातार बीच-बीच में बड़बड़ा रहे थे। वह नींद में बर्राना जैसा था।''

× × ×

''इतने सारे प्रेत! इतने सारे बधिक! पूरी अयोध्या इनसे पटी पड़ी है। आचार्य जी ने अपना एक हाथ ऊपर उठाया और जोर-जोर से बड़बड़ाना शुरू किया। 'सारी संरचनाएँ ढहती हैं सर्वात्मन!' थोड़ी देर बाद आचार्य जी ने कहा।''

''वे न जाने कब और किधर से उतरे और देश के गाँवों-कस्बों-शहरों, घरों, गलियों, सड़कों, बगीचों, बस्तियों—दड़बों, जंगलों और नदियों और पूरे वातावरण में बिखर कर गुम हो गये।

और फिलहाल, अब रात थी।''

यह किताब एक राजनीतिक छल को राजनीतिक अवचेतन में बदलती दिखती हैं। अगर इससे लड़ा नहीं गया तो ''...अतः तैयार रहो एक वृद्ध और बंजर और अपाहिज और दैत्याकार किताब से लड़ने के लिए सदा तैयार हो। अपनी जीवित मृत्यु से बचो। अपनी अन्तर्मेधा को साधो।''

यह किताब एक राजनीतिक छल को राजनीतिक अवचेतन में बदलती दिखती है। अगर इससे लड़ा नहीं गया तो ''...अतः तैयार रहो—एक वृद्ध और बंजर और अपाहिज और दैत्याकार किताब से लड़ने के लिए सदा तैयार रहो।... अपनी जीवित मृत्यु से बचो। अपनी अन्तर्मेधा को साधो।''

यह किताब जनता की अपेक्षा सत्ता, पार्टी और ताकत के पक्ष में खुदगर्ज होकर खोखली बनाती सोच और भाषा का सामना करने का आख्यान रचती है।

(यह व्यवस्थित लेख नहीं है। आज की राजनीति, भाषा और 'आखिरी कलाम' के बारे में ढीले-ढाले नोट्स हैं। इसके लिए लेखक क्षमाप्रार्थी है)

आख़िरी कलाम : अंधी गली में गुम होते देश की दास्ताँ

वैभव सिंह

'आखिरी कलाम' दूधनाथ सिंह के कथा साहित्य का सबसे बड़ा उत्कर्ष है, ठीक वैसे ही जैसे उनकी निराला व महादेवी वर्मा पर लिखी पुस्तकें उनकी आलोचकीय प्रतिभा का महत्तम बिंदु हैं। ऐसा उपन्यास जो किसी कल्पित शिष्य के द्वारा कल्पित गुरु के जीवन को आधार बनाकर लिखा गया है, पर जिसका देशकाल, घटनाओं के विवरण और घटनाओं की निष्पत्तियाँ भयानक रूप से यथार्थ के साथ गुँथी-लिथड़ी हैं। भारत में सांप्रदायिकता सामान्य रूप से चलने वाली प्रक्रिया है। यह अब इतनी सामान्य प्रक्रिया है कि लोग इसके प्रति संवेदनहीन हो चुके हैं। दो-चार की मौत, कहीं दंगा, कहीं आगजनी इस लोकतंत्र के लिए मामूली घटनाएँ हैं। भारतीय समाज के हिंसा के विभिन्न रूपों में इसे एक अनिवार्य रूप की तरह स्वीकार कर लिया गया है। 'दो समुदायों की झड़प', 'इलाके में तनाव', 'दो गुटों में पत्थरबाजी' जैसे अखबारी शीर्षक इतने घिसपिट गए हैं कि अब इनमें शामिल सांप्रदायिक अंतर्वस्तु का विश्लेषण करने में भी लोग अधिक रुचि नहीं रखते हैं। पर यह सामान्य सी दिखने वाली प्रक्रिया कई बार बहुत विस्फोटक घटना-चक्रों को जन्म देती है। तब सामान्य बेहद असामान्य, साधारण बहुत अधिक बर्बर, सहज अत्यंत नाटकीय में बदल जाता है। सांप्रदायिकता की शैतानी कोख से पैदा हुए दो बड़े नृशंस घटनाचक्र या तो 1947 के विभाजन के रूप में सामने आते हैं, या 1992 के बाबरी मस्जिद विध्वंस के रूप में। इन दोनों ने ही हिंदी साहित्य को भी प्रभावित किया। विभाजन पर अगर झूठा-सच (यशपाल), तमस (भीष्म साहनी), सूखा बरगद (मंजूर एहतेशाम), आधा गाँव (राही मासूम रजा), कितने पाकिस्तान (कमलेश्वर) जैसे महत्त्वपूर्ण उपन्यास रचे गए तो बाबरी विध्वंस की घटना पर आखिरी कलाम (दूधनाथ सिंह) और उपयात्रा (मोहम्मद आरिफ) जैसे उपन्यासों का लेखन हुआ है। 'आखिरी कलाम' में यह कमी है कि वह बाबरी विध्वंस के पीछे काम कर रही वास्तविक राजनीति को उजागर नहीं कर सका है। इस उपन्यास को पढ़कर शायद आपको ठीक से पता न चले कि वे कौन से सियासी स्वार्थ थे जिन्होंने लाखों की भीड़ को एक बूढ़ी, उदास और जर्जर मस्जिद के खिलाफ खड़ा कर दिया। एक पिद्दी-सी

बदरंग हो चुकी मस्जिद को हिंदू राष्ट्रवाद के पुरुषत्व के आगे सबसे बड़ी चुनौती बना दिया गया। हो सकता है कि यह भी आपको समझ न आए कि असली खलनायक हाथों में गैंती-फावड़ा लिए हुए जैश्रीराम का नारा लगाने वाली भीड़ है या फिर कहीं दूर भीड़ को रिमोट कंट्रोल से नियंत्रित करते कुछ सभ्य दिखते सियासी चेहरे या आपको वह ऐतिहासिक अंतर्दृष्टि न मिले जो विभाजन का उत्पादन करने वाले समाजशास्त्रीय कारणों का विवेचन करने के कारण झूठा-सच को पढ़ने से मिली होगी। आपको पाठक के तौर पर अंत में लगे कि उपन्यास बाबरी विध्वंस की हृदयविदारक घटनाओं में अधिक उलझ गया, वह इतना उलझ गया है कि किसी फटाफट अंदाज में परोसी जाने वाली खबर का रूप ग्रहण कर चुका है। लेकिन इस कमी के बावजूद उपन्यास उस यथार्थ को पकड़ने में काफी हद तक कामयाब भी हुआ जिसे हिंदू जातीय गौरव के नाम पर कृत्रिम उपायों से गढ़ा गया और देश में हाहाकार मचा दिया गया। 1946-47 में अगर सांप्रदायिकता का केंद्र दिल्ली-अमृतसर-लाहौर या फिर कलकत्ता-ढाका हो सकते थे, तो आजादी के बाद वह केवल उत्तरप्रदेश ही हो सकता था, क्योंकि वहीं पर उसे लंबे समय से पाला-पोसा जा रहा था। 'आखिरी कलाम' का महत्त्व इस रूप में आँका जा सकता है कि यह हिंदू राष्ट्र के प्रोजेक्ट की गुंडागर्दी, सड़क पर किए गए नंगे नाच और मूल्यों को तार-तार कर देने की सचाई को अविस्मरणीय कथा का रूप देता है और जब भी हमें अपने ही धर्म के लोगों की बर्बर-अमानुषिक शक्लों को देखना होगा, तो हमें आखिरी कलाम याद आएगा। भीड़ की हिंसा सांप्रदायिकता का प्रमुख अंग होती है, बल्कि यह कहना गलत न होगा कि 'मॉब वायलेंस' पर ही सांप्रदायिकता टिकी होती है। अनियंत्रित भीड़ को एकत्र कर उससे मनमाने काम कराना समकालीन भारतीय राजनीति का एक लक्षण बन गया। यह उपन्यास भीड़ की हिंसा की पाशविकता, नंगेपन और उसकी सारी कमीनगी को उजागर करता है। कुछ दृश्य तो बहुत ही मार्मिक हैं, जिन्हें पढ़कर पाठकों को क्रोध और रोना एक साथ आ सकता है। इतिहासकार के.एन.पणिक्कर ने नब्बे के दशक के बाद आई सांप्रदायिकता को पूर्व के सांप्रदायिक आंदोलनों से भिन्न बताया है। उनका मानना है कि धर्मों के आपसी विवाद पहले भी थे, लेकिन नब्बे के दशक में व उसके बाद सांप्रदायिकता ने एक वृहत्तर कल्पना अर्जित कर ली। उन्हीं के शब्दों में—'सांप्रदायिकता अब तक विभिन्न समुदायों के बीच विद्वेष और टकराव को बढ़ावा देने के लिए फलती-फूलती रही है। अब उसने वृहत्तर कल्पना हासिल कर ली है। फासीवाद की तरह ही यह राजनीतिक परियोजना है।' (के.एन.पणिक्कर : वैश्वीकरण, संस्कृति और सांप्रदायिकता, पृ-104, लोकप्रकाशन गृह, दिल्ली, 2006)

उपन्यास में 83 साल के विश्वविद्यालय से रिटायर्ड अध्यापक तत्सत पांडेय की जीवनकथा है, और उसी में 1992 की घटनाओं को 'एब्जार्ब' कर दिया गया है। तत्सत पांडेय एक अतिशिक्षित, नास्तिक और साम्यवादी विचार वाले प्रोफेसर हैं। उन्हें उनका शिष्य फैजाबाद में एक सचल पुस्तकालय के उद्घाटन के लिए बुलाता है जहाँ उन्हें 'किताबें शक पैदा करती हैं' विषय पर व्याख्यान देना है। कार्यक्रम की तिथियाँ वही हैं जब अयोध्या में 6 दिसंबर के आसपास लाखों कारसेवकों को एकत्र किया जा रहा है। उपन्यास में प्रसंगों को क्रम से प्रस्तुत करने, उन्हें आपस में मिलाने या उन्हें कल्पना की उपज बनाने से लेखक बचा है और इस कारण चार सौ पृष्ठ से ज्यादा के इस उपन्यास को पढ़ना भी एक दिलचस्प अनुभव से गुजरना रहा है। उपन्यास का एक चौथाई हिस्सा उनके परिवार की कथा सुनाता है, बाकी का तीन चौथाई हिस्सा उन चार दिनों की कथा है जब वह अयोध्या जाकर फँस जाते हैं। कभी अपनी जान बचाने के लिए कम्युनिस्ट पार्टी के दफ्तर में छिपते हैं, कभी किसी के मकान में। बार-बार

जान बचती है, पर फिर भीड़ के शिकार बन जाते हैं। तत्सत पांडेय के परिवार में पत्नी, बहू, पोते, पड़पोते तक हैं, पर उनका असाध्य दुःख है कि उनका बेटा माधवानंद अपनी पत्नी गायत्री के उग्र धार्मिक व्यवहार से तंग आकर अमेरिका में बस गया, वहाँ से कभी नहीं लौटा। वही उसके लिए ऐसी पत्नी ढूँढकर लाए थे जिसमें सुंदरता, विदुषी होने, संस्कृत बोलने वाली ब्राह्मण कन्या के सारे गुण हों। पर वह बहू घनघोर पूजा-पाठ करने वाली निकली जो आँखें ऊपर चढ़ाकर जोर से शंख बजाती है और अपने साइंटिस्ट पति के माथे पर जबरन लाल टीका पोत देती है। वह माधवानंद के साथ अमेरिका जाती है तो प्रण कर लेती है कि वहाँ के सभी म्लेच्छों का हनुमान जी के बल पर सर्वनाश कर देगी। वह पति पर हिंसक प्रहार करती है और उसका कारण यह है कि उसने बचपन में अपने पुरोहित पिता को दूसरी औरत के साथ यौनाचार करते देखा था और तभी से उसके मन में यह धारणा बैठ गई है कि संसार के सभी पुरुष पापी, व्यभिचारी और बेवफा होते हैं। समाज में स्त्रियों के अंधविश्वासी, पागलपन से भरे धार्मिक तथा हिंसक आचरण को व्यक्त करने की दृष्टि से गायत्री का चरित्र 'प्रतिनिधि चरित्र' के रूप में उभरता है। वह चरित्र के साथ ही प्रतीक में बदल जाती है, ऐसी स्त्री के प्रतीक के रूप में जो धर्म-कर्मकांड के वाहक का कार्य करती है और स्वयं उसे भी नहीं पता कि कब वह इसका अपने ही विरुद्ध इस्तेमाल करने लगी है। वह पितृसत्ता की हिंसा को नहीं झेलती है, बल्कि यह चाहती है कि किसी प्रकार पितृसत्ता को धर्म-कर्मकांड के माध्यम से स्थापित कर दे और उसी में पारंपरिक रूप से जीने लग जाए। यानी स्त्री का पितृसत्ता समर्थक रूप कई बार पुरुषों की पितृसत्ता से कम विडंबनाजनक नहीं होता है। पूरे उपन्यास के लंबे-चौड़े कलेवर में गायत्री या माधवानंद जैसे चरित्रों का वर्णन सीमित है, पर यह इशारा करता है कि भारतीय परिवारों में जिस अंधविश्वास, तंत्र-मंत्र, कर्मकांड का वातावरण सदियों से चला आ रहा है, वही समाज में सांप्रदायिकता की जमीन तैयार करता है। भारतीय परिवार अपने कर्मकांडों के कारण दंगा-फसाद करने वाले असामाजिक तत्त्वों के प्रजनन केंद्र का काम करते हैं।

तत्सत पांडेय ऐसे 83 साल के वृद्ध शख्स हैं जिन्हें पता है कि इस सेमिनार, भाषण, चर्चा या बहस से कुछ ठोस प्राप्त नहीं किया जा सकता है, पर वह अंततः इन्हीं चीजों में अपनी सार्थकता ढूँढने के लिए अभिशप्त भी हैं। वह 3 दिसंबर 1992 को घर से अपने दत्तक पुत्र बिल्लेश्वर और पुराने शिष्य सर्वात्मन के साथ फैजाबाद के लिए निकलते हैं जहाँ उन्हें किताबें शक पैदा करती हैं विषय पर व्याख्यान देना है। वहीं से उनकी मुसीबतें आरंभ हो जाती हैं। इसी कालखंड में स्वतंत्र भारत का सबसे बड़ा सांप्रदायिक जमावड़ा अयोध्या में करने की तैयारी चल रही है, बस-लारी में भरकर लोगों को फैजाबाद लाया जा रहा है। हर तरफ जैश्रीराम का हल्ला-हंगामा है, भगवा झंडा-डंडा है, दल-बल के साथ हमला करने की तैयारी है जिसमें लोगों को यह पता है कि सरकार हमारी है, हमारा कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता। प्रशासन अपने संवैधानिक दायित्व छोड़कर या तो इन कट्टरपंथी समूहों के साथ मिल गया है, या फिर वह तटस्थ होकर तमाशा देखने में लगा है। शहर-कस्बों के स्कूलों में इकट्ठा पुलिस-पीएससी के जवान ऊँघ रहे हैं, उधर लाखों की भीड़ अयोध्या पहुँच रही है। पहले वह हुड़दंगी कारसेवकों के बीच फँस जाते हैं, फिर किसी तरह कार्यक्रम स्थल पर पहुँचते हैं तो कारसेवक उनकी सभा में घुसकर तोड़फोड़ करते हैं, उनकी अपनी कार व सचल पुस्तकालय बसों को आग लगाकर किताबें तक लूट ले जाते हैं। किताबों का लूटा जाना या किताबों का विरोध करना एक प्रतीकात्मक घटना की तरह भी है और उपन्यास में इस घटना का वर्णन कर उपन्याकार ने सदियों से पुस्तकों व कट्टरपंथियों के बीच चले आ रहे ऐतिहासिक संघर्ष का चित्र खींच दिया है।

एक धर्मोन्मादी संस्कृति में किताबें नहीं चल सकतीं, किताबें जहाँ-जहाँ होंगी उन हर स्थानों को नष्ट कर दिया जाएगा। मुक्तिबोध ने अपनी पुस्तक 'भारत-इतिहास और संस्कृति' में भी आरंभिक पृष्ठ पर लुटेरों-आक्रांताओं के आगमन के बाद पर्सिपोलिस की लाइब्रेरी के जल उठने के बारे में कविता लिखी है। अपने को किताबों का 'विक्टिम' की तरह देखना और उन्हें नष्ट करना पुराने साम्राज्यों से लेकर आधुनिक काल तक चली घटना है। मई 1933 में जर्मनी में हिटलर की यूथ ब्रिगेड ने बर्लिन में बाकायदा 25 हजार पुस्तकों को आग लगा दी थी जो यहूदियों, सोशलिस्टों, कम्युनिस्टों या उदारतावादियों द्वारा लिखी गई थीं और जिन पर 'अन-जर्मन' भावनाएँ फैलाने का आरोप था। पर किताब यानी ज्ञान की लड़ाई हर तरह के राजा-नवाब, शासक और सामंत के खिलाफ लगातार चली आ रही है और वह मनुष्य को लगातार बदलने के लिए जूझ रही हैं। जिन दिनों अयोध्या-फैजाबाद में गदर मचा है, उन्हीं दिनों एक सभा में तत्सत पांडेय कहते हैं—'एक किताब तुम्हारे भीतर सदियों तक जमी काई को साफ करती है...तुम्हें नया जनम देती है...तुम जो कोलाहल में घिरे हो, एक किताब तुम्हें सन्नाटे में ले जाती है...एक किताब तुम्हारे शत्रु पैदा कती है..जो किताबें तुम्हें जेहाद के लिए, धर्मयुद्ध के लिए उकसाएँ वह तुम्हारी शत्रु हैं...जो किताब तुम्हारी जिज्ञासा का वध करे वह एक दुःस्वप्न हैं, जीवित मृत्यु है।' वहाँ आचार्य जी कारसेवकों की उपस्थिति में जब यह कहते हैं कि तुम्हारे और किताबों के बीच धर्मग्रंथ व तुलसीदास खड़े हैं, तो पगलाई भीड़ उग्र हो जाती है। जिन बातों को विचारोत्तेजक मानकर उन पर बहस करनी चाहिए, उन्हीं बातों पर आस्था बनाम अनास्था का विवाद खड़ाकर हिंसा आरंभ कर दी जाती है। तुलसीदास का नाम आते ही सारा समाज विधर्मी, नास्तिक को ढूँढने लग जाता है ताकि धर्म की पुर्नस्थापना की जा सके।

21वीं सदी तक आते-आते उपन्यास का रूप और उससे अपेक्षाएँ बदलने लगी हैं। दूसरों से कटा, अलग-थलग और सांस्कृतिक रूप से स्वायत्त जीवन न तो लेखक के लिए संभव रह गया है, न पाठक के लिए। जिस ग्राम स्वराज को कभी शहरी जीवन शैली ने अप्रासंगिक बना दिया था, वही शहरी जीवन शैली अब खुद अस्थिर, दिशाहीन हो चुकी है। इस बढ़ती जटिलता को औपन्यासिकता में व्यक्त न कर पाने के कारण अच्छी-खासी प्रतिभा वाले लेखक भी प्रभावशाली लेखन नहीं कर पाते हैं। वे अभी भी मानते हैं कि उपन्यास लिखकर वे किसी सरल दिमाग वाले, फुर्सत में बैठे पाठक के मनबहलाव का काम कर रहे हैं और जीवन की आँच-लपट से दूर रहकर खुद भी इस मुश्किल विधा को साध लेंगे। वह आसानी से मानने को तैयार नहीं हैं कि वह सीधा-सरल, भावुक, अपनी ही फुर्सत से ऊबा हुआ पाठक अब या तो गुम हो चुका है या दुर्लभतम प्राणी हो गया है। उपन्यास का लेखन उपन्यासकार के दिल-दिमाग पर सवार इसी सरलता के भूत के कारण ही उसकी पकड़ से बाहर चला जाता है। प्रेमचंद ने 'माधुरी' में 1922 में लेख लिखा था—उपन्यास रचना। इसमें उन्होंने लिखा था कि—'उपन्यासकार को उपन्यास लिखने में उतना ही दिमाग लगाना पड़ता है जितना किसी दार्शनिक को दर्शनशास्त्र के ग्रंथ लिखने में।' बदलती जीवनशैली में जिंदगी में समस्या अब एकाकीपन या अंतर्मुखता नहीं बल्कि मूल्यहीन बहिर्मुखता बनती जा रही है। इस मूल्यहीन बहिर्मुखता ने इंसान को बाहर फैली संकीर्ण अस्मिताओं और उनके आधार पर चलने वाली राजनीति के बारे में पहले से ज्यादा सजग बना दिया है। जो परिवार तथा समाज पहले धर्म-जाति की राजनीति से अपने को बाहर मानकर अपने जीवन को बेहतर बनाने की कोशिश करते थे, उन्हें भी लगने लगता है कि वे किसी भी प्रकार से अब 'बाहर' या फिर इससे उदासीन

रह नहीं पा रहे हैं और उन्हें धर्म-जाति की राजनीति में अपनी हिस्सेदारी को वक्त रहते चुन लेना चाहिए। उदासीनता जब बाहरी तापमान से पिघलती है तो पहले मौन समर्थन में ढलती है और फिर वह उग्र जुड़ावों में बदलने लग जाती है। भारत जैसे देश में सामाजिक परिवेश हिंसाग्रस्त व अशांत होने के कारण मनुष्य को निरंतर उसके मूल अहिंसक स्वभाव से समझौता करने के लिए भी बाध्य करता है और उसे उस हिंसा को स्वीकार करने के लिए दबाव डालता है जिससे वह वास्तव में न केवल घृणा करता है बल्कि जिसे मानव अस्तित्व की विफलता के लिए मुख्य रूप से जिम्मेदार भी मानता है। इस प्रकार परिवेशगत स्थितियाँ मनुष्य को अपनी रुचि व स्वभाव के प्रतिकूल आचरण के लिए उकसाती रहती हैं तथा उसे अपने स्वभाव के विपरीत आचरण करने के कारण खास किस्म की बेचैनी की निरंकुश लहरों में धकेल देती हैं। यह सारी प्रक्रियाएँ 21वीं सदी में तेज हो रही हैं, और धर्म ने आग में घी डालने का काम किया है। धर्म और उससे जुड़े संगठनों ने छोटे, कस्बाई शहरों को अपनी पकड़ में पूरी तरह ले लिया है। उपन्यास में अयोध्या इसी धार्मिक कट्टरता की प्रयोगशाला के रूप में उभरा है जहाँ विद्वता नहीं बल्कि पंडागिरी की पुरानी संस्कृति ने इसे धार्मिक ध्रुवीकरण की राजनीति का सबसे उपयोगी केंद्र बना दिया। इस्लाम में मक्का और ईसाई धर्म में रोम के वेटिकन सिटी (जहाँ कैथोलिक चर्च का पोप रहता है) के आधार पर हिंदुओं के भी किसी केंद्रीय धर्मस्थल को बनाने का प्रयास किया जाता रहा है। हिंदू धर्म अनंत उपासना स्थलों, पुस्तकों, स्थानीय विश्वासों में फैला हुआ है। इसकी इसी बहुलता को समाप्त कर इस्लाम या ईसाई धर्म की तरह केंद्रीय धर्मस्थल, एक पुस्तक और एक ईश्वर की तर्ज पर ढालने के प्रयास चलते रहे हैं जिन्हें अक्सर हिंदू धर्म-संस्कृति के भीतर ही विरोध का सामना अधिक करना पड़ा है। राममंदिर आंदोलन के दिनों में इस आंदोलन से जुड़े खास वर्ग ने अयोध्या को हिंदुओं का वेटिकन सिटी कहना आरंभ कर दिया और अयोध्या को कई अखबारों, खासतौर पर अंग्रेजी अखबारों ने 'हिंदू वेटिकन' लिखना आरंभ कर दिया था। इन प्रयासों पर भुन्न-से बोलते तत्सत पांडेय के माध्यम से उपन्याकार कहलवाता है—''अगर वेटिकन बनाना ही चाहते हो तो पहले पूरी अयोध्या को सपाट करना पड़ेगा। वास्तुकला रहित इन मंदिरों, गढ़ियों, अखाड़ों, भवनों की कुरूप कालिख और लूटपाट से इस जगह को मुक्त करो। हर एक गर्भ गृह में सई-साँझ जो एक मुस्टंडा जजुमानों को ताकता, दिया बारे बैठा है...उसकी एक पूरी वंशावली है रची हुई। उसमें जघन्य हत्यओं के सिलसिले हैं। चीत्कार करती हुई श्रद्धालु भक्तिनें हैं...अपने प्रेत संसार के भीतर सुबुकती हुई...मूर्ति के नीचे झीन झपटकर लाया और दफनाया गया सवर्ण और रौप्य भंडार है। तो यह है तुम्हारे कल्पना के वेटिकन की संकरी, संडास भरी गलियाँ, जिनपर तुम फिदा हो। लेकिन सच बात है कि ऐसा भी नहीं है।...यह सत्ता का मात्र एक घिनौना खेल है, गेरुए रंग से लपेटा हुआ। यह किसी भी कौम का सरीहन अपमान है। सीधे-सीधे सर्वात्मन, यह आधुनिक बर्बरता का नंचा नाच है।''

उपन्यास में मुस्लिम चरित्रों का वर्णन है, हालाँकि वे मुस्लिम चरित्र कथानक के भीतर नहीं बल्कि बाहर की दुनिया के पात्र हैं जिनसे किसी सड़क या मकान पर मुख्य चरित्र की भेंट या टकराव हो जाता है। इसलिए वे झलक दिखाकर, अपनी मुश्किलें या अच्छाई दिखाकर गायब हो जाते हैं। पर वही लोग संकटग्रस्त अयोध्या में आचार्य की जान बचाते हैं, शहर की पुरानी तहजीब की याद दिलाते हैं और भीड़ की दरिंदगी के शिकार बनते भी नजर आते हैं। पूरे उपन्यास में 6 दिसंबर की घटना के एक-एक पल का जैसे वर्णन है, कब गलियों-सड़कों से भीड़ निकलकर मस्जिद की तरफ आई, कब जैश्रीराम के गगनभेदी नारों के साथ वह मस्जिद

पर चढ़ गई और कब उसे ढहा दिया गया, पढ़कर लगता है कि टेलिविजन की तकनीक की तरह पूरी दृश्यावली को लेखक ने उभार दिया है। मस्जिद ढहने के बाद कारसेवकों के द्वारा ढहाए अत्याचारों का भी लंबे-लंबे वर्णनों में खुलासा किया गया है। भारत में ट्रेनों का इतिहास हमेशा से ही सांप्रदायिक हिंसा से जुड़ा हुआ रहा है। रेलगाड़ियों को केंद्र में रखकर सांप्रदायिकता के इतिहास को अलग ढंग से लिखा जा सकता है। खुशवंत सिंह, भीष्म साहनी, अज्ञेय जैसे कई रचनाकारों ने विभाजन की त्रासदी को प्रकट करने के लिए रेलगाड़ी का प्रयोग किया था। यह उपन्यास भी अंत तक आते-आते ऐसी ही रेलगाड़ी का चित्रण करता है, जिसपर कारसेवकों की लुटेरी भीड़ सवार है और कभी वह भीड़ रेलवे स्टेशन पर मारपीट करती है, कभी रास्ते में गरीबों की फसल लूटती है तो कभी कैंटीन-दुकानें। एक मजबूर असहाय गार्ड है जो हर कोशिश कर रहा है कि किसी तरह ट्रेन चलती रहे ताकि कारसेवकों की अराजकता न बढ़ सके, पर हर बार उसकी कोशिश नाकाम होती रहती है।

इस तरह यह उपन्यास दिसंबर 1992 के पहले हफ्ते की घटनाओं को केंद्र में रखकर बरसों फैली पारिवारिक घटनाओं, तत्सत पांडेय के अतीत, विश्वविद्यालयों की पतनशीलता और धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र के भीतर से निकली फासीवादी राजनीति के विभिन्न आयामों तक कथात्मकता के स्तर पर जाता है और पाठकों के सामने उपकथाओं के दिलचस्प क्रम को प्रस्तुत करता है। 'आखिरी कलाम' भारत देश के एक आधुनिक-धर्मनिरपेक्ष देश के रूप में विकसित होने के लक्ष्य से भटक जाने और धर्मोन्मादी हिंसा की अंधी गली में गुम हो जाने के यथार्थ को बयान करने वाली रचना है। ऐसी रचना जो आम साहित्यप्रेमियों द्वारा ही नहीं बल्कि समाजशास्त्रियों, पत्रकारों व राजनीति-वैज्ञानिकों के द्वारा भी पढ़ी जाती रहेगी।

दूधनाथ सिंह की कहानियों का 'झूठा सच'

रविभूषण

"कहानी-आलोचना में बड़े छेद हैं, और बड़े सुविचारित षड्यंत्र हैं, लेकिन मुझे नज़रअन्दाज़ करना मुश्किल है, क्योंकि मैं सिर चढ़कर बोलता हूँ।" (कहा-सुनी, राधाकृष्ण प्रकाशन, 2005, पृष्ठ 77)

"न मैं शुद्ध हूँ, न अशुद्ध, न पवित्र हूँ, न अपवित्र। कहीं दोनो के बीच शायद... मैं किसी दूसरे की तरह न लिखना चाहूँगा। मैं अपने नुक्ते पर अकेला हूँ और हर लेखक को होना चाहिए... चाहे लोग मुझे जितना मारे-पीटें, वे जानते हैं कि कथा-साहित्य में मुझसे पार पाना आसान नहीं है।" (वही, पृष्ठ 119, 120)

"मैं बराबर यह कहता हूँ कि कहानी परिस्थितियों-घटनाओं के 'चित्रण-प्रतिबिम्बन' में नहीं, बल्कि उनके 'प्रतिरोध' से बनती है- दिखती हुई तथाकथित सच्चाइयों को तोड़ने से बनती है। जमाने की हवा के उलट चलने से बनती है।" (वही, पृष्ठ 187)

"एक कथाकार का सच, सतह पर न दिखनेवाली, लेकिन किसी भी समाज की अन्तर्धारा में निहित सच्चाई को उजागर करता है। यही उसकी कला का मर्म-स्थल और यही उसकी सोद्देश्यता है...यह 'सृजन' अक्सर रास नहीं आता, सकते में डालता है, सत्ताओं को हतप्रभ करता है, चिढ़ाता या उत्तेजित करता है, उनके अनुशासनों की पोल खोलता है, चुनौती देता है, क्योंकि वह एक दूसरी-समानान्तर सत्ता की रचना करता है, जो वास्तव में अस्तित्व में थी, किन्तु संस्थागत समाज विज्ञानों और ऐतिहासिक प्रलेखो (डाकुमेंटेशंस) से मेल नहीं खाती। वह खतरनाक, अविश्वसनीय किन्तु जन-समूहों की अन्तर-मेधा में चुपचाप स्वीकृत होती चलती है।" (वही, पृष्ठ 183)

"कहानी दरअसल कोई नारा नहीं है, कहानी सच का कलात्मक उत्खनन हैं" (वही, पृष्ठ 193)

"बहुत सारा झूठ गढ़न्त और मौज के लिए होता है... लिखने में 'झूठ' की अर्थ संकल्पना

है, यथार्थ से अलग होना नहीं है... यह जो कला की नैतिकता का सवाल-'नमो अंधकारम' या 'निष्कासन' पर उठाया जाता है, वह सब कल्पना से गढ़न्त और झूठ है। लेकिन वह 'सत्य' को प्रतिपादित करता है... वह किसी का जीवन-चरित्र नहीं, उसका एथिक्स है कल्पना प्रसूत असत्य, जो 'सत्य' को सामने लाता है।" (वही, पृष्ठ 127)

दूधनाथ की कहानियों पर विचार करते हुए, उसके समय-सन्दर्भों की पहचान के लिए एक बार पुनः साठ के दशक का स्मरण आवश्यक है क्योंकि साठ का यह दशक पहले के दशकों और बाद के दशकों से भिन्न है। उसकी अपनी एक अलग पहचान है। पश्चिम में यह दशक 'क्रांति के दशक' के साथ ही 'मिनी स्कर्टस' और 'बीटल्स' का भी दशक था, तारिक अली की किताब "स्ट्रीट फाइटिंग इयर्स : ऐन ऑटोबायग्राफी ऑफ दि सिक्सिटीज" (सिटाडेल प्रेस, 1991) के 280 पृष्ठों में इस दशक पर विचार है, वियतनाम-युद्ध, चेग्वेरा की बोलीविया में हत्या और 1968 में वी.एस.नायपाल की भारत पर पहली पुस्तक 'ऐन एरिया ऑफ डार्कनेस' प्रकाशित हुई थी और 1965 में नीरज चंद्र चौधरी का भारतीयों पर लिखे निबंधों का संग्रह *'दि कंटीनेन्ट ऑफ सिरसे'* आया था। इन दोनों पुस्तकों का साठ के दशक से संबंध नहीं है, पर ये प्रकाशित इसी दशक में हुई थी। जवाहर लाल नेहरू की चिंताएँ 1959-60 से बढ़ गयी थीं, जिन्हें 'कलेक्टेड वर्क्स ऑफ जवाहरलाल नेहरू' में देखा जा सकता है। इस दशक के आरंभ (1961) में ही वित्तीय अखबारों 'द इकॉनॉमिक टाइम्स' और 'द फाइनेंसियल एक्सप्रेस' का प्रकाशन हुआ। गाँधी के सपनों से बिलकुल अलग भारत को आधुनिक और 'धर्म निरपेक्ष' बनाने/बने रहने का नेहरू-स्वप्न पूर्णतः साकार नहीं हो रहा था।

'आधुनिकता' का मॉडल बाहरी था, यूरोपीय आयातित पहले लोकसभा चुनाव (1952) से तीसरे लोकसभा चुनाव (1962) के दस वर्ष के भारत में फर्क दिखाई पड़ने लगा था। 1952 और 1957 में भारतीय जनसंघ के सांसदों की संख्या मात्र 3 और 4 थी, जो तीसरी लोकसभा (1962) में बढ़कर 14 हो गयी। वोटों का प्रतिशत 3 और 6 से बढ़कर 6.4% हो गया था, कांग्रेस का वोट प्रतिशत 45 और 47.8 से गिरकर 44.7 हुआ। उसके सांसदों की संख्या भी 364 और 371 से घटकर 361 हो गयी। नेहरू का जादू उतरने लगा था। अक्टूबर 1962 में चीन ने भारतीय सेना को लगभग कुचल दिया था। नेहरू की सरकार से लोगों का विश्वास कमा। 1962 में अमरकान्त की 'हत्यारे' जैसी कहानी प्रकाशित हुई, जो केवल उनकी कहानियों से ही नहीं, उस समय लिखी जाने वाली सभी कहानियों से एकदम भिन्न थी। 1963 में कामराज प्लान आया। 1964 में नेहरू और मुक्तिबोध दिवंगत हुए। कम्युनिस्ट पार्टी विभाजित हुई। झटके लगने लगे थे, जो बाद के वर्षों भी नहीं रुके। इसी दशक में अकाल पड़ा। भूख से मौतें हुईं, हिंसा बढ़ीं और विषम नीतियाँ बनी। भारत-पाक युद्ध हुआ। 1967 के नक्सलबाड़ी और संसदीय चुनाव ने सारा परिदृश्य बदल डाला।

साठ के दशक के आरंभ में भैरव प्रसाद गुप्त 'नई कहानियाँ' के सम्पादक बने (15 जनवरी 1960)। मई 1960 में नई कहानियाँ का प्रवेशांक निकला। जनवरी 1961 से नामवर सिंह ने 'हाशिये पर' स्तंभ लिखना आरंभ किया। 'नई कहानियाँ' के प्रकाशन के बाद व्यवस्थित रूप से 'नई कहानी' पर चर्चा आरंभ हुई। नामवर सिंह ने निर्मल वर्मा को 'नई कहानी' का पहला कहानीकार घोषित कर दिया था। 'कृति' के अक्टूबर 1960 के अंक में निर्मल या उनका लेख प्रकाशित हुआ था। मित्र त्रयी (यादव, राकेश, कमलेश्वर) को अधिक झटका लगा। इन्होंने मोर्चा संभाला। 'यथार्थ' को लेकर बहसें होने लगीं। निर्मल वर्मा ने अपने लेख 'नयी कहानीः लेखक के बहीखाते से' (धर्मयुग, जनवरी 1962) में 'यथार्थ' को पंक्षी की तरह झाड़ी में छिपे

रहने की बात कही थी—''तुम अगर झाड़ी पर ज्यादा दबाव डालोगे, तो वह मर जाएगा या उड़ जाएगा, हम सिर्फ प्रतिक्षा कर सकते है, कभी-कभार झाड़ी को इधर-उधर कुरेद सकते हैं'' और ''जो सही मानी में यथार्थवादी है, उसके लिए यथार्थ हमेशा 'झाड़ी मे छिपा' रहता है।" (नयी कहानीः संदर्भ और प्रकृति, राजकमल प्रकाशन, 2002, पृष्ठ 180)। निर्मल ने लिखा था—"आज टोटल टेरर की स्थिति है ''क्या 1962 में सचमुच भारत में टोटल टेरर की स्थिति थी? नक्सलबाड़ी आंदोलन को भी टोटल टेरर का नतीजा नहीं कहा जा सकता। इन्दिरा गाँधी ने सत्ता-प्राप्ति के लिए और चुनाव जीतने के लिए राजनीति को इसी दशक मे बिलकुल एक नयी (?) दिशा दे दी। अन्तरात्मा कमजोर हो रही थी, और उन्होंने 'अन्तरात्माओं की आवाज़' की बात की। 24 जनवरी 1966 को इन्दिरा गाँधी, प्रधानमंत्री बनी थीं। इसी वर्ष की एक कहानी 'दुःस्वप्न' ('सपाट चेहरेवाला आदमी' में संकलित) में 'अतीत के प्रति ईमानदारी निभाना 'संभव नहीं' माना गया था। कथावाचक को सड़क पर चलते हुए 'गाँधी का नर-कंकाल दिखाई' पड़ा था—'छड़ी के सहारे रास्ता टटोलती हुई...पसलियों का नर-कंकाल।' कहानीकार ने 'जवाहर लाल की पदलोलुपता' की जो बात कही थी, उसमें 'सच' का कम अंश था। चीन आक्रमण (1962) के बाद 26 जनवरी 1963 का दिन उत्सव-दिवस नहीं था। खरोंचें पड़ने लगी थी 1960-62 में निर्मल और नामवर ने यथार्थ से पीछा छुड़ाया था। 'राग दरबारी' साठ के दशक के अंत का (1964) उपन्यास है। उपन्यास के अंत के 'पलायन-संगीत' में श्री लाल शुक्ल ने लिखा-"भागो, भागो, भागो यथार्थ तुम्हारा पीछा कर रहा है।" कहानी और कविता में यथार्थ से 'सीधी मुठभेड़' कम थी।

दूधनाथ सिंह ने '57 से लेकर 60 के आस-पास के समय को एक तरह का अभ्यास-काल कहा है (कहा-सुनी, राधाकृष्ण प्रकाशन, 2005, पृष्ठ 27) अपने विधार्थी जीवन (1957 से 1959) में वे 'परिमल' के सदस्य रह चुके थे। अधिक समय तक वे वहाँ नहीं रह सके। "दो वर्षों बाद ही इस्तीफा दे दिया" (वही, पृष्ठ 38) इलाहाबाद में पहले वे भारती के सम्पर्क में आए, भारती और लक्ष्मीकान्त वर्मा द्वारा सम्पादित—'निकष' पत्रिका को पढ़कर वे 'नए साहित्य के सम्पर्क में' आए। भारती ने उनकी पहली कहानी—'चौकोर छायाचित्र', जो उनके किसी भी कहानी-संग्रह में नहीं है,—'कौमुदी' पत्रिका में प्रकाशित की थी। 'सपाट चेहरे वाला आदमी' कहानी 1959 में लिखी गई थी। जो 1960 में 'लहर' पत्रिका में प्रकाशित हुई। एम.ए. करने के बाद दूधनाथ कलकत्ता गये। वहा दो वर्ष रहे। उनके व्यक्तित्व और कथा-संसार के निर्माण में कलकत्ता की भूमिका या उसके असर पर ध्यान नहीं दिया गया है। देना चाहिए। 'सपाट चेहरे वाला आदमी' से उन्हें यश और ख्याति मिली। उनकी 'नैतिक आवारगी' में थोड़ी-बहुत कलकतों की भी भूमिका अवश्य होगी। "मैं बार-बार कहता हूँ की लेखक को आवारा होना चाहिए। आवारा का मतलब दुश्चरित्र या अनार्किस्ट नहीं।" (वही पृष्ठ 24) कलकत्ता के 'अंडर वर्ल्ड' ('कलकत्ता का अन्तःस्थल भीतरी दुनिया') में घूमने का, उन पर निश्चित रूप से प्रभाव पड़ा है जो उनकी कई कहानियों में स्थानों, नामों, गलियों-मुहल्लों, दुकानों और भीड़-भाड़ के साथ आसानी से दिखाई पड़ता है, कलकत्ता में उन्होंने 'बिस्तर' कहानी लिखी। मोहन राकेश 1962 में 'सारिका' के सम्पादक होकर बम्बई जा चुक थे। दूधनाथ ने उनके पास यह कहानी भेजी, जो 'सारिका' में पुरस्कृत होकर छपी। 1963 में कमलेश्वर 'नई कहानियाँ' के सम्पादक बने। 'नई कहानियाँ' के अंको 'रक्तपात' 'आइसबर्ग' और 'ममी तुम उदास क्यों हो' कहानियाँ प्रकाशित हुईं मेरी वही कहानियाँ जो पहले लगातार लौटती रही थी, धुआँधार एक के बाद एक छपी, मेरी ही नहीं, ज्ञानरंजन और रवीन्द्र कालिया की भी (वही, पृष्ठ 68)। दूधनाथ सिंह

ने साठ के दशक के आरंभिक वर्षों में इलाहाबाद में वाचस्पति पाठक के लीडर प्रेस के पीछे वाले मकान के कमरे में 'सपाट चेहरे वाला आदमी' 'रक्तपात' और 'आइसबर्ग' जैसी कहानियाँ लिखने की बात कही है। 'सपाट चेहरे वाला आदमी' संग्रह कमलेश्वर ने तैयार करके प्रकाशन के लिए दी थी। अक्षर प्रकाशन से प्रकाशित (1967) इस पुस्तक को अब हिन्दी के 'कथालोचक' साहित्य भंडार, इलाहाबाद से प्रकाशित कह रहे हैं।

मात्र पाँच-छः वर्ष में 60 के दशक के कहानीकारों ने अपनी-पहचान बना ली। अक्सर यह कहा और लिखा जाता है कि नामवर सिंह ने 'माया' के 1965 के नव वर्षांक (जनवरी) में 'नयी कहानी और एक शुरुआत' शीर्षक से प्रकाशित अपने लेख से लोगों का ध्यानाकर्षण किया था। इस लेख के अंत में उन्होंने लिखा—"यह आवश्यक नहीं है कि हिन्दी कहानी में 1959-60 के आस-पास एक नई पीढ़ी उभर कर सामने आई है। वह अपनी शुरुआत का नाता निर्मल वर्मा की 'एक शुरुआत' से जोड़ना पसंद करती है...उन्होंने कहानी मात्र को अस्वीकार कर हिन्दी में 'अकहानी' की आवाज उठा दी।" (कहानीः नयी कहानी, लोकभारती प्रकाशन, 1999, पृष्ठ 194) लेख का शीर्षक उनकी पुस्तक में बदलकर 'नयी कहानी : नये संदर्भ' कर दिया गया है। अपने इस लेख में नामवर ने दूधनाथ की 'रक्तपात' कहानी का उल्लेख किया था और यह लिखा था कि "निश्चय ही उल्लेख मात्र से इन कहानियों की विशेषताएँ स्पष्ट नहीं होती, किन्तु सरहद की ये चौकियाँ हिन्दी कहानी के मानचित्र का कुछ तो आभास दे ही देती हैं... हिन्दी कहानी में वस्तुतः यह एक नई परम्परा है और न्याय के लिए इस पर स्वतंत्र विचार अपेक्षित है। प्रसंगात सिर्फ इतना ही कि यह भी एक शुरुआत है—संभावना पूर्व शुरुआत।" (वही, पृष्ठ 195-196)। नामवर से पहले जगदीश चतुर्वेदी ने 1964 में इस समय के कहानीकारों की पहले के कहानीकारों से 'अकहानी' के जिक्र के साथ अपनी एक टिप्पणी में भिन्नता दिखाई थी (जगदीश चतुर्वेदी रचनावली, पृष्ठ 10-11)। साठ के बाद के कहानीकारों की भिन्नता नामवर से पहले जगदीश चतुर्वेदी ने भले ही दिखाई हो, पर संभावना पूर्ण शुरुआत की बात नामवर ने ही कही थी। 1965 में नामवर के लेख के बाद एक साथ कई घटनाएँ घटीं। यह वर्ष इन नये कहानीकारों के स्थापित होने का वर्ष है। 1965 तक दूधनाथ सिंह की नौ कहानियाँ प्रकाशित हो चुकी थी—'सपाट चेहरे वाला आदमी' (1960) 'बिस्तर' (1962) 'रक्तपात' (1962) 'आइसबर्ग' (1963), 'वे इन्द्रधुष', 'सीखचों के भीतर' (1963) 'ममी तुम उदास क्यों हो' (1962) 'सब ठीक हो जाएगा', (1964), और 'प्रतिशोध' (1965), जून 1966 के 'नई कहानियाँ' के विशेषांक में रीछ कहानी प्रकाशित हुई थी और इसी वर्ष उनकी चार और कहानियाँ आयीं-'कोरस' 'दुःस्वप्न' स्वर्गवासी' और 'शिनाख्त' पहले कहानी-संग्रह 'सपाट चेहरेवाला आदमी' का प्रकाशन 1967 में हुआ था। इसके पहले दूधनाथ छाए हुए थे।

विजयमोहन सिंह संभवतः पहले आलोचक हैं जिन्होंने 1964-65 तक चल रहे 'अकहानी' नाम को बदलकर 'साठोत्तरी कहानी' कहा। 1965 में उन्होंने आरा मैं साठोत्तरी कथा-सम्मेलन कराया था, इसी वर्ष देवी शंकर अवस्थी ने दिसम्बर में कलकत्ता में 'भारतीय संस्कृति संसद' द्वारा आयोजित त्रिदिवसीय कथा-समारोह में 'सन् साठ के बाद की हिन्दी कहानी' पर विचार किया था। इसके पहले अगस्त 1965 की 'नई कहानियाँ' में 'यथार्थ का शिल्प और शिल्प का यथार्थ' लेख में सितम्बर 1964 की 'नई कहानियाँ' प्रकाशित महेन्द्र भल्ला की कहानी 'एक पति के नोट्स' पर विस्तार से विचार किया था। कहानी में पति की विडम्बना को देवी शंकर अवस्थी ने आधुनिक लेखक की विडम्बना कहा था और अकेलेपन की इस विडम्बना को वे प्रेम में नहीं सेक्स में देख रहे थे। इसे उन्होंने—विकसित यथार्थ की पहचान कहकर—कहानी

के माध्यम से यथार्थ की खोज माना। उन्होंने उसके लिए 'एक नये तरह के पाठक की माँग' की। दूधनाथ सिंह ने अवस्थी के इस कथन के चार महीने बाद कलकत्ता के कथा-समारोह में 'पाँचवे पाठक की तलाश' की बात कही। उन्होंने पाठकों की पाँच कोटियाँ निर्धारित कीं। यात्राओं में पढ़ने वाले, कर्नल रंजीत और गुलशन नन्दा को पढ़ने वाले और उपयोग की चीजें पढ़ने वालों की उन्होनें अपने एक इंटरव्यू (लेखक को 'चश्मा नहीं पहनना चाहिए') में तीन प्रकार के पाठक कहा है। ''चौथे पाठक-वर्ग की साहित्यिक रुचि साहित्य की पिछली परम्पराओं से निर्मित हुई है... नए दौर का साहित्य इन चार तरह के पाठकों से कोई उम्मीद नहीं रख सकता, इसीलिए उसको पाँचवें पाठक की तलाश करनी चाहिए। उसका निर्माण करना चाहिए और उसी पाँचवें पाठक को संबोधित करना चाहिए। कहा-सुनी, वही पृष्ठ 44) आलोचकों की उन्होंने कोई श्रेणी नहीं निर्मित की। देवीशंकर अवस्थी ने इसके पहले 'एक पति के नोट्स' पर लिखते हुए 'अभ्यस्त पाठक' और 'विवेकी पाठक' की बात कही थी। दोनों में अंतर यह है कि एक नये स्वर की पहचान करता है। यही 'विवेकी पाठक' दूधनाथ सिंह का पाँचवा पाठक है। देवीशंकर अवस्थी ने 1965 में अपने दो लेखों और कलकत्ता के कथा-समारोह के भाषण में इस समय के कहानिकारों के कई वैशिष्ट्य गिनाए और पूर्व कथाकारों से उनका अंतर स्पष्ट किया। साठ के बाद के कहानीकारों को केन्द्र में रखने का कार्य विजयमोहन सिंह ने किया। विजयमोहन सिंह द्वारा सम्पादित 'सन् साठ के बाद की कहानियाँ' का प्रकाशन दूधनाथ सिंह के अनुसार बनारस के 'नया लेखक प्रकाशन' की ओर से सितम्बर 1965 में हुआ था (कलकत्ता के कथा-समारोह के पहले) जबकि 'आज की कहानी' (विजयमोहन सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, 1983) में इसकी भूमिका 'परिवर्तन की प्रक्रिया' का समय 1966 है (पृष्ठ 89) अब शोधार्थी ढूँढें और बतायें कि प्रकाशन वर्ष को लेकर दूधनाथ सिंह सन् 60 के बाद की कहानियाँ, के नये संस्करण (2017) की अपनी भूमिका ('यह संकलन' 3 फरवरी 2016) में सही हैं या विजयमोहन सिंह?

दूधनाथ ने अपनी 'पूरी पीढ़ी' को विजयमोहन का वास्तविक कर्जदार कहा है (सबको अमर देखना चाहता हूँ, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, 2017, पृष्ठ 51) वे मानते हैं कि विजयमोहन सिंह के 'साठ के बाद की कहानियाँ', संकलन ने "जाने-अनजाने ही एक ऐसे महत्त्वपूर्ण (हिन्दी कहानी की दुनिया में) आंदोलन का सृजन किया जो अपने आप में अभूतपूर्व है। भूमिका में जिन बातों और विशिष्टताओं का उल्लेख और विश्लेषण मिलता है उसने हिंदी कहानी के रहन-सहन-कहन को उलट-पलट दिया।" ('सन् 60 के बाद की कहानियाँ, लोकभारती, इलाहाबाद, 2017)। दूधनाथ सिंह के कथालोचक उनके कथा-विकास के जो दो-तीन चरण बताते हैं और स्वंय दूधनाथ एक लम्बे अन्तराल के बाद अपने कहानी-लेखन का जो दूसरा दौर स्वीकारते हैं, क्या सचमुच उनमें साठ के दशक की कहानियों से पूर्णतः प्रस्थान है या उनकी कहानियों के कई स्वर तत्व, प्रश्नादि बाद की कहानियों में बाह्य स्तर पर न सही, पर मौजूद हैं अर्थात् उनके कथाकार के यहाँ परिवर्तन है या नैरन्तर्य भी? जो परिवर्तन दिखाई देता है, वह ऊपरी है, बाह्य धरातल पर है या कथाकार के कथा-दर्शन और कथा-दृष्टि का बाद की कहानियों से भी कुछ मेल है? क्या सचमुच हिंदी कहानी के 'रहन-सहन-कहन' को साठ के बाद के कहानीकारों ने 'उलट-पलट' दिया? उलटने-पलटने का यह कार्य तो नक्सलबाड़ी आंदोलन ने किया था, जिसकी ओर बाद में काशीनाथ सिंह मुड़े, दूधनाथ नहीं। नामवर सिंह 'आलोचना के सम्पादक इसी वर्ष बने और उन्होंने अपने 'सम्पादकीय' में चौथे चुनाव के बाद भारत के 'एक नए ऐतिहासिक दौर में 'प्रवेश' की बात कही। ''जिसमें जनतंत्र के विकास की संभावनाओं

के साथ फासिस्ट और तानाशाही के खतरे भी मौजूद हैं (आलोचना, पूर्णांक 38, अप्रैल-जून 1967, सम्पादकीय पृष्ठ)। उन्होंने 'चुनाव के बाद का भारत' पर संवाद आयोजित किया, जिसमें रामविलास शर्मा, रमेश कुंतल मेघ, शिवप्रसाद सिंह, विद्यानिवास मिश्र, राजकमल चौधरी, विष्णु प्रभाकर, भगवतीचरण वर्मा, अमृतलाल नागर, मन्मथनाथ गुप्त, राजेन्द्र अवस्थी, ओमप्रकाश दीपक और हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने विचार रखे। यहाँ यह बताना जरूरी है कि चौथी लोकसभा (1967) में तीसरी लोकसभा की तुलना में कांग्रेस के 78 सांसद कम हो गए थे। मत-प्रतिशत 44.7 से घटकर 40.8 प्रतिशत हो गया था। दूसरी ओर भारतीय जनसंघ के सांसदों की संख्या पहले की तीन लोकसभाओं के कुल सांसदों से कहीं अधिक थी। अब भारत की संसद में भारतीय जनसंघ के 35 सांसद थे। नौ राज्यों में कांग्रेस हारी थी और वहाँ संविद सरकारें बनी। संसद में दो दक्षिणपंथी पार्टियाँ स्वतंत्र पार्टी और भारतीय जनसंघ क्रमशः दूसरे और तीसरे स्थान पर थीं। साहित्य का परिदृश्य भी बदलने लगा। छः-सात वर्ष जीकर, चर्चित होकर 'अकविता' और 'अकहानी' आंदोलन ने दम तोड़ दिया। स्वर प्रबल रूप में न सही धीमें रूप में मौजूद थे, पर जनांदोलन ने साहित्यिक आंदोलन को उस समय पीछे ठेल दिया था।

'किताबें शक पैदा करती हैं' दूधनाथ ने 'आखिरी कलाम' (2006) में लिखा था। अपने को एक विचारक की कोटि में रखने वाला 'सपाट चेहरे वाला आदमी' का कथानायक किताबों में कुछ भी नहीं पाता-"आज तक जितनी भी किताबें लिखी गयी हैं, जितने आर्ष-वाक्य कहे गये हैं, उनमें मुझे कुछ भी नहीं मिलेगा। जो पुस्तकालय जला दिये गये, जो ऋषि गूंगे होकर मर गये वे मुझसे कुछ भी नहीं कहते, जो किताबें किसी ताबूत में रखकर गाड़ दी गयीं वे भी अगर खोदकर लायी जायें तो कोई जवाब नहीं देंगी। और यह भी कि भविष्य में जो भी आविष्कृत होगा, जो खंडित होगा और जो बचाकर सार रूप में सामने रखा जायेगा, जो किताबें लिखी जायेंगी, वे मुझे जवाब न देंगी।" अगर इसे स्वीकार कर लिया जाय तो उनकी कहानियों और कथा-संग्रहों में "मुझे कुछ भी नहीं मिलेगा।" ठीक इसके बाद की कहानी 'बिस्तर' में दर्शन शास्त्र के प्रोफेसर कुमार के कमरे में ज्यादातर 'दर्शन की किताबें हैं', प्रोफेसर उनकी कई कहानियों में हैं, जिनके कमरे में किताबें हैं, अगर केवल उनकी कहानियों में किताबें ढूँढी जायें, तो वे कई कहानियों में हैं। दूधनाथ सिंह ने अपने एक इंटरव्यू 'प्रतिभा के लिए कोई शर्त नहीं' में अपने प्रारंभिक दौर (साठ का दशक) में अपने प्रिय लेखकों का जिक्र किया है और ईमानदारी से यह स्वीकारा है कि "प्रारंभिक दौर में मेरे प्रिय लेखक ओसामू दजाई, काफ्का, कामू, बॉदलेयर, आर्थर रेम्बो, लुई अराँगा जैसे पश्चिमी लेखक थे। निश्चय ही मेरी मनःस्थिति पर इतने महान लेखको को पढ़ने का असर रहा है, इन्कार नहीं कर सकता मिथा ऑफ सीसिफस, द रिबल, द आउटसाइडर, द ट्रायल और द कासिल ने शुरुआती दौर में मुझे आकर्षित किया। आर्थर रेम्बो का 'ला इल्युमिनेशंस' और 'ए सीजन इन हेल' मुझे बहुत प्रिय थी। अपने कलकत्ता प्रवास के दौरान मैंने ज्ञानोदय में आर्थर रेम्बो पर बहुत बड़ा लेख भी लिखा था और 'ए सीजन इन हेल' के बहुत सारे अंशो का अनुवाद भी किया।" (कहा-सुनी, वही, पृष्ठ 126)। साठ के दशक में दूधनाथ के रचनात्मक मानस के निर्माण में इन पश्चिमी लेखकों और कृतियों की सर्वोपरि भूमिका है वे हिन्दी की कथा-परम्परा से दूर हैं और उन पर अपने समय और समाज की घटनाओं-स्थितियों का कोई असर नहीं है। उनके कहानी-लेखन का पहला दौर है—1960 से 1970-71 का। 'सपाट चेहरेवाला आदमी' (1960) से दुर्गन्ध (1971) तक का दौर साठ का पूरा दशक। इस दौर में उनकी कुल कहानियों की संख्या उन्नीस (19) है। सपाट चेहरे वाला आदमी (1967) में आठ -'सपाट चेहरे वाला आदमी', 'रक्तपात', 'सब

ठीक हो जायेगा', 'आइसबर्ग', 'प्रतिरोध', 'कोरस', 'रीछ' और 'दुःस्वप्न'। सुखान्त (1968) के प्रथम संस्करण में छः कहानियाँ थी। जिनमें से कबन्ध' कहानी बाद में यह कहकर हटा ली गई कि ''वह कहानी एक विसंगत नाट्य-प्रयोग ज्यादा थी-कहानी कम।'' 'सुखान्त' कहानी-संग्रह में अब उनकी पाँच कहानियाँ रह गयीं—'स्वर्गवासी', 'शिनाख्त', 'उत्सव', 'विजेता' और 'सुखान्त'। दूधनाथ का तीसरा कहानी-संग्रह 1981 में आया—'प्रेम कथा का अंत न कोई'—जिसकी सभी पाँच कहानियाँ 'वे इंद्रधनुष', 'बिस्तर', 'ममी तुम उदास क्यों हो', 'सीखचों के भीतर' और 'आज इतवार था'—1960 से 1970 की है। उनके किसी कहानी-संग्रह में 'दुर्गन्ध' नहीं है, जिसका प्रकाशन वर्ष 1971 है। कथा-समग्र (रे माधव पब्लिकेशन्स प्राइवेट लिमिटेड, नयी दिल्ली, 2006) में उस समय तक प्रकाशित उनकी सभी कहानियों को दो भागों में रखा गया है—पहला कदम और दूसरा कदम।

दूधनाथ स्वीकारते हैं कि—"एक संगठित और संश्लिष्ट अध्ययन ने एक लेखक के रूप में मेरा निर्माण करने में बहुत योगदान किया" (वही, पृष्ठ 126)। वे साठ के दशक में समय और समाज से कहीं अधिक किताबें पढ़ रहे थे, उन्होने जिन कवियों-लेखकों के प्रभाव का जिक्र किया है, थोड़ी देर के लिए हमें उन्हें अवश्य देख लेना चाहिए क्योंकि इससे दूधनाथ के पाँचवी तरह के पाठक ही परिचित होंगे, अन्य चार प्रकार के पाठक कम होंगे। साठ के दशक के कवि-लेखक ही नहीं आलोचकों ने भी विदेशी पुस्तकों, पत्र-पत्रिकाओं और जर्नलों का काफी अध्ययन किया था। उनमें एक प्रकार की होड़ लगी रहती थी। दूधनाथ और विजयमोहन सिंह का अध्ययन व्यापक था। आज भी कितने कवि-लेखक, आलोचक ओसामू दज़ाई (19.6.1909-13.6.1948) को जानते है? बीसवीं सदी के जापान के महत्त्वपूर्ण कथाकारों में से एक ओसामू दज़ाई को लम्बी उम्र नहीं मिली थी। वे अड़तीस वर्ष ही जीवित रहे। जापान में उनकी पुस्तक 'द सेटिंग सन' और 'नो लौंगर हयूमैन' काफी लोकप्रिय हुई थी। इन पुस्तकों को वहाँ क्लासिक का दर्जा प्राप्त है। ये कहानीकार और उपन्यासकार थे। साठ के दशक का कोई ऐसा कथाकार नहीं था, जिसने काफ़्का और कामू को नहीं पढ़ा हो। बीसवीं सदी के महान कथाकार फ्रैंज काफ़्का (3.7.1983 -3.6.1924) ने कथा-लेखक में जिस नयी आधुनिक शैली को जन्म दिया, उसने विश्व के सभी कथाकारों का ध्यान खींचा था। काफ़्का और कामू उनकी अलमारियों में ही नहीं, दिलों में रहते थे। दिल-दिमाग में उस समय ये दोनों महान कथाकार बस से गये थे। काफ़्का के यहाँ यथार्थवाद और फैंटेसी के तत्त्व थे। मुक्तिबोध ने फैंटेसी काफ़्का से ली हो या न ली हो, पर साठोत्तरी कथाकारों के यहाँ, जहाँ भी फैटेंसी और उसके तत्व हैं, उनके बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने काफ़्का से प्ररेणा नहीं ली है। 'मैटॉमॉर्फोसिस' 'द ट्रायल' और 'द कैसल' को साठ के दशक में किन कथाकारों ने नहीं पढ़ा था। इन कथाकारों के यहाँ जिनमें दूधनाथ प्रमुख हैं, जो अकेलापन और अस्तित्वादी जीवन-चिंतन दिखाई देता है उस पर काफ्का का प्रभाव है। इसी प्रकार से फ्रेंच दार्शनिक, लेखक, पत्रकार अल्बेयर कामू का व्यक्तित्व और कृतित्व दोनों उस समय हिन्दी लेखकों को आकर्षित कर रहा था। कामू का उपन्यास 'आडट साइडर' 1942 में प्रकाशित हुआ था जो एब्सर्ड और अस्तित्ववाद के दर्शन के उदाहरण के रूप में विश्व विख्यात है। दूधनाथ इससे आकर्षित प्रभावित थे। 'दि मिथ ऑफ सिसिफस' (1942) और 'रिबैल' (1951) से भी दूधनाथ एक साथ फ्रेंच कवि, निबंधकार, कथालोचक और एलेन पो के अनुवादक चार्ल्स बॉदलेयर (9.4.1821-10. 11.1891) की कविताओं-रचनाओं से भी प्रभावित थे। बॉदलेयर ने अपनी प्रसिद्व पुस्तक 'द फ्लार्वस ऑफ इविल' (1957) जो गीति-कविता थी, से गद्य-कविता की एक मौलिक शैली

विकसित की थी। बॉदलेयर ने मलार्मे और रैम्बो सहित पूरे युग को प्रभावित किया था। सैंतीष वर्षीय आर्थर रैम्बो को सहित्यिक आन्दोलन 'प्रतीकवाद' का जनक माना जाता है। 'प्रतीकवाद' का आरंभ चार्ल्स बॉदलेयर की 'द फ्लावर्स ऑफ ईविल' (1857) से माना जाता है, बॉदलेयर की ये कविताएँ पतन, अधोगति, काम-वासना या रत्यात्मकता से जुड़ी हुई हैं। रैम्बो ने 'ए सीज़न इन हेल' को स्वयं 1873 में प्रकाशित किया था, जिसका प्रभाव सुर्रियलिस्ट सहित कई कवियों-कलाकरों पर पड़ा। दूधनाथ रेणु को याद करते है, जिन्होंने उन्हें रिल्के की कविता और गद्य ही नहीं, पियरे लुई की 'अफोदितो' और 'सांग्स ऑफ ब्लिट्रीज' जैसी गद्य कविता वाली किताबों से भी परिचित कराया। (वही, पृष्ठ 126) वे इन्द्रधनुष (1963) कहानी का कथावाचक प्रोफेसर निरंजन ने कीर्ति को कई अकेले अवसरों पर रिल्के की कविताएँ सुनाई थी, वह कीर्ति को शादी में रिल्के का संग्रह देता है, रेणु कहानीकार थे और उन्होंने दूधनाथ सिंह को रिल्के से परिचित कराया था, रिल्के में ऐसा क्या था, जिससे वे हिन्दी के इन दो कथाकारों को प्रभावित कर रहे थे। जर्मन कवि रिल्के (4.12.1875 - 29.12.1926) 'बोहोमियन' थे वे पारम्परिक और आधुनिकतावादी लेखकों के बीच सांक्रांतिक रूप में थे। कई आलोचकों ने उनकी कृतियों में रहस्यात्मकता को अन्तर्भूत माना है। दूधनाथ की कहानियों में भी इसे चिन्हित किया जा सकता है। रिल्के, बॉदलेयर और फ्रेडरिक नीत्शे (15.10.1844-25.8.1900) से प्रभावित थे। दूधनाथ ने अपने पर पड़े वॉदलेयर के प्रभाव की बात कही है। 'बिस्तर' कहानी में कथावाचक कुमार नीत्शे को याद करता है—"किसी व्याभिचारिणी औरत के चुंगल में फँस जाने से अच्छा है इन्सान किसी हत्यारे के हाथ में पड़ जाये।" इसी कहानी में कुमार जो फिलासफी का प्रोफेसर है, कॉलेज में फ्रेंच यहूदी, दार्शनिक, 1927 में नोबेल पुरस्कार से सम्मानित हेनरी लुईस बर्गसाँ (3.10. 1859 - 24.12.1941) के बारे में बोलता है, "स्मृति एक संचित समय का नाम है।" दूधनाथ साठ के दशक में पश्चिमी कवि कथाकारों और दार्शनिकों का मनोयोग पूर्व अध्ययन करते हैं। वे उस दौर में फ्रेंच कवि लुई अरागाँ (3.10.1897-24.12.1982) को भी पढ़ रहे थे, जो फ्रांस में सुर्रियलिस्ट आंदोलन के प्रमुख स्वर थे, जिन्होंने *आंद्रे ब्रेटन और फिलिपी साउपाल* के साथ संयुक्त रूप से 'सुर्रियलिस्ट रिव्यू लिटरेचर' की शुरुआत की थी। सुर्रियलिज्म् साहित्य में वास्तविकता और कल्पना को कलात्मक रूप से प्रस्तुत करता है। हमें फ्रेंच कवि और लेखक पियरे लुइ (10.12.1870 - 6.6.1925) को याद करना चाहिए, जिसको पढ़ने का सुझाव उन्हें रेणु ने दिया था। चौबीस वर्ष की उम्र में 1894 में इस कवि की पुस्तक 'द सौंग्स ऑफ ब्लिट्ज' पेरिस में प्रकाशित हुई थी, जो तत्वतः कामविषयक लेस्बियन कविता का संग्रह था। कवि के अनुसार एक प्राचीन ग्रीक कविता का छंद अनुवाद। 1896 में प्रकाशित उपन्यास 'अफ्रोदितो को सफलता प्राप्त हुई थी। एक लेखक के रूप में पियरे लुई ने स्वयं को 'एथेनियन' कहा है, जिसके लिए शारीरिक प्रेम से पवित्र और कुछ नहीं है, मनुष्य के शरीर से बढ़कर सुन्दर कुछ भी नहीं है। इस सूची को विस्तार देकर गालिब, चकबस्त और रूसी कवि येवगेन्य येकाशेंको (18.7.1933-1.4.2017) तक लाया जा सकता है। 'वे इन्द्रधनुष' कहानी में अनिल कथावाचक निरंजन को 'इम्प्रिंट' में प्रकाशित येकाशेंको की आत्म-जीवनी के बारे में बताता है। पुस्तक रूप में यह 1 जनवरी 1963 को 'ए प्रेसियस ऑटोबायग्राफी' शीर्षक से प्रकाशित हुई थी।

किंचित विस्तार से यह लिखना इसलिए आवश्यक था कि साठ के दशक की दूधनाथ की कहानियों पर सही ढंग से विचार किया जाय। उन पर निर्मल का अच्छा-खासा प्रभाव है। 'झाड़ी में छिपने की बात पहले निर्मल ने कही थी।' 'रक्तपात' कहानी में "जैसे कोई झाड़ी में छिपे खरगोश को पकड़ने के लिए आगे बढ़ता है, उसी तरह उन्होंने कान के पास मुँह ले

जाकर एकाएक शब्द नापते हुए कहा... मैं कहती हूँ, प्यार कर लूँ।'' निर्मल वर्मा ने दूधनाथ सिंह पर 'हिन्दुस्तान टाइम्स' में लिखा था (कथा-समग्र के आरंभ में उद्धृत) वे साठ के दशक के अंत में कहानी कहने की संरचनात्मक प्रथा में अधैर्य के चिह्न देख रहे थे। वहाँ एक वक्र अस्पष्टता विकसित हुई थी जो पहले मौजूद नहीं थी। दूधनाथ सिंह की कहानियों में निर्मल वर्मा ने निष्ठुरता की एक 'स्पिरिट' और निपुण व्यंग्य/विडम्बना देखी। यह मध्यवर्गीय संसार की साधारणता को छोड़े बिना संभंव नहीं था, जिसे दुस्साहस पूर्वक एक 'ब्रेकिंग प्वायंट' तक खींच डाला गया था, जहाँ यह विकृत, ऊटपटाँग और दुःस्वप्न था। भारतीय संदर्भ में सामान्य के सतही चित्रण से यह अशुभ था, जहाँ कुछ भी घटित नहीं होता। पहली बार हिन्दी लेखक ने जानबूझकर अपने भावात्मक, 'की बोर्ड' को कम किया। निर्मल ने विदेशी प्रभावों की शिकायतों के बाद भी इनमें ठीक-ठीक भारतीयता की भी बात कही थी। रचनाशीलता में इस मौलिक और नवीन बदलाव के कारण क्या थे? दूधनाथ ने साठ के दशक में जैसी कहानियाँ लिखीं, वैसी कहानियाँ फिर क्यों नहीं लिखीं? उनके बाद में वैचारिक परिवर्तन, क्यों दिखाई देता है? किताबें पढ़ने और समय पढ़ने में अंतर है, फिर किताबें भी तो एक प्रकार की नहीं होतीं। दूधनाथ में परिवर्तन के मोटे तौर पर तीन दौर हैं। पहला 1960 से 1970-71 का है, दूसरा 1989-90 से 2000-2004 का और तीसरा 2004-05 के बाद का दौर यह मात्र एक स्थूल विभाजन है, जिससे उनकी कहानियों में आगे बदलावों से समझा जा सकता है। दूसरे दौर की कहानियों की या अपने में आए बदलाव की बात उन्होंने स्वयं की है, ''वैचारिक परिवर्तन से मैं व्यक्तिवादी पतनशीलता से बच गया... मैंने अपनी रचनात्मकता के लिए ही उस वैचारिक विकल्प की खोज की... टॉल्स्टॉय को पढ़कर मेरे अंदर बहुत से परिवर्तन हुए... परिवर्तन का दौर टॉल्स्टॉय, चेखव और शोलाखोव जैसे लेखकों को पढ़कर आया। एक महाकाव्यात्मक यथार्थ दृष्टि ने मुझे बदलने में बहुत बड़ी भूमिका अदा की। (कहा-सुनी, वही, पृष्ठ 126) टॉल्स्टॉय (9.7.1820-20.11.1910) अन्तोन चेखव (29.1.1860-15.7.1964) और मिखाईल शोलाखोव (24.5.1905-21.12.1984) महान रूसी कथाकार थे। दूसरे दौर में दूधनाथ कवियों, दर्शनिकों और विचारको की ओर कम मुड़े, जो मुख्यतः फ्रांस और जर्मनी के थे। अब पहले जैसी आत्म केन्द्रिकता नहीं रही। समय बदल चुका था। भारतीय लेखकों ने साठ के दशक की रचनाशीलता से अलग समय से सीधे जुड़कर रचना-कर्म में लगे।

दूधनाथ के कथा-लेखन पर विचार करने वाले 70-71 के बाद के प्रन्दह-सोलह वर्ष के अन्तराल पर ध्यान देते हैं, पर उनका ध्यान 1975 में उनके द्वारा सम्पादित-प्रकाशित 'पक्षधर' पत्रिका के प्रवेशांक पर कम जाता है। ज्ञानरंजन पहले से 'पहल' निकाल रहे थे। शायद इस कारण दूधनाथ को 'पक्षधर' का प्रकाशन-सम्पादन आवश्यक लगा हो। हिन्दी में अच्छी-खासी संख्या में सत्तर के दशक के आरंभ से लघु पत्रिकाएँ निकलने लगी थीं। 'पक्षधर' के सम्पादकीय वक्तव्य में दूधनाथ ने आरंभ में ही यह लिखा ''पक्षधर व्यापक प्रगतिशील, क्रान्तिकारी विचार-साहित्य की पत्रिका है और और इस रूप में उसके प्रकाशन का निश्चित उददेश्य है।'' दूधनाथ ने स्वीकारा कि व्यक्तिवादी-कलावादी, पतनशील रुझान के कारण पिछले दौर में 'लेखक साहित्यिक-रचनात्मक भटकाव का शिकार' बने हैं। उन्होंने पूँजीवादी-साम्राज्यवादी शोषक सत्ता के पक्ष में, रहने की भी बात कही। क्या यह साठ के दशक के लेखन पर टिप्पणी नहीं है? पिछला दौर, तो वही था—साठ के दशक का दौर। 60 के बाद लिखी गयी कहानियों को कोई 'डिस्ओन' नहीं कर सकता।'' उनकी पृष्ठभूमि में आज़ादी से मोहभंग है। वैचारिक संघर्ष और बहसों के अभाव से वे काहनियाँ पैदा हुईं। संयुक्त परिवार के टूटने, राजनीतिक दिशाहीनता

की आती धीमी आहट, एकल परिवारों में पत्नी तथा प्रेम का द्वन्द्व और अन्तर्विरोध इन कहानियों का उत्स है और मेरी ही नहीं, उस समय लिखने वाले सभी महत्त्वपूर्ण कहानीकारों की विषवस्तु का विश्लेषण इसी तरह है... वो एक निश्चित दौर की उपज है और नई कहानी आन्दोलन की प्रवृत्तियों से बिलकुल अलग है।" (वही, पृष्ठ 125)

दूधनाथ सिंह संभवतः पहले हिन्दी कथाकार है जिन्होंने 1966 की कहानी 'दुःस्वप्न' में जनसंघ के झूठ की पहचान कर ली थी। उन्होंने सच के पक्ष में होते हुए भी उल्टे पराजित और अपमानित होने की बात कही थी और यह लिखा था, "हम सब सच को नकारने के आदी हो गए हैं। क्या हर हिन्दुस्तानी अंदर से जनसंघी' नहीं है।" कहानी में शाखा लगाने वालों के हाथ एक मुसलमान का बेरहमी से कत्ल किए जाने का भयावह प्रसंग है। कलकत्ता में एक राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के विस्तार को इस कहानी में भी देखा जा सकता है। ऐसे कथन या रिमार्क की कहानी से कोई पूर्ण संगति नहीं बैठती पर कई कहानियों में वे 'राजनीति, चुनाव आदि में टिप्पणी करते हैं। ऐसा लग सकता है कि यह कहानी को अपने समय से जोड़ने के लिए है, जबकि दूधनाथ ने निजी समय की बात भी कही है। "मेरा समय कहाँ है? कहाँ है मेरा समय?" (सुखान्त)। इस निजी समय की खोज़ बाहर के समय से कट जाने के कारण है। बाह्य जगत वहाँ प्रमुख नहीं है। "मेरे लेखन की शुरुआत किसी बाह्य प्रेरणा से नहीं हुई, एक अंतःप्रेरणा थी, जिसने मुझे लेखन की ओर मोड़ा। आज़ादी के बाद धीरे-धीरे परिवारों का टूटना, युवा वर्ग का शहरों की ओर पलायन और स्त्री-पुरूष संबंधो में खटास, ये सब मेरे लेखन की प्रारंभिक चिताएँ थीं। इसे मैं उस वक्त के सामाजिक, साहित्यिक और राजनीतिक वातावरण से एक मोहभंग की भावना कहता हूँ। यह एक तरह से यह राजनीतिक विरोध भी है, सामाजिक विसंगतियों के खिलाफ एक प्रोटेस्ट भी हैं।" (सपाट चेहरे वाला आदमी, साहित्य भंडार, इलाहाबाद 2015, वक्तव्य)। यह कथन जुलाई 2012 का है, जिससे पूर्णतः सहमत नहीं हुआ जा सकता। दूधनाथ की कहानियों का यथार्थ वास्तविक और सामाजिक यथार्थ की तुलना में कहीं अधिक काल्पनिक और निजी यथार्थ है। वे एक प्रकार से यथार्थ की रचना करते हैं। यह एक अलग सवाल है कि यह यथार्थ रचनात्मक है या नहीं? वास्तविक अर्थों में इसे 'रचानात्मक' नहीं कहा जा सकता। अगर यह सही रचनाशीलता होती तो हिन्दी के अन्य कथाकार भी इससे जुड़े रहते। दूधनाथ ने अपने दूसरे दौर की कहानियों में पहले दौर की रचनाशीलता से अपने को अलग कर लिया। पूरा अलग करना कठिन था इसलिए इस दौर की कुछ चीजें चलती रहीं– विशेषतः कथानायक, मुख्य पात्र या स्वयं कथाकार का सोचना जो चिंतन की कोटि में आ सकता है। अगर केवल इस 'सोचना' को ही देखें या उसकी तलाश करें तो पहले दौर की प्रायः सभी कहानियों में यह मौजूद है। इस प्रकार के शब्द-प्रयोग या क्रिया-प्रयोग को लेकर किसी कथालोचक को एतराज हो सकता है, पर विजयमोहन सिंह ने 'सपाट चेहरे वाला आदमी' की समीक्षा में जिजीविषा' शब्द से भी चिपकने की बात कही है, (आज की कहानी, पृष्ठ 93)। ऐसे कई शब्द हैं, जो कई बार दूधनाथ की कई कहानियों में दिखाई देते हैं, जिन्हें कथाकार का मात्र शब्द-मोह नहीं कहा जा सकता। पहले दौर की ही नहीं, बाद की भी कई कहानियों में दूधनाथ का चिंतन या चिंतक-स्वर दिखाई देगा। 'सपाट चेहरे वाला आदमी' का कथानायक "अपने को एक विचारक की कोटि मे रखता था। विचारक होने से मुझे क्या मिल जाता, यह तो नहीं मालूम, लेकिन सोचता हूँ यह भावना मुझे खुश करने के लिए, बहुत थी।" "दूधनाथ के मध्य-वर्गीय पात्र सोचते हैं। वहाँ 'सोचना' प्रमुख है, कर्म नहीं। 'रक्तपात' कहानी में वह' सोचता है–"समाप्त होना किसे कहते हैं... खोना किसे

कहते हैं... निस्सहाय होना किसे कहते हैं... मूक होना किसे कहते हैं... अर्थहीन होना किसे कहते हैं" पूरा परिवार जिसके आने से खुश है "उसे लगा कि अब वह मनुष्य नहीं है। सत्कर्म सेवा या दुष्कर्म पाप... सब समान है—जिसके लिए होंगे उसके लिए होंगे—वह मनुष्य होगा।" लोगों की दृष्टि में तो सभी कुछ है, सच है कि सब कुछ ज्यो का त्यों हैं—'वे इन्द्रधनुष' के आरंभ में कथावाचक कई बार 'सोचता' है "मुझे अश्चर्य हुआ कि अभी तक कैसे मैं इस बात की तरफ से निश्चिन्त था और कभी सोचता भी नहीं था...अब सोचने से ही एक परिचित-अपरिचित खुशी की लहर मेरे सारे बदन में दौड़ गयी...'क्या सोचने लगे'...मैंने सोचा, उसे कोई डर न हो।" अम्माएँ (2013) और 'सरहपाद का निर्गमन। (2013) में यह सोचना नहीं है, चिंतन भी नहीं है, जबकि सरहपाद 'विचारक, दर्शनिक ब्राम्हण है' इस सोचने का संबंध अकेलेपन से है और यह अकेलापन बहुत अर्थों में शिक्षित, निष्क्रिय मध्यवर्ग के व्यक्ति का अकेलापन है, उनके पात्रों में कहीं-कहीं जो एकालाप या आत्मालाप दीखती है, वह इसी कारण से है। वहाँ अनुभव का संसार सीमित है और चिंतन का संसार व्यापक है।

आरंभिक कहानियों या पहले दौर की कहानियों में जो तनाव, प्रेम, वासना, विक्षोभ, अविश्वास, आशंका, भय, असुरक्षा, अनिश्चय, संदेह, मोहभंग, आतंक, एकान्त, अकेलापन, यातना, संत्रास, सोच, चिंतन, भयावह स्थिति, उधेड़बुन, यंत्रणा, सपना, और दुःस्वप्न है, वह दूसरे दौर की कहानियों में नहीं है, कथाभूमि के बदलने से पात्र भी बदल गये हैं और कथाभाषा भी। पहले की कहानियों में पात्रों की मनःस्थिति और मनोदशा प्रमुख है। वहाँ निजता अक्षुण्ण है। कमरा, बिस्तर, खिड़की, दरवाजा, बाहर का मैदान बार-बार दिखाई देता है। बाह्य संसार से अधिक अन्तस का संसार प्रमुख है और बाहर का जो भी संसार है वह सीमित है। सुखान्त कहानी (1970-71) के कथावाचक की दिनचर्या ''सिर्फ गुर्राने, गुस्सा होने और अपने स्वास्थ्य के प्रति आर्कषित या चिंतित होते रहने तक सीमित हो गयी।'' इसी कहानी में कथावाचक को "कमरा दुबारा आँख खोलने पर लम्बे मैदान की तरह दिखाई देता हैं।" कमरा सही-सलामत था, पर "दरवाजे खिड़कियाँ और रोशनदान गायब थे," दूधनाथ के ये पात्र अपने वर्तमान से असंतुष्ट हैं। कहानियों में 'वह' प्रमुख है, 'सर्वनाम' उनकी एक कहानी है' नाम में क्या रखा है' (2013)। नाम का यह अस्वीकार क्या संज्ञा का अस्वीकार नहीं है? साठ के दशक की कहानियों से पात्रों के नाम के गायब होने के पक्ष में तब नामवर सिंह ने रॉब्ब ग्रिए को उद्धृत किया था। साठ के दशक में एक ऐसा शिक्षित वर्ग सामने आ गया था, जिसके जीवन में एक साथ, बैचैनी, छटपटाहट, निराशा, उलझन, एकान्त, अकेलापन, मूल्यहीनता, अनास्था आदि प्रमुख हो रही थी। चीजें बदलनें लगी थीं जिसमें वह फिट नहीं हो पा रहा था और उसके मानस के निर्माण में उसके अपने समय से कहीं बहुत बड़ी भूमिका उन किताबों की थीं, जिनके लेखकों ने द्वितीय विश्व युद्व के बाद अपने को बिलकुल एक दूसरी स्थिति में पाया था। निश्चित रूप से दूधनाथ के पात्रों या कथानायकों का सच समकालीन जीवन का सच नहीं था, पर इसे 'निजी सच' कहकर नजरअंदाज भी नहीं किया जा सकता था क्योंकि यह हिन्दी कहानी का एक सर्वथा नया और भिन्न स्वर था। बिस्तार से विचार करने पर कथाकार का निजी जीवन उसका परिवेश सब पर, ध्यान देना उचित होगा, जिसकी इस लेख में कोई आवश्यकता नहीं है।

दूधनाथ के कथा-पात्रों का अनुभव सामान्य व्यक्ति का सामान्य अनुभव नहीं है। उनके पात्र भी सामान्य पात्रों से भिन्न हैं। 'सपाट चेहनेवाला आदमी' कहानी में शरीर का धंधा करनेवाली औरत कथावाचक से मात्र चार आने, तीन आने माँगती है, जबकि वह औरत को पाँच रुपये

का नोट देता है। कथानायक औरत से बात करना चाहता है पर औरत को बात करने की फुर्सत नहीं है। न कथावाचक सामान्य है और न औरत 'सपाट चेहरेवाली आदमी' और अधिक असामान्य है। पहली बार कथानायक ने उसे अपनी माँ के पास ही देखा है, पर उसे लगता है, "कोई रास्ता है, जहाँ से गुजरते हुए लगातार पिछले वर्षों में उसे देखता रहा हूँ।" एक झटके से कहानीकार कहानी को अर्थ-गौरव प्रदान कर देता है। माँ कहती है। "मेरा लड़का अंधा नहीं है।" लेकिन वह देख नहीं सकता। उसका चेहरा एकदम सपाट है। वह महसूस कर सकता है। रो बिलकुल नहीं सकता।" इस कहानी पर विजयमोहन सिंह भले अज्ञेय के शिल्प और भाषा की छाप देखें, पर अगर यह बेहद महत्त्वाकांक्षा पूर्ण प्रयास' है, तो क्यों है? क्यों दूधनाथ ने 'सपाट चेहरेवाला आदमी' कहानी लिखी? विजयमोहन सिंह के अनुसार यह 'संग्रह की महत्त्वाकांक्षापूर्ण, लेकिन सबसे असफल कहानी है (वही, पृष्ठ 94) अब अगर कहानी की 'धुँधली लालटेन' एवं 'लाल गुलाब' और 'पाँच के नोट' को उस समय राज्यसत्ता की फीकी रोशनी, नेहरू के गुलाब और पंचवर्षीय योजना की और अचानक किसी पाठक (पाँचवें पाठक) का ध्यान चला जाय तो क्या उसे एकदम 'काल्पनिक' कहा जा सकता है? कथावाचक किसान परिवार का है और उसे यह "विश्वास था कि पिता एक ऐसी नाव है, जिसकी ठोकर से घड़ियाल के जबड़े टूट सकते हैं।'' दूधनाथ की खूबी या खराबी यह है कि वे एक कहानी में एक साथ कई चीजें गूँथे देते हैं। वहाँ बौद्धिकता है, संबंधों की अमानवीयता है, 'बिलगाव की यातना' है (देवीशंकर अवस्थी) और कई जरूरी सवाल भी है। जैनेन्द्र, अज्ञेय और निर्मल की वहाँ कुछ छायाएँ ही मिलेंगी। वे इन तीनों कथाकारों से अधिक प्रभावित और आक्रान्त नहीं हैं। वहाँ अस्तित्व-दर्शन है, जो हमें कामू-काफ्का के यहाँ ले जा सकता है, पर वह इनसे भिन्न भी है, वहाँ एब्सर्डिटी के तत्त्व और चिहन हैं, पर हिन्दी के किसी भी समीक्षक ने अभी तक दूधनाथ को न तो हिन्दी का 'ऐब्सर्ड', कथाकार कहा है और न अस्तित्ववादी कथाकार उन्हें कथाकार की पूर्व निर्मित किसी भी 'कैटेगरी' में नहीं रखा जा सकता। आरंभिक कहानियों की भाषा-शैली दूसरे-तीसरे दौर की कहानियों की भाषा-शैली से अलग है। दूधनाथ की कहानियों का 'झूठा सच', यह है कि वहाँ एक साथ कल्पना और वास्तविकता है, इसे अलगाना कहानी का पोस्टमार्टम करना है और आलोचक डॉक्टर या सर्जन की भूमिका में नहीं रहता। आलोचना सर्जरी नहीं है। दूधनाथ के कथा-लेखन में वास्तविक जिन्दगी और कल्पना की सह-उपस्थिति है। उनके इस कथन से किसी को एतराज नहीं होगा-"मैंने लिखने के लिए अपने ढंग से अपनी शैली ईजाद की।" फिर भी यह शैली अज्ञेय, जैनेन्द्र और निर्मल की शैली की तरह प्रमुख नहीं बन पाती। इसे हम दूधनाथी शैली कह सकते हैं।

पात्र और स्थान का अनेक कहानियों में नाम रहित होना बाह्य जगत की, पहचान को महत्त्व न देना भी है। उनके यहाँ एक साथ मूर्त और अमूर्त संसार है। वास्तविक जगत और कल्पना है। निजी समस्याएँ पूर्णतः सामाजिक समस्याओं से रहित नहीं है। दूधनाथ ने कई बार रचनाकार के आत्मभक्षण, अपने को खाने की बात कही-लिखी है-"एक बड़ा लेखक जितना ही अपने को खाता है, उतना ही उसकी रचनात्मक समृद्धि बढ़ती है।" (कहा-सुनी, वही, पृष्ठ 120) निराला को उन्होंने ही आत्महंता कहा। ईसा मसीह और जूदा में से दूधनाथ को "जूदा ज्यादा आकर्षित करता है क्योंकि धोखा देने और पकड़वाने के बाद वह अपनी नृशंसता पर बौखलाया हुआ है। यह कुकर्म और जटिल ग्रंथि उसकी पीछा नहीं छोड़ती और अन्ततः वह आत्मघात करता है। कौन हमें किस तरह सुरक्षित रखता है और मानवीय बनाता है, यह एक लेखक बुरे को चित्रित करके जितना उपलब्ध करता है उतना अच्छे को चित्रित करके नहीं।

अच्छे चरित्र एक क्लासिक शृगांर की तरह, बुरे चरित्र बनती-बिगड़ती पतित दुनिया के भँवर में फँसे हुए एक जटिल ग्रंथि की तरह" (वही, पृष्ठ 128)। ईसा मसीह को सब जानते हैं पर जूदा को कम लोग जानते हैं। जूदा ईसा के आरंभिक बारह शिष्यों में से एक थे। चाँदी के तीस सिक्कों के लिए जूदा ने विश्वासघात किया था। बाद में उसने आत्महत्या की। ईसाई इतिहास में जूदा एक विवादास्पद पात्र है। नील डैनिअल ने उसकी महाकाव्यात्मक जीवनी लिखी है—'दि स्टोरी ऑफ जुदास प्राइस्ट : डिफेंडर्स ऑफ दि फेथ' (2008) और मार्टिन पॉपौफ की एक पुस्तक उस पर 2007 में प्रकाशित हुई। दूधनाथ आत्मघात करने वाले जूदा को अधिक महत्त्व देते हैं। जूदा आदर्श पात्र नहीं है। दूधनाथ की कहानियों के कितने पात्र आदर्श पात्र माने जायेंगें? क्या सिऊ महतो (धर्मक्षेत्रे-कुरुक्षेत्रे) को कोई पाठक आदर्श पात्र कह सकता है? 'ममी तुम उदास क्यों हो' (1962) की मिसेज रेवाड़ी 'रक्तपात' (1962) की पत्नी और पति 'वे इन्द्रधनुष' का कथावाचक, 'आइसबर्ग' (1963) का विनय आदर्श पात्र हैं? दूधनाथ ने एक इंटरव्यू में कहा भी है कि वे ''जीवन के वास्तविक चरित्रों का पीछा नहीं करते।" 'सीखचों के भीतर' की सुमिता बसंत से कहती है—"बसंत मैं कुछ नहीं चाहती। नहीं चाहती वह पातिव्रत्य और प्रेम का बड़प्पन। मैं पाप करना चाहती हूँ—मैं गिरना चाहती हूँ। मैं सीता, सावित्री, दमयन्ती, राधा कुछ नहीं बनना चाहती।" दूधनाथ के पात्रों की समस्या बाहर कम भीतर अधिक है। यह समस्याग्रस्तता और चिंतन-बहुलता बाहर के जीवन, समाज और यथार्थ से कम जुड़ी है। यह बाह्य न होकर आन्तरिक है। इसी कारण वहाँ सफरिंग है घुटन है, समस्या को सुलझाने पर ध्यान कम है—विजयमोहन सिंह ने साठ के बाद की कहानियाँ, की भूमिका परिवर्तन की प्रक्रिया में लिखा—"जो लोग साहित्यकार की इस प्रार्थना को ध्यान में रखे हुए हैं कि वह समाज का—'टार्च बेयरर' है, उन्हें अपनी समस्याओं में उलझा हुआ कहानीकार असामाजिक ही लगेगा, क्योंकि वह अपनी समस्याओं से जूझने के आलावा और कौन-सा कार्य कर रहा है?" (आज की कहानी, पृष्ठ 87)

'रक्तपात' से पहले केवल—'सपाट चेहरेवाला आदमी' कहानी ने पाठकों-आलोचकों का ध्यान अपनी ओर खींचा था। 'रक्तपात' काहनी ने समकालीन कथालोचकों का ध्यान अधिक आकृष्ट किया, इस कहानी में बाहर और भीतर 'रक्तपात' है। बूढ़ी माँ के गले से होता रक्तपात दीखता है- "लहू की एक हल्की-सी लकीर होंठों के कोनों में दिखाई दी और फिर एक हूल-सी उठी।" और दूसरा रक्तपात बेटे के भीतर है- "बाहर से कहीं कुछ नहीं बदला है-सारा रक्तपात भीतर हो रहा है- और ख़ून कहीं एकत्र होता है... बहता नहीं" बेटे के अन्तर की इतनी असहय यन्त्रणा क्या है? वह पिता की मृत्यु-सूचना पाकर भी घर नहीं गया था। पत्नी गाँव पर हैं, माँ बेटे को समझाती है—"बड़ों से कोई अपराध हो जाय तो उन्हें इस तरह नहीं सजा दी जाती है, पिता तो परमात्मा हैं। और वे भी क्या जानत थे? बेटा! बड़ा वह है जो अपनी तरफ से सभी को क्षमा करता चले और वह तो फिर भी नाते में तेरी बहू है... कहीं कुछ और हो जाय तो इस हवेली की नाक कट जायेगी।" कटे तो कटे, बेटे को इसकी कोई फिक्र नहीं है क्योंकि उसके निजी और सुखी जीवन के निर्णय का अधिकार पिता को नहीं था। पारिवारिक सदस्यों की खुशी से भिन्न है उसकी खुशी, जो उसके पास नहीं है "मानवीय इच्छाओं का उसका अपना संसार कहीं अंधेरे में छिप गया है।" पिता-पुत्र, माँ-बेटे, भाई-बहन, बहू-सास, पति-पत्नी के संबंध गायब हैं। रक्तपात में बुढ़िया और उसके बेटे संजय के संबंध पर कम ध्यान दिया गया हैं। बेटा संजय बार-बार माँ से कहता है—'माँ मुझे पहचानती हो, मैं कौन हूँ, मैं संजय हूँ माँ, माँ मैं हूँ,...मैं... संजय'। उसकी 'आँखों से दो बड़े आँसू बुढ़िया के चेहरे पर चू पड़े थे'। संजय

बचपन के दिन-रात याद करता है—"उसे याद आया किस तरह बचपन में ढेर सारे जुगनू पकड़कर वह अपने घुँघराले बालों में फँसा लेता और माँ के पास दौड़ा-दौड़ा जाकर कहता, "माँ, माँ, इधर देखो, जुगनू का खोंता' कहानी के अंत में माँ अपने बेटे संजय की गोद में कै कर देती है। कहानी में एक और माँ है और दूसरी ओर पत्नी, पति और पत्नी के सहवास में माँ बाधा है, बेटे का माँ के प्रति जो व्यवहार है, वह व्यवहार बहू का सास के प्रति नहीं है, बहू के लिए सेक्स प्रमुख है और माँ के लिए बेटे का प्रेम। माँ अपने प्रारम्भिक कथन के बाद चुप है। निःशब्द वह बार-बार मुस्कुराती है। कभी-कभी खिलखिलाती भी है, पत्नी और माँ के बीच पति और पुत्र है, रक्तपात कहानी में माँ की मुस्कुराहट और खिलखिलाहट पर विचार होना चाहिए क्योंकि यह मुस्कुराहट अर्थवान है। कई कहानियों के कई पात्र, मुस्कुराते हैं, जो कहीं से भी निरर्थक और एब्सर्ड नहीं है, दूधनाथ के कथा-पात्रों की मुस्कुराहट पर स्वतंत्र रूप से विचार किया जाना चाहिए। अगर कोई चाहे तो इसे दूधनाथ की मुस्कुराहट से भी जोड़ सकता है। यह मुस्कुराहट असहज है। 'वे इन्द्रधनुष' में कीर्ति की मुस्कुराहट के साथ कई कहानियों के पात्रों की मुस्कुराहट देखनी चाहिए। इस मुस्कुराइट का अर्थ है। 'स्वर्गवासी' (1968) कहानी में अगर-अनिर्वचनीय मुस्कान है तो 'निर्विकार भाव से भी' मुस्कुराना है। यह 'मुसकुराना' बाद की कहानियों में भी है, पर 'रक्तपात' कहानी में माँ की मुसकुराहट?

सुरेन्द्र चौधरी ने 'रक्तपात' में ही नहीं, 'हत्यारे' और 'घंटा' में भी एक उत्तेजक आवेश देखा था। (हिन्दी कहानीः प्रक्रिया और पाठ, 1995, पृष्ठ 162)—'हत्यारे' और 'रक्तपात' एक ही वर्ष की कहानी हैं—1962 की और घंटा 1969 की है। क्या यह मानकर चला जाय कि साठ का दशक उत्तेजक आवेश का दशक था? निश्चित रूप से यह दशक 'उत्तेजक आवेश' का दशक था और इस पूरे दशक में दूधनाथ की कहानियों को अगर नये सिरे से देखें तो वहाँ एक साथ ठंडा और उत्तेजक आवेश दिखाई देगा। शब्द चिपकाने जिजीविषा की बात विजयमोहन सिंह ने कही थी, पर कहानियों में कुछ स्थलों को चिपकाने की बात केवल चन्द्रभूषण तिवारी ने कही है। दूधनाथ को अपनी पीढ़ी का 'समर्थ शिल्पी कहानीकार' मानने के बाद उन्होंने दूधनाथ द्वारा 'गूँथने की प्रक्रिया' आरंभ करने की बात कही है- गूँथने की वह वस्तु, जिसके लिए दूधनाथ को अलग से मोह है, उनकी अधिकांश कहानियों में पहचान ली जाने की वस्तु है—अलग-अलग कहानियों में अलग-अलग दार्शनिक तथ्य उनकी कई कहानियों के कुछ स्थल तो उसी उद्देश्य से चिपकाए हुए लगते हैं और बहुत कृत्रिम दीखते हैं। इसी के चलते 'रक्तपात' के त्रास को माँ की मृत्यु दिखलाकर एक लिटरल त्रास में बदला गया है और उसे उद्दीप्त करने के लिए बहुत सारे उपकरण एकत्र किए गए हैं।" ('आलोचना की धार' आधार प्रकाशन, 1998, पृष्ठ 105)। माँ (या बुढ़िया) द्वारा दरबा खोलकर सारी मुर्गियों को बाहर निकालना क्या बेटे-बहू को परिवार के 'दरबे' से जिसमें माँ-पिता हैं, बाहर निकालना नहीं है। दूधनाथ के यहाँ कई अर्थ-संकेत भी हैं। 'रक्तपात' कहानी में माँ, बेटा और बहू तीनों अकेले हैं, कहानी में माँ का आकाश की ओर ताकना धरती से विदाई के अर्थ में भी लिया जा सकता है। इस कहानी में ही नहीं, अन्यत्र कई कहानियों में दूधनाथ माँ या वृद्धा से लिए बुढ़िया शब्द का प्रयोग करते हैं, जिसमें संबंध नहीं, उम्र प्रमुख है। 'रक्तपात' में युवा पत्नी की चाह और आक्रोश का भी रक्तपात है। एक साथ कई रक्तपात। बूढ़ी माँ के गले से होता हुआ रक्तपात दिखाई देता है और अन्य रक्तपात दिखाई नहीं देता। प्रत्यक्ष और परोक्ष को मूर्त और अमूर्त को एक साथ कलात्मक रूप में प्रस्तुत करना वह कौशल है, जो दूधनाथ और उनके समकालीन कहानीकारों के पहले हिन्दी कहानी में नहीं था। यह दूधनाथ की वह 'स्वतंत्र

तथा सर्वथा निजी दृष्टि' थी, जिसे मोहन राकेश न लक्षित और रेखाकिंत किया था। दूधनाथ की आरंभिक कहानियों में से 'रक्तपात' (1962) 'आइसबर्ग' (1963) और 'रीछ' (1968) ने आलोचकों को नये सिरे से सोचने को बाध्य भी किया था।

दूधनाथ की अनेक कहानियों में कथानायक द्वारा कमरे की खिड़कियों को खोलने और बंद करने का भी एक अर्थ हैं। कमरा, खिड़की, बिस्तर, छत, आकाश, सड़क, मैदान, अँधेरा, रोशनी कई बार कई कहानियों में आते हैं, पात्र या तो छत ताकते-देखते हैं या आकाश। खुला आकाश, छत पर टहलना और मैदान में जाना अपने एकान्त से निकलना है, 'आइसबर्ग' कहानी में विनय सोचता है—"क्या मात्र अकेलापन ही उसका अपना है?" विनय के यहाँ परिवार के सब लोग आते हैं—दद्दा, चचाजान, बड़ा-भाई जगत सपरिवार, सगा छोटा भाई सुबोध, बहन, सब, विनय की बैचेनी उसकी अपनी है। बहन को उसने चिट्ठी लिखी थी-"मैं चाहता हूँ कि मुझे भी लगे कि मैं आदमियों के बीच हूँ। मेरे भी चारों तरफ लोग हैं जो मुझे पहचानते हैं, मैं भी किन्हीं से संबंधित हूँ... बेबी मुझे बार-बार लगता है कि जीवन मेरी मुट्ठियों से पानी की तरह फिसल गया है।" क्या यह पत्नी चित्रा की छोड़ देने के कारण है? पत्नी की आत्महत्या की सूचना बहन से उसे बाद में मिलती है, विनय सामान्य पात्र नहीं है, पर वह सामान्य होना चाहता है। आत्मा पर कोई खरोंच न पड़े। यह स्वतंत्र भारत में कभी संभव नहीं रहा है। विनय ने अपनी बहन को पत्र में लिखा था-"यदि हमारे भीतर आत्मा जैसी कोई वस्तु है (शरीर की तो बात ही क्या) और यदि हमारे संबंध या हमारे अनाचार उस आत्मा पर भी खरोंच लगा सकते हैं तो मेरी आत्मा में भी घाव हो गया है।" प्रश्न 'एडजस्टमेंट' का है, जो सामान्य व्यक्ति के लिए संभंव है, सबके लिए नहीं। चितंनशील प्राणी के लिए तो और नहीं। 'आईसबर्ग' में जगत और विनय दो छोरों पर हैं। जगत समय के साथ है। विनय समय के साथ नहीं है। जगत को यथार्थ की समझ है। वह "दद्दा के पेंशन से लेकर अपनी वन-विभाग की नौकरी की तत्कालीन राजनीति के बारे में समान रूप से बातें करता है।" व्यावहारिक-सांसारिक जगत और अव्यावहारिक-असंसारिक विनय में अंतर है। कहानीकार स्वयं विनय के साथ है। जगत को सुनें, "इस देश में कभी कोई क्रान्ति नहीं हो सकती। धर्म को उखाड़ फेंको, सबको बेक़ार कर दो, लोगों के मुँह से उनकी रोटियाँ छीन लो, उन्हें कोड़े लगाओ, इज्जत लूट लो... चाहे कुछ भी करों, यहाँ के लोग इतने ठंडे और स्वार्थी हैं कि ईश्वर और भाग्य की दुहाई देकर फिर भी संतोष कर लेंगें। यहाँ किसी को किसी से मतलब नहीं है। न यह देश समूह में विश्वास करता है और न व्यक्ति में...दद्दा जी इस मुल्क में कोई भी आदमी, जो थोड़ा चालू हो, अपने को दूसरों से भिन्न समझता हो, और दूर की हाँकने में माहिर हो—नेता बन सकता है।" साठोत्तरी कहानीकारों में दूधनाथ ने पहली बार इस कहानी में 'नेता' और राजनीति का वास्तविक चरित्र बतला दिया था। पहले के कहानीकारों में अमरकान्त के यहाँ समय की सही पहचान सबसे अधिक है। ज्ञानरंजन ने 'आईसबर्ग' और 'घंटा' में समय के और आगामी समय के संकेत की बात सदी के अंतिम दशक में कही। (इंडिया टुडे, साहित्य वार्षिकी, 1996)। विनय को जीवन के अर्थ की तलाश है। मध्यवर्ग ने बाद के दशकों में जो मार्ग अपनाया उसके चित्र 'आईसबर्ग' में है। घर में खाना बनने के बाद भी बाहर सब लोग खाना खाने जाते हैं। विनय अपने कमरे में अकेला है। यह अकेलापन अपने समय से 'एडजस्ट' न करने के कारण है। वह जिस अपनेपन और आत्मीयता की तलाश में है, वह उसे केवल अपनी बहन बेबी से मिलती है। विनय ने दूसरी शादी नहीं की। शराब की ओर हाथ भी नहीं बढ़ाया और उसका चचेरा भाई जगत? वह शराब और लड़की के बिना, नहीं रह पाता। जगत फख्र से कहता है कि

"फारेस्ट डिपार्टमेंट में पाँच दर्जन पहाड़ी छोकरियों को...नशे में वह विनय पर चिल्लाता है, "तुम इस दुनिया में रहने के काबिल नहीं हो चित्रा ने तुम्हें गोली क्यों नहीं मार दी...दोगले, बास्टर्ड...'रामकृष्ण-वचनामृत' का पाठ कर रहे हैं।" 'आइसबर्ग' दूधनाथ की उस समय की कहानियों से भिन्न हैं, यह केवल एक परिवार और संबंधो के बिखरने और टूटने की कहानी न होकर उन तमाम मूल्यों और आदर्शों के नष्ट हो जाने की कहानी है, जिस पर भारतीय परिवार टिका था। इस कहानी में विनय के अवसाद और अकेलेपन की अभिव्यक्ति कहानीकार ने कई स्तरों पर की है। यह अकेलापन अन्य कहानियों के पात्रों के अकेलेपन से अलग है। पहले पति और पत्नी (विनय और चित्रा) का संबंध-विच्छेद है। वह अतीत है। वर्तमान में विनय परिवार से कटता है और अंत में बहन बेबी से भी, उसे सबके जाने के बाद यह अनुमान और विश्वास था कि बेबी अभी एक महीने रहेगी, पर बहन ने जाने की इच्छा प्रकट की विनय की समस्या केवल पर्सनल नहीं है। सब कुछ बदल रहा है। समाज (मध्यवर्गीय) बदल रहा है। उस समय राष्ट्रीय स्तर पर हो रहे विघटन और मोहभंग को दूधनाथ ने कहीं से भी बढ़ा-चढ़ाकर 'आइसबर्ग' में नहीं देखा था। ज्ञानरंजन ने लिखा- ''आइसबर्ग का तीन छिपा हुआ हिस्सा ही हमारा समाज था और आज भी समाज आइसबर्ग की तरह अदृश्य है। यही यथार्थ है। कहानीकार ने जीवन और समाज और कहानी को भेदने का प्रयास किया और सजीव कर दिया। अगर संलिष्ट तत्त्व रचना में बदल गए तो इससे ज्यादा पठनीयता अन्यत्र नहीं होगी। घंटा कहानी में भी आइसबर्ग की तरह एक अंडरवर्ल्ड है। कहानी की *वास्तविकता,* यथार्थ इसी अंडरवर्ल्ड की उपज है।'' 'आइसबर्ग' का जगत भारतीय समाज में पैदा हो रहे लम्पट वर्ग का है। नेहरू के समय इसे पहचानना थोड़ा कठिन था। यह कहानीकार की गहरी बेचैनी के बिना संभव भी नहीं था। नहीं मालूम कि अभी तक किसी ने अमरकान्त की 'हत्यारे' दूधनाथ की 'आइसबर्ग' और ज्ञानरंजन की 'घंटा' को आधार बनाकर उस *समय* को, साठ के दशक को, नेहरू के समय से इन्दिरा गाँधी के आरंभिक समय को किसी आलोचक ने देखने का प्रयत्न किया है या नहीं? 'आइसबर्ग' प्रतीक है, पर प्रतीक को लेकर सर्वाधिक चर्चा 'रीछ' की हुई थी। रीछ दूधनाथ सिंह की सबसे विवादग्रस्त कहानी रही है। इसके पहले उनकी कहानियाँ- 'सपाट चेहरे वाला आदमी', बिस्तर' 'ममी तुम उदास क्यों हो', 'रक्तपात' 'वे इन्द्रधनुष', 'सीखचों के भीतर' 'आइसबर्ग' 'सब ठीक हो जायेगा' और 'प्रतिशोध' प्रकाशित हो चुकी थीं, जिनमें तीन कहानियों—'सपाट चेहरे वाला आदमी' 'रक्तपात' और 'आइसबर्ग' ने उनकी पहचान सुस्थिर कर दी थी—इनमें से किसी भी कहानी पर वैसा हंगामा नहीं हुआ, जैसा 'रीछ' पर भीष्म साहनी के (नई कहानियाँ) सम्पादकत्व में 'रीछ' जून 1966 के विशेषांक में प्रकाशित हुई थी। 'आइसबर्ग' और 'रीछ' में कोई संबंध नहीं था, दूधनाथ किसी एक कथा-मार्ग पर नहीं चले। उनमें नयेपन और प्रयोग के प्रति एक आकर्षण रहा है। व्यक्तिवाद, विकृत सेक्स, यौन-कुंठा इन अनेक आरोपों से मुझे और उस कहानी (रीछ) को धुँधला और समाप्त करने की कोशिश की गई। लेकिन उसका नतीजा उलटा हुआ। (कहा-सुनी, वही, पृष्ठ 69)।

भुवनेश्वर 'रीछ' नहीं लिख सकते थे और न दूधनाथ 'भेड़िए' स्त्री दूधनाथ की कहानियों में कई रूपों में है। पहले दौर की कहानियों में 'सेक्स' की अधिकता है। पहल हमेशा पत्नी या स्त्री करती है। 'रक्तपात' में पति-पत्नी के बीच सहवास नहीं हो पाता, 'बिस्तर' (1960) में शफीक स्त्री के साथ शारीरिक संबंध के लिए अपने मित्र के कमरे में जाता है। 'ममी तुम उदास क्यों हो' (1962) में मिसेज रेवाड़ी रेवाड़ी से संबंध। 'वे इन्द्रधनुष' (1963) में निरंजन का कीर्ति को लायब्रेरी की खुली विशाल छत पर 'सम्पूर्णतः उसे अपने में' खींचना, 'सब ठीक

हो जायेगा' (1964) की मिसेज मिश्रा और मिश्रा का कथावाचक माथुर से कथन—''सेक्स मात्र एक शारीरिक आवश्यकता है'' को देखें, तो दूधनाथ की सेक्स, संबंधी दृष्टि देखी जा सकती है। 'रीछ' कहानी में 'खूंखार' से लड़ने की बात है। रक्त-पिपासु को जान से नहीं मारा जा सकता, ''यह इस तरह शरीर के स्तर पर उतर कर सब कुछ भूलना चाहता था...खत्म होने के तुरंत बाद ही उसे ऐसा लगता कि वह एक मरी हुई चीज के पास लेटा है। लेकिन वह चीज जिन्दा होती और दुबारा उसका भान होते ही वह फिर उसी तरह खूंखार से लड़ना शुरू कर देता।'' पत्नी में पति का कोई आकर्षण नहीं है। पति के प्रति भी पत्नी में आकर्षण नहीं है। दाम्पत्य जीवन में इस आकर्षण के बाद फिर शरीर के सिवा और बच क्या जाता है। पत्नी कहती है—"अब मुझमें क्या आर्कषण होगा। एक ही चीज-हमेशा वही-वही। लेकिन तुम लोग क्या सिर्फ नयी-नयी चीज के पीछे ही भागते-फिरते हो जी?...मैं यह बर्दाश्त नहीं कर सकती कि तुम्हारी चीज मुझमें और उसके पहले किसी दूसरे मे...या उसके बाद भी... हर औरत ऐसे ही सोचती है... अगर उसे मालूम हो जाय कि वह वह जूठन उठा रही है, तो वह कभी क्षमा नहीं करेगी।" 'रक्तपात' की पत्नी और 'रीछ' की पत्नी में केवल सेक्स की भूख ही नहीं है, पति के प्रति शंका भी है या पूरे पुरुष-समाज पर। 'रक्तपात' में पत्नी कहती है "मर्द तो कुत्ते होते ही हैं। इधर पत्तल चाटी, उधर जीभ चटखारी, उधर हँड़िया में मुँह डाला। सभी लाज-लिहाज तो बस हमारे ही लिए है।" 'रीछ' में पत्नी कहती है, ''मेरे साथ 'करते' हो और मन में किसी और को बिठाये रहते हो।"... तुम मेरे साथ नाटक करते हो। एक खूबसूरत नाटक, लेकिन मैं नाटक नहीं होने दूँगी... तुम्हारा यह अभिनय...तुम्हारा यह ग्रीन रूम....मैं खोज निकालूँगी।" दूधनाथ के पात्रों का अपना एक ग्रीन रूम भी है, जिस पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया है। उनके पात्र एक साथ सामने और ग्रीन रूम में कैसे रहते हैं? क्यों रहते हैं? क्योंकि उनकी कहानियाँ सपाट नहीं हैं, पत्नियों या स्त्री-पात्रों में से बहुत कम के यहाँ चिंतन है, यह पुरुष पात्रों में अधिक है। 'सीखचों के भीतर' (1963) की सुमिता अगर सोचती है तो इसका एक बड़ा कारण उसका यूनिवर्सिटी में अध्यापिका होना भी है 'रक्तपात' और 'रीछ' के संत्रास को बाद में नामवर ने 'सेक्स के धरातल' पर देखा। ('पहल' पुस्तिका—7, 1985 पृष्ठ 44)।

दूधनाथ की आरंभिक कहानियों में जो प्रतीक दिखाई देता है, वह 'रीछ' में प्रमुख रूप में है, प्रतीक की प्रधानता से कहानी पाठकों से दूर हो जाती है। दूधनाथ की पहले दौर की कहानियाँ सभी पाठकों के लिए नहीं हैं, उसके लिए 'पाँचवाँ पाठक' चाहिए, 'कोरस' और 'सपाट चेहरे वाला आदमी' भी प्रतीक-प्रमुख कहानियाँ हैं, पर 'रीछ' में विजयमोहन सिंह के शब्दों में कहें तो वे 'प्रतीक की संभावनाओं को अंतिम बिन्दु तक निचोड़ते' हैं। दूधनाथ का यह प्रतीक-मोह एक खास समय तक है, जब कहानीकार यथार्थ, को चाहे वह निजी हो या सामाजिक पर कलात्मक आग्रह के तहत प्रस्तुत करता है, तब वह प्रतीक की शरण में जाता है। यह प्रतीक-प्रेम या प्रतीक पद्धति वैसे कहानीकारों के यहाँ अधिक दिखाई देगी, जिनके यहाँ व्यक्ति वह और उसकी निजता प्रमुख है। प्रतीक सम्प्रेषण में बाधक है। यह कहानी के पाठक वर्ग को भी सीमित करता है। दूधनाथ का साठ के दशक में प्रतीक के प्रति एक साथ आकर्षण और मोह था, ''उस जमाने में प्रतीक और फैंटेसी में बँधी हुई परिकल्पनाएँ मुझे बहुत ज़्यादा आकर्षित करती थीं। 'रीछ' का मुख्य कथ्य यह है कि अगर आप पीछे-पीछे देखते हैं, अगर आप अतीतजीवी हैं तो आपके लिए रास्ता एक ही है कि आप या तो अतीत का वध कर दें और नहीं तो अतीत आपका वध कर देगा। यानी आदमी को अतीतजीवी नहीं होना चाहिए...

कहानी लिखते वक्त कहानीकार के नाते यह मेरा निश्चय था की अतीतजीवी ही मरे, अतीत नहीं...कहानी इस प्रतीक में उलझी हुई है। एक ओर पत्नी है जो उस आदमी का वर्तमान जीवन है और दूसरी ओर एक विफल प्रेम है, जो रीछ की खूंखार शक्ल में उसके वर्तमान जीवन का पीछा करता रहता है।'' (कहा सुनी, वही, पृष्ठ 73)। 'रीछ' कहानी में दो स्थलों पर पहले प्रेम की स्मृति है। जिससे प्रेम है, वह विवाहित है, उसका पति उसके साथ रीछ की तरह पेश आता है—''क्या तुम जानते हो, उनके साथ मुझे कैसा लगता है...जैसे कोई रीछ मेरे ऊपर झूम रहा हो, उबकाई आने को होती है। तुम विश्वास नहीं करते, तुम्हारे साथ? तुम तो एक बच्चे की मानिन्द लेट जाते हो, इतने साफ्ट...कोमल...वह केवल मैं जानती हूँ...माई चाइल्ड...मेरे शिशु।'' बचने के लिए ही सही, पति ने पत्नी की 'घुण्डियाँ जोर से मसल' दीं पर जो स्त्री बार-बार उसकी स्मृति में आती रहती है, उसके साथ ऐसा कुछ वह नहीं करता। उस स्त्री के प्रति 'आते ही नोचना शुरू' कर देते हैं और यह व्यक्ति, जिसे देखते ही उसे अपने पिता की याद आती है—''यू आर माई फादर, ऐसे शान्ति नहीं मिलेगी... हाँ, ऐसे—सो साफ्टली यू डू ...अनइमैजिनेबिल... माई फादर, अब तुम्हें नींद आ जाएगी...तुम...तुम्हें मैंने किडनैप कर लिया है। मैं तुम्हें जाने नहीं दूँगी। गर चले भी गये तो मैं पीछा करूँगी...मैं लगी रहूँगी।'' अब यह स्त्री अतीत है—वर्तमान पत्नी है। 'रीछ' कहानी में दो पति-पत्नी हैं। स्मृति में आने वाली स्त्री के साथ उसका पति 'रीछ' की तरह पेश आता है, जबकि उसका प्रेमी उससे एकदम भिन्न है, बाद में वह स्वयं से लड़ता है। 'रीछ' कहानी में 'वह' का व्यक्तित्व विभाजित है। यह कहानी मुख्यतः सेक्स-ग्रंथि की कहानी है और फिर दूधनाथ ने ऐसी कहानियाँ नहीं लिखीं कहानी में प्रतीक का पहले एक 'आइडिया' के रूप में आना और उसके लिए पात्रों, स्थितियों आदि की कल्पना से कहानी में प्रतीक लादा जाता है, जबकि महत्त्वपूर्ण कहानी में से प्रतीक का स्वतः बाहर निकलना है। 'रीछ' में प्रतीक बाहर से लादा हुआ है। दूधनाथ की कहानियों में 'मैं' नहीं 'वह' है। संज्ञा के बदले सर्वनाम को महत्त्व देने या उसे कहानी में प्रमुखता देने से कहानी में परिवर्तन आता है। यह बदलाव साठोत्तरी कहानीकारों में दूधनाथ के यहाँ अधिक है।

दूधनाथ की कहानियों में बौद्धिकता का तत्त्व अधिक है। यह बाद की भी कहानियों में है। वे शिल्प-सजग कथाकार हैं। आरंभिक दौर में कहानियों में मध्यवर्गीय पात्र अधिक हैं। गाँधी कई कहानियों में आते हैं, 'कोरस' (1966) में उनका जिक्र है—''क्या तुम उस महान पुरुष को जानते हो, जो अर्द्धनग्न रहता था, लकुटिया टेक कर चलता था और सारी मनुष्य जाति के लिए चिंतित रहने का 'दम्भ' भरता था।'' गाँधी को देखने की यहाँ जो दृष्टि है वह 'माई का शोकगीत' में नहीं है। नेता, चुनाव, संसद के संबंध में बाद की कहानियों में 1967-68 के बाद केवल कुछ टिप्पणियाँ हैं, जिनकी कहानी से संगति कम बैठती है। 'कथा' के प्रवेशांक (1969) में प्रकाशित कहानी 'उत्सव' में चुनाव-प्रचार में शामिल बट्टू, कक्कू, चुन्नू, मुन्ना बाबू में से किसी को किसी भी प्रत्याशी की हार-जीत में कोई रुचि नहीं थी—''वे अलग-अलग लोगों के लिए काम कर रहे थे। बट्टू कक्कू के खिलाफ काम कर रहा था। चुन्नू किसी स्वतंत्र चुतिए के लिए सारा दिन माइक पर चीखता फिरता और भाँग की दुकान पर खड़े बद्धू से कहता—''तुम किस हरामी के पिल्ले के लिए वोट माँग रहे हो।'' वह कहता—''हरामी के पिल्ले वे सभी हैं, जिनके लिए हम वोट 'माँग रहे हैं'' प्रयोग के कारण ही 'सुखान्त' कहानी (1970-71) पाँच हिस्सों—'परिस्थिति' 'प्रत्यवलोकन', 'प्रतीक्षा', 'पुर्नदर्शन' और 'पटाक्षेप' शीर्षक में विभाजित है। 'उत्सव' में दूधनाथ ने 'मानसिक परिस्थितियों' से अलग 'वस्तुगत परिवेश' पर ध्यान ही नहीं, उसे महत्त्व देने की कोशिश भी की थी, पर मानसिक परिस्थितियों से पूर्णतः अलग होना

और विचारों से मुक्ति संभव नहीं हो सकी। वहाँ 'पब्लिक की माँ की ऐसी की तैसी' है और 'खूब चाभने लायक' लड़कियाँ भी हैं। इस दौर में दूधनाथ के लिए अपने विचार या चिंतन क्षेत्र से निकलना एकदम आसान नहीं था। उनकी पहचान जिससे बनी थी, उसे झटके से तोड़ना कठिन था, 'प्रतिशोध' (1965) कहानी दफ्तर की कार्य-पद्धति और अफ़सरशाही पर लिखी गयी थी, पर खटमल का प्रतीक कहानी से जुड़ नहीं सका वहाँ खटमल बिस्तर पर हैं और उनकी समझ में नहीं आता कि इसका (खटमल का) ख़ात्मा किस तरह होगा। यहाँ दफ़्तर सरकारी नहीं है 'फर्म' है पर इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। इसी प्रकार 'विजेता' (1969) में टिकट चेकर का व्यवहार भिन्न है। वह सही यात्री का टिकट लेकर अपनी जेब में रख लेता है और उसे बेटिकट सिद्ध करता है। व्यवस्था की यह हल्की ही सही चरमराहट और सुनी जा सकती थी जब कहानी में इसके सिवा और कुछ नहीं रहता पर लड़की और स्त्री का जो वर्जन है, वह कहानी की मुख्य 'थीम' के साथ नहीं है। दरअसल इस दौर की सभी कहानियों में आने वाले जो अन्य प्रसंगादि हैं, उनसे कहानी की मुख्य थीम से 'आन्तरिक संगति' नहीं बैठती। उसे प्रयत्नपूर्वक बैठाया जा सकता है। दूधनाथ के यहाँ 'जीवन का प्रत्यक्ष साक्षात्कार' कम है जो कहानी के लिए अनिवार्य है। 'सुखान्त' संग्रह की सभी कहानियों 'स्वर्गवासी', 'शिनाख़्त', 'उत्सव', 'विजेता' और 'सुखान्त' में चन्द्रभूषण तिवारी ने 'अभिप्राय की अभिव्यक्ति' को 'जीवन के सामान्य उपकरणों से हटकर अथवा उनके निषेध' से मानी है। 'स्वर्गवासी' (1966) कहानी में श्रीकृष्ण लाल लेखपाल के रूप में पुनः नियुक्त होने के लिए लखनऊ अपने जीजा के पास पिता के कहने पर आता है। वह अपने जीजा के नाम पर मोहल्ले की कई दूकानों से उधारी खाता है। 'हनुमान-चालीसा' पढ़ता है और उसे यह भी लगा है, ''मानो वह किसी दार्शनिक समस्या में उलझा हुआ है और उसे इधर-उधर की भीड़ या परिचितों-अपरिचितों की तरफ देखने की फुर्सत नहीं है।'' 'शिनाख्त' कहानी (1966) में कथावाचक जिस परस्त्री के साथ है 'उसके फाहशा होने में' उसका 'विश्वास और दृढ़तर होता गया। यहाँ रिक्शे पर दोनों के ''बदन आटे की बोरियों की तरह रगड़' खाते हैं। 'सुखान्त' में कथावाचक को अपना मकान 'सहारा' की तरह लम्बा लगता है। दो बच्चों का पिता होने के बाद भी कथावाचक अपने परिवार से दूर है। पत्नी सरकारी मुलाजिम है और उसका पति, जो कथावाचक है, ने दोस्तों की चीज़ का इस्तेमाल किया। उसके पैसों को अपना पैसा समझा, उसके पैसों से शराब पी, दवाएँ खरीदीं, सैर-तफ़रीह की, होटल के बिल अदा किए, जुआ खेला और हारा, उनके बिस्तरे पर अपनी प्रेमिकाओं के साथ संभोग किया, दोस्तों का दुरुपयोग किया। कथावाचक अपने समय के लोगों की श्रेणियाँ बनाता है। 'सुखान्त' कहानी में चिप्पियों की तरह 'देश की बात' है। 'जनता' और 'आदमी' के बीच किया गया अंतर है। सरकार विरोधी और 'खूंखार पिलपिलों' का जिक्र है। 'संसद' है— ''हरिजन लड़के के लिए संसद में बहस हो सकती है। चमेली बाई पर हो सकती है, तो मेरे ऊपर क्यों नहीं हो सकती?'' कथावाचक, अपनी मानसिक दशा का जिम्मेदार स्वयं है। दिन-रात योजनाएँ बनाता और उसे अपनी कलपना में लागू करता है। समय, समाज कहीं भी संगति नहीं है। दिल्ली में संसद-भवन की मेजों पर ''एक-एक जूता रखा है, और उन पर लिखा है 'संविधान' यह किस कम्पनी का 'लेबिल' है...प्रधानमंत्री मूँगफली खा रही हैं और फ्रॉक पहन फुदक रही हैं।''

'सुखान्त' में वास्तविक जीवन गायब है। यहाँ दृश्य नहीं, स्वप्न-दृश्य प्रमुख हैं। फैंटेसी है। मकान के अन्दर कॉफी हाउस आ जाता है, 'बच्चों का बेयरे का ड्रेस पहनना' है, 'तोंद के ऊपर बनी हुई बैंक की खिड़की' है। माँ का मकान लेकर भागने की बात है—''दुनिया

अब मात्र अब सार्वजनिक प्रजनन-गृह बन कर रह गया प्रश्न यह है।" क्या इस सार्वजनिक प्रजनन-गृह में अब कोई मसीहा नहीं पैदा होगा?" अंत में यह स्थिति है कि दुबे के यहाँ कथावाचक के जाने के बाद उसे देख कर "दुबे चीख कर गिर पड़ता है। पत्नी भी भागती हैं—बचाओ बचाओ...राक्षस...लकड़ सुँघवा चोर-चोर'' और अंत में कथानायक का यह कथा ''मैं वही हूँ—अपने जमाने के गहरे विध्वंसक अर्थों के अंधकार में गुम... विदूषक और दार्शनिक के द्वन्द्व से जर्जर, अविश्वस्त...लेकिन ईमानदार...अलविदा।''

'सुखान्त', 'आज इतवार था' (1970) और 'दुर्गन्ध' (1971) के साथ दूधनाथ की कहानियों का पहला दौर समाप्त होता है। इस दौर में वे किसी भी पूर्ववर्ती कथा-धारा से नहीं जुड़े थे। न निर्मल से, न वैद से, न 'मित्र-त्रयी' और 'जेन्युइन त्रयी' से। उन्होंने अपनी अलग से निश्चित रूप से एक धारा बनाई जो उनके साथ कहानीकारों की भी थी। इस मार्ग पर बाद में अन्य कहानीकार नहीं चले। दूधनाथ ने परवर्ती कथाकारों को प्रभावित नहीं किया। कथाकार की अपनी एक पहचान बनी और कई कहानियाँ चर्चित भी हुईं, पर पात्रों में और कथाकार में न तो 'आन्तरिक संघर्ष' था और 'आन्तरिक तनाव की बेचैनी' भी नहीं थी। सुरेन्द्र चौधरी पहले आलोचक हैं, जो उस समय पूरे महाद्वीप को 'रक्तपात की चपेट' में आते देखते हैं और रक्तपात के केन्द्र में शहर-गाँव दोनों को रखते हैं। नामवर 'एक और संभावनापूर्ण शुरुआत' कहकर मौन हो चुके थे और बीस वर्ष बाद सुरेश पांडेय को दिए साक्षात्कार ('पहल' पुस्तिका 7, 1985) में उस दौर के कहानीकारों के संबंध में यह विचार करने को कह रहे थे कि ''सातवें दशक की सामाजिक परिस्थिति का दबाव उस पर कितना था और एक पश्चिमी प्रभाव जो भारत के लेखकों पर पड़ रहा था और पश्चिमी साहित्य की विचारधारा का गहरा असर था, उसके प्रभाव में यह परिवर्तन कितना आया...बड़ी राजनैतिक और सामाजिक समस्याओं से हटकर अपनी जिन्दगी के आस-पास के आपसी रिश्तों और पारिवारिक दुनिया में सिमटने की कोशिश यह बहुत अच्छी बात नहीं थी।'' (पृष्ठ 44) बेशक दूधनाथ की इस दौर की कहानियों की दुनिया सिमटी-सिकुड़ी है, पर वे इस दौर में सबसे अधिक चर्चित हुए थे, क्यों हुए थे? क्या *'संत्रास'* और 'सेक्स' के कारण? अनुभववाद और अस्तित्ववाद के कारण या प्रतीक-बहुलता और प्रयोगधर्मिता के कारण? उस समय शायद ही ऐसा कोई कथालोचक हो, जिसने दूधनाथ पर न लिखा हो। अवस्थी दिवंगत हो चुके थे। विजयमोहन सिंह, धनंजय वर्मा, सुरेन्द्र चौधरी, चन्द्रभूषण तिवारी, मधुरेश सबने उन पर लिखा पर मेरी समझ से सुरेन्द्र चौधरी और चन्द्रभूषण तिवारी ने उस दौर की कहानियों की सटीक पहचान की।

सुरेन्द्र चौधरी ने 'प्रेक्षण में धरातलगत वैविध्य की कमी' देखी और आत्मकेन्द्रीयता को मुख्य कारण माना, जिससे कथाकार 'अपने परिवेश से उठकर जीवन के बोध' में समर्थ नहीं होता। सुरेन्द्र चौधरी ने 1968 में ही 'समकालीन कहानी : सच और झूठ के दायरों में' लेख ('हिन्दी कहानी : रचना ओर परिस्थिति', अंतिका प्रकाशन, 2009 में संकलित) लिखा था। दूधनाथ के इस दौर की कहानियाँ 'सच और झूठ' के दायरे से बाहर नहीं हो पाईं। बाहर निकलने की गहरी बेचैनी थी भी नहीं। 'इतिहास से रचनात्मक स्तर पर जुड़ने की संभावनाएँ, खोजी जा सकती हैं, पर सुरेन्द्र चौधरी के इस कथन का वज़न है। ''सम्पूर्ण रूप से 1960 की पीढ़ी का स्वर इतिहास-विरोधी था।'' (वही, पृष्ठ, 116) 'रक्तपात' केवल एक शब्द नहीं था। एक ही समय भीतर और बाहर के रक्तपात की ओर केवल दूधनाथ ने ही ध्यान खींचा था। यह सामान्य बात नहीं थी। क्या 'रक्तपात' कहानी में कमरे की दुर्गन्ध केवल कमरे की दुर्गन्ध है? उनकी कई कहानियों में, कमरे में ही सही, जिस दुर्गन्ध' की बात कही गयी है

और उसे बार-बार कहानीकार क्यों दिखाता है? दूधनाथ ने एक कहानी 'दुर्गन्ध' भी लिखी, जो 1971 की है, पर संकलित है 'कर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' में। यह दुर्गन्ध पहले की दुर्गन्ध से भिन्न है। यह कमरे की दुर्गन्ध नहीं है? 'कॉलेज की इमारत पर खँखार कर थूकना' क्या शिक्षा-व्यवस्था पर थूकना नहीं है। इस कहानी के पहले वैद्य जी ('राग दरबारी') का शुभागमन हो चुका था। कॉलेज के प्रिंसिपल को 'लड्डू' और 'पान की बढ़िया गिलौरियाँ' खिलायी जाती हैं और प्रिंसिपल मेहरबान होते हैं। 'वह' को प्रिंसिपल अपने कॉलेज में बुला लेता है। क्या दुर्गन्ध दोनों में नहीं है? "अपनी मुस्कुराहट और सफलता की मोटी खोल के अन्दर अब वह इतना निश्चिन्त और बेहया हो गया था कि उसे लोगों की चिन्ता नहीं थी...वह खँखार कर नीचे गली में थूकता। अट्टहास करता, लेकिन उसे लगता एक डरावनी दुर्गन्ध लगातार उसका पीछा कर रही है।" दूधनाथ के यहाँ 'वस्तु-जगत का प्रेक्षण' है, पर वह स्पष्टतः दिखाई नहीं देता। 'व्यक्ति केन्द्रता' निश्चित रूप से प्रमुख और प्रबल है, पर इसके साथ ही कई ऐसे संकेत भी हैं, जिन पर निगाह जानी चाहिए। आखिर क्यों सुरेन्द्र चौधरी अपने एक लेख 'उत्तरशती की कथा-यात्रा' (वर्तमान साहित्य, महाविशेषांक, 1991) में छः बार 'रक्तपात' का प्रयोग करते हैं? 'रक्तपात की बर्बरता' 'बर्बर रक्तपात' और उसके परिणाम की बात कहते हैं? माँ और बेटे का रक्तपात बाद में फैल जाता है—सर्वत्र। वह समय (साठ का दशक) संक्रान्ति का दशक था और यहाँ कहानियों में परिवर्तन 'बाहर' न होकर 'संबंध' में होता है। बेशक दूधनाथ के यहाँ 'अतिरंजनाएँ और विडम्बनाएँ' हैं, पर वहाँ सपाट चेहरे वाला आदमी' के बाद की कई कहानियों में 'सामाजिक व्यवस्था के भीतर असंतोष की स्पष्ट मन-स्थितियाँ' भी हैं। कमी यह है कि वे अनुभव के संसार को विश्वसनीय नहीं बना पाते। 'कथ्य' बहुत कम बदलता है और कथ्य की इस एकरूपता के कारण कथाकार अनुभव के 'वृत्त' से नहीं निकल पाता। निकलने की कोई छटपटाहट भी दिखाई नहीं देती। जहाँ तक 'व्यर्थता के अनुभव' की बात है, सुरेन्द्र चौधरी ने एकदम सही कहा है, "यह व्यर्थता का अनुभव, इतिहास की व्यर्थता का नहीं है, भोक्ता व्यक्ति की व्यर्थता का है।" दूधनाथ ने इस दौर में मानस से काल की यात्रा नहीं की। काल की यात्रा में नाटकीयता की कम गुंजाइश रहती है। दूधनाथ की कहानियों में अगर नाटकीयता अधिक है, तो इसका कारण यह नहीं है कि वे एक ही समय में कथाकार के अलावा कहीं-न-कहीं अपने भीतर एक नाट्य-रचना की ओर उन्मुख हो रहे थे। 'यमगाथा' बाद की नाट्य-कृति है और दूधनाथ ने इसके अलावा और कोई दूसरा नाटक नहीं लिखा। नाटकीयता का एक बड़ा कारण समय के स्थान पर मानस का होना है। अपने विशेष आन्तरिक अनुभवों को उन्होंने अपनी कहानियों में विस्तारित किया। सुरेन्द्र चौधरी ने लिखा है—"वे अपनी पीढ़ी के उन कहानी लेखकों में हैं, जिनका रचना-संसार कालधर्मी न होकर शुद्ध मानस धर्मी है। यह मानस धर्मिता वास्तविक अन्तरर्विरोधों के विस्तृत क्षेत्र से उत्पन्न न होकर लेखक के अपने अनुभव-क्षेत्र के संघटन का परिणाम है।"

दूधनाथ के कथा-शिल्प की जिन 'पद्धतियों' की बात विजयमोहन सिंह ने कही है, उनमें फ्लैश-बैक वाली टेकनीक अधिक कहानियों में है और प्रतीक-पद्धति वाले शिल्प से भी वे पूर्णतः मुक्त नहीं हो पाते, पर वह उनकी कहानियों में 'रीछ' की तरह स्थूल तो नहीं ही है। प्रतीकों की यह 'स्थूलता', 'प्रतिरोध' में भी है, पर स्थूल प्रतीक से वे अपने को मुक्त करते दिखाई देते हैं। अपने अनुभव संसार में लम्बे समय तक पड़े रहना संभव नहीं था। चिंतन, विचार, काल्पनिक, अवास्तविक निजी संसार में भी अधिक समय तक किसी भी रचनाकार का बने रहना संभव नहीं है, 1967 के नक्सलबाड़ी के बाद कहानीकार अपने अनुभव संसार में बने

और पड़े नहीं रह सकते थे। दूधनाथ के यहाँ कहानी-लेखन में 1971 के बाद एक बड़ा अन्तराल आया– क्यों आया? "इस रिक्ति का पहला कारण बच्चे पालना है। यह वह दौर है, जब उन्हें पढ़ाने-लिखाने में मैं लगा रहा। गरीबी थी और वे अगर ठीक से न पढ़ते तो आगे बेसहारा होने का डर था। इस काम में मेरा लगभग दस साल का समय लग गया। दूसरा कारण यह मेरे घोर वैचारिक परिवर्तन का समय है– विचारधारात्मक परिवर्तन का समय। पुराने तरीके से लिखना संभव नहीं था और वस्तु को नए ढंग से उठाने की आदत नहीं थी। ...यह एक प्रकार के रचनात्मक और गैर रचनात्मक संघर्ष का दौर था। मेरे चरित्र के अराजक भटकाव भी इस संबंध में कुछ कारक थे। इसीलिए इतना लम्बा दौर व्यर्थ हुआ...गृहस्थी, अवैध प्रेम और वैचारिक-आत्मिक संघर्ष तीनों ने मिलकर मुझे क्षत-विक्षत किया और मेरा काफी समय खाया।'' ('कहा-सुनी', वही, पृष्ठ 118)

'दुर्गन्ध' (1971) के बाद दूधनाथ की कहानियों का दूसरा दौर 'माई का शोकगीत' से आरंभ होता है। 'कथा-समग्र' में 'दूसरा कदम' की पहली कहानी 'हुँड़ार' (1990) है और दूसरी कहानी 'माई का शोकगीत' है–'माई का शोकगीत' कहानी 1985-86, फिर 1989-90 में लिखी गयी और 1990 में प्रकाशित हुई। 1990 में उनकी तीन कहानियाँ प्रकाशित हुईं–'माई का शोकगीत', 'हुँड़ार', और 'गुप्तदान'। तीसरे कहानी-संग्रह 'प्रेम-कथा का अन्त न कोई' की सभी पाँचों कहानियाँ 1960, 1962, 1963 और 1970 की हैं। 1970-71 के बाद का समय एक बदला हुआ समय है। 'दुर्गन्ध' के बाद सत्तर के दशक में दूधनाथ ने एक भी कहानी नहीं लिखी। उनके मानसिक और वैचारिक बदलाव का पता कहानियों से पहले 'पक्षधर' की भूमिका 'वक्तव्य' में दिखाई पड़ता है। 'पक्षधर' के वक्तव्य में वे 'पिछले दौर' (साठ का दशक) के 'व्यक्तिवादी–कलावादी, पतनशील नक्सल' के कारण लेखकों के 'साहित्यिक-राजनीतिक भटकाव' का उल्लेख करते हैं–दूधनाथ की कहानियों के दूसरे दौर को समझने के लिए 'पक्षधर' का वक्तव्य' पढ़ना जरूरी है, अब वे साफ़-साफ़ एक स्टैंड लेते हुए दिखाई देते हैं। प्रगतिशील साहित्य सत्तर के दशक के आरंभ में सामने आने लगा था। इसी दशक में नागार्जुन केदार का महत्त्व समझा गया। नक्सलबाड़ी आन्दोलन, पश्चिम बंगाल में वाम मोर्चो की सरकार, बाँदा में प्रगतिशील लेखकों का सम्मेलन – ये सब 1975 ('पक्षधर' पत्रिका का प्रकाशन-वर्ष) तक सामने थे। सत्तर का दशक साठ के दशक से भिन्न था, ''पिछले कुछ वर्षों में विकट आर्थिक-राजनैतिक दबावों के कारण हमारा राष्ट्रीय माहौल और उसकी सचाइयाँ साफ़ हुई हैं और उनका असर हम सभी की मानसिक बनावट पर पड़ा है। अपने समाज की बुनियादी समस्याओं को हमने एक नये नज़रिये से ज़्यादा सही तरीक़े से समझा है। इसे हम एक नयी प्रगतिशील रचनाकारिता की शुरुआत मान सकते हैं। इस शुरुआत में हमें मार्क्सवादी लेनिनवादी विचारधारा सबसे अधिक मददगार साबित होगी, इसमें कोई सन्देह नहीं है।" क्या दूधनाथ सिंह के बाद के कथा-लेखन में यह 'विचारधारा' 'मददगार' साबित हुई। जिस 'स्थूल सिद्धान्तीकरण' से बचने की सलाह उन्होंने दी थी, वह उनकी कहानियों में नहीं है। पर क्या सचमुच उन्होंने–भारतीय समाज के वर्गीय ढाँचे को अच्छी तरह समझा? क्या बाद की कहानियों में भारतीय समाज के वर्गीय ढाँचे की समझ, रचनात्मक समझ उनकी कहानियों में मौजूद है? 'पक्षधर' के 'वक्तव्य' के बाद सत्तर-अस्सी के दशक में उनकी एक कहानी भी प्रकाशित नहीं हुई। जिस चौथे कहानी-संग्रह 'माई का शोकगीत' से उनकी कहानियों का दूसरा दौर आरंभ होता है, वे सभी पाँच कहानियाँ 1990 और 1992 की हैं। दो दशक में वैश्विक और भारतीय स्तर पर बहुत कुछ बदल चुका था, जहाँ तक हिन्दी कहानियों की बात है, इन दो दशकों में,

उसने एक भिन्न मार्ग की तलाश कर ली थी और सत्तर-अस्सी के दशक में पन्द्रह-बीस कहानीकार हिन्दी कहानी के परिदृश्य पर लगभग स्थापित हो रहे थे। एक बड़ी बात यह हुई कि राजेन्द्र यादव 'हंस' के सम्पादक बने और स्त्री विमर्श, दलित विमर्श को कहानी के केन्द्र में स्थापित किया। दूधनाथ की कई कहानियाँ 'हंस' में प्रकाशित हुईं।

दूसरे दौर की कहानियों का पाठक—'पाँचवाँ पाठक' नहीं है। कथा-भूमि के बदलने से कहानी का पाठक भी बदलता है। पहली बार 'माई का शोकगीत' में दूधनाथ गाँव की ओर मुड़े। यह बाह्य स्थितियों का दबाव था। पहले दौर में 'सोबन्धा' गाँव की परेशान करने वाली याद नहीं है। कथा-भूमि बदली तो पात्र भी बदले। पात्र-भाषा और कथा-भाषा भी बदली। पहली बार कथाकार ने पाठकों को सम्बोधित किया—'प्रिय पाठक!' 'माई का शोकगीत' गाँव को आधार बनाकर लिखी गयी कहानी है। कथावाचक अपने पाठकों को 'अपने बचपन के गाँव वाले घर' चलने को कहता है। वह अकेला नहीं जाता। उसे संगी-साथी चाहिए। कहानी संवाद शैली में लिखी गयी है। इस कहानी को स्वयं कहानीकार ने 'पहले की कथा अवधारणा से भिन्न धरातल की कहानी' कहा है। अब उनके लिए 'लेखकीय दायित्व', 'अपने समय की सामाजिक समस्याओं का चित्रण' है और है ''उन समस्याओं के प्रति प्रतिबद्ध होना।'' एक वर्ष-विशेष में प्रकाशित होने के बाद भी कहानियों की 'थीम' एक ही हो, आवश्यक नहीं हैं। गंगा माई 'बउरही माई' है। यह कहानी राष्ट्रीय स्वाधीनता-आन्दोलन के नमक-सत्याग्रह के दौर की है। कहानीकार के लिए राजनीतिक स्वतंत्रता ही सब कुछ नहीं है। स्त्री-स्वतंत्रता को लेकर लिखी गयी इस कहानी में तीन स्त्री पात्र-गंगा माई, कनियाँ (मोसाफिर सिंह की पत्नी) और गायत्री प्रमुख हैं। पितृसत्तात्मक और सामंती समाज में स्त्री-दशा को यहाँ गहरी चिंता से कहानीकार ने कहानी का विषय बनाया है। गंगा माई 'अलख जगाने वाली जोगिन' है। उसे भारत माता की चिंता है और वह 'गान्धी की चेली' है। भारत माता को राक्षस के चंगुल से छुड़ाने में गाँधी जी की बड़ी भूमिका रही है। मोसाफिर सिंह की पत्नी कनियाँ राक्षस से अपने को छुड़ाने को कहती हैं—''हम भी तो काल-कोठरी में बंद हैं...हम भी तो बेपर्द हो गये हैं। इहाँ भी तो एक राच्छस पहरा दे रहा है।'' मुसाफिर सिंह से उसका अनमेल विवाह है और उसके पति उसके लिए राक्षस हैं। गंगा माई की दृष्टि व्यापक है। सामाजिक-राजनीतिक चेतना के लिए पुस्तकीय ज्ञान आवश्यक नहीं है। जीवन के साक्षात्कार और अपने अनुभवों से यह चेतना विकसित होती है। गंगा माई बापू को चिट्ठी लिखती है—''बापू जी, फौज कइसे बनावें। यहाँ तो घर-घर में भारतमाताएँ हैं। घर-घर में सफेद राच्छस हैं। खाली गोरी पल्टन मुर्दाबाद' कहने से का होगा बापू जी।'' इस कथन में 'स्लोगन' या नारे के प्रति गंगा माई में आकर्षण नहीं कर्म महत्त्वपूर्ण है। गंगा माई एक कल्पित पात्र है। कहानी में गाँधी वास्तविक पात्र हैं। वास्तविक पात्र और कल्पित पात्र एक साथ कहानी में हैं। जेल से निकलने के बाद गंगा माई को महात्मा जी के आश्रम जाना और वहाँ 'ना' की सेवा में लगना गाँधी के प्रति अनन्य निष्ठा का प्रमाण है। बापू के निर्देश पर वह गाँव-घर लौटती है। कहानी में गंगा माई की चिंता और बापू की चिंता में भिन्नता है। बापू भारत माता को कैद से छुड़ाना चाहते हैं और गंगा माई प्रत्येक स्त्री को कैद से मुक्त कराने की आकांक्षा रखती है, जो गायत्री (सोनचिरैया) के आने के बाद पूरी होती है। कनियाँ गंगा माई की प्यारी सखी है, जिसे उसका पति हमेशा पीटता है, अपनी पत्नी को पीटना उसका नित्यकर्म है। कहानी में गंगा माई के साथ की सभी स्त्रियाँ सिसकती हैं, ''जैसे पूरी कोठरी सिसकियों से बना हुआ एक घर है।'' कहानी में गंगा माई को अपनी बेटी नहीं है। गाँव में सोनचिरैया या गायत्री का आगमन एक बड़ी घटना है।

उसके आने के बाद ही, उसके प्रयत्नों से स्त्रियाँ एकजुट होती हैं, ''हम यहाँ इसलिए जुटे हैं कि सभी की समस्याओं पर हम सभी औरतें मिल-बैठकर सोचें, देखिए कोई बाहर से नहीं आएगा। हमें सिखाने-बताने। हमें सब आता है लेकिन हमलोग अनजान बनी रहती हैं। हमारी माइयाँ-बहनें यह नहीं जानती कि उनके बिना किसी भी घर का काम नहीं चल सकता...हम असमर्थ—अबला नहीं हैं...हम भारत माता को उनकी गुलामी से भी छुड़ा सकती हैं, क्योंकि हम क्या नहीं करतीं। पहाड़ तोड़ने से लेकर और खाना पकाने तक—सब्ब।" यह कहानी एक साथ स्त्री-जागरण और स्त्री-मुक्ति की कहानी है। मोसाफिर सिंह 'गान्ही—फान्ही जी' को कुछ नहीं समझता। कहानी में स्त्री की सामूहिक-शक्ति का चित्र और वर्णन है। कहानी में कई बड़े प्रश्न हैं, राजनीतिक आज़ादी, सामाजिक आज़ादी के बिना सफल नहीं हो सकती। गाँधी के समानान्तर गंगा माई खड़ी हैं। दोनों की दृष्टि में अंतर है। गंगा माई प्रत्येक स्त्री को भारत माता के रूप में देखती हैं। कनियाँ की दुर्दशा सम्पूर्ण स्त्री-समाज की दुर्दशा है। पँचगवाँ की औरतों का एक साथ इकट्ठा होकर एक प्रकार से स्त्री-फौज बन जाना कहानीकार की स्त्री-चिन्ता के साथ हैं।

'माई का शोक गीत' निजी नहीं है। यह सभी स्त्रियों का शोक-गीत है, जिसे मुक्ति-गीत में कहानीकार बदलना चाहता है। 'माई का शोकगीत' दूधनाथ सिंह का कथा-प्रस्थान है। अब वे एक नयी कथाभूमि का चयन करते हैं। यह पहले की कहानियों के पात्रों का निजी समय नहीं है। यह सबका समय है। वास्तविक समय है। यह कहानी ग्रामीण स्त्री-समाज की है, जो शोषित है। स्त्री के लिए खाना पकाना 'बिना दाम की मंजूरी' है। ''क्या मरद हमें दाम देता है? दाम देता नहीं,...उल्टे लतियाता भी है...जब तक हम खाना पकाते रहेंगे, गुलाम बने रहेंगे और गुलाम बने रहेंगे तो लतियाए भी जायेगे। तुम और तुम्हारे गान्ही महात्मा भारत माता को सौ बार सात समुन्दर पार से छुड़ा लाएँ...ये गुलामी बनी रहेगी।" यह बलदेव की औरत का कथन है। कहानी गाँधी और उनके विचार-दर्शन पर प्रश्न करती है। स्त्री-स्वतंत्रता के बिना देश की स्वतंत्रता का अर्थ नहीं है। कनियाँ गायत्री से कहती है, ''तुमने कल सत्त पर डँटे रखकर देख लिया। अहिंसा का पालन करके देख लिया...तुम लोगों में दम नहीं है। महात्मा जी की फौज बनाओ। भारत माता को छुड़ाओ और हमें छोड़ो। गाँधी जी को एक औरत का दुःख जानने की फिकिर क्यों होगी?'' यहाँ 'सत्य' और 'अहिंसा' पर प्रश्न है। प्रश्न भारत माता संबंधी हमारी दृष्टि और धारणा पर है। भारतीय स्त्री को स्वतंत्रता के बिना देश की स्वतंत्रता का कोई अर्थ नहीं है। गाँधी-दर्शन और गाँधी की विचारधारा पर यह कहानी सवाल उठाती है। कनियाँ बंधन में है। घर और परिवार उसके लिए जेल हैं। वह अपने पति मोसाफिर सिंह, जिसे जमराज सिंह भी कहा जाता है से मुक्ति चाहती है। वह बदला लेना चाहती है—''इस धरन में टाँगकर हम घर्री हुई लाठी से उस जमामार को थुरना चाहते हैं। तब तक थुरना चाहते हैं, तब तक थुरना चाहते हैं, जब तक हमारे हाथ की लाठी टूट न जाए और हम गिर के मर न जाएँ और हमारी मुक्ति न हो जाए।" 'माई का शोक गीत' स्त्री-मुक्ति की कहानी है। स्त्री-संघर्ष के बिना स्त्री-मुक्ति संभव नहीं है। सोनचिरैया (गायत्री) को चित्तू पांडे मानते हैं। गाँव में उसका आगमन एक साहसी, जुझारू लड़की का आगमन है। यह युवा शक्ति है। उसके पहले मोसाफिर सिंह से किसी ने आमने-सामने बात नहीं की थी। मोसाफिर सिंह की ऐंठ और अकड़ बनी रहती है, ''हमसे कोई कुछ नहीं पूछ सकता...साच्छात् भगवान भी नहीं।'' संवाद-समाप्ति के बाद ही संघर्ष होता है। पँचगवाँ की सभी स्त्रियाँ हाँका पड़ने के बाद इकट्ठी होती हैं और मोसाफिर सिंह के यहाँ चल पड़ती है। यह सब स्त्रियाँ एकजुट होकर, "लाल चींटियों के झोंक की तरह मोसाफिर सिंह को धर दबोचती है...मोसाफिर सिंह

को टाँग लिया जाता है। कनियाँ एकाएक हुंकारते हुए कमर पर पहली लाठी मारती है। लेः लेः लेः फिर औरतों का सुर उठता है। मार हुंमच के...हइसे देई माई, कनियाँ माई, तुलसी माई, दुर्गा माई, सत्ती माई, बाघिन माई सभी एक साथ मारती हैं।" यहाँ किसी स्त्री का नाम नहीं है। उसकी पहचान (गंगा माई की भी) किसी की 'माई' होने के कारण है। सामूहिक रूप से मोसाफिर सिंह को पीटना केवल कनियाँ के पति को पीटना नहीं है। वह सामन्ती और पितृसत्तात्मक शक्ति को पीटना है। कहानी में गाँधी और उनके अनुयायियों ने इस काम को अनुचित माना। चित्तू पांडे, ओंकारनंद और जंगबहादुर सिंह गाँधी के शिष्य हैं। वे स्त्री-संघर्ष के विरुद्ध हैं। कहानीकार ने गायत्री की हत्या द्वारा यह स्पष्ट किया है कि यहाँ जो संघर्ष करेगा, मारा जाएगा। महात्मा जी ने लिखा, ''गायत्री, बेटी हमारी बहुत अच्छी कार्यकर्ता थी, लेकिन अभी उम्र का कच्चापन था। हमारे सामने कितना कठिन लक्ष्य है। कितना बड़ा काम है। हमें अपनी माता को मुक्त कराना है, तो हमारी नजर अपने लक्ष्य पर होनी चाहिए न कि रोजमर्रा की छोटी-मोटी बातों पर। वैसे भी गायत्री बेटी को पति-पत्नी के व्यक्तिगत मामले में दखल देने का कोई हक़ नहीं था और अगर दखल देना ही था तो गाँव की महिलाओं के साथ वहाँ कीर्तन करना चाहिए था। लेकिन उसने हिंसा का सहारा लिया। इसलिए हिंसा ने उसे डँस लिया...गंगा माई को अपनी आत्मा को पवित्र करने के लिए प्रायश्चित करना चाहिए।'' गाँधी के शोक-संदेश में गाँधी की अहिंसा, कीर्तनादि संबंधी अपनी जो धारणा है, उसके साथ ही स्वयं कथाकार की उनके संबंध में जो धारणा है, वह एक साथ व्यक्त हुई है। यह 'झूठा सच' है। गंगा माई कहानी के अंत में गाँधी के विचार से असहमत है। ''बापू जी हम तो चुरइल हो गये हैं। प्रेत-जोनि में हैं। हमारे तो आत्मा ही नहीं है। हम पराच्छित नहीं करेंगे। 'प्रायश्चित' को 'पराच्छित' कह कहानीकार ने प्रायश्चित का महत्त्व समाप्त किया है और गंगा माई के निषेध में गाँधी की विचार-दृष्टि का खंडन है।

'माई का शोकगीत' कहानी कहानीकार के शहरी मध्य वर्ग से अलग होकर अपनी पूर्व कथा-भूमि से अलग एक नयी कथा भूमि में आगमन है। यहाँ पात्र अनाम नहीं है। संघर्ष उनकी अपनी कोई निजी और स्वतंत्र पहचान भी नहीं है। वह या तो 'कनियाँ' है (पत्नी) या फिर 'माई'। यह संबंध दूधनाथ की पहले की कहानियों के संबंध से एकदम भिन्न है। पहले दूधनाथ ने अधिक कहानियाँ अन्य पुरुष ('वह') के रूप में लिखी थीं या कुछ उत्तम पुरुष ('मैं') में। अब यहाँ अन्य पुरुष गायब है। गंगा माई और अन्य स्त्रियों का संघर्ष स्थानीय है, गाँधी का संघर्ष राष्ट्रीय है। कहानी कहन-शैली में कही गयी है, जिससे लेखक और पाठक के बीच बहुत कम दूरी रह जाती है। कथा-स्थल और कथा-पात्र के बदलने से कथा-भाषा भी बदलती है। 'माई का शोक गीत' की भाषा एकदम अलग है। अलग से दूधनाथ की कथा-भाषा पर विचार होना चाहिए। अगर यह कहीं निर्मित है, तो कहीं सहज, सायास और निरायास शब्द-प्रयोग हैं। कहानी पढ़ते हुए किसी को 'रेणु' की याद आ सकती है पर इस कथा-भाषा में कोई आँचलिक गंध-सुंगध नहीं है। हवालात को हौलात, आश्रम को आसरम, जेल को जेहल, मूँछ को मोंछ, दर्शन को दर्सन, शरम को सरम, फव्वारा को फौवारा, स्वदेशी को सुदेसी, प्रचार को परचार, मूर्ख को मूरख, इन्द्रदेव को इन्नरदेव, राक्षस को राच्छस, अक्षर को अच्छर, वल्लभ को वलभ, सत्य को सत्त, ध्यान को धियान, रक्त को रकत, वक्त को बखत, रुलाई को रोवाई, कैसे को कइसे, जिन्दगी को जिनगी, डाक्टरी को डाकदरी, बन्दोवस्त को बनबस्त, गर्म को गरम, द्वार को दुआर, यमराज को यमुराज, कृपा को किरपा, भक्तिन को भगतिन, चुड़ैल को चुरइल, मंत्र को मन्तर, ज्ञान को गियान आदि के प्रयोग को शब्द-विकृति कहना गलत होगा।

दूधनाथ ने इस कहानी में हिन्दी का भोजपुरी से 'सिंगार' किया है।

'माई का शोकगीत' की पाँच और 'धर्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्रे' संग्रह की आठ (दुर्गन्ध, 1971 को छोड़कर) कहानियाँ दूसरे दौर की कहानियाँ हैं। 'धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र' की कहानियाँ 1992 से 2001 के बीच की हैं। 'नमो अंधकारम्' का प्रकाशन 1998 में हुआ था और 'निष्कासन' का 2002 में 'कथादेश' में। कहानी का बाद में बिना काट-छाँट, जोड़-घटाव के उपन्यास बन जाना कहानीकारों द्वारा विद्या-विशेष को गंभीरता से ग्रहण नहीं करना है। यह प्रवृत्ति कृष्णा सोबती में भी है और दूधनाथ—उदय प्रकाश में भी। मैंने पन्द्रह-बीस वर्ष एक भेंट में कृष्णा सोबती से यह पूछा था कि 'ऐ लड़की' कहानी से उपन्यास किस तर्क से है? वे कुछ नहीं बोली थीं। इस पर हिन्दी में विचार की जरूरत भी नहीं समझी गयी है। दूधनाथ अपने कथा-लेखन के दूसरे दौर में बदले हुए रूप में हैं। खोजने पर दूसरे-तीसरे दौर में भी पहले दौर की कुछ चीजें—विशेषतः नाटकीयता दिख जायेगी, कुछ भयावह प्रसंग और स्थितियाँ भी, पर अब कहानी की थीम बदली हुई है और निश्चित रूप से यह दूधनाथ का कथा-विकास है, जिस पर अपने समय और कथा-लेखन का दबाव भी है। 'माई का शोकगीत' कहानी नये ढंग से कही गयी है। कहानी का संवाद सहज है। इस कहानी में एक साथ दो कथाएँ हैं—राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन की कथा और स्त्री की कथा। महत्त्वपूर्ण स्त्री की कथा है। कहानी में राष्ट्र के इतिहास से स्त्री के वर्तमान इतिहास को अधिक महत्त्व दिया गया है। इस कहानी और कुछ अन्य कहानियाँ—विशेषतः—'धर्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्रे' के द्वारा दूधनाथ की स्त्री-दृष्टि समझी जा सकती है।

"अपनी सभी कहानियों में मेरी सबसे प्रिय कहानी 'धर्मक्षेत्रे-कुरुक्षेत्रे' है'' (सपाट चेहरे वाला आदमी, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, 2015 का 'वक्तव्य') दूधनाथ की 'तीन लम्बी कहानियाँ' का संकलन 'तीन इन्द्रधनुष' नाम से साहित्य भंडार से 2014 में प्रकाशित हुआ। ये तीनों कहानियाँ हैं—'वे दोनों और वह', 'माई का शोकगीत' और धर्मक्षेत्रे-कुरुक्षेत्रे।' 'विज्ञप्ति' में दूधनाथ में लिखा—''अगर 'पाठ' किया जाय तो ये कहानियाँ बुनियादी तौर पर स्त्री-विमर्श की आतंककारी कथाएँ हैं, तीनों कहानियों की नायिकाएँ (पुराना शब्द) तीन स्त्रियाँ हैं और तीनों के रंग अलग-अलग हैं। लेकिन तीनों मिलकर भारतीय स्त्री का एक मुकम्मल चेहरा प्रस्तुत करतीं हैं—साहसी, दुःखप्रद और ट्रेजिक।" 12.11.2013 को कथाकार ने 'विज्ञप्ति' का आरंभ इन पंक्तियों से किया—''इस संग्रह में शामिल तीनों लम्बी कहानियों में छपने के बाद एक धमाल पैदा किया था। इनकी फोटो कॉपियाँ पाठकों ने खरीद कर पढ़ीं क्योंकि छपने वाली पत्रिकाओं के अंक बाज़ार से उड़ गये थे। यह किसी भी कथा लेखक के लिए एक फ़ख्र की बात है।'' दूधनाथ के यहाँ झूठ और सच कई स्थलों पर एक साथ हो जाते हैं। आपस में घुल-मिल जाते हैं। क्या सचमुच 'वे दोनों और वह' दूधनाथ की कोई स्वतंत्र कहानी है? क्या वह स्वतंत्र कहानी के रूप में किसी कहानी—पत्रिका में प्रकाशित हुई थी? क्या यह कहानी दूधनाथ के किसी कहानी संग्रह में है? नहीं है। 1963 में प्रकाशित और तीसरे कहानी—संग्रह 'प्रेम कथा का अन्त न कोई' में संकलित कहानी 'वे इन्द्रधनुष' शीर्षक बदलकर 'वे दोनों और वह' नये शीर्षक से 'तीन इन्द्रधनुष' में संकलित हैं। 'माई का शोकगीत' और 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' ने प्रकाशित होते ही भले ही 'धमाल' पैदा किया हो, पर क्या सचमुच इन्हें छापनेवाली पत्रिकाओं के अंक बाज़ार से उड़ गये थे'? क्या 1963 में प्रकाशित 'वे इन्द्रधनुष' ने भी 'धमाल' पैदा किया था? क्या 1962 में फोटो कॉपियों की मशीनें भारत के बाज़ार (इलाहाबाद में भी) भी सहज रूप से उपलब्ध थीं? भौतिक विज्ञानी और आविष्कारक, शोधकर्ता, खोजकर्ता चेस्टर कार्लसन (8.2.1906—1.9.1968) ने ऑटोमेटिक फोटो कॉपी मशीन और फोटो कॉपी की खोज की थी।

दुनिया में पहली फोटो कॉपी 22 अक्टूबर 1938 को निकली थी। 1959 तक यह मशीन बाज़ार में नहीं आई थी। दूसरी बात विशेष महत्त्वपूर्ण है कि कथाकार ने कहानी का शीर्षक बदलकर उसे स्वतंत्र मानने का पाठकों में भ्रम उत्पन्न किया, जबकि उन्हें 'विज्ञप्ति' में ही यह सूचना देनी चाहिए थी।

क्या सचमुच इन तीनों कहानियों को एक विशेष कोटि (स्त्री विमर्श) के अन्तर्गत रखा जा सकता है? क्या 'वे इन्द्रधनुष' के स्त्री-पात्र और 'माई का शोकगीत' और 'धर्मक्षेत्रे-कुरुक्षेत्रे' के स्त्री-पात्र समान हैं? इन तीनों कहानियों में स्त्री-पात्रों के बीच कोई 'आन्तरिक संगति' है? 'ये इन्द्रधनुष' की 'कीर्ति', 'माई का शोकगीत' की 'गंगा माई', 'कनियाँ' और 'गायत्री' तथा 'धर्मक्षेत्रे-कुरुक्षेत्रे' में मरकटवा की पत्नी और सिऊ महतो की बहू में कोई समानता है, सिवा इसके कि ये एक स्त्रियाँ हैं। लौकिक साम्य और मात्र स्त्री होने से एक साथ होने या कर दिये जाने का कोई अर्थ नहीं है। 'वे इन्द्रधनुष' की कीर्ति क्वाँरी है, पढ़ी-लिखी हैं, जिसके प्रति निरंजन का आकर्षण है। निरंजन प्रोफेसर है और कीर्ति के साथ 'लायब्रेरी में कुछ चोर जगहों' पर वह जाता है। वह लायब्रेरी की खुली विशाल छत पर कीर्ति को अपने में खींच लेता है। ''उस खिंचाव में उसकी पसलियाँ चरमरा-सी गयीं और नाजुक-सा तन बिल्कुल गोल-मोल हो गया।'' 'वे इन्द्रधनुष' पहले दौर की कहानी है और 'माई का शोकगीत' और 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' दूसरे दौर की हैं। 'वे इन्द्रधनुष' स्त्री-विमर्श की कहानी नहीं है। स्त्री-सोच और स्त्री-विमर्श में अंतर है। दूधनाथ की स्त्री-दृष्टि, स्त्री-पात्र पर स्वतंत्र रूप से विस्तार से विचार अवश्य दिया जाना चाहिए, पर 'वे इन्द्रधनुष' या 'वे दोनों और वह' कहानी पर विचार 'माई का शोकगीत' और 'धर्मक्षेत्रे-कुरुक्षेत्रे' के साथ करना तर्कसंगत और सही नहीं है।

'धर्मक्षेत्रे-कुरुक्षेत्रे' कहानी का कलेवर कथाकार द्वारा कहानी को विवरणों, घटनाओं, स्थितियों, संवादों को कला-कौशल के साथ दूर तक खींचने को है। पहले दूधनाथ की कहानियाँ इतनी अधिक विवरणात्मक नहीं होती थीं। बाद की कहानियों का कला-पक्ष घटा है, वस्तु-पक्ष बढ़ा है। दूधनाथ का ध्यान महावृत्तान्त की ओर कम लघुवृत्तान्तों की ओर अधिक है। अस्सी के दशक में भारतीय समाज बदलने लगा था। बाद में भूमंडलीकरण और भूमंडलीकरण ने सब कुछ को पण्य में बदल डाला। 'खरीदो और बेचो' की संस्कृति विकसित होने लगी। बाज़ार सब पर हावी होने लगा था और उपभोग पर विशेष बल दिया जाने लगा। यह उपभोक्तावाद (कनज्यूमरिज़्म) का दौर था और इसी दौर में 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' कहानी लिखी गयी। कहानी में लेंड़ी महतो, सिऊ महतो, चनरमा सिंह और उदासी जी—सभी अपने स्वभाव, चाल-चलन और कर्म से एक हैं। स्त्री के प्रति किसी के मन में कोई सम्मान नहीं है। वह भोग्या है, जिसे खरीदा और बेचा जा सकता है। बेचा जाना चाहिए। 'चुपचाप माँग पर स्त्रियों के खरीदने और बेचने को दूधनाथ 'ग्रामीण जीवन की एक आम दुर्घटना' कहते हैं। पूर्वी उत्तर प्रदेश के कुछ इलाकों और बिहार के बहुत सारे हिस्सों में वे 'लड़कियों की खरीद-फरोख्त आम' मानते हैं। कहानी में जिस रूप में यह चित्रित है, वह आम नहीं है। उसमें कथाकार की अपनी मिलावट भी है। सिऊ महतो लेंड़ी महतो का शिष्य है। दोनों एक गाँव के हैं। सिऊ महतो को लेंड़ी महतो चोरी के धन्धे में ट्रेंड करते हैं, हिदायतें देते हैं, ये हिदायतें कई हैं। अपने गाँव-जवार में चोरी न करने से लेकर किसी का भी विश्वास न करने की उन्होंने सीख दी थी। उनके द्वारा दी गयी शिक्षा और हिदायतों का कहानी में अच्छा-खासा वर्णन है। लेंड़ी महतो ने उसे 'नकब' लगाना सिखाया, ''माटी के घर में सेंध कैसे मारो, ईंट के घर में कैसे मारो—सब अलग-अलग...सेंध में पहले पैर डालो, फिर धड़ फिर मूड़ी।'' सिऊ महतो प्रवीण हो जाता है,

''बड़े-बड़े सविक चोर उससे जलने लगे...हाथ हो तो सिऊ महतो जैसा...सिऊ महतो की सागिर्दी के लिए होड़ मच गयी।'' दूधनाथ कहानी में भोजपुरी के कई ऐसे शब्दों का प्रयोग करते हैं, जिनसे सभी हिन्दी भाषी का परिचय नहीं है। अहम्मन्यताः के लिए 'हमिता', 'वर्णासंकर', के लिए 'सुर्तवाला', 'कीड़ा' के लिए 'ढोल', 'मोहनभोग' के लिए 'मनभोग','भोला-भाला' के लिए 'लदभेसा', 'अनुबन्ध' के लिए 'साटा', 'गर्दन' के लिए 'नरेटी', आदि ऐसे ही शब्द हैं। 'धर्मक्षेत्रे-कुरुक्षेत्रे' में भोजपुरी शब्दों के प्रयोग-बाहुल्य पर उनका कथन है—''कहानी की अन्तर्वस्तु और उसका भूगोल ही आँचलिक शब्द-रचना के लिए बाध्य करता है...शब्द कहानी के वातावरण और संस्कार को निर्मित करते हैं और उसकी विश्वसनीयता को बढ़ाते हैं। यानी कथ्य और उसमें आए चरित्रों का विशिष्ट सम्पादन भी इन्हीं शब्द-सम्पादाओं के द्वारा होता है...जिन चीजों का फैशन न हो, वह करना सदा से मेरी जिद रही है...फैशन और फन का उपयोग तो मीडियाकर करते हैं।'' (कहा-सुनी, वही, पृष्ठ 74)। दूधनाथ स्वयं अपने को कहानी में कुछ 'नया' या 'भिन्न' करने के कारण विशिष्ट मान रहे हैं। इस विशिष्टता-बोध से क्या कहानी क्षतिग्रस्त और अविश्वसनीय बनती है?

कलकत्ता दूधनाथ का अपना स्थान नहीं था। लगभग पचास वर्ष तक इलाहाबाद में रहने के बाद भी उनकी स्मृति में उनका जन्म स्थान जीवित रहा। उनकी कहानियों का भूगोल बदला। पात्रों और स्थितियों का बदलना स्वाभाविक था। 'धर्मक्षेत्र-करुक्षेत्रे' के सभी पात्र विश्वसनीय नहीं लगते। बहू को सिऊ महतो और उसकी पत्नी दोनों ही पीटते हैं। बेटा कुछ नहीं कहता। 'माई का शोकगीत' में सभी स्त्रियाँ एक साथ हैं, एकजुट हैं। यह वास्तविकता के साथ कथाकार की अपनी आकांक्षा भी है। पर 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' में 'सास' का बहू को प्रताड़ित करने में सच्चाई है। यहाँ स्त्री ही स्त्री के विरुद्ध है। मुख्य कारण बहू का संतानवती न होना है। सिऊ महतो की पत्नी अपनी बाँझ पतोह का 'सौदा' करने की सलाह देती है। स्त्री के संबंध में यहाँ पुरुष और स्त्री दोनों की दृष्टि समान है। परिवार में उसका मान-सम्मान वंश-वृद्धि से जुड़ा है 'बाँझ-बंजर' के लिए जगह नहीं है। सिऊ महतो समृद्ध हैं। उसका ईंटों का पक्का मकान है, आँगन में चाँपा कल है और दरवाजे पर 'मुर्रा भइंस बँधी है'। यह चार प्राणियों—सिऊ महतो, उसकी पत्नी, बेटा मरकटवा और उसकी पत्नी—दो पुरुष, दो स्त्री का परिवार है। परिवार का वास्तविक अर्थ विलुप्त है। एक ओर तीन लोग हैं और दूसरी ओर मरकटवा की पत्नी है। पिता-पुत्र, श्वसुर-सास-बहू, पति-पत्नी का संबंध मतलबी है। मरकटवा की पहली और दूसरी पत्नी का अपना कोई नहीं है। पहली पत्नी बाँझ थी। उसे उसके मायके भेज दिया गया। दूसरी पत्नी पहले से गर्भवती है। ससुर ने निश्चय किया—''या तो माल फेरना है, या बोली लगानी है।'' चनरमा सिंह सिऊ महतो से अधिक चतुर है। स्त्री की खरीद-फरोख्त में दोनों हैं। चनरमा सिंह का सिऊ महतो से विश्वासघात के पीछे रुपया है। स्त्री से अधिक महत्त्व धन का है। चनरमा सिंह जिस स्त्री को सिऊ महतो से बेचता है, वह 'गाभिन गाय' है। कहानी में मठ के महन्त उदासी जी और भगत नगीनदास में अंतर है। चनरमा सिंह का उदासी जी और सिऊ महतो दोनों से संबंध है। मठ मठ नहीं है सिऊ महतो को संतान 'आपन बुन्द' से चाहिए थी। चनरमा सिंह का 'आपन बुन्द' पर प्रश्न है—'आपन बुन्द क्या होता है बे? तँ लोग आपन बुन्द से पैदा हुए हो?' कहानी फ्लैशबैक टेक्नीक में चलती है। दूधनाथ को यह कथाशैली प्रिय है। विजयमोहन सिंह ने उनके पहले कहानी-संग्रह 'सपाट चेहरे वाला आदमी' की समीक्षा में उनके कथा-शिल्प की दो पद्धतियों की बात कही थी। एक पद्धति फ्लैश बैक की है और दूसरी—'फैंटेसी वाली और प्रतीक-पद्धति' है। फ्लैश बैक पद्धति दूधनाथ की कहानियों में काफी

दुहराई गयी है। ''बीच से शुरू होना, फ्लैशबैक में पीछे जाना, फिर लौटना, कहानी का छूटा हुआ सिरा पकड़कर आगे बढ़ जाना।'' दूधनाथ ने कहा भी है, ''धर्मक्षेत्रे-कुरुक्षेत्रे प्रतीकों और फैंटेसी की कहानी नहीं है (वही, पृष्ठ 73)।'' सीकड़, जिसमें मरकटवा की पत्नी बँधी हुई है, एक प्रतीक भी है, एक खास पुरुष मानसिकता का, पुरुष वर्चस्व का। संतान चाहिए, पर अपने वीर्य से। कोई नहीं जानता कि वह किसके वीर्य से उत्पन्न है? वह केवल जन्म देने वाली माँ जानती है। कहानी में नगीनदास एक विशिष्ट पात्र है। उनकी दृष्टि सबसे भिन्न है। उदासी जी स्त्री को 'गामिन बढ़िया' कहता है और नगीन दास 'कोसिला माता' कहते हैं। कहानी में स्त्री-संबंधी दो दृष्टियाँ हैं। एक दृष्टि में स्त्री पशु-तुल्य है और दूसरी दृष्टि में वह राम की माँ है। नगीनदास और स्त्री के बीच का संवाद अन्य संवादों से एकदम अलग है। दोनों अपनी कथा एक दूसरे को सुनाते हैं। कहानी में स्त्री के पति और श्वसुर का न कोई चित्रण है, न वर्णन मरकटवा भी यह यह अपने अतीत का स्मरण करती है। राक्षस चचिया ससुर के साथ उसे अपना पति याद आता है। पिता भी नहीं स्वीकारता, ''जेकर पाप वही सँभारे। हमारे लिए तुम मर गयी। चाहे कुआँ में परो, ऊफरि परो'' उसके लिए न मायका है न ससुराल। चचिया ससुर राक्षस था। पर उसे खरीदकर लानेवाला अपना श्वसुर? वह और बड़ा राक्षस है, जो इन दोनों के लिए है वह नगीनदास के लिए नहीं है। नगीनदास उसे 'कोसिला माता' कहते हैं गर्भस्थ अवैध संतान को राम—''रामजी आनेवाले हैं। धन्न भाग, धन्न भाग।'' नगीन दास चमार-सियार जाति के हैं। वर्ण व्यवस्था में वे निचली जाति के हैं, शूद्र हैं, पर उनका सोच-विचार ब्राह्मण से कहीं ऊपर है। नगीनदास की आँख में मोतियाबिंद है, पर उनका अन्तरचक्षु खुला है। वहाँ केवल ज्योति और प्रकाश है। स्त्री की तिजारत करने वाले सभी पात्र भीतर से अंधे हो चुके हैं। 'धर्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्रे' में स्त्री का अपना केवल नगीन दास हैं। स्त्री पेट के भीतर के रामजी को दुर्गति का कारण मानती हैं। ये 'खुसी से नहीं आये' 'ई जबर्दस्ती हमरी काया में प्रवेस किये।' नगीनदास क्रुद्ध होते हैं। लंगड़ 'भागवत' में ब्यासमुनि का कथन सुनाते हैं 'धरमक्षेत्रे, कुकुरछेत्रे का...का होत एऽऽऽ संजै'' ('संजै' अर्थात् संजय) नगीनदास के पास मानव-मूल्य, जीवन-मूल्य है और दूसरे सब लोग मूल्य विहीन हैं। उदासी जी का वास्तविक रूप जानकर नगीनदास का क्रोध इन शब्दों में फूटता है—"साधू बने हो, महन्त बने हो और कारोबार करते हो? अँचला पहिर के, टीका-फाना करके, घरी घंट बजाते हो, पोथी बाँचते हो। कनफूका मन्तर देते हो और दोसरे की बहू-बेटी बेंचते हो? परलोक बनेगा और वह भी तुम्हारा? अरे, तुम्हारे जैसे साधु-संडासी सरग जाने लगें तो सरगो बसा जाय। बसाई रहा होगा।'' वे सुमरनी, कंठी सब फेंकते हैं—''तुम्हारी आतमा बन्दक होगी ठाकुर द्वारे में—हमरी नहीं...ए पाप-कुंड में अब एक्को मिनट नहीं रहेंगे। लेओ, सँभारो राजपाठ। हम अब्भी इसी बेरा चले जाते हैं, मतवा राम को लेकर।'' यह संभव नहीं हो पाता। 'धर्मक्षेत्रे-कुरुक्षेत्रे' में नगीनदास 'प्रोटेस्ट' करते हैं। कामयाब नहीं हो पाते। यह व्यक्ति-विशेष का 'प्रोटस्ट' है। 'माई का शोकगीत' में स्त्री-समूह का 'प्रोटेस्ट' भी कारगर नहीं हो पाता। दोनों कहानियों में 'प्रोटेस्ट' करने वालों की हत्या की जाती है। उदासी जी के आदेश पर सिऊ महतो ने 'हुमच के लोहबन्ना नगीनदास के सिर पर जमा दिया।

'धर्मक्षेत्रे-कुरुक्षेत्रे' में कथाकार द्वारा प्रसंगों के निर्माण से, उसके विस्तारपूर्वक वर्णन से कथा का सहज ढंग से विकास न होकर नाटकीय ढंग से विकास होता है। कथा-प्रसंगों और विवरणों में दूधनाथ का मन रमता है। बेवजह कहानी फैलती है, जिसकी आवश्यकता नहीं होती। यह कथा-विस्तार अनावश्यक है। यह कहानीकार का स्वयं घटना, विवरण, वर्णन, नवीन

प्रसंगों की उद्‌भावना में रमना है। 'धर्मक्षेत्रे-कुरुक्षेत्रे' के विस्तार से कहानी सम्यक् प्रभाव छोड़ने में सफल नहीं हो सकी है। कई पात्रों में विविधता है, पर वे सब पूरी तरह 'कथ्य' से जुड़ नहीं पाते। सिऊ महतो और मरकटवा का एक दूसरे पर हमले का कहानी में कोई स्पष्ट कारण नहीं दीखता। अचानक मरकटवा का अपनी स्त्री के पक्ष में खड़े होने में नाटकीयता है, जिसके प्रति कथाकार का अधिक आग्रह है न बच्चे के जन्म का एक महत्त्व है। बनकटे से बाहर आकर नदी के कछार में स्त्री उतरती है। बनकटा एक खास समाज का प्रतीक नहीं बन पाता। स्त्री कहानी के अंत में बच्चे को कन्धे से 'चिपकाकर' इस असार संसार की ओर निकल पड़ती है। दूधनाथ की कहानी-थीम आवश्यकता से अधिक फैल जाती है, फिर भी 'धर्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्रे' कहानी कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। इसमें मुख्य सवाल अवैध गर्भ धारण करनेवाली स्त्री के प्रति उसके पारिवारिक सदस्यों के बर्ताव का है। 'यमगाथा' नाटक में दूधनाथ ने लिखा है कि ''स्त्री का गर्भ ही उसका सबसे बड़ा शत्रु है।'' इस कहानी में स्त्री की अपनी कोई इच्छा नहीं है। 'गर्भस्य शिशु' को देखने की भिन्न दृष्टियाँ हैं। एक दृष्टि से यह स्त्री का पाप है और दूसरी दृष्टि से गर्भ धारण करनेवाली स्त्री कौशल्या माता है। कहानी के अंत में सिऊ महतो में एक परिवर्तन है—''ठाकुर ससुर का घर बसाने के पहले अपने लदभेसरा (मरकटवा) का ही घर क्यों न बसा दें? दिया ले के खोजा है।'' कहानी के अंत में बच्चे के जन्म को ''बच्चा अवतार ले रहा था कहा गया है एक ओर सियार, हुँड़ार और लकड़बग्घे की आवाज़ है, तो उसके बाद—बनकटा एक नवजात शिशु के 'केहाँ-केहाँ की आवाज से गूँज उठा।'' कहानी में एक बड़ा प्रश्न 'अपन बुन्द' और 'पराये बुन्द' का है। स्वामित्व का है। सिऊ महतो एक ओर बच्चे से यह कहता है कि, ''अपन बुन्द से होते तो निहाल ही जाते'' और दूसरी ओर बच्चे को दफ़न करने के लिए गड़हा खनता है। जीवित बच्चे को गाड़ देना। उसमें आने वाला बदलाव क्षणिक था। सिऊ महतो के निर्माण में एक साथ यथार्थ और कल्पना है। वह कथाकार की निर्मिति है। स्त्री के क्रय-विक्रय का धंधा एक वास्तविकता है, पर दूधनाथ उसे चरम बिन्दु तक पहुँचाते हैं और वहाँ तक के लिए जिन कथा-प्रसंगों को निर्मित करते हैं, वह उनका अपनी है, एक सर्जक का है। कहानी में एक साथ बनकटे का और स्त्री-जीवन का अंधेरा है, जहाँ चोर बत्ती का प्रकाश कोड़बाज द्वारा है।

दूधनाथ का स्त्री-चिन्तन और स्त्री-दृष्टि सभी कहानियों में एक समान नहीं है। उनके स्त्री-पात्रों में भिन्नता है। पहले दौर के और बाद के दौर की कहानियों के स्त्री-पात्रों का जीवन और संसार अलग है। उनकी पृष्ठ-भूमि भी भिन्न है। 'सपाट चेहरे वाला आदमी' की मजबूरी में शरीर व्यापार करने वाली स्त्री, 'बिस्तर' कहानी की नीलिमा और शफ़ीक की प्रेमिका, 'ममी तुम उदास क्यों हो' की मिसेज रेवाड़ी और अन्य स्त्री पात्र, 'रक्तपात' की माँ और पत्नी 'वे इन्द्रधनुष' की कीर्ति 'सीखचों के भीतर' की सुमिता', 'आइसबर्ग' में विनय की बहन और उससे अलग पत्नी, जिसने बाद में, आत्महत्या की, 'सब ठीक हो जायेगा' में मिश्रा की पत्नी, 'प्रतिशोध' की उमा, 'रीछ' की प्रेमिका और पत्नी, 'स्वर्गवासी' की बहन और बहू, 'शिनाख्त' की तीन सयानी सन्तानों की माँ, 'विजेता' की लड़की, 'सुखान्त' में माँ और कथावाचक की पत्नी, 'आज इस बार था' की माँ और बेटी और 'दुर्गन्ध' की पत्नी—सब एक विशेष वर्ग—मध्यवर्ग से हैं। इन कहानियों में कथाकार की स्त्री-दृष्टि साफ है।

ये सभी स्त्रियाँ, लड़कियाँ या तो शहर की हैं या कस्बे की। वहाँ देह, आकर्षण, सेक्स प्रमुख है, जबकि ''सेक्स मात्र एक शारीरिक अवश्यकता है'' ('सब ठीक हो जायेगा')। दूसरे और तीसरे दौर की कहानियों की स्त्रियाँ अलग हैं। उनका जीवन और परिवार भिन्न है, 'माई

का शोकगीत' की गंगा माई, कनियाँ और गाँव की अन्य स्त्रियाँ ग्रामीण हैं। केवल गायत्री शिक्षित है जो गाँव आती है। उसके आने से गाँव के स्त्री-जीवन में बदलाव आता है। वे सक्रिय होती हैं और प्रतिरोध करती हैं। यह प्रतिरोध 'धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्रे' के मरकटवा की पत्नी में नहीं है। इस कहानी में स्त्री की खरीद-फ़रोख्त है। 'गुप्तदान' कहानी में ''वित्त मंत्री की बहू से मंत्री जी की पटान है।'' 'हुँड़ार' कहानी में राय साहब के यहाँ काम करनेवाली स्त्री चिल्लाकर कहती है—''जाता कहाँ है भड़ुवे! असली बात बता न।...हमसे मालिस करवाइस...और जबर्दस्ती कीस...पूरा हुँड़ार है साहब जी। आदमी के कौनों लच्छन नहीं ओ के भीतर।'' मंत्री हों या प्रोफ़ेसर—सबकी स्त्री के प्रति लोलुप दृष्टि है, भोगवादी है। एक बहू 'लौटना' कहानी में है जो अपने श्वसुर को बच्चे से खेलने नहीं देती। 'जॉर्ज मेकवान' कहानी में कलाकार मेकवान की माँ की चिन्ता केवल बेटे की पेंटिंग के बिकने में है। 'नपनी' कहानी में दो लड़कियाँ एक साथ खड़ी हो जाती हैं। शादी के पहले लड़का अपनी भावी पत्नी का 'साक्षात्कार' लेता है। लड़के का पिता अपनी बेटी नपनी, जिसका नाम पारमिता है को भेजकर भावी बहू की लम्बाई की नाप कराता है। पारमिता दुल्हन का हाथ पकड़कर उसे वाश बेसिन पर ले जाकर पिता को तमाचा जड़ने को कहती है। लड़की उसके पिता के गाल पर तमाचा जड़ती है। नाटकीयता के बाद भी नपनी कहानी में दो लड़कियाँ एक साथ खड़ी होती है। 'तू फू' कहानी में तू फू का पोता कमसिन लड़कियों की आढ़त लगाता है। गाँव से गरीब लोगों की बेटियों को लाकर अस्मत लूटता है। फिर 'बज़ार' में चढ़ा देता है। दूधनाथ की पुरानी स्त्री-दृष्टि नहीं बदलती है। उनके पुराने स्त्री-पात्र भी एक अन्तराल के बाद दूसरी कहानियों में आ जाते हैं। 'दो पीढ़ियाँ' (2000) में पत्नी संभोग के लिए व्याकुल है, ''प्रतिदिन या यों कहें कि रोज रात वह संभोग के लिए व्याकुल रहती और पति किताबों या काम के बारे में सोचते हुए करवट बदल कर खर्राटे लेने लगते।" यह कहानी दाम्पत्य प्रेम की है। पत्नी अभिनेता-अभिनेत्रियों के रोमांस के बारे में जानती है—''कौन आजकल किससे लस रही है, जिसकी कमर पर चर्बी के थक्के हैं और किसने अपने फ़िगर को साधा है और किसके लिए साधा है—वह सब रटा-रटाया हाज़िर था।'' पति की मृत्यु के बाद पत्नी को 'कार्यालय में कृपा-भाव से रख लिया गया।' कहानीकार लिखता है—''कुछ वर्षों बाद सुचित्त होकर उसने प्रेम किया और कायदे से तृप्त हुई।' सेक्स दूधनाथ का पीछा नहीं छोड़ता। मोटे तौर पर 'तू फू' और 'जलमुर्गियों का शिकार' कहानी-संग्रह को दूधनाथ के कथा-विकास का तीसरा चरण कह सकते हैं क्योंकि इन दोनों कथा-संग्रहों की कुछ कहानियाँ पहले के दो दौर की कहानियों से अलग हैं, पर आरंभ से लगभग अंत तक स्त्री की देह कथाकार का पीछा करती रहती है। उससे वे पूर्णतः मुक्त नहीं हो पाते। बार-बार रुककर ही सही, दूधनाथ पहले के समय में, साठ के दशक में लौटते हैं। वह दशक उनका पीछा नहीं छोड़ता। उस दशक की प्रेम, दर्द और सेक्स से जुड़ी कई कहानियों की कथाएँ बाद में भी देखी जा सकती हैं। जिस प्रकार 'एक सनातन प्रेम-कथा' (1994-2001) में वह पैंतीस वर्ष बाद सुप्रिया के पास लौटता है कुछ-कुछ उसी प्रकार बाद में भी दूधनाथ की कुछ पहले की कहानियाँ उनके पास लौटती हैं वे हमेशा वर्तमान में नहीं रहते। वर्तमान में होना यथार्थ के साथ होना है। उनकी कहानी की फ्लैशबैक टेक्नीक को भी इससे जोड़कर देखने की ज़रूरत है। अतीत में जाने पर, स्मृति को महत्त्व देने पर इस टेक्नीक का आना आवश्यक है। 'धर्मक्षेत्रे-कुरुक्षेत्रे' में फैंटेसी न हो, पर बाद की कहानियों में तो वह है। 'एक सनातन प्रेम-कथा' को स्वयं कथाकार ने 'फैंटेसी' कहा है। 22 हिस्सों में बँटी इस कहानी के अधिक हिस्से अतीत के हैं—पहले के सात हिस्से वर्तमान के हैं। बाद के तेरह अतीत के हैं और अंतिम दो हिस्से

(21 और 22) पुनः वर्तमान के हैं। इस प्रकार तेरह हिस्से अतीत के और नौ हिस्से वर्तमान के हैं। फिर इस कहानी में पहले की तरह सर्वनाम प्रमुख है। 'वह' जिसे लगता है, ''सुप्रिया उसकी साँस थी, धुकधुकी थी, नदी, मछली, हाथ, आँख, उँगलियाँ, जीभ, दाँत, रोटी, पानी—सब कुछ थी—नानी भी, महक और सूखता पसीना'' भी। 'यह कैसा स्त्री संबंध है?' 'खोए हुए' (2004) कहानी भी एक असफल दाम्पत्य प्रेम की कहानी है। पति सरकारी अस्पताल में डॉक्टर है, जिसे 'नग्नता को दुगुना देखना' प्रिय है। वह अपने नाखून से पत्नी की खुली बाँहों पर चीरा लगाता है और पत्नी चीखती है—चीख डॉक्टर के भीतर ''हवस, उन्माद और उत्तेजना पैदा करती थी।'' दूसरी ओर पड़ोसी लड़के से संबंध। पति का घर उसका अपना घर नहीं लगता। ऐसी स्त्रियों की स्वतंत्र होने की चाह 'माई का शोकगीत' की स्त्रियों की स्वातन्त्र्य चाह से एकदम विपरीत है। यह मध्यवर्गीय स्त्री है जो उन्मुक्त होकर अपना जीवन जीना चाहती है। उसे 'बैंक बैलेंस' 'गंधाता' है और पड़ोसी लड़के के साथ से उसे 'मनचाहा स्वर्ग' मिल जाता है। ऐसे पात्र व्यक्तिवाद के शिकार हैं। वह विवाहिता है, पत्नी है। पड़ोसी लड़का बेरोजगार है। दोनों घर से भागते हैं। कहाँ पहुँचेंगे, उन्हें नहीं मालूम। 'धर्मक्षेत्रे-करुक्षेत्रे' में मरकटवा की पत्नी अपने नवजात शिशु के साथ किसी मार्ग पर चल पड़ती है। यह उसकी मजबूरी है। इच्छा नहीं, पर यहाँ 'खोये हुए' कहानी में? यह निजी इच्छा है। प्रेम से ही नहीं, काम-वासना से भी अतृप्ति है।

दूधनाथ की आरंभिक कहानियों के पात्र नामहीन हैं, पर उनकी कहानी, 'नाम में क्या रखा है' 2010 की है, जो 'तू फू' में संकलित है। 'दुःस्वप्न' दूधनाथ की 1966 की कहानी है—पहले कहानी-संग्रह 'सपाट चेहरेवाला आदमी' में संग्रहीत। पर चौवालीस वर्ष बाद भी 'नाम में क्या रखा है' कहानी में 30 जनवरी के दिन दरवाजे पर आयी ख़ून से लथपथ एक लाश देखकर ''आपको नहीं लगता कि यह एक दुःस्वप्न है? और दुःस्वपन एक आदमी है?'' दूधनाथ की कहानियों में 1967-68 के बाद कई स्थलों पर राजनीति की बातें हैं, जो कथ्य से पूरी तरह जुड़े नहीं होते। ये कमेंट्स की तरह होते हैं—कभी पात्रों के, कभी कथावाचकों के, जिससे अपने समय से कथाकार असंतोष प्रकट होता है। वहाँ कोई स्टैंड नहीं है। 'थीम' से उसकी आन्तरिक संगति भी नहीं है। एक कहानी में मुख्य थीम के अतिरिक्त कहानीकार एक साथ बहुत कुछ कहने से अपने को रोक नहीं पाता। कहानीकार का अपना निजी सोच-विचार वैसे स्थलों पर प्रकट होता है। 'कालीचरन कहाँ हैं?' (2012) में संसद, नौकरशाह, घूसखोर सबकी चर्चा है। यहाँ 'डेमोक्रेसी' को 'दीमकोक्रेसी' कहा गया है—''इस दीमकोक्रेसी में भीतर ही भीतर चलते-चलते मैं अब यहाँ हूँ—सभ्य, सुसंस्कृत।'' देश के हालात से असंतोष इन शब्दों में फूटता है—''गुंडे हो तुम लोग। छिपे हुए हरामी हो। इस कंट्री का सारा माल हजम करने की चिकनी-चुपड़ी फिक्र है तुम्हें।'' व्यवस्था से कहानीकार को असंतोष है, पर व्यवस्था पर केन्द्रित कहानियाँ न के बराबर हैं। कहानियों में जगह-जगह उस पर टिप्पणियाँ हैं जो दूधनाथ के व्यवस्था संबंधी विचार को सामने रख रहे हैं। नाम में क्या रखा है। कहानी गाँधी की हत्या के बाद स्वतंत्र भारत का एक चित्र जैसा प्रस्तुत करती है। कहानी में नेहरू हैं। विश्व हिन्दू परिषद है। संसदीय प्रणाली है। चुनाव-चर्चा आदि है। तथ्यात्मक भूल भी है। कहानी में नेहरू के खिलाफ चुनाव लड़ने वाले हलाकू की पार्टी विश्व हिन्दू परिषद है। नेहरू के निधन के बाद विश्व हिन्दू परिषद् की स्थापना 29 अगस्त 1964 को हुई थी। 2010 तक देश में बहुत सारी चीजें साफ हो चुकी थी। राजनीतिक दल, चुनाव, संसदीय लोकतंत्र का वास्तविक चेहरा सबके सामने आ चुका था। शाइस्ता खाँ को 'नाम में क्या रखा है' कहानी में हलाकू गोली मारता है और सबूत पेश

करता है कि उस दिन विश्व हिन्दू परिषद् की बैठक में, लखनऊ के होटल में था। हलाकू का आनन्द भवन जाकर नेहरू से मिलने का भी प्रसंग है। हलाकू 'गौ' को माता कहता है, जिसे नेहरू ने 'अहमकाना' कहा—हलाकू के 'कितने भेस धरने' की बात कहानी में है। हलाकू एक चरित्र मात्र नहीं है। दूधनाथ भारतीय प्रजातंत्र के पतन पर—जवाहर लाल नेहरू से हलाकू तक एक दृष्टि डालते हैं। यह कहानी अब तक अचर्चित रही है। 'नाम में क्या रखा है' का एक गहरा सांकेतिक अर्थ भी है कि जिसे हम संसदीय लोकतंत्र कहते हैं वह क्या केवल कहने भर के लिए है। 'नाम में क्या रखा है!' यहाँ पात्र नामहीन नहीं है, सब कुछ नामहीन हुआ जा रहा है। ''क्या चुनाव का कोई अर्थ है? कौन है जो सेवा से अलक्सन लड़ता है? कौन है? बस, पैसा चाहिए और धमक और खूंखार फॉलोअर्स। हलाकू की जमानत जब्त हुई थी, पर इसी फूलपुर से वह सातवें एटेम्प्ट में विजयी हुआ कि नहीं।" एक समय फूलपुर की पहचान नेहरू से जुड़ी थी। नेहरू ने वहीं से चुनाव लड़कर जीत हासिल की थी। पर बाद में यह पहचान नष्ट हुई। पहचान केवल फूलपुर की नहीं, चुनाव की, संसद की लोकतंत्र की नष्ट हुई। यह कहानी नवउदारवादी अर्थव्यवस्था के दूसरे दौर की है। अब सब कुछ हलाकुओं के हवाले है—''हर जगह हलाकुओं का ही शासन है। गजब है कि हलाकू एक जिन्न का नाम है भारतीय प्रजातंत्र में, जो हर बोतल फोड़कर निकल आता है और चिंघाड़ता है...फ्रेंडस कॉलोनी, गुलमुहर पार्क, सत्य मार्ग...चेन्नई साल्टलेक, बंजारा हिल्स...कहाँ नहीं रहता वह...उसका अपना जहाज है, जो कभी दुर्घटनाग्रस्त नहीं होता...बाद में यही हलाकू 'कंट्री का टॉप इण्टेलेक्चुअल' बन जाता है और 'संसदीय प्रणाली के अध्ययन के लिए अमेरिका जाता है, हार्वर्ड यूनिवर्सिटी में 'भारतीय प्रजातंत्र' के प्रबंधन' पर चार व्यख्यान देता है।

'तू फू' और 'जलमुर्गियों का शिकार' (2011, 2015) दूधनाथ के अंतिम दो कहानी-संग्रह हैं। 'तू फू' संग्रह से दूधनाथ की कहानियों का एक तीसरा दौर माना जा सकता है। 'तू फू' की कुल चौदह कहानियों में पाँच कहानियाँ ('सन्नाटा चाहिए, आखिरी छलाँग, वारिस और वह लौटता नहीं') 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' संग्रह की है। इसी प्रकार 'जलमुर्गियों का शिकार' संग्रह की बारह कहानियों में से चार कहानियाँ (मसखरा और पिछलग्गू, जलमुर्गियों का शिकार, तू फू और नाम में क्या रखा है) 'तू फू' संग्रह की हैं। इन दोनों संग्रहों की कुल नयी कहानियाँ सत्रह है। इनकी कहानियों का पहला दौर लगभग बारह वर्ष का है, जिसमें उन्होंने कुल 19 कहानियाँ लिखी 'सपाट चेहरे वाला आदमी' में 8 ('सुखान्त' छोड़कर) 'प्रेमकथा का अन्त न कोई' में 5 और 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' में संकलित 1971 की कहानी 'दुर्गन्ध'। कहानी-लेखन का दूसरा दौर 1971 के बाद का है। इसके बाद 1990 में तीन कहानियाँ प्रकाशित हुई ('माई का शोकगीत', 'गुप्तदान' और 'हुँड़ार')। कहानियों का यह दूसरा दौर लगभग 10-12 वर्ष का है—1990 से 2001 तक का दूसरे दौर का पहला कहानी-संग्रह 'माई का शोकगीत' (5 कहानियों का संग्रह) और दूसरा कहानी-संग्रह 'धर्मक्षेत्रे-कुरुक्षेत्रे' ('दुर्गन्ध' सहित नौ कहानियों का संग्रह)। दूसरे दौर की कहानियों की कुल संख्या 13 है। तीसरे दौर की कहानियों की संख्या 17 है। इस तीसरे दौर के दो कहानी-संग्रह पर ('तू फू' और 'जलमुर्गियों का शिकार') कम विचार हुआ है। पहले दौर की अधिक कहानियों और दूसरे-तीसरे दौर की कम कहानियों का मुख्य कारण आलोचना और अन्य साहित्य रूपों में दूधनाथ की सक्रियता है। सात संग्रहों की कुल कहानियों की अगर संख्या देखी जाय तो यह 49 हैं। पत्र-पत्रिकाओं में उनकी कुछ कहानियाँ होंगी जो बाद में एक संग्रह में आ सकती हैं। दूधनाथ ने कुछ कहानियों के शीर्षक भी बदले और पाठकों को इसकी सूचना नहीं दी 'नैतिक आवारगी' ठीक है, पर एक 'नैतिक जिम्मेदारी'

भी होती है। कुछ पुराने कथालोचक भी इसे नहीं पहचान पाते। वेबसाइट पर उपलब्ध जिस कहानी 'चूहेदानी' की चर्चा कुछ लोगों ने की है। वह 1963 में 'सीखचों के भीतर' शीर्षक ('प्रेम कथा का अन्त न कोई' संग्रह) से प्रकाशित हुई थी। 'धर्मक्षेत्रे-कुरुक्षेत्रे' में संकलित कहानी 'सन्नाटा चाहिए' 'तू फू' संग्रह में 'माननीय न्यायमूर्ति ली लोग और सन्नाटा' शीर्षक से संग्रहीत है। इसी प्रकार 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' की 'वारिस' कहानी का शीर्षक 'तू फू' संग्रह में बदलकर 'दो पीढ़ियाँ' कर दिया गया है। यह सब जानबूझ कर कहानीकार ने किया नया कहानी-संग्रह तैयार करते समय जिस पर दूधनाथ की कहानियों के पाठकों और आलोचकों का ध्यान जाना चाहिए।

दूधनाथ के प्रिय कथाकार उदय प्रकाश हैं। दोनों ने व्यक्ति-विशेष पर कहानियाँ लिखी हैं। क्या खुन्स और खुंदक की 'इलाहाबादी शैली' (मधुरेश, 'कथाक्रम' अप्रैल-जून 2018) दूधनाथ के यहाँ कम महत्त्वपूर्ण है? अक्सर उनकी तीन कहानियों 'हुँड़ार' (1990) 'नमो अंधकारम्' (1998) और 'निष्कासन' (2002) की चर्चा की जाती है। 'जलमुर्गियों का शिकार' संग्रह (2015) की कहानी 'क्या करूँ साहब जी!' (2012) में गयी सज्जन की पहचान कम की गयी है क्योंकि वे बिहार के हैं। लगभग पच्चीस वर्ष तक व्यक्ति-विशेष दूधनाथ के यहाँ क्यों महत्त्वपूर्ण बना रहता है। यह सच है कि व्यक्ति-विशेष के बहाने और माध्यम वे अपने समय से जुड़ते हैं। उसकी प्रवृत्तियों और विशेषताओं (!) को मात्र व्यक्तिगत और निजी मानकर नहीं छोड़ देते। उसे एक बड़े समय-संदर्भ में रखकर देखते हैं। 'नमो अंधकारम्' कहानी (अब उपन्यास) में कई प्रश्नों पर कम ध्यान दिया गया। क्योंकि यह कहानी जिस पर लिखी गयी थी, वे स्वयं एक बड़े और प्रतिष्ठित कथाकार थे। मार्कण्डेय को केन्द्र में रखकर लिखी गयी इस कहानी को मधुरेश ने 'वीभत्स एवं जुगुप्सा जनक अर्थ—संकेतों और विकृत रुचि के साथ' लिखी गयी कहानी कहा है (कथाक्रम; वही)। ''कथा-पुरुष' 'गुरु' मार्कण्डेय ही हैं। 'सेवाराम' के रूप में मार्कण्डेय के छोटे भाई नीलकान्त भी यहाँ मौजूद हैं...दूधनाथ स्वयं यहाँ देवनाथ हैं।" (वही) क्यों दूधनाथ का ध्यान व्यक्ति के सकारात्मक पक्षों की ओर न जाकर नकारात्मक पक्षों की ओर जाता है? वे क्यों व्यक्ति-विशेष के चित्रण-वर्णन निरुपण में वीभत्स और जुगुप्सा की ओर मुड़ते हैं? उनमें अतिरंजनाएँ क्यों है? ''गुरु के जैसे अतार्किक और अविश्वसनीय माया जाल की कल्पना की गई है, वह सब कथा की दुनिया को पूरी तरह से नकली और बनावटी बना देता है।'' (वही) क्या यह केवल विवादों में बने रहने के लिए है? राजेन्द्र यादव ने इस प्रवृत्ति को बढ़ावा देकर कहानी और कहानीकार को ही नहीं, सम्पादक को भी क्षति पहुँचाई है? दूधनाथ के अपने पक्ष में तर्क हैं। पिकासो का कथन है—''यथार्थ के अनेक रंग होते हैं और उन सबको समेटने का अंत एक अँधेरे में होता है।'' दूधनाथ मुक्तिबोध के आलोचक भी हैं। 'मुक्तिबोध : साहित्य में नई प्रवृत्तियाँ' उनकी पुस्तक भी है। मुक्तिबोध हमेशा अँधेरे में नहीं जाते। उनके यहाँ प्रकाश की किरणें फूटती हैं। अँधेरा मुक्तिबोध के समय से आज और अधिक घना है। पर जहाँ-जहाँ संघर्ष है वहाँ-वहाँ प्रकाश की किरणें भी हैं। दूधनाथ में अँधेरे से निकलने की एक रचनात्मक छटपटाहट और बेचैनी नहीं है 'नमो अंधकारम्' में गुरु के जरिये दूधनाथ ने वामपंथियों पर निशाना साधा है। वामपंथियों पर निशाना साधना चाहिए, पर आज भी सभी वामपंथी न तो अवसरवादी हैं, न जातिवादी, न सुविधावादी हैं, न व्यक्तिवादी। भारत में अभी चिनगारियाँ शेष हैं। एक रचनाकार का दायित्व उन चिनगारियों के साथ होना और उन्हें हवा देते रहना है, न कि उधर से आँखें मूँद लेना। दूधनाथ वामपंथियों के सिद्धान्त-विचार और आचरण-व्यवहार में साम्य नहीं देखते। यह मध्यवर्गीय शहरी वामपंथियों के लिए भी पूरे

तौर पर सही नहीं है। बड़ी बारीकी से देखें तो दूधनाथ में एक प्रतिशोध-भावना है, जिसने उनकी कई कहानियों को क्षतिग्रस्त किया है। जातिवाद, अवसरवाद, ब्राह्मणवाद, संबंधवाद और सामंतवाद से उनका विरोध विश्वसनीय नहीं बन पाता। कहानियों में यह सब प्रकट है, जो कहानीकार की टिप्पणी में भी है। 'निष्कासन' और 'नमो अंधकारम्' में वामपंथियों के जाति-प्रेम पर उनकी तीखी टिप्पणियाँ हैं, 'नमो अंधकारम्' में वे गुरु के व्यक्तित्व की परतें खोलते हैं, उन्हें नंगा कर उनकी विकृत छवि पेश करते हैं। उनकी चिंता में वामपंथ, जातिवाद कम है। 'गुरु थोड़े मेहरे हैं।' 'गुरु अर्द्धनारीश्वर हैं।' गुरु 'राग जौनपुरी' (अप्राकृतिक सेक्स) में माहिर हैं जैसे कथन में कथाकार की नीयत स्पष्ट है। सचमुच 'नमो अन्धकारम्' पिछले पचास साल के राजनीतिक जीवन पर एक टिप्पणी है, "कैसे पुराने आदर्शवादी लोग, विचारक, नेता, माफिया, डॉन में परिवर्तित होते चले जा रहे हैं, यह कहानी इसी राजनीतिक जीवन का एक दुःखद दर्पण है।'' (कहा-सुनी; वहीं, पृ. 75) क्या ऐसे वीभत्स प्रसंगों के निर्णय और चित्रण में कथाकार की अपनी अभिरुचि नहीं है। उन्होंने स्वयं माना है कि उनके 'जीवन और कृतित्व में झूठ का बहुत योगदान है।' (वही, पृष्ठ 127) चन्द्रभूषण तिवारी ने बहुत पहले उनकी 'गढ़ंत' पर ध्यान दिया था। दूधनाथ की कहानियों में 'झूठ' की पहचान कुछ कठिन है। ''बहुत सारा झूठ गढ़न्त और मौज के लिए होता है।'' (वही) उनकी कहानियों में दूसरों की तिहाड़ी लेने वाली जो प्रवृत्ति है, उसकी ठीक पहचान अनिल सिंह ने की थी। प्रश्न ''कतिपय कहानियों में दूसरों की 'लिहाड़ी लेने वाला आनन्द तत्त्व हैं' दूधनाथ सिंह का उत्तर है—''लिहाड़ी नहीं लेना चाहिए ...लेकिन यह लिहाड़ी रस कभी-कभी छोड़ता नहीं...वह रचना के सत्व को कमजोर करता है ...यह प्रतिशोध नहीं है। रचनात्मक श्रम और अवसाद को कम करने के लिए एक कॉमिक रिलीफ की तरह मैं इसका इस्तेमाल करता हूँ।'' (वही, पृष्ठ 28)

दूधनाथ प्रोफेसरों और विश्वविद्यालय पर गलत निशाना नहीं साधते। 'हुँड़ार' कहानी के राय साहब लोहिया के पट्ट शिष्य हैं और यूनिवर्सिटी में प्रोफेसर। कलीग शत्रु से यूनिवर्सिटी में बदला लेने का वे केवल एक तरीका समझते हैं, "अगर उसके लड़के का 'कैरियर' आपके हाथ में फँस जाये...गुप्ता के लड़के से बदला लेने के लिए मैं उसे फेल नहीं करूँगा। थर्ड क्लास दूँगा।'' एक ओर 'गाँधी-भवन में व्याख्यान देने' जाते हैं और दूसरी ओर उनका यह चरित्र घृणित है। वह सही अर्थों में 'हुँड़ार' हैं। दूधनाथ अपनी कई कहानियों में तंत्र और व्यवस्था के वास्तविक चरित्र को उद्घाटित करते हैं पर व्यवस्था विरोध का यह स्वर निरन्तर उनकी कहानियों में नहीं गूँजता और न वे किसी ऐसे चरित्र का सृजन ही करते हैं, जो पाठक की स्मृति में सदैव बस जाय। 'निष्कासन' (2002) कहानी में भी दूधनाथ की दृष्टि कन्या देह पर टिक ही जाती है। छात्रावास की अधीक्षिका बिस्तर पर लेटी हुई लड़की की फिगर देखती है—'व्हाट ए रेयर फिगर।' 'निष्कासन' की लड़की कल्पानिक नहीं है। कहानी के आरंभ में ही कहानीकार की 'क्षमा-याचना' है, "उस लड़की से क्षमा-यातना सहित—जिसकी यह कहानी है।" निष्कासन, शिक्षा, शिक्षण-संस्थान, व्यवस्था, तंत्र, प्रशासन, न्यायपालिका सबको कटघरे में रखनेवाली कहानी है। हॉस्टल की अधीक्षिका डॉ. माहिष्मती सिंह और उनके पति शार्दूल विक्रम सिंह कहीं से भी 'शिक्षित' व्यक्ति नहीं दीखते। अधीक्षिका के लिए कुछ भी 'कुकर्म' नहीं है। मरकटवा की माँ (धर्मक्षेत्रे-कुरुक्षेत्रे) पढ़ी-लिखी स्त्री नहीं थी। उसका अपना बहू से व्यवहार गलत था, पर 'निष्कासन' में छात्रावास की अधीक्षिका का अपनी शिष्या से व्यवहार कहीं अधिक गर्हित है। वह उसे कहती है—''खटकिन वाली...खौरही कुतिया हरामजादी...तुझे जवानी चढ़ी है,' मैं तुझे देखती हूँ।' यहाँ लड़की प्रतिरोध करती है—''मैम ने दुबारा वैसे ही

हाथ उठाया तो लड़की ने उनकी कलाई पकड़ ली। बस लड़की के मूँह से एक ऐंठा हुआ शब्द निकला।'' कहानीकार ने यूनिवर्सिटी में 'सदाचारी कमीनों' को देखा है और हॉस्टल हॉस्टल नहीं 'चकलाघर' है। यह नवउदारवादी अर्थव्यवस्था के दौर के बाद की कहानी है, जिसने सब कुछ बदल डाला है। संस्थाओं का अर्थ बदल चुका है। आत्महत्या करने वाले शार्दूल विक्रम सिंह आत्महत्या नहीं करते। आत्महत्या लड़की करती है। 'निष्कासन' में न्यायपालिका पर जो आस्था है उसे समाप्त होते देर नहीं लगती—''भारतीय लोकतंत्र में अगर कोई संस्थान है, जिसके प्रति लोगों की अन्तिम आस्था बची है, तो वह है न्यायपालिका—वहाँ तो मिलेगा ही मिलेगा न्याय... खुदा का दरवाजा बन्द हो सकता है माननीय न्यायमूर्तियों का नहीं।'' लड़की की याचिका खारिज की गयी। कहानीकार ने (उपन्यासकार, ने नहीं) सत्य और न्याय का पक्षधर होने के नाते...उस फैसले को जस का तस प्रस्तुत' किया न्याय के लिए कोई जगह नहीं बची। लड़की संघर्ष नहीं करती। यूनिवर्सिटी में है। पूरी यूनिवर्सिटी बाँझ नहीं हो गयी है (इलाहाबाद भी)। पर आत्महत्या के लिए लिखित रूप में उसने किसी को जिम्मेदार नहीं बताया। तीस नम्बर के कमरे में रहने वाली उस लड़की की पहचान ही है—'तीस नम्बर'। कागज का टुकड़ा निकला कहाँ से? जहाँ से कथाकार चाहे वहीं से तो निकलेगा—''पुलिस ने उसके स्तनों की संधि के बीच से कागज का एक टुकड़ा बरामद किया। स्तनों की संधि, जो स्त्री के शरीर में छोटी-मोटी चीजें छिपाने की सबसे सुरक्षित जगह है।'' पर यह जगह यूनिवर्सिटी की लड़कियों की नहीं है।

दूधनाथ के यहाँ आत्महत्या का अपना एक तर्क भी है। लड़की दलित है और सब समर्ण हैं। भारत में डि-कलास होने से ज्यादा कठिन है 'डि-कास्ट' होना। जिस तंत्र और व्यवस्था में यह 'निष्कासन' हुआ, उस तंत्र और व्यवस्था को निष्कासित और समाप्त करनेवाली शक्तियाँ दूधनाथ की कहानियों में नहीं हैं। एक कहानी में एक साथ कहानीकार की दृष्टि कई चीजों पर है। 'निष्कासन' में महामहिम जिस दल की कृपा से महामहिम बने हैं उस दल के अनुसार, ''कटुए, क्रिश्चियन और कम्युनिस्ट तीनों देशद्रोही हैं।'' इन तीनों को 'आंतरिक शत्रु' गोलवलकर ने 'बंच ऑफ थाट्स' में कहा है, किसी दल ने नहीं। गोलवलकर ने जब यह कहा था उसके वर्षों—दशकों बाद भारतीय जनसंघ और भारतीय जनता पार्टी का जन्म हुआ। दलित प्रश्न, वोट आदि कहानी में पूरी तरह ढल नहीं पाते। 'डि-क्लास' और 'डि-कास्ट' का प्रश्न भारतीय समाज का बड़ा प्रश्न है। कहानीकार ने मात्र टिप्पणी की है। इन टिप्पणियों का अपना महत्त्व है, पर वे कहानी के भीतर से कम और बाहर से अधिक है। संघ, जनसंघ के बाद वामपंथी दल और कम्युनिस्ट कई कहानियों में आते हैं। राजनीति और राजनीतिक दलों पर कहानीकार की टिप्पणियाँ उनके पक्ष में नहीं है। दूधनाथ ने सब का वर्णन किया है। 'दुःस्पप्न' (1966) में गाँधी का हृदय-परिवर्तन अर्थहीन है, ''दुनिया में अब हृदय-परिवर्तन जैसी अनैतिकताओं की कोई गुंजाइश नहीं है।'' और 'गुप्तदान' (1990) कहानी के पांडे जी जो विश्वविद्यालय के दिनों में, 'मार्क्सवादी' थे, कई दल बदलते हैं। 'निष्कासन' (2002) के शार्दूल विक्रम सिंह 'गर्भ से ही लाल लँगोट और लाल झंडे के साथ पैदा हुए थे।' पिता ने उनसे पूछा—''तुम बजरंग दल की संतान हो कि मेरे बुन्द से पैदा हुए हो जी? आर.एस. एस. वालों और विहिप और बजरंग दल और तुममें कोई भीतरी साँठ-गाँठ है क्या?'' कॉमरेड अश्विनी पासवान, शार्दूल विक्रम सिंह, मनोज—सब का वामपंथ संदेहास्पद है। दूधनाथ की कहानियों में उनकी रणनीतिक सोच और दृष्टि है। वहाँ समय-बीसवीं सदी के अवसान और इक्कीसवीं सदी के आरंभ की पहचान है, पर उनमें कथाकार की चिन्ता और बेचैनी की कमी है। 'निष्कासन' के आरंभ में प्रेमचन्द की पंक्तियाँ उद्धृत है—''जो कुछ असुन्दर है, अभद्र है और मनुष्यता से रहित है, वह उसके

लिए (साहित्यकारों के लिए) असहय हो जाता है। उस पर वह शब्दों और भावों की सारी शक्ति से वार करता है...जो दलित है, पीड़ित है, वंचित है—चाहे वह व्यक्ति हो या समूह—उसकी हिमायत और वकालत करना उसका फर्ज है।'' दूधनाथ ने न तो पूरी तरह दलितों, पीड़ितों और वंचितों की वकालत की है और न असुन्दर, अभद्र और मनुष्यता से रहित पर 'सारी शक्ति से वार' किया है। उनकी दृष्टि किसी एक पर केन्द्रित नहीं रहती, कहानी के मुख्य 'कथ्य' के साथ वे और कई प्रसंग की 'सृष्टि' करते हैं, जिनकी कमोबेश एक 'आन्तरिक संगति' भी है, पर वे साठ के दशक की अपनी प्रवृत्ति और एक खास भाषा, मुहावरे से अपने को मुक्त नहीं कर पाते। 'थीम' के आरंभ, विकास और अन्त में एक अविच्छिन्न संबंध कायम नहीं हो पाता। पूर्व घटना और स्थिति का स्वाभाविक संबंध स्थापित नहीं हो पाता।

दूधनाथ की कहानियों में भारतीय लोकतंत्र के चार पायों (या स्तंभों) में से प्रेस गायब न सही, पर बहुत कम उपस्थित है। 'प्रतिशोध' (1965) कहानी में सत्येन्द्र मल्होत्रा पाँच बार दफ़्तर जाता है, पर उसका काम नहीं होता। 215 रुपये 36 पैसे के बिल का पूरा भुगतान दफ़्तर के कई बार चक्कर लगाने के बाद मात्र 65 रुपये 36 पैसे के चेक से होता है। कर्मचारी, मैनेजर, सेक्रेटरी सब एक रंग में रंगे हैं। व्यवस्था की सही पहचान दूधनाथ ने 'आइसबर्ग' (1963) में ही कर ली थी। नेहरू के शासन या कार्य-काल के अंतिम दिनों में जब जगत अपने भाई विनय को वास्तविक यथार्थ से परिचित कराता है। इस व्यवस्था के खिलाफ लड़ने वाली शक्तियों की पहचान कथाकार को नहीं है। दूधनाथ की कहानियों में संघर्षरत पात्र कम हैं। वे थक जाते हैं, उनकी हत्या होती है या वे आत्महत्या कर लेते हैं। 'क्या करूँ साहब जी!' कहानी (2012) में ओम प्रकाश अपने बेटे शाम लाल की नौकरी के लिए आत्महत्या कर लेता है। शाम लाल को अनुकम्पा के आधार पर नौकरी मिल जाती है। भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला में दूधनाथ फेलो थे और उसी समय उस संस्थान में प्रोफेसर ब्रह्मचारी भी फेलो थे, जिनका कहानी में उल्लेख है। प्रोफेसर ब्रह्मचारी (सुरेन्द्र कुमार) बिहार के विश्वविद्यालयों में संस्कृत के प्रोफेसर, विभागाध्यक्ष और कुलपति थे। कहानी के प्रोफेसर ब्रह्मचारी वास्तविक पात्र हैं। ओम प्रकाश सबसे अपने बेटे को दिहाड़ी पर ही लगाने की सिफारिश करता है—कथावाचक से अमिताभ बच्चन तक। भंसाली अपनी फ़िल्म की शूटिंग के लिए शिमला के राष्ट्रपति निवास में आता है, जो ओमप्रकाश के अनुसार एडवांस स्टडी वाले राष्ट्रपति निवास की 'इंसल्ट' है। दूसरी ओर अमिताभ बच्चन से बेटे की नौकरी के लिए सिफारिश करने या भीख माँगने को प्रोफ़ेसर संस्थान की बेइज्जती कहते हैं। शाम लाल किसी भी स्थायी 'गाइड' की तुलना में कहीं अधिक दक्ष है। कथानायक ने उसे 'मौखिक इतिहासकार' कहा है। कमजोर पक्ष यह है कि उसे अंग्रेजी नहीं आती। योग्य होने का प्रमाण अंग्रेजी में दक्ष होना है। दूधनाथ ने अपने समय को 'ट्रेजिक समय की तरह' देखा है। वे दूसरे दौर की कहानियों में पहले दौर की कहानियों से प्रस्थान करते हैं, ''अपनी अगली कहानियों में मैंने कहानी को एक प्रतिरोध के औज़ार के रूप में विकसित करने की कोशिश की...राजनीतिक और सामाजिक विघटनों पर मेरी नज़र जमी रही, इसीलिए मैं अपनी कहानियों के प्रारूप, विषयवस्तु और उसकी भाषा में अपेक्षित परिवर्तन कर सका। वह समय की माँग थी और है।'' (कहा-सुनी, पृष्ठ 89)। 'निष्कासन' की दलित लड़की आत्महत्या करती है। उसकी आत्महत्या और 'क्या कहूँ साहब जी!' के ओमप्रकाश की आत्महत्या में समानता है। यह व्यवस्था और समय उनके अनुकूल नहीं है। 'निष्कासन' कहानी के 'आत्मबध' को दूधनाथ ने 'नैतिक प्रतिशोध' कहा है। जिस समय नैतिकता गायब हो रही है, उस समय 'नैतिक प्रतिशोध' कितना ज़रूरी और सार्थक है?

''यह कथा के अन्तरंग से निकलने वाली एक ऐसी निष्पत्ति है, जिसका कोई और विकल्प नहीं। सारे आत्मघात कायर निर्णय नहीं होते। अधिकांशतः वे इस समाज से एक जलता हुआ प्रतिशोध है। सारी लड़ाई लड़ चुकने और पस्त हो जाने के बाद आत्मवध एक पॉजिटिव तर्क है, जिसे लोग नहीं समझते। मेधा पाटकर ने एक बार जल-समाधि लेने का निर्णय लिया था, क्यों?...आत्मघात एक पैसिव रेजिस्टेंस जैसा प्रतिशोध है, जो एक तरह का गाँधियन तर्क है, जो कहानी से निकलकर आता है।'' (वही), क्या शानदार तर्क है! इस आत्मवध से व्यवस्था को कोई नुकसान नहीं पहुँचता। यह व्यवस्था के समक्ष एक प्रकार का 'सरेंडर' है। लड़कर मरने और मारे जाने एवं आत्महत्या करने में फ़र्क है। मेधा पाटकर के संघर्ष को 'जल-समाधि लेने के निर्णय' से कम नहीं किया जा सकता। अपने समय से बेहद चिंतित दूधनाथ की कहानियों में संघर्षरत पात्र न के बराबर हैं। साठ के दशक की कहानियों में आन्तरिक संघर्ष था। वे सभी पात्र मध्यवर्गीय थे। बाद की कहानियों में भी बाह्य संघर्ष कम है। 'अपने समय के ट्रैजिक समय' का निदान आत्मवध नहीं है।

'रेत' कहानी (1992) का सिलहुँत डोम चौधरी सुरेन्द्र बहादुर सिंह को अपने बुद्धि-बल से परास्त करता है। गाँव में केवल दो घर चौधरी की सेवा में बचे हैं। डोम की शादी में लड़की या लड़के के बाप का 'कपार' फोंड़ना जरूरी है—"कौनो! समधी के कपारे से रकत बहे के चाही मालिक!'' सिलहुँत की लड़की के ब्याह में रुपया-पैसा से अधिक ज़रूरी 'कपार' फोड़ना है। वह जमींदार को समझाता है—''नवहा लोग सिवान पर नदी के अरारे-अरारे दूर-दूर खड़ा हो जायँ,'' जिससे वर-पक्ष को यह लगे कि ये सब सिलहुँत के लोग हैं। कहानी में सिलहुँत के पीछे—"गाँव के ठाकुरों के सैकड़ों नवहे लाठियाँ कांधे पर रखे नदी के अरार पर खड़े थे।" सिलहुँत का समधी चौंकता है—''इतने सारे 'ड़ोमड़े'?'' सिलहुँत ने कहा—''सब हमारे रेत से पैदा भये हैं।'' दलित बाहु-बल से सवर्णों और सामंतों-जमींदारों से नहीं जीत सकते। पूरी व्यवस्था उनके साथ है। 'रेत' कहानी बुद्धि-बल से सवर्णों और जमींदार पर दलित-जीत की कहानी है। 'निष्कासन' की लज्जित लड़की आत्महत्या करती है। 'रेत' में लाठियाँ केवल समधी के कपार पर ही नहीं पड़ती। 'निष्कासन' को दूधनाथ ने दलित और स्त्री-विमर्श की कहानी कहा है। 'रेत' कहानी का एक सुन्दर-सही पक्ष यह है कि बुद्धि किताबों से ही नहीं आती।

दूधनाथ की कई कहानियों के पात्र दलित हैं। दलित और स्त्री-विमर्श के दौर में उनकी कहानियों का दलित और स्त्री-पाठ भी होना चाहिए, पर केवल इसमें सीमित होना कहानियों के समय-पाठ और कथाकार के मानस-पाठ से मुक्त होना होगा। 'काशी नरेश से पूछो' (1992) कहानी में 'शास्त्र', 'लोक' के समक्ष गौण है। मध्यवर्ग के सीमित-संक्रमित दायरे से बाहर निकलकर कहानीकार का लोक-जीवन में प्रवेश और उसे अपनी कहानी का विषय बनाना एक उल्लेखनीय कदम है। इस कहानी में 'शास्त्र', 'लोक' से परास्त होता है। कहानी में लंगड़ और पंडित में शास्त्रार्थ का वर्णन है। दोनों के बीच के संवाद में लंगड़ की भाषा कहीं अधिक प्राणवान है। दूधनाथ की कथा-भाषा विशिष्ट है। यह पात्रानुकूल है, अवसरोचित है, जिसमें कहानीकार का अपना 'अन्दाज़े-बयाँ' भी है। यह कहानी ब्राह्मणवाद, पुस्तकीय ज्ञान और वर्णाश्रम व्यवस्था पर प्रहार भी है। 'मुक्ति' को 'मुकिति', 'विष्णु' को 'विस्नु', 'स्वर्ग', को 'सुरुग' और 'वंश-वृक्ष' को 'बंस-बिरिछ' कहकर इसके महत्त्व पर व्यंग्य भी है। लंगड़ के लिए काशी का महत्त्व नहीं है, ''अब गंगा जी नहाने लायक नहीं रहीं...बजबजाती रहती हैं...पतित पावनी घाट पर गोबर, चिरकुट-चिथड़े हवा में उधियाते रहते हैं...घाट क्या है, कुम्भीपाक नरक है। कासी जी की दुर्दशा है।'' यह यथार्थ है। लंगड़ 'गुरुआइन का चेला' है और 'गुरुआइन' मुसहरिन थीं। पंडित 'वेदान्त'

का ज्ञाता है, पर 'सबद' का नहीं, लंगड़ के लिए 'वेदान्त' नहीं, 'सबद' महत्त्वपूर्ण है—''सबद नदी-नारा है। सबद समुन्दर है। सबद आकास-अन्तरिच्छ है। सबद पुरुख-पुरातन है। सबद बाघ का बच्चा है। आन-बान है। मरन है। सबद माता का नैन है। जल है। धरती है। पत्ता है। बिरिछ है। चिरई चुरुंग है। सबद-सबद बीज है। हवा है। गुरुआइन का डंडा है। धन है। जीवन है। सबद ब्रह्मण है। सुरग है। नरक है। सबदे ओंकार है।'' दूधनाथ के पहले ऐसा सबद्ध-माहात्म्य शायद ही कहीं मिले। यह अतिरंजना भी भ्रम पैदा कर सकता है। पर है नहीं। लंगड़ अपने ज्ञान से पंडित को दीन-हीन बना डालता है। दोनों के ज्ञान में अंतर है। पंडित का ज्ञान लंगड़ के ज्ञान के आगे ध्वस्त हो जाता है। लंगड़ ने पंडित से 'अँठई' शब्द का वंश-वृक्ष जानना चाहा। पंडित निरुत्तर रहा। अर्थ लंगड़ ही बताता है—अष्टपदी-अट्ठअई-अँठई, ''अर्थात् अष्टपदी—अँठई की परनानी थी। इस 'अँठई' की विशेषता है यह 'कुकुर के कानें' में है। इस कहानी में पंडित का ज्ञान 'मुरदा ज्ञान' है और लंगड़ का ज्ञान 'सच्चा ज्ञान'। चिमटा उखाड़कर गंगा जी में फेंकने से ज्ञानी पंडित को मुक्ति मिलती है—''अब तेरी मुकुति भई। अब तेरे मुरदा ज्ञान ने जल-समाधि ले ली।'' लंगड़ पंडित को 'अँठई' का महत्त्व समझाता है—''अँठई चार पैरों से चारों वरन को चमोख लेती है। दो पैरों से आकास और धरती को और दो पैरों से विस्नु भगवान और लच्छिमी जी को चिपक जाती है तो चिपकी रहती है, जब तक कि चारों बरन धरती-आकास, विष्णु भगवान और लच्छिमी जी सभी को पूरमपूर चूस नहीं लेती।''

'काशी नरेश से पूछो' में कई कहानियाँ हैं और इन सब में एक संबंध है। यहाँ कहानी कही गयी है। कहानी का वाचन प्रमुख है। लंगड़ अपने साथियों से काशी और पंडित की कहानी सुनाता है पंडित से गुरुआइन द्वारा कही गयी कहानी सुनाता है। लंगड़ अपने पूर्व जन्म में ब्राह्मण था और गुरुआइन उसकी 'घरवाली' थी। इस कहानी में खिल्ला बाबा और प्रेत की कहानी भी है। खिल्ला बाबा प्रेत को बताते हैं—''जप-तप से कुछ नहीं होता।'' कहानी के भीतर कई कहानियाँ हैं—सर्पराज और ब्राह्मण की कहानी है। एक कहानी काशी नरेश भी सुनाते हैं। यह कथा तीन गृहस्थ मुनियों की है—''हर वस्तु सत्य और घटना को तर्क की कसौटी पर कसना उनके जीवन का नियम था...उनके जीवन में कहीं कोई दुराव, कोई अंत नहीं था।'' दूधनाथ की कहानियों का एक दर्शन-पक्ष भी है। अब वे दार्शनिक प्रश्नों से तर्क-सत्य से जूझते हैं—''सभी तात्कालिक होते हैं...तर्क भी निस्सार है—धोंस है। सत्य भी निस्सार है—मनबहलाव है। पूरी प्रकृति में असत्य और अंधकार रमा हुआ है और वह सत्य भी है, तात्कालिक भी है। अनन्त-अपरम्पार भी है...सत्य और तर्क के इसी अंधत्व में वह बर्बर-फूटती है, जिसमें दुनिया लुटती-पिटती आगे बढ़ती है। गति भी लहू-लूहान है और अगति भी। इस अशिष्ट संसार में कुछ भी सुरक्षित नहीं है।'' यह एक भिन्न कथाकार है। दूधनाथ की कहानियों का एक रंग नहीं है। जिन कहानियों में चिन्तन, विचार और दर्शन-पक्ष प्रमुख हैं, वे 'अँठई' 'तक्षराज' और 'काशी नरेश' हैं। ''चारों वर्ण, पृथ्वी-आकाश, विष्णु-भगवान, लक्ष्मी जी सभी को चमोखे हुए हम हैं...अभी हैं और मिल बाँटकर भोग लगा रहे हैं।''

तीसरे दौर की कहानियाँ दूसरे दौर की कहानियों से एकदम भिन्न नहीं है। 'काशी नरेश से पूछो' दूसरे दौर की कहानी है और 'नव्य न्याय' (2004), 'तू फू' (2008) और 'सरहपाद का निर्गमन' (2013) तीसरे दौर की कहानियाँ हैं। 'नव्य न्याय' में शास्त्री जी कहते हैं ''बनारस कभी नहीं मरता वह भगवान की विशाल सड़ा हुआ बदबू मारता दाढ़ है, जिसमें लाखों जीवित शव मुक्ति के लिए लटके हैं...मैं भी।'' बनारस को लंगड़ और शास्त्री जी लगभग समान दृष्टि से देखते हैं। शास्त्री जी ने 'धर्म और विद्वत्ता की बदबू' की बात कही है। वे 'विश्व प्रसिद्ध

दाक्षिणात्य नव्य नैयायिक हैं।' कथावाचक के अनुसार 'नम्बर दो की बजबजाती वित्त संस्कृति की ऐंठ से दूर...' लंगड़ की तरह वे भी 'गंगा में और दुर्गति' देखते हैं। शास्त्री जी कथाकार का कथन कथावाचक को सुनाते हैं—''कवि अपने भीतर की अग्नि से बाहर की अग्नि में समिधा डालता है। कवि की अग्नि केवल केवल कवि की अग्नि नहीं है।'' यहाँ कवि के माने वही है, जो एक लेखक, एक कथाकार के माने। तो यह आप्त वचन है। यह एक सुहृद वचन है, एक तथ्य की अभिव्यक्ति। भीतर की अग्नि क्या? यानी आत्मा का ताप...या कि जठराग्नि या कि सभी कुछ।

'नव्य न्याय' कहानी लिखने की प्रेरणा दूधनाथ को कहाँ से मिली? विलक्षण दार्शनिक, चिन्तक, विचारक नवज्योति सिंह (28.2.1958—3.3.2018) ने दूधनाथ सिंह को बनारस के मीमांसक पण्डित पट्टाभिराम शास्त्री की कहानी सुनाई थी। ''दूधनाथ ने इस पर आधारित 'नव्य न्याय' के नाम से एक कहानी लिख डाली जो 'हंस' में प्रकाशित हुई। कहानी लगभग वही है, सिर्फ मीमांसक की जगह नव्य न्याय के पंडित ने ले ली है।'' ('नव ज्योति सिंह : भारतीय चिंतन परम्परा का नया पाठ, अविनाश झा, 'प्रतिमान' जनवरी-जून 2018, वर्ष 6 और 11, पृष्ठ 340)। महान नैयायिक पण्डित सीतारमैय्या शास्त्री की प्रसिद्धि अमेरिका-यूरोप तक है। वे भीतर की अग्नि से बाहर की अग्नि में हवन डालने वाले 'हुतात्मा' की बात करते हैं—''जो हुतात्मा होगा वह बड़ा दुःख पाएगा। प्रज्वलित करते रहना और उसमें जलते रहना ही उसका धर्म है...तुम पागल हो जाओगे, अगर उनकी सुनोगे, सुनोगे तब भी और न सुनोगे तब भी।'' शास्त्री जी के बच्चों को 'न्याय' में कोई आस्था नहीं है। आज के जमाने में किसी को नहीं है। शास्त्री जी ने शिष्यों को 'न्याय' पढ़ाया और अपने बच्चों को अंग्रेजी स्कूल में शिक्षा दी। इन दोनों शिक्षाओं में फर्क है। लड़का 'जरूरत का घिनौना पुतला' है—''बड़ा बेटा स्कूल चलाता है। प्रिंसिपल बना है। नफ़ा कमाता है सरकारी अनुदान है क्योंकि महान सीतारमैय्या का स्कूल है। नफ़ा तो नफ़ा, शिक्षकों को हताहत करता है, मान-मर्दन करता है। सिर्फ पेट के लिए वे चुप रहते हैं या घिघियाकर बोलते हैं।'' बेटे का साफ कहना है—''इन विद्यार्थियों को आपका ज्ञान नहीं, डिग्री चाहिए।'' वर्तमान बदबूदार शिक्षा के कई चित्र और उदाहरण दूधनाथ की कई कहानियों में है। यह भारत की 'न्याय' से 'नव्य न्याय' तक की यात्रा है।

कई ऐसे वर्ष हैं जिनमें दूधनाथ की एक साथ कई कहानियाँ प्रकाशित हुईं। इन्हें उन कहानियों का लेखन—वर्ष भी माना जा सकता है। 1960 में 2, 1962 में 2, 1963 में 2, 1965 में 2, 1966 में 4, 1992 में 4, 2010 और 2012 में 5। अन्तिम कहानी-संग्रह 'जलमुर्गियों का शिकार' में उनकी दो कहानियाँ 2013 की हैं—'अम्माएँ' और 'सरहपाद का निर्गमन'। 'अम्माएँ' कहानी बुन्देलखण्ड के सूखे पर लिखी गयी है। कथावाचक को इलाके की जनसंख्या रजिस्टर में भरनी है। बाहर सारे बच्चे नंगे हैं और दूसरी ओर 'गुड़गाँव के मॉल्स' का भी वर्णन है। वस्त्र-बाज़ार है। सभी औरतों का घर से निकलना संभव नहीं है। वह कारण नहीं बता सकती। अंत में बताती है—''हुजूर, नंगी तो नहीं आ सकती...मैं जाऊँगी, यह साड़ी खोलूँगी। तब न? साड़ी बाँधने में थोड़ी देर तो लगेगी कि नहीं?'' बाहर का 'पाकड़ का विशाल वृक्ष' भारतीय लोकतंत्र का भी जैसे वृक्ष हो! 'सरहपाद का निर्गमन' में सरहपाद ने एक झटके में मठ छोड़ दिया। विचारक, दार्शनिक, सिद्ध, ब्राह्मण सरहपाद एक चौदह वर्षीय दलित बालिका, जो मठ में झाड़ू लगाती है, उस पर उनकी दृष्टि पड़ती है। ''उन्हें अपनी पीठ में चुभे दो नैन दिखे।'' उन्हें यह भी लगा कि ''सारी दुनिया में झाड़ू लगाने का कार्यक्रम चल रहा है।'' मठ साधना, कीर्ति, संगठन, इतिहास, कालखण्ड सबको तिरासी सिद्धों को संभालने को कहकर वे लड़की

का हाथ थामे मठ के मुख्य द्वार से बाहर चले गये। क्या यह मात्र कन्या देह के प्रति आकर्षण था? स्त्री-देह, स्त्री संसार और स्त्री के होठों की ओर प्रत्यागमन 'जीवन का आकर्षण' है। सरहपाद ने लड़की से मठ से बाहर चलने का निवेदन किया और लड़की ने स्वीकार किया। यहाँ कोई वय-बंधन नहीं है। मुख्य बात यह है कि महागुरु सरहपाद ने लड़की से झाड़ू उठाने को कहा। ''उसे उठा लो, उसी की ज़रूरत है।'' वे सारे ज्ञान को, साधना को झाड़ू से बुहार देते हैं। उनके लिए इसका कोई अर्थ नहीं रहा। डोडिम्कापा के पूछने पर 'यह क्या हो रहा है!' उन्होंने कहा, ''मुझे मेरा सत्व मिल गया।'' क्या है वह सत्व? जीवन ही प्रमुख है। एकान्त साधना का कोई अर्थ नहीं। ज्ञान निरर्थक है। जैसे कहानीकार ने दूसरी कहानियों में बता दिया है, सरहपाद का निर्गमन केवल मठ से नहीं, ज्ञान, पद, स्थान, यश, ख्याति, सम्मान सबसे है। एक झाड़ू बाहर है, जो दीखता है। दूसरा झाड़ू है, जो दिखाई नहीं देता। सरहपाद ने सारे ज्ञान को इस झाड़ू से बुहार डाला। यह सब व्यर्थ है। सब कुछ प्रेम है—निर्मल, स्वच्छ, प्रेम, जो दलित को अलग-थलग रखकर नहीं हो सकता। कहानी अपने आकार में छोटी है, पर इसके अर्थ-संकेत अधिक गहरे और व्यापक हैं। यह कहानी अभी तक अचर्चित रही है।

चीन के महान कथाकार लू-शुन की ओर दूधनाथ का ध्यान नहीं जाता। वे 'तू फू' को याद करते हैं। उन्हें कहानी का विषय बनाते हैं। वे 'तू फू' से हिन्दी पाठकों को परिचित कराते हैं। हेनान के गोंगोई में जन्मे तू फ्रू (712-770) चीन के तंग राजवंश के प्रमुख कवि हैं। उन्हें ली पो के साथ चीनी कवियों में सबसे बड़ा कवि माना जाता है। चीनी और जापानी संस्कृति में उनकी रचनाएँ प्रभावशाली रूप में है। तू फू की लगभग डेढ़ हज़ार कविताएँ सुरक्षित हैं। चीनी आलोचकों ने उन्हें 'कवि-इतिहासकार' और 'कवि-मनीषी' कहा। उन्हें पश्चिमी पाठकों से 'चीनी वर्जिल, होरेस, शेक्सपीयर, मिल्टन, बर्न्स, वर्ड्सवर्थ, ह्यूगो और बादलेयर के रूप में परिचित कराया गया है। तू फू की सबसे बड़ी इच्छा एक सिविल सर्वेंट के रूप में देश की सेवा करने की थी। तू फू जैसे चरित्र के द्वारा कहानीकार ने अपने समय के बुद्धिजीवी की अवसरवादिता और स्वार्थपरता का चित्र खींचा है। कहानी में 'अँधेरा' दरवाजे से भीतर के साथ ही 'बच्चों के भीतर एक डरा हुआ अँधेरा' भी है। बादशाह बन गये युवक ने अपने बचपन से ही तू फू के गीत सुने हैं और गाये भी हैं। तू फू राजाश्रित कवि है जो आत्मग्लानि के कारण राजाश्रय छोड़कर अपनी माँ के पास लौट जाता है। चालीस साल बाद राजधानी से लौटने पर गाँव के लोग उससे डरते हैं—''नये राजा का खूफिया है।'' तू फू अपनी माँ को सारी कहानी सुनाता है—युद्ध, छल, विजय और बादशाह की विधवा माँ की दुनिया कुछ और है। तू फू का लौटकर आना अपने स्थान पर आना है। मातृभूमि पर आना है। वह माँ को बताता है—''सारे दरबारी और युद्ध-सरदार सोचते हैं कि कब नये बादशाह को पेशाब लगे। सारे लोग हमेशा अपने मुँह आधा खुला रखते हैं। वे भर लेंगे और बाहर जाकर उगलदान में उगल देंगे, फिर कुल्ला भी नहीं करेंगे। मुँह पोंछते, मुस्कराते अपने आसन पर आ जाएँगे. ..तुम उनके मुँह में मूतो; उनकी बीवियाँ-बेटियाँ उठा लाओ, सरेआम स्वर्ण-सिंहासन पर उन्हें नंगा करो, कुछ भी करो, वे तालियाँ बजाएँगे। कुछ भी करो...कुछ भी बस उनकी खिल्वत और खिताब उन्हें अता करते रहो। इज्जत और शर्म और नाम क्या होता है?'' तू फू को पश्चाताप है कि उसने सच पर अमल नहीं किया। यहाँ एक वास्तविक सच है और दूसरा 'रचा हुआ सत्य' है। तू फू अपने जिस घर में लौटता है, वह खंडहर हो चुका है। यह वास्तविक सच का घर है। एक ओर राजसत्ता है और दूसरी ओर अपना घर और माँ है। तू फू की माँ अपने बेटे से अपने पोतों के बारे में पूछती है। पोता 'कमसिन लड़कियों की आढ़त' लगता

है।'' वे गाँव से गरीब लोगों की बेटियाँ उठा लाते हैं। पहले उनकी अस्मत लूटते हैं, जब मन भर जाता है, तो बाज़ार में चढ़ा देते हैं।'' तू फू सारी सुख-सुविधा छोड़कर लौटता है। अपनी माँ के पास मरने आया है। वह फिर 'बादशाह सलामत' द्वारा याद किया जाता है। वह सत्ता से दूर रखना चाहता है। सत्ता उसे अपने साथ रखना चाहती है। राजसत्ता के अनुभव भिन्न हैं। वह कवि-कलाकार और बुद्धिजीवी के लिए अर्थहीन है। वहाँ जीवन नहीं है और न है सहज, आत्मीय रचनाकार परिवेश। तू फू का अपनी माँ के पास लौटना अपनी धरती, जीवन और वास्तविक संसार में लौटना है।

नवउदारवादी अर्थव्यवस्था के बाद भारत पूरी तरह बदल गया। इस बदलाव के संकेत दूधनाथ की कई कहानियों में है। 'इज्जत' कहानी (2012) में ''जब बुढ़िया का सिर थिर हो रहा था'', बेटा मोबाइल पर गाना सुन रहा था। दूधनाथ हिंसा और शिकार के पक्ष में नहीं हैं—''सारी दुनिया अगर प्यार करे तो युद्ध और हत्याकाण्ड ही न हो।'' ('दस्तक', 2006), 'जलमुर्गियों का शिकार' (2010) में बड़े भाई द्वारा जलमुर्गियों का शिकार करना राजा को नापसन्द है। वह बंदूक को यमुना में फेंक देता है। 'जॉर्ज मेकवान' कहानी 1992 की है। पत्रकार जॉर्ज और सेठ के बीच दलाल की भूमिका में है। वे ''लत्ते में बिखरी, फुटही जिन्दगी का चित्र रचते हैं। इसीलिए उनके रंग भी फुटहे, धुँआए और अन्तर्विरोधी हैं। उनमें एक असंगत विस्फोट है, जिसे देखकर कला-जगत के सवर्ण चोर मुँह बनाते हैं।'' जॉर्ज के जीवन, रहन-सहन और शहरी ख्यात कलाकारों—चित्रकारी के जीवन और रहन-सहन में भिन्नता है। चित्रकला में दलित आन्दोलन के जनक की कोई किताब अकादमी से प्रकाशित नहीं हुई। कहानीकार ने कला-जगत में व्याप्त वर्णावाद की ओर ध्यान खींचा है। कला-विभाग से जॉर्ज मेकवान निकाले गये थे। 'कलाकारों की कृत्रिम दुनिया' में नहीं हैं। जॉर्ज सच को सच की तरह देखते हैं—''फलसफे की तरह क्यों देखता है मैन!'' कहानी में अमेरिका के फोर्ड फाउंडेशन से पैसे आने की बात कही गयी है।

'पहलवान' कहानी (2003) में पहलवान जनरवा से हारता है। वह उससे नहीं लड़ता। 'मसखरा और पिछलग्गू' (2009) कहानी में मसखरा अपना कोई 'मातृदेश' नहीं मानता। वहाँ 'विशाल छत के अँधेरे में भारतवर्ष' है। यहाँ 'भनभनाता हुआ धर्म' है। उसका अपना अलग एक बुद्धिजीवी समाज है। दुकान पर जुटे कुलियों, बूचड़ों, कुंजड़ों, उठाईगीरी, जांबाजों, जेबकतरों, भिखमंगों और नीम पागलों का समाज। कहानी में एक साथ 'सत्ता का दरवाजा' और 'सट्टा का दरवाज़ा' है। मसखरा पिछलग्गू को 'हें...हें...हें...प्रधानमंत्री कहता है। व्यंग्य में उसने अपने को 'आज़ाद देश का नागरिक' कहा। उसके अनुसार—''आपके कहन की खूबसूरती इसमें है कि आप जो कहते हैं, वह नहीं कहते और मेरा तो कौल है कि मैं जो हूँ उससे बाहर बहुत कुछ कहता हूँ।'' कहानियों में एक प्रकट 'कथ्य' है और दूसरा अन्तर्निहित भी है, जिसका अपना महत्त्व है।

महादेवी पर पुस्तक लिखने के साथ ही दूधनाथ ने उन पर एक कहानी भी लिखी। 'फूलोंवाली लड़की'(2012) की देवी जी महादेवी हैं। फूलों वाली लड़की के फूल बासी हैं। वह देवी जी को बताती है कि वह चोर है और फूल वाली है। एक ओर लड़की है, दूसरी ओर देवी जी हैं—''तो चित्रित करिए न देवी जी, आप जो इधर समुद्र तट पर कुटी छवाकर बैठी हैं और उसमें लिखने का एक कमरा है...आप साक्षात् वीणापाणि!'' कहानी में 'भक्तिन' है और 'स्मृति की रेखाएँ' भी है। देवीजी भक्तिन को 'स्मृति की रेखाएँ' ढूँढ़ने को कहती हैं जोर से बोलती हैं—''भगाओ इन दोनों को—ये जबर्दस्ती मेरी कुटिया में घुस आए हैं।'' कहानी

में महादेवी को लाये बिना भी वह बात कही जा सकती थी, जो कहानीकार चाहता है। देवीजी और फूलोवाली लड़की गायब होने के बाद भी मौजूद हैं। दूधनाथ अतीत और इतिहास को याद करते रहते हैं। 1857 के 147 वर्ष बाद वे अपनी माँ की कहानी कहते हैं, जो उनके सपने में आकर खड़ी हो जाती हैं। '1857 की गाली' (2003) में स्वप्न है, जहाँ दृश्य उलट-पुलट रहे हैं। एक ओर ब्रिगेडियर हैवलॉक की फौज है और दूसरी ओर अकेली औरत, जिसे हैवलॉक 'ब्यूटीफुल' कहता है। हैवलॉक ने सिपाही के औरत को हटाने को कहा। सिपाही औरत को 'हट जा अम्मा' कहता है। बाद में सिपाही सख्त हुआ। जिसे उसने 'माँ' कहा था, उसे गालियाँ दीं, औरत के दोनों हाथों से छूटकर तलवार नीचे गिर जाती है। सिपाही को हैवलॉक ने 'प्लाटून कमाण्डर' बनाने की बात की। एक ओर वतन है, दूसरी ओर कॅरियर। कथावाचक कहानी से गाली हटाना चाहता है। दूधनाथ की कहानियों में संकेत और प्रतीक कम नहीं हैं। वे आरंभिक कहानियों में थे और बाद की कहानियों में भी है। उनका प्रतीक-मोह उनसे नहीं छूटता।

अपने एक लेख 'कहानी का झूठा सच' में दूधनाथ ने अजिया द्वारा बचपन में सुनाई गई कहानी का उल्लेख किया है—''एक रहें झुट्ठा, एक रहें सच्चा। दूनो अद्धांग।'' 'अद्धांग' अर्थात् एकै आत्मा में दूनो। इसके पक्ष में वे प्रेमचन्द, जैनेन्द्र, शमशेर, अज्ञेय और रेणु को ही नहीं, देरिदा को भी उद्धृत करते हैं। उपनिषद्कार के इस कथन 'सत्य का मुख हिरण्य—पात्र से ढँका है' में 'हिरण्य—पात्र' को उन्होंने 'तात्कालिक तथ्य और नियम-कानून' कहा है। रचना और कहानी का 'अन्तर्निहित सच' उनके लिए सदैव प्रमुख रहा है। कई कहानीकारों के उदाहरणों से उन्होंने अपने कथन को पुष्ट और प्रकाशित किया है। रचना उनके लिए ठोस वस्तु—तथ्य न होकर अतिशयोक्तिपूर्ण रूपान्तरण' है। ''बाहर का स्थूल और सूचनात्मक संसार सच्चाइयों पर अक्सर पर्दा डालता है। कहानियों को, जो इस ऊपरी, स्थूल और निरर्थ जगत—व्यवहार से प्रमाणित करने की कोशिश की जाती है, वही सबसे बड़ी गड़बड़ है।'' (कहा-सुनी, वही, पृष्ठ 187) 'सामाजिक अन्तर्ध्वनियों के सच' को पकड़े बिना कहानी के मर्म में प्रवेश नहीं किया जा सकता। दूधनाथ लगभग प्रत्येक कहानी में किसी-न-किसी रूप में मौजूद हैं। उनके पात्र पूर्णतः स्वतंत्र नहीं हो पाते। बहुत कम पात्र अमर रहेंगे। कई कहानियाँ अवश्य याद रहेंगी। जिन्हें नहीं भुलाया जा सकता। यथार्थ और कल्पना के मेल से उनकी कहानियाँ एक नयी शक्ल में सामने आई। बाद में उन्होंने, विशेषतः नब्बे के दशक में नये कथ्य की तलाश और यह कथ्य पहले की तरह एकरूपी नहीं था। उन्होंने, विशेषतः एक नया तरीका निर्मित किया। उनके यहाँ न तो यथार्थ का अनुगमन है, न उसकी पुनर्रचना। साठ के दशक में उनकी कहानियों ने जो 'हड़कम्प' मचाया था। वह बाद में नहीं। पहले दौर की कहानियों की अमूर्तता कम हुई। पात्रों के नाम आए। सर्वनाम गायब हुआ। उनके पात्रों की एक डोर, ढीली ही सही उनके हाथों में रही। स्वतंत्र रूप से पात्र कम चले। दलित-विमर्श और स्त्री-विमर्श उनके समय में अनिवार्य था। वे उधर मुड़े। व्यवस्था के विरोध में वे सदैव रहे पर टिप्पणियों में अधिक। उनकी कई कहानियों में उनके 'रिमार्क्स' दिखाई देंगे। कथा-स्थितियाँ उन्होंने निर्मित कीं और कहानियों के कई प्रसंग कहानी के स्वाभाविक अंग वही बन सके। सामाजिक और राजनीतिक चेतना अपनी प्रखरता में उनकी कहानियों में नहीं है। कहानी में विवरण और वर्णन की अधिकता रही, पर कहानी को विवरणात्मक और वर्णात्मक होने से बचाने के उनमें हुनर है। नाटकीयता के अंश उनकी कहानियों में दिखाई देंगे। दूधनाथ ने कम कहानियाँ कही हैं अधिक लिखी हैं। उनकी कहन-शैली ध्यान खींचती है। कहानियों में वे अन्त-अन्त तक प्रयोग करते रहे। प्रतीक-प्रेम नहीं थमा। स्त्री-पात्रों के वर्णन-चित्रण में वे उसकी देह कभी नहीं भूले। देह के

प्रति यह आकर्षण कई कहानियों में है। पहले 'सेक्स' अधिक था, जो बाद में घट गया। *प्रतिरोध और संघर्ष की कहानियाँ दूधनाथ ने कम लिखी हैं।* भाषा का उनका कोई मुकाबला नहीं है। बाद की कहानियों में तद्भव का प्रयोग अधिक है। दूधनाथ को भाषा लगभग सिद्ध है। कई कहानियों में भोजपुरी की चमक, गमक और ठसक है। उनकी संवाद-भाषा सशक्त, जानदार और प्रभावशाली है। कुछ कहानियों में कथ्य पर भाषा सवार हो जाती है और कुछ में साथ-साथ चलती है। भाषा से कहानीकार का लगाव और मोह दिख जाता है। कला-पक्ष पर उनका ध्यान कम नहीं रहा है। उनकी कहानियाँ 'झूठा सच' की हैं। यह झूठ सच से जुड़ा है। स्वयं कहानीकार 'झूठा सच' का समर्थक है।

इस लम्बे आलेख में दूधनाथ की कहानियों को अनेक स्तरों पर, कई कोणों से समझने की कोशिश की गयी है। उनके समय के अन्य कहानीकारों के साथ उनकी कहानियों को रखने और विस्तार से विचार करने की ज़रूरत बनी रहेगी।

एक बड़े बदलाव की ख़्वाहिश में

बलराज पाण्डेय

हिन्दी में आजादी के बाद सन् 1950 से 1960 का दशक नयी कहानी के नाम से जाना जाता है। नयी कविता की चर्चा भी इसी दशक में हुई। यह पहली बार घटित हुआ कि साहित्य की सबसे छोटी विधा कही जाने वाली कहानी इस दशक में कविता के साथ ही चर्चा के केन्द्र में आयी। कहानी में आये इस बड़े परिवर्तन की पहचान कराने का श्रेय आलोचक नामवर सिंह को है। उन्होंने आजादी से पहले की कहानियों पर विस्तार से समीक्षा लिखी और कथ्य तथा रूप की दृष्टि से नयी कहानी पहले की कहानियों से किए प्रकार भिन्न है, इसे भी अपनी समीक्षा के द्वारा स्पष्ट किया। अपने एक समीक्षात्मक निबन्ध 'नयी कहानी : नये सन्दर्भ' में नामवर सिंह ने यह लक्ष्य किया कि सन् 1960 तक आते-आते नये कहानीकार वस्तु और शिल्प दोनों स्तरों पर अपने को दुहरा रहे हैं। सन् 1965 में माया पत्रिका में छपे इस निबन्ध में उन्होंने यह भी लिखा कि हिन्दी कहानी में साठोत्तरी पीढ़ी अपनी रचनाओं के माध्यम से एक परिवर्तन का संकेत दे रही है। साठोत्तरी पीढ़ी के कहानीकारों में उन्होंने काशीनाथ सिंह और रवीन्द्र कालिया के साथ पहली बार दूधनाथ सिंह की कहानी 'रक्तपात' की चर्चा की।

अब यह सर्व स्वीकृत हो चला है कि दूधनाथ सिंह अपनी पीढ़ी के सर्वाधिक अध्ययनशील और प्रतिभा सम्पन्न लेखक थे। कहानी, उपन्यास, नाटक, समीक्षा, कविता, संस्मरण और संपादन कला की दृष्टि से यदि हम विचार करें तो उन्होंने अपनी कई महत्त्वपूर्ण और बहुचर्चित रचनाओं के द्वारा हिन्दी साहित्य को समद्ध किया है। सिर्फ कहानी विधा को उन्होंने 'रक्तपात' 'सपाट चेहरे वाला आदमी', 'माई का शोकगीत', 'नमो अन्धकारम्' और 'धर्मक्षेत्रे-कुरुक्षेत्रे' जैसी मूल्यवान रचनाएँ दी हैं। इन रचनाओं में युगबोध और बदलते हुए यथार्थ की पहचान आसानी से की जा सकती है। खैर, इस निबन्ध में मैंने दूधनाथ सिंह के कहानी संग्रह 'सपाट चेहरे वाला आदमी' की कहानियों को लिया है।

'सपाट चेहरे वाला आदमी' का प्रकाशन सन् 1967 में हुआ था। यह वह समय था,

जब अपनी सरकार से भारतीय जन मानस का मोह भंग हो चुका था। सन् 1962 के भारत चीन युद्ध में भारत की पराजय, भूखमरी और बेरोजगारी की समस्या, सरकारों की वादाखिलाफी और देशव्यापी बढ़ती महँगाई से आम जन-जीवन बहुत प्रभावित हुआ था। नई कहानी की जो पीड़ा भरी प्रतीक्षा थी, वह बड़ी निराशा में बदल गयी। आजादी से बड़े पैमाना पर जिस बदलाव की उम्मीद बँधी थी, वह व्यर्थ सिद्ध हो रही थी। इन्हीं परिस्थितियों के बीच हिन्दी कहानी की साठोत्तरी पीढ़ी का आविर्भाव हुआ था। दूधनाथ सिंह के कहानी संग्रह में इनकी यथार्थ अभिव्यक्ति देखी जा सकती है। 'सपाट चेहरे वाला आदमी' संग्रह में संकलित एक कहानी का शीर्षक ही है, 'सब ठीक हो जाएगा।' फेफड़े के कैंसर से पीड़ित मि. मिश्रा द्वारा कहा हुआ यह वाक्य किसी उम्मीद में नहीं, निराशा में कहा गया है। इसे उसकी जिजीविषा भी नहीं कह सकते, क्योंकि जिस तरह उसकी जिन्दगी को एक भयानक रोग ने ग्रस लिया है और उसकी बीबी पेट पालने के लिए अपनी देह बेचती है, इससे स्पष्ट है कि मिश्रा परिवार का भविष्य कितना संकटग्रस्त है। कलकत्ता शहर में एक ही मकान में रहने वाले किराएदार मिसेज मिश्रा को लेकर तरह-तरह की बातें करते हैं, उसे नफरत की निगाहों से देखते हैं, बाथरूम प्रयोग करने से उसे रोकते हैं, मकान मालिक अक्सर उसे मकान छोड़ देने के लिए धमकी देता है। दूधनाथ सिंह ने इस कहानी में एक ऐसी स्त्री की समस्या को उठाया है, जो नियति के सामने विवश है और हमारा समाज ऐसा है जो मिसेज मिश्रा जैसी स्त्री की परिस्थिति के प्रति नासमझी दिखाता है। हद तो तब हो जाती है जब मकान में रहने वाले सभी स्त्री पुरुष मिसेज मिश्रा को अपमानित करते हैं और मिसेज मिश्रा अपना सारा गुस्सा बीमार पति की पिटाई कर उतारती है। पूरे मकान में मिश्रा दम्पति के प्रति यदि कुछ सहानुभूति है तो मि. माथुर के मन में, लेकिन वे भी लाचार हैं। वे मिसेज मिश्रा की दुर्गति देखते हैं, उस बीमार पति का दुःख दर्द सुनते हैं, लेकिन उनके दुःख को कम करने का कोई उपाय उनके पास नहीं है। अंततः कैंसर से ग्रस्त मि. मिश्रा की मृत्यु हो जाती है और मिसेज मिश्रा मकान छोड़कर कहीं चली जाती है। इसी त्रासदी के साथ कहानी समाप्त होती है, लेकिन मि. माथुर की परेशानी से स्पष्ट है कि हमारे समाज में मनुष्यता किसी न किसी रूप में अभी जिन्दा है। दूधनाथ सिंह ने कहानी का शीर्षक भले ही रखा है, 'सब ठीक हो जाएगा' लेकिन वास्तव में अंततः कुछ भी ठीक नहीं होता। निम्न-मध्यवर्ग के जीवन को व्याख्यायित करती यह कहानी सवाल खड़ा करती है कि यह कैसी व्यवस्था है, जिसमें आदमी घुटन भरी जिन्दगी जीने अथवा तिल-तिलकर मरने के लिए अभिशप्त है।

बदलते हुए मानवीय सम्बन्धों को आधार बनाकर हिन्दी में कई महत्त्वपूर्ण कहानियाँ लिखी गयी हैं। माँ-बेटे, पिता-पुत्र, पति-पत्नी और प्रेमी-प्रेमिका को लेकर नयी कहानी के दौर में खूब लिखा गया। इस परम्परा का बहुत ठोस निर्वाह साठोत्तरी पीढ़ी के कहानीकारों ने भी किया। दूधनाथ सिंह ने स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों में हो रहे बदलाव का बहुत खुलेपन के साथ चित्रण किया है। इसे आप चाहें तो 'भोगा हुआ यथार्थ' कह सकते है। 'रीछ' कहानी इसका एक अच्छा उदाहरण है। स्त्री अपने पुरुष पर हमेशा शक करती है—पागलपन की हद तक। पुरुष ईमानदार होने के अभिनय से उसके शक का उत्तर देता है, लेकिन खुद उसे महसूस होता है कि वह पहचान लिया गया है। दूधनाथ सिंह ने इस कहानी में अपने पात्रों के द्वारा आपसी सम्बन्धों को बेहद स्पष्ट अभिव्यक्ति दी है। हमारे समाज में पति-पत्नी के सम्बन्ध कितने बनावटी होते हैं, इसे 'रीछ' कहानी में देखा जा सकता है। पति की मनःस्थिति का चित्रण करते हुए दूधनाथ सिंह लिखते हैं—"शरीर के स्तर पर उतरकर वह सब कुछ भूलना

चाहता, लेकिन ऐसा कुछ भी न होता। वह चिड़चिड़ा उठता और जल्दी खत्म कर लेता। खत्म होते ही उसे लगता है कि वह एक मरी हुई चीज के पास लेटा है।'' इस चित्रण से स्पष्ट है कि दूधनाथ सिंह हमारे समाज में व्याप्त वैवाहिक जीवन की विसंगतियों की ओर इशारा कर रहे हैं। हम ऐसी वैवाहिक विवशताओं में अपनी जिन्दगी जी रहे हैं, जिसमें किसी प्रकार का आकर्षण नहीं रह गया है। आज के युवा के पास इस विडम्बनापूर्ण स्थिति से उबरने के लिए कोई उपाय नहीं है। इस कहानी में दूधनाथ सिंह बीच-बीच में रीछ को भी उपस्थित कर देते हैं, जो पति-पत्नी दोनों को परेशान करता है, हालाँकि इस रीछ का कोई खास मूर्त रूप नहीं है। वह फैंटेसी के माध्यम से ही आता है, लेकिन सवाल यह है कि रीछ कौन है? क्या विवाह के पूर्व पुरुष के जीवन में आयी स्त्री या पत्नी के मन में स्थायी रूप से घर कर गया सन्देह या वह विवाह संस्था या पद्धति जिसके अनुसार अपना जीवन संचालित करने के लिए हम विवश है? 'रीछ' कहानी में ऐसा नहीं है कि सिर्फ पुरुष ही चिड़चिड़ेपन का शिकार है। अपने दाम्पत्य जीवन को लेकर स्त्री भी बहुत सजग है और वह इत्मीनान कर लेना चाहती है कि उसके पति के जीवन में कभी कोई दूसरी स्त्री नहीं आयी। पति अपनी पढ़ी-लिखी पत्नी को सन्देह करने का मौका भी देता है। उसके बार बार पूछने पर जब वह कहा है कि ''स्त्री, पुरुष की सबसे बड़ी कमजोरी होती है'' तो पत्नी का सन्देह और पक्का हो जाता है और वह कहती है, ''तुम मेरे साथ 'करते' हो और मन में किसी ओर को बिठाए रखते हो।'' स्त्री-पुरुष के ऐसे संवादों से लगता है कि दूधनाथ सिंह को मानव मनोविज्ञान की प्रामाणिक समझ है। साठोत्तरी कहानी के लिए 'प्रामाणिक अनुभूति' या 'अनुभव की प्रामाणिकता' जैसे शब्दों का प्रयोग यों ही नहीं किया गया। वास्तव में दूधनाथ सिंह 'रीछ' कहानी में मध्यवर्ग की पढ़ी-लिखी स्त्री का दयनीय अथवा कोई कारुणिक चेहरा प्रस्तुत करना नहीं चाहते। पूरी कहानी में अपने संवादों के द्वारा स्त्री, पुरुष पर हावी रहती है। हमारे समाज में अब तक होता आया है कि पुरुष चाहे कितनी स्त्रियों से सम्बन्ध बना ले, उसकी हेठी नहीं होती, उसे पुरुषार्थ माना जाता है, लेकिन 'रीछ' कहानी की स्त्री स्पष्ट रूप से चुनौती देती है कि ''अगर उसे मालूम हो जाये कि वह जूठन उठा रही है तो वह तुम्हें कभी क्षमा नहीं करेगी।'' दूधनाथ सिंह इस कहानी में यौन शुचिता की परम्परागत अवधारणा को तोड़ना चाहते हैं। यदि यह प्रयास पुरुष की अपेक्षा स्त्री के द्वारा सम्भव होता तो प्रभाव की दृष्टि से यह कहानी और अधिक सफल होती। अपने साहस के बावजूद 'रीछ' कहानी की स्त्री, मर्यादा का पालन करने वाली स्त्री ही सिद्ध होती है।

अपने समय के मिजाज को व्यक्त करने वाली दूधनाथ सिंह की एक कहानी है– आइसवर्ग। सन् 1960 के बाद की मोहभंग की स्थिति में युवा मन में एक आक्रोश उपजा था। इसके साथ ही सम्बन्धों में आये बदलाव पर भी अभी वह निर्णायक मनःस्थिति में अपने को नहीं पा रहा था। 'आइसवर्ग' कहानी में युवा मन की इन दोनों स्थितियों की अभिव्यक्ति मिली है। इस कहानी का मुख्य पात्र है विनय, जिसका अपनी पत्नी से छुट्टमछुट्टा हो गया है। वह अपने से सवाल करता है कि ''क्या उसका अकेलापन ही अपना है? क्या सच में उसने अपराध किया है? क्या वह सब कुछ लौट नहीं सकता? उसे महसूस होता है कि जीवन उसकी मुट्ठियों से पानी की तरह फिसल गया है।'' वास्तव में यह अपराध बोध, अकेलेपन की समस्या, पराएपन की समस्या से वे लोग ज्यादा ग्रस्त हैं, जो अपने मध्यवर्गीय या उच्चवर्गीय अहंकार को तोड़ पाने में अपने को असमर्थ पाते हैं। इस प्रकार की समस्या नई कहानी में भी उठायी गयी थी। साठोत्तरी पीढ़ी ने इसे कुछ ज्यादा ही गम्भीरता से अपनी रचनाओं में इसे उठाया था।

जिन लोगों के छोटे या बड़े सामाजिक सरोकार हैं, उनके यहाँ ऐसी कोई समस्या नहीं है। वे जो सिर्फ अपने और अपने परिवार तक सीमित हैं, छोटी-मोटी बातों से भी विचलित हो उठते हैं। 'आइसवर्ग' कहानी में विनय अपने सगे भाई, चचेरे भाई, दादा, बहन सबको बुलाता है, लेकिन सबके बीच भी वह अपने को अकेला महसूस करता है। उसे जिस अपनेपन की तलाश है, वह कहीं से नहीं मिलता। सिर्फ उसकी बहन बेबी है, जो उसकी समस्या से वाकिफ है और उसे भरपूर सहानुभूति देती है। ससुराल जाने पर पत्रों के माध्यम से वह अपनापन जताती है, लेकिन विनय पर इन सब चीजों को कोई खास असर नहीं होता।

पत्नी चित्रा की आत्महत्या और बहन बेबी द्वारा एक बार स्वार्थी, निर्दयी और आत्मरत की पदवी दे डालना क्या विनय के कमजोर व्यक्तित्व की ओर इशारा नहीं है? क्या तब भी विनय के प्रति हमारे मन में सहानुभूति रह जाती है? क्या ऐसे पात्रों की सृष्टि का लेखक, हमारी मानवीय संवेदना की परीक्षा लेना चाहता है? यह अवश्य है कि अपने भाई, बहन के भरे पूरे परिवार के बीच विनय का अकेलापन ज्यादा गहराता है, लेकिन ऐसी परिस्थितियों के लिए बहुत कुछ खुद व्यक्ति भी जिम्मेदार होता है। हम यह मानते हैं कि ऐसी परिस्थितियों के लिए हमारी सामाजिक पारिवारिक संरचना भी कम जिम्मेदार नहीं है। इसके बावजूद मनुष्य में यदि आत्मविश्वास है, काबिलियत है तो विषम परिस्थितियों से अपने को बाहर निकालने में उसे कोई मुश्किल नहीं होगी। आश्चर्य तो यह है कि प्रगतिशील विचारधारा से सीधे संबद्ध होकर भी दूधनाथ सिंह एक सशक्त पात्र की रचना क्यों नहीं कर पाते?

'आइसवर्ग' कहानी में एक पात्र है जगत। वह विनय का चचेरा भाई है और एक मस्त जिन्दगी जीने में विश्वास करता है। वह विनय सहित दूसरों को भी अपनी तरह जिन्दगी जीने की सीख देता रहता है। कभी कभी वह देश-दुनिया के बारे में भी बातें कर लेता है। कहानी में उसका यह कथन बहुत महत्त्व का है—"इस देश में कभी कोई क्रान्ति नहीं हो सकती। धर्म को उखाड़ फेंको, सबको बेकार कर दो, लोगों के मुँह से उनकी रोटियाँ छीन लो, उन्हें कोड़े लगाओ इज्जत लूट लो... चाहे कुछ भी करो, यहाँ के लोग इतने स्वार्थी और ठण्डे हैं कि ईश्वर और भाग्य की दुहाई देकर फिर भी सन्तोष कर लेंगे। इस मुल्क में कोई भी आदमी, जो थोड़ा चालू हो और दूर की हाँकने में माहिर हो— नेता बन सकता है।" कहानी में जगत का यह कथन बहुत सहजता के साथ आया है—परिवार के सदस्यों के साथ आपसी बातचीत में। इससे स्पष्ट है कि देश और समाज की चिन्ता केवल राजनेता या बुद्धिजीवी ही नहीं करते, बल्कि वह नौकरीपेशा आदमी भी करता है, जो राजनीतिक और सामाजिक सत्ता की नीतियों का भुक्तभोगी है। जगत के कथन से सिद्ध होता है कि मध्यवर्ग भी अपने वर्तमान से सन्तुष्ट नहीं है। वह वर्तमान व्यवस्था में एक बड़ा परिवर्तन चाहता है। सन् 1960 के बाद हिन्दी कविता मुख्य रूप से अकविता में राजनीतिक सामाजिक स्थितियों को लेकर जितनी बेचैनी है और असन्तोष जितना मुखर है, यह भी आश्चर्य ही है कि कहानी में वह बेचैनी और मुखर असन्तोष नहीं दिखाई पड़ता। इसलिए मस्त जिन्दगी जीने वाले जगत के मुँह से क्रान्ति सम्बन्धी कथन ज्यादा प्रभाव नहीं छोड़ पाता। इतना जरूर है कि देश के लोगों की मनःस्थितियों का सही विश्लेषण उक्त कथन में तर्क के साथ मिल जाता है। सबसे दिलचस्प है इस देश में राजनेता बनने की न्यूनतम योग्यता। दूधनाथ सिंह ने राजनेताओं के छल-छद्म को सातवें दशक में ही पहचान लिया था। आज की तारीख में यह छल-छद्म कितना डरावना हो गया है, यह बताने की जरूरत नहीं। 'आइसवर्ग' कहानी में जगत का उक्त कथन आज कितना प्रासंगिक है, इसे आसानी से समझा जा सकता है।

'सपाट चेहरे वाला आदमी' संग्रह में एक कहानी है—'दुःस्वप्न'। इसे दूधनाथ सिंह ने मेरी समझ से आत्मालाप शैली में लिखा है। इसमें पात्र खुद का विश्लेषण करते हुए कहता है—''जब तक मेरी अपनी हानि न हो, न मैं उत्तेजित होता हूँ, न किसी का नैतिक पक्षधर।'' वास्तव में यह स्वार्थपरता मध्यवर्ग की विशेषता है। अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए किसी भी हद तक वह जा सकता है। लेकिन दुःस्वप्न कहानी का पात्र अपनी इस स्थिति से बाहर आना चाहता है। तभी तो वह अपने आसपास घटने वाली घटनाओं पर गौर करता है और उनमें अपनी भूमिका तय करना चाहता है। वह देश की साम्प्रदायिक स्थिति पर चिन्ता व्यक्त करते हुए कहता है—''हम सब सच को नकारने के आदी हो गये हैं। क्या हर हिन्दुस्तानी अन्दर से जनसंघी नहीं है? छोटे-बड़े सभी यह और बात है कि कोई अपने बीवी बच्चों के लिए जनसंघी हो, दलाल अपने पैसों के लिए मैं अपनी प्रेमिका के लिए और जवाहर लाल अपनी पद लोलुपता की रक्षा के लिए।'' जनसंघी होने का मतलब दूसरे धर्म के लोगों, विशेष रूप से मुसलमानों से नफरत करना। आज जो भारतीय जनता पार्टी है उसका पहला नाम भारतीय जनसंघ था। लेकिन दूधनाथ सिंह के पात्र का उपर्युक्त कथन किसी परिपक्व विचार का एहसास नहीं कराता। अकहानी में हर चीज को नकारने की जो प्रवृत्ति दिखाई देती है, उसका प्रभाव इस कथन में है। यदि हिन्दुस्तान के छोटे-बड़े सभी अन्दर से जनसंघी होते तो देश की स्थिति कितनी भयावह होती, इसका अंदाजा लगाना मुश्किल है। कहानी में वही पात्र बार-बार अपने या उनके खून के गर्म होने की बात करता है, ''भाई साहब, क्या हम बैठे देखते रहेंगे? हमारा खून गर्म नहीं है क्या?'' लेकिन खून में गर्मी लाने के पीछे उद्देश्य क्या है? कहानी में इसे स्पष्ट नहीं किया गया है। कुल मिलाकर शिल्प की दृष्टि से इस कहानी में अमूर्तन ज्यादा है। कौन बात किस प्रसंग में कही जा रही है—यह स्पष्ट नहीं हो पाता। यह अवश्य है कि पुराने आदर्शों और नैतिकता को किसी न किसी रूप में अस्वीकार किया गया है।

दूधनाथ सिंह की एक अन्यतम कहानी है—'प्रतिशोध'। इसका सीधा सम्बन्ध हमारे मध्यवर्गीय जीवन की चालू और ढालू प्रवृत्ति से है। इन्हीं की पीढ़ी के रवीन्द्र कालिया ने 'काला रजिस्टर', गिरिराज किशोर ने 'पेपरवेट' कहानियाँ लिखी हैं, जिनकी विषय वस्तु 'प्रतिशोध' की तरह कार्यालय के बाबुओं की संवेदनहीनता है। हरिशंकर परसाई की कहानी 'भोलाराम का जीव' किसे याद न होगी। यह तथ्य है कि राजकाज संपादित करने में कार्यालय के बाबुओं वाली व्यवस्था में कोई बदलाव नहीं आया है। देश में जितने सरकारी कार्यालय हैं, सभी भ्रष्टाचार के अड्डे हैं। 'प्रतिशोध' कहानी में कामकाजी महिला उमा मल्होत्रा का रुपये पैसे से सम्बन्धित बिल कई महीनों से कार्यालय में अटका हुआ है। वह प्रिग्नेंट है। पैसे के अभाव में पौष्टिक पदार्थ तो दूर, दवा तक बन्द है। उसका पति सत्येन्द्र मल्होत्रा ऑफिस का चक्कर काटते-काटते परेशान हो गया है, लेकिन ऑफिस के बाबू जरा भी नहीं पसीजते। इसे लेकर पति-पत्नी में झगड़ा भी होता है। पत्नी को शक है कि उसका पति ऑफिस में जाता ही नहीं। सत्येन्द्र की अजीब स्थिति हो गयी है कि ऑफिस में जाने पर सभी बाबू उसे दैत्य की तरह लगते हैं, घूरते हैं, अपमान जनक शब्दों का प्रयोग करते हैं और घर में आने पर पत्नी की झिड़की। दूधनाथ सिंह के शब्दों में ''उनका देखना और टालते जाना बहुत खूँबार था। भय और पराजय के उस ठण्डे माहौल से वह बचना चाहता था।'' उमा खुद ऑफिस में जाना चाहती थी, लेकिन यह सोचकर पति का दिल दहल जाता कि उसके साथ यदि कुछ हो गया तो? क्योंकि उसका पति आफिस के एक बाबू का यह व्यंग्य सुन चुका था, जो अपने सहकर्मी के लिए था—''तेरी

साँड़नी अब नहीं आती। उसे दूसरा साँड़ सवार मिल गया है क्या?''

'प्रतिशोध' कहानी के सत्येन्द्र और उमा मल्होत्रा की स्थिति से यह अंदाजा लगाया जा सकता है कि अंग्रेजों से तो हमें आजादी मिली, लेकिन देशी बाबुओं से भी कभी आजादी मिलेगी या नहीं? यह कहानी भले ही सन् 65-66 के आसपास लिखी गयी थी, लेकिन देश के सरकारी बाबू आज भी 'कब्रिस्तान के प्रेत' की तरह डरावने लगते हैं। उनके चंगुल में जहाँ हम एक बार फँसे कि सारा आदर्श, सारी नैतिकता और ईमानदारी बन्धक बन जाती है। ''ये लाइलाज हैं'' यह कथन है लेखक का ऑफिस के बाबुओं के लिए। ये ऐसे 'हत्यारे हैं' जो अपने छुपे बघनखे' से वार करते हैं। 'देश में सभी दफ्तरों के चेहरे एक हैं।' वे कहते हैं कि 'हमारे नियम में यह नहीं लिखा है कि देर क्यों हुई।' ऑफिस में बार-बार दौड़ लगाने, अपमानित होने के कारण सत्येन्द्र कभी-कभी आत्महत्या करने की मनःस्थिति में आ जाता है। सत्येन्द्र की परेशानी और बाबुओं की संवदेनहीनता का बहुत प्रभावशाली चित्रण दूधनाथ सिंह ने 'प्रतिशोध' कहानी में किया है। कहानी को स्पष्ट करने के लिए लेखक ने कुछ प्रतीकों का सहारा लिया है। सत्येन्द्र और उमा मल्होत्रा जब से नये मकान में आये हैं, तब से खटमलों और मच्छरों का प्रकोप बढ़ गया है। मेरी समझ से यह नया मकान आजादी के बाद का अपना देश है और खटमल तथा मच्छर है के रूप में शासक वर्ग से जुड़े वे लोग हैं, जो जनता का खून चुस रहे हैं। 'प्रतिशोध' कहानी में कार्यालय के बाबू भी खटमल और मच्छर की तरह ही हैं, जो जनता को चैन की नींद नहीं सोने देते। सत्येन्द्र मल्होत्रा महसूस करता है कि 'पराभव में वह अकेला नहीं है।'

'कोरस' कहानी कुछ अनाम युवकों की आपसी बातचीत पर आधारित है। ये ऐसे युवक हैं, जो देश दुनिया की चिन्ता करते हैं। वे भी अपने वर्तमान से असन्तुष्ट है। इस कहानी में किसी प्रकार का कथानक नहीं है। इसे ही कहते हैं कथानक का या कथा का ह्रास। नयी कहानी के सन्दर्भ में कभी नामवर सिंह ने कहा था कि कहानी और कुछ नहीं, दिलचस्प बातों का एक सिलसिला है। इसके लिए बात करने की कला चाहिए। 'कोरस' कहानी पर नामवर सिंह का यह कथन लागू होता है, लेकिन इसके पात्र आपस में जो बातें कर रहे हैं, उनमें कोई नैरंतर्य नहीं है। वे कभी अपने पिछड़ने की तो कभी बिना सबूत मरने की तो कभी सूअरों की बातें करते हैं। उन्हें 'अपनी साधना के लिए किसी महान पुरुष का शव चाहिए—महान पुरुष के विचारों का शव। वे महात्मा गाँधी पर भी बातें करते हैं वे युवा बुद्धिजीवी आश्चर्य करते हैं कि 'दुनिया आज भी जितनी घटिया संयोगों पर निर्भर करती है उतनी ज्ञान-विज्ञान पर नहीं।' उनकी एक अच्छी बातचीत इतिहास पर भी है। वे कहते हैं कि इतिहास के अनुसार ''इस देश में लुटेरे हमेशा बाहर से आते हैं और उनका आना-जाना अगर किसी कारण सम्भव नहीं हो सका तो वे अपने दिमाग के पुर्जे यहाँ किसी न किसी तरह जरूर भिजवा देंगे।'' उन युवकों की नजर देश की वर्तमान स्थिति पर है—खासकर राजनेताओं पर। ''वे पोशाकें बदल-बदल कर मुद्राएँ बनाते हैं, क्योंकि उनके हाथों में शक्ति है।'' राजनेताओं के लिए उनका यह विश्लेषण आज के राजनेताओं पर कितना सही बैठता है, यह बताने की जरूरत नहीं। दूधनाथ सिंह की एक बहुचर्चित कहानी है—'रक्तपात'। साठोत्तरी पीढ़ी में इसी कहानी के द्वारा उनकी पहचान बनी थी। नामवर सिंह ने अपने कहानी सम्बन्धी एक लेख में इसी कहानी का जिक्र किया है। वास्तव में इस कहानी की रचना मध्यवर्ग के एक युवक की परायेपन की समस्या को लेकर हुई है। स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों को लेकर लिखी गयी इस कहानी में पुरुष का तनाव व्यक्त करने में लेखक हुई है। स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों को लेकर लिखी गयी इस कहानी में पुरुष का तनाव व्यक्त करने में लेखक को वांछित सफलता मिली है। कहानी में संजय नाम का युवक

ही अपनी समस्या को लेकर केन्द्र में है। शायद अपनी जिन्दगी के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण निर्णय लेने में उसकी नहीं चली थी। सब कुछ पिता की मनमर्जी से हुआ था। इसीलिए तो माँ बार-बार पिता को माफ कर देने की बात कहती है। इसके बावजूद वह जड़ बना रहता है। उसे महसूस होता है कि ''कहीं कुछ घट नहीं रहा है। सब कुछ अपनी जगह पर एकदम अचल है। वह जड़ हो गया है—अपने से भी पराया। कहानी में बार-बार माँ कोशिश करती हैं, बेटे को समझाने की, लेकिन उसके 'अन्तर की असह्य यंत्रणा को समझने वाला कोई नहीं है। घर में पत्नी के, माँ, बहन और दादा के होने के बावजूद उसे कोई अपनापन महसूस नहीं होता। इस स्थिति का दूधनाथ सिंह ने कहानी में यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया है—''उसे लगा कि अपने ही घर में वह एक अतिथि है और अपने परिचित कोनों, घरों की दीवारों, ताकों, सीढ़ियों को छू नहीं सकता।'' कहानी में माँ की स्थिति का चित्रण करने में भी लेखक को सफलता मिली है। संजय के मन में माँ के प्रति जितना लगाव है, उसकी पत्नी माँ की उतनी ही उपेक्षा करती है। संजय से बात बात में माँ की वे शिकायत करती हैं और कहानी का अंत भी माँ के अंत के साथ होता है—बड़ा ही भयावह और क्रूर अंत। कहानी का शीर्षक 'रक्तपात' स्थिति विशेष का परिचायक है—''सारा रक्तपात भीतर हो रहा है। खून कहीं एकत्र होता है... बहता नहीं।'' किसी भी व्यक्ति के जीवन में ऐसी स्थिति का होना कितना भयावह है, इसे बताने की जरूरत नहीं। संजय अपने को निस्सहाय, मूक, अर्थहीन और समाप्त हुआ महसूस करता है। ऐसा वही महसूस कर सकता है, जो आपसी सम्बन्धों को बेहद ईमानदारी के स्तर पर जीता हो। 'सपाट चेहरे वाला आदमी' संग्रह की अन्तिम कहानी है। इसकी शुरुआत आत्मालाप से होती है। सन् 1960 के बाद की पीढ़ी ने परायेपन और अकेलेपन की समस्या के साथ व्यर्थता बोध को भी अपनी रचनाओं में जगह दी थी। 'सपाट चेहरे वाला आदमी' में लेखक ने व्यर्थता बोध को बहुत प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया है—''कहीं कुछ ऐसा था, जिसकी चाह में मुझे सब कुछ निरर्थक लगने लगा। इस तरह जिन्दगी जीने का क्या अर्थ।'' मेरी समझ से इस प्रकार की समस्याएँ व्यक्ति के स्वकेन्द्रित हो जाने के कारण उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार की समस्या में वेद से लेकर कामसूत्र, ओल्ड टेस्टामेंट, द वूमन ऑफ रोम, पुरी खजुराहो कहीं भी पात्र को अपने सवाल का जवाब नहीं मिलता। वह मनोविज्ञान के सारे ग्रन्थ छान डालता है, फिर भी उसे शून्य ही हाथ लगता है। उसका सवाल भी तो यही है कि वह क्यों जीना चाहता है? इस प्रकार के सवाल का अर्थ जब हम जीवन में गहरे धँसते हैं, तभी मिलता है, लेकिन लगता है, इस कहानी में भी पात्र कोई न कोई बहाना बनाकर जीवन से पलायन करना चाहता है। वह खुद कहता भी है—''मुझे लगा कि यह सब पलायन है। समाज, नीति, आचरण, कर्त्तव्य, जिम्मेदारी सब क्योंकि आदमी इस अन्तिम सवाल से भागता है।'' आश्चर्य तो यह है कि जितनी किताबें लिखी गयी हैं और भविष्य में जितनी किताबें लिखी जाएगी, कहीं उनके सवाल का जवाब नहीं मिलेगा। वह अपने स्वस्थ होने पर भी सन्देह करता है और जब डॉक्टर आश्वस्त करता है तब उसे विश्वास होता है।

दिलचस्प यह है कि जब डॉक्टर किसी औरत से प्रेम की बात करता है तो वह इस विषय पर जमकर बहस करता है, लेकिन इस प्रेम पर बहस में भी सन्देह उसका पीछा नहीं छोड़ता—जैसे कोई स्त्री क्यों उससे प्रेम करेगी? उसने अगर प्रेम करते हुए पालतू बना लिया तो? डॉक्टर से हर तरह के तर्क-वितर्क के बाद अंततः खुद डॉक्टर को कहना पड़ता है—''तुम्हारे लिए एक ही रास्ता शेष है। मेरे पास आकर जहर ले जाना। बस।''

'सपाट चेहरे वाला आदमी' के नायक को जीने का अर्थ तब मालूम होता है जब मृत्यु

से उसका साक्षात्कार होता है। उसे अपनी माँ की आत्महत्या की याद आती है। माँ की मृत्यु का सारा परिदृश्य सामने आते ही उसकी सोच बदल जाती है और उसे जीवन का, जिजीविषा का अर्थ समझ में आ जाता है। माँ के द्वारा बचपन में किया गया प्यार कहानी के नायक को जीने की प्रेरणा देता है। वह कहता है कि 'मूल्यवान तो यह है कि कोई किसी के लिए जीवित रह सके सदियों तक।' उसे मृत्यु से भी सीख मिलती है कि 'मृत्यु हमें अत्यन्त कठोर बनाती है। एकदम आदिम और साहसी। कि हम किसी भी कठिनाई को आसानी से पार कर सकते हैं।'

दूधनाथ सिंह की कहानी कला की ही यह विशेषता है कि जीवन और मृत्यु जैसे दार्शनिक विषयों को एक पात्र के जीवनानुभवों के माध्यम से स्पष्ट करते हुए वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आदमी दुनिया में खूब घूम ले, बड़ी-बड़ी पुस्तकें पढ़ ले, उसे ज्ञान की प्राप्ति जीवन के छोटे-बड़े अनुभवों से ही मिलेगी।

इस कहानी में महत्त्वपूर्ण मोड़ तब आता है, जब कहानी का नायक भीड़ भरे बाजार में पहुँचता है। वहाँ एक ऐसे मुहल्ले में वह अपने को पाता है, जहाँ लिपे पुते चेहरों के साथ स्त्रियाँ अपने ग्राहकों की तलाश में खड़ी थीं। एक स्त्री को वह गुलाब का फूल देना चाहता है, उससे सिर्फ और सिर्फ बातें करना चाहता है। इसके लिए उसे पाँच रुपये भी देता है, लेकिन स्त्री इन सब चीजों को कोई महत्त्व नहीं देती। असल में जिस पेशे और माहौल में स्त्री अपनी जिन्दगी जी रही है, उसमें उसे लिए गुलाब के फूल अर्थात् प्रेम सम्बन्ध का कोई मतलब नहीं रह गया है उसके लिए हर आदमी एक ग्राहक है और उसकी देह दूकान। वहाँ उदात्त, कोमल भावनाओं के लिए कोई जगह नहीं है। कहानी में सबसे शर्मनाक स्थिति तब आती है, जब उस स्त्री का लड़का बार-बार उससे पानी माँगता है। स्त्री पुरुष के चंगुल से मुक्त होना चाहती है, उस पुरुष के चंगुल से जो दुअन्नी (आठ पैसे) देरक उसके कमरे में आ गया था और उसे दबोच लिया था। कहानी का नायक उस पुरुष को मारकर भगाता है, लेकिन कहानी क्लाइमेक्स पर तब पहुँचती है, जब उसका सपाट चेहरे वाला लड़का टटोलता हुआ आता है और साड़ी से उसे शरीर को ढाँप देता है। दूधनाथ सिंह ने इस कहानी का बड़ा कारुणिक अंत किया है—''लग रहा था, जैसे सपाट चेहरे के भीतर ढेर सारे आँसू इकट्ठे हैं और चमड़े की मोटी झिल्ली फाड़कर अभी-अभी निकल पड़ेंगे।''

आप अंदाजा लगा सकते हैं कि सपाट चेहरे वाला एक लड़का जो देख नहीं सकता, लेकिन उसके कमरे में क्या घटित हो रहा है, उसे महसूस कर सकता है। उसकी माँ के साथ क्या घटित हो रहा है, उसे महसूस कर सकता है। ऐसे में वह किस विकट मनःस्थिति से गुजर रहा होगा इसका अंदाजा लगाना कठिन नहीं। क्या ऐसी जगहों में आदर्श, नैतिकता, संस्कृति और सभ्यता का कोई अर्थ जिन्दा रह सकता है? क्या आजाद देश में हम ऐसी भी स्थिति कायम करने में नाकाम नहीं रहे हैं कि आदमी इज्जत आबरू के साथ अपना पेट भर सके? आज भी जिल्लत की जिन्दगी जीने वालों की संख्या करोड़ों में है, लेकिन उससे मुक्त करने की कोई इच्छाशक्ति हमारे रहनुमाओं के पास नहीं है। दूधनाथ सिंह इस कहानी के द्वारा आजाद देश की यथार्थ स्थिति को हमारे सामने लाते हैं। यह कहानी देश की सत्ता व्यवस्था पर एक सवाल खड़ा करती है कि आजादी का मतलब यह तो नहीं होता कि आदमी जिन्दा रहने के लिए गलत से गलत शर्तों को मानने के लिए मजबूर कर दिया जाए।

दूधनाथ सिंह की 'सपाट चेहरे वाला आदमी' को पढ़ते हुए कमलेश्वर की कहानी 'माँस का दरिया' की याद आती है। यह उनकी प्रतिनिधि कहानियों में से एक है। अकेलेपन, परायेपन

और व्यर्थत बोध के बीच सामाजिक समस्याओं पर कहानी की रचनाकर दूधनाथ सिंह ने एक रचनाकार के बड़े 'विजन' को हमारे सामने रखा है। उनके मध्यवर्गीय पात्र जिन्दगी की कई बड़ी समस्याओं का सामना करते हुए कुछ महत्त्वपूर्ण सवाल उठाते हैं। वे सवाल आज भी उतने ही प्रासंगिक बने हुए हैं, जितने पहले थे, क्योंकि आज भी उनका हल खोजना बाकी है।

दूधनाथ सिंह मूल रूप से पूर्वांचल यानी पूर्वी उत्तर प्रदेश के निवासी थे। कुछ वर्षों के कलकत्ता प्रवास के बाद वे स्थाई रूप से इलाहाबाद के हो गये। यह जिक्र इसलिए, क्योंकि उनकी भाषा पर तीनों जगहों का प्रभाव है। उन्होंने हिन्दी, उर्दू और अंग्रेजी का खूब अध्ययन किया था। उनकी कथा भाषा पर उनके अध्ययन का भी प्रभाव है। जब वे व्यक्ति की मनःस्थितियों का वर्णन करते हैं तो अमूर्तन के कारण कहानी की भाषा के प्रवाह में रुकावट आती है। भाषा का सहज रूप सामाजिक समस्याओं के चित्रण में दिखाई देता है। कलकत्ता महानगर का आधार बनाकर जो कहानियों लिखी गयी हैं, उनमें बंगला भाषा का प्रयोग बहुत स्वाभाविक लगता है। 'पत्नी का झमक कर निकलना, सीढ़ियों पर धमस सुनना, पीठ में चटक समा जाना' जैसे प्रयोग पूरब के प्रभाव को दर्शाते हैं। कुछ दिलचस्प प्रयोग दूधनाथ सिंह की समर्थ भाषा की ओर संकेत करते हैं, जैसे—लथपथ सी हवा, बाँहें, जैसे हड्डियों में भरा हुआ गोश्त, रसभरी चीख, तबाह करने वाला सर्वव्यापी संकोच, अँधेरे को घिसती हुई हवा, दीन मुस्कराहट, आग्नेय नेत्र, भावहीन नमस्कार, सड़क के पेड़ों को मरोड़ती तूफानी हवा, परम अनैतिक शान्ति आदि प्रयोग दूधनाथ सिंह की भाषा की जीवन्तता के उदाहरण हैं।

दूधनाथ सिंह ऐसे लेखक थे, जिन्हें एक पीढ़ी या एक दशक में सीमित नहीं किया जा सकता अपनी रचनात्मक प्रतिभा से उन्होंने हिन्दी साहित्य को खूब समृद्ध किया है।

निष्कासन की त्रासदी से उपजे सवाल

सूरज पालीवाल

''तो ये इज्जत के चोंचले तुम लोगों के लिए होंगे मनोज! हमारी ऐसे ही कौन-सी इज्जत है जो उतर जायेगी? और तुम्हारे समाज में इज्जत उतर कर भी बची रहती है। अफवाहें हमारा कुछ नहीं बिगाड़ सकतीं। मुझे पिछले पाँच वर्षों से यही लगता रहा कि यह हॉस्टल नहीं, चकलाघर है। यूनिवर्सिटी सदाचारी कमीनों का कबाड़खाना है।''

× × ×

''तुमसे कहा था मैंने, अपना धँधा जरा आस्ते-आस्ते। धँधे की वजह से हुआ यह। आसान समझे बैठीं थीं उस लड़की को? खटकिन है तो साग-भाजी की तरह बिक जायेगी? नहीं बिकी तो बधोगी? चाहूँ तो तुम्हारा नक्शा पलट दूँ—अभी, इसी वक्त।''

× × ×

''दस हजार रुपया कल सुबह तक जमा कर दो, या कल शाम तक कमरा खाली कर दो।' शार्दूल विक्रम सिंह की आँखें वैसे ही नीचे थीं अभी तक एक बार भी उन्होंने लड़की को आँख उठाकर देखा नहीं था। 'रुपया नहीं दे सकतीं तो कुछ और दो।' कॉमरेड ने अब चेहरा भी ऊपर उठाया।''

साठोत्तरी पीढ़ी के महत्त्वपूर्ण कथाकार दूधनाथ सिंह का 2002 में प्रकाशित 'निष्कासन' उपन्यास अपने ही विश्वविद्यालय की नारकीय स्थितियों पर लिखा गया है, उस विश्वविद्यालय पर जिसे एक जमाने में पूरब का ऑक्सफोर्ड कहा जाता था। निश्चिय ही यह दूधनाथ जी की हिम्मत और साहस का काम है। अध्यापक लेखक इन चीजों से बचते हैं, वे अमेरिका और ट्रंप के बारे में रात-दिन गरियाते रहेंगे लेकिन अपने कुलपति और अपने इर्द-गिर्द के लोगों पर दुर्दांत चुप्पी साधे बैठे रहते हैं। हिंदी में हर तीसरा अध्यापक कवि है लेकिन अकादमिक

नरक पर शायद ही उन्होंने कविताएँ लिखी होंगी। प्रशासनिक सेवा में रहते हुए श्रीलाल शुक्ल 'राग दरबारी' लिख सकते हैं लेकिन ये कुछ ज्यादा ही समझदार लोग हैं, जिन्हें रात-दिन अपना कैरियर दिखाई देता है और उसके लिये रीढ़ की हड्डी की परवाह न कर हमेशा झुके रहना अपना स्वभाव बना लिया है। अकादमिक दुनिया एक समय तक अपनी स्वायत्तता के लिये जानी जाती थी, कोई कुलपति किसी आचार्य को अपने चैंबर में बुलाने की सोच भी नहीं सकता था और कुलसचिव को अध्यापक लोग बड़ा बाबू कहकर हँसा करते थे। लेकिन अब कुलपति नहीं बुलाये तो आचार्यगण ताक में रहते हैं कि कब कुलपति जी घूमने जा रहे हैं, कब कुलपति फुर्सत में हैं और कब उनकी दाढ़ में दर्द हो रहा है, सेवा के लिए तैयार। उनका निजी चपरासी आलस कर जाये पर ऐसे समय दुनियादार आचार्य लोगों की नींद भाग जाती है। उन्हें लगता है कि ऐसे अवसर पर चूके तो पता नहीं जो आय के बाहरी स्रोत कुलपति जी की कृपा से खुले हुये हैं, वे बंद हो जायेंगे। इसलिए विश्वविद्यालय का वातावरण खुला और अकादमिक ऊँचाइयों से कटता जा रहा है। अधिकांश अध्यापकों का जोर इस बात पर है कि कुलपति की कृपा से पुस्तकालय, छात्रावास, खेल, भाषण प्रतियोगिता या सामूहिक आयोजनों के प्रभारी का पद ले लो और फिर हर माह वेतन के अलावा वेतन से अधिक आय का स्रोत पक्का कर लो। अब विभागों में पढ़ने-लिखने की कोई चर्चा नहीं करता, किताबों और पत्रिकाओं की चर्चा तो अब बाबा आदम के जमाने की चीज होकर रह गई हैं, अब चर्चा लाभ-लोभ की होती है, हमें कौन बुलायेगा और क्या भेंट देगा तथा हमें किसको बुलाना है, जिसको बुलाना है वह कितना ताकतवर है, उससे क्या-क्या लाभ मिल सकते हैं। इस प्रकार का व्यापारिक आचार-व्यवहार विभागों में आम हो गया है। ये स्थितियाँ अकादमिक जगत के लिए शर्मनाक हैं, दूधनाथ जी अपने विश्वविद्यालय और दूसरे विश्वविद्यालयों में इन्हें देखते होंगे और दुःखी होते होंगे। वे इन्हें बदल तो नहीं सकते थे लेकिन इन पर उपन्यास लिख सकते थे। एक कथाकार अपने समय की विषमताओं और कुरूपताओं को ऐसे ही रेखांकित करता है, दूधनाथ जी ने भी वही किया।

मैं इस बहस में नहीं पड़ता कि इस उपन्यास में आये कॉमरेड और मैम कौन हैं, मुझे यह जानने की जरूरत भी कभी महसूस नहीं हुई क्योंकि मैं जानता हूँ कि इससे उपन्यास कमजोर पड़ता है। उपन्यास व्यक्तियों पर नहीं बल्कि व्यक्तियों की प्रवृत्तियों को प्रातिनिधिक रूप में चित्रित करता है। इसलिए किसी एक व्यक्ति से जोड़कर उपन्यास को नहीं पढ़ा जाना चाहिए, इससे उपन्यास इकहरा और कमजोर पड़ता है। ये इलाहाबाद की कमजोरी है या दूधनाथ जी की कि इससे पहले उनका 'नमो अंधकारम' उपन्यास आया तो इलाहाबादी मित्रों ने उसके पात्रों की पहचान तुरंत कर ली, इससे उपन्यास पर गॉसिप अधिक हुई, गंभीर चर्चा नहीं हुई। किसी उपन्यास की हवा निकालनी हो, उसे कमजोर साबित करना हो या उसे गॉसिप की चीज बनानी हो तो इस प्रकार के पात्रों की पहचान कर हिंदी जगत में डंका पीट दीजिए फिर क्या है लोग चटखारे लेकर व्यक्तियों पर बात करने लगेंगे और उपन्यास पीछे रह जाएगा। दूधनाथ जी के लिए यह अक्सर कहा जाता था कि वे अपने ही मित्रों पर लिख देते हैं। कुछ देर के लिए इसे मान भी लिया जाये तो क्या यह सच है कि कोई भी रचनाकार किसी देखे हुये पात्र को ज्यों का त्यों उठा लेता है। रचना तो रची जाती है, पात्र का तो सृजन होता है फिर रचा जाने वाला पात्र किसी का देखा हुआ हूबहू कैसे हो सकता है? यह संस्मरण में तो संभव है लेकिन उपन्यास में नहीं। कहना न होगा कि 'मैला आँचल' की प्रसिद्धि से जलकर लोगों ने उसमें कई जीवित पात्र देखे थे, इसके लिए मुकदमा भी चला था लेकिन सब थोथे साबित

हुए और 'मैला आँचल' की कीर्ति आज भी वैसे की वैसी ही बनी हुई है। मैं दूधनाथ जी या किसी पात्र को बचाने के लिए नहीं बल्कि रचना की गंभीरता को बनाये रखने के लिए और उन समस्याओं पर ध्यान केंद्रित करने के लिये ये तर्क दे रहा हूँ कि इस प्रकार की अफवाहों से बचकर उपन्यास में आये पात्रों और उनकी समस्याओं पर विस्तार से लिखना-कहना चाहिए, ताकि उपन्यास की कमजोरी और उसकी महत्ता को पहचाना जा सके।

यह एक ऐसी दलित लड़की की कहानी है, जो प्रथम श्रेणी में स्नातक उपाधि लेकर इस तथाकथित बड़े विश्वविद्यालय में पढ़ने आई है, जिसके पास पैसा नहीं है, उसका पिता ठेले पर सब्जी बेचता है और दमे का मरीज है। उसकी बड़ी बहन इसी विश्वविद्यालय में पढ़ रही है, जो उसका एकमात्र सहारा है। सहारा है मतलब आर्थिक भी और सामाजिक सुरक्षा का भी। दूधनाथ जी उसकी कहानी कहने से पहले उससे क्षमा माँगते हैं-'उस लड़की से क्षमा-याचना सहित-जिसकी यह कहानी है।' उपन्यास शुरू होने से पहले ही क्षमा माँगने से पाठक के मन में संशय पैदा होता है, कथाकार क्षमा क्यों माँग रहा है, क्षमा माँगने की उसे जरूरत क्या है? वह तो कहने को स्वतंत्र है पर दूधनाथ जी ऐसा नहीं करते इसलिए कि उस लड़की के साथ अकादमिक दुनिया में जो हुआ वह कोई सामान्य घटना नहीं है। अकादमिक दुनिया व्यभिचार, भ्रष्टाचार और झूठ के लिए नहीं जानी जाती, परिसर की दुनिया की पहचान विशिष्ट आचार्यों द्वारा ज्ञान की विभिन्न शाखाओं में शोध के लिए होनी चाहिये। दूधनाथ जी हिंदी के अध्यापक थे और मैं भी इसलिए कह सकता हूँ कि एक जमाने में सारे हिंदी विभाग अपने उन बड़े आचार्यों के कारण जाने जाते थे, जिनकी अपनी कोई उपलब्धि होती थी। उनकी पुस्तकें पीढ़ियों तक पढ़ी जाती थीं। कहना न होगा कि अब हिंदी विभागों में अपवाद स्वरूप कोई ऐसा अध्यापक मिलेगा जो 'अकबर नाम लेता है खुदा का इस जमाने में' की तर्ज पर पढ़-लिख रहा है, बाकी तो अज्ञात कुलशील अध्यापकों की बाढ़-सी आ गई है जो अपने काम से नहीं कारनामों से जाने जाते हैं। 'निष्कासन' उपन्यास की लड़की से दूधनाथ जी जो क्षमा याचना करते हैं, उसके मूल में यही ज्ञान विरोधी प्रवृत्ति है जो उस गरीब लड़की के भविष्य से खिलवाड़ करती है। केवल आश्चर्य नहीं बल्कि दुःख इस बात का है कि लड़कियों के आर्थिक और शारीरिक शोषण में वे लोग लिप्त हैं जिन्हें उनकी सुरक्षा की जिम्मेदारी दी हुई है। छात्रावास ही यदि चकलाघर बन जायें और उनकी अधीक्षिका ही अपनी कुछ चहेती गुंडियों के साथ मिलकर लड़कियों की सप्लाई करने लगे तो फिर सुरक्षा प्रहरी और भांड़ और भड़ुवों की क्या जरूरत है? यह विडंबना है कि मृदुला साराभाई छात्रावास की अधीक्षिका स्वयं इस कुकृत्य को अपने पति के साथ मिलकर लगातार कर रही हैं। दूधनाथ जी लिखते हैं 'मैम उस दिन जो राउण्ड पर निकली थीं और अपने तन से बेखबर सोई इस लड़की की झलक जो देखी थी, उसी दिन उन्होंने ताड़ दिया था। इसीलिए मेहमान के स्वागत-सत्कार में मदद के लिए आज इसी लड़की को बुला भेजा। लड़की को जब यह सूचना मिली तो वह थोड़ा सहमी। लेकिन हॉस्टल में तो यह आम रिवाज है। शाम को कोई न कोई लड़की मैम की सेवा-टहल या उनके मेहमानों के स्वागत-सत्कार हेतु बुलाई ही जाती है। और ऐसी संवासिनियों की गिनती सौभाग्यशालिनी लड़कियों में की जाती है। तो आज उसे सौभाग्य मिला है।' लड़की जिस परिवेश से आई है उसमें इस प्रकार के कुकृत्य नहीं होते इसलिए उसे नहीं पता कि मैम के यहाँ शाम को जाने का क्या मतलब होता है? उसने अपने संस्कारों में माता-पिता के बाद गुरुओं का सम्मान करना सीखा है, उनके आदेश का पालन करना सीखा है। वह नहीं जानती कि छात्रावास अधीक्षिका के रूप में जो मैम उन्हें मिली हैं, वे किस प्रकार का धंधा करती हैं? वे अपने राउण्ड

के समय लड़कियों के शरीर की पहचान एक खास किस्म से करती हैं और समय आने पर उसका उपयोग और उपभोग भी। एक दिन राउण्ड के समय इस लड़की को भी उन्होंने देखा और 'ह्वाट ए रेयर फिगर' कहकर साथ चल रही माई को इशारा किया यानी उस लड़की का नंबर जल्दी ही आना है, यह उसी दिन तय हो गया लेकिन लड़की नींद में थी, उसे नहीं पता चला कि उसका शरीर बुक हो गया है।

दूधनाथ जी ने बहुत दुःख के साथ इन घटनाओं का जिक्र किया है, अपने और पाठकों के दुःख को कम करने के लिये वे बार-बार कॉमरेड शार्दूल विक्रम सिंह और मैम के चरित्र की बेशर्मियों को भी बताते चलते हैं, जिनमें लड़कियों के चरित्र का कोई अर्थ नहीं रह जाता। दूधनाथ जी ने मैम का जो चित्र खींचा है, वह किसी अधीक्षिका का चरित्र तो नहीं लगता। महिला छात्रावास की अधीक्षिका को बहुत सलीके से रहना चाहिए, उसका आचरण संवासिनियों के लिये आदर्श बनता है। कई बार अधीक्षिकाएँ अपने अधिकारियों को खुश करने के लिए या नगर में अपना संपर्क बढ़ाकर तरह-तरह के लाभ लेने के लिये उन लड़कियों पर नजर रखती हैं, जो घर की चारदीवारी से निकलकर दुनिया देखने और उसका आनंद उठाने के लिए आईं हैं। उनके लिए अध्ययन, चरित्र और समाज व्यर्थ की चीजें हैं, जिनसे उनका कोई मतलब नहीं रहता। गुरुवार का व्रत रखने और चरित्र को जीवन का अमूल्य और अमोघ अस्त्र मानने वाली लड़कियाँ चुपचाप घुटती रहती हैं और छात्रावासों में उपेक्षित-सा जीवन जीते हुये मनवांछित उपाधियाँ लेकर घर चली जाती हैं। पर मृदुला साराभाई छात्रावास की जनरल सेक्रेटरी मैत्रेयी मिश्रा इन सबसे अलग दबंग और अपनी गुंडई के बल पर न केवल मैम को हर समय बचाती है बल्कि उन्हें मौके बेमौके धमकियाँ भी दे देती है। उसे मैम और कॉमरेड के सारे रहस्य मालूम हैं 'जानती हो, मैत्रेयी से मैम भी डरती हैं। मैत्रेयी ने पलट कर उस दिन मैम पर भी वार किया- और आप मैम, आप अपना धँधा जरा आस्ते-आस्ते। नहीं तो आपको और आपके उस कॉमरेड को भी किसी दिन पलटकर रौंद दूँगी। तो मैम ने मैत्रेयी को मनाया और कॉमरेड ने भी अपना मुखड़ा दिखाया। और मैत्रेयी की दारू कलेजी से खातिर हुई।' एक लड़की को इसलिये दारू पिलाई जाये और कलेजी खिलाई जाये कि वह सीधी-सादी लड़कियों को धमकाने के लिये मैम का साथ देती है, मैम से कोई कुछ कहे नहीं, कॉमरेड से कोई रसीद न माँगे, छात्रावासों में आने वाले अखबारों की माँग न करे, पानी, टेलिफोन और सफाई के लिए कोई कुछ कहे नहीं इसलिये मैम को मैत्रेयी जैसी लड़कियों की जरूरत पड़ती है। लेकिन इस प्रकार के वातावरण में सामान्य लड़कियाँ धीरे-धीरे कुंठित हो जाती हैं और अपनी नियति मानकर चुप हो बैठ जाती हैं या उस लड़की की तरह तनकर खड़ी हो जाती है। पर दूधनाथ जी ने छात्रावास का जो चित्र खींचा है, वह डरावना है। उसमें जातिवाद से लेकर तमाम तरह की गंदगी बिखरी पड़ी है। हमारे शिक्षा संस्थानों में जब इस प्रकार के कीटाणु फैलने लगेंगे तब शिक्षा का औचित्य ही क्या रह जाएगा? ये लड़की चूँकि दलित है इसलिए छात्रावास में सारी बदबू का कारण वही बनती है 'और कडू तेल की बू। उस ब्लॉक में जाओ तो संडास की बदबू बाद में आती है, इनकी पहले। अजीब बास मारती हैं यार और सबकी सब। मैत्रेयी कहती है ये जो सुखंडी का कमरा बीच में है, दोनों ओर के कमरों की लड़कियाँ परेशान हैं। और अगर उसका दरवाजा खुला हो जो कि अक्सर रहता है, तो उधर से बरामदे में गुजरना मुश्किल। भकसौंध आती है। मैत्रेयी को तो एक दिन उल्टी हो गई। और तब से तो और जब से उसकी वो मुटल्ली बहन आई है। मैत्रेयी बोली थी कि इसके लिए मैम से बोलेगी। ये इन सभी का बू मारना बॉयोलॉजिकल फैक्टर है, मैत्रेयी बोल रही थी, नहीं मानी मैम तो आंदोलन करना पड़ेगा। ये बीच में कमरा देने का क्या मतलब? किनारे करो। और तुम जानती

हो, मैत्रेयी तो गुंडी है। दूसरी ने तफसील से बयान किया।' ये उच्च शिक्षा के परिसर की स्थितियाँ हैं, जिस प्रकार समाज में जातिवाद अपने नंगे रूप में नाच रहा है, उसी प्रकार शिक्षा का परिसर भी जातिवाद से मुक्त नहीं हो पाया। मार्क्स और लोहिया का नाम लेकर राजनीति करने वाले भी इस अभिशाप से मुक्त नहीं है। उत्तर प्रदेश और बिहार जो हिंदी प्रदेश का हृदय स्थल है, उसमें इस प्रकार की जातिवादी राजनीति ज्यादा प्रभावी सिद्ध हो रही है। दलित वोट दलित को और पिछड़ों का वोट यादव और कुर्मियों को। जब यह तय ही है तो फिर गोपनीय मतदान किस लिए? राजनेता इतने शातिर होते हैं कि जातिवाद के इस जहर को शिक्षा संस्थानों से शुरू करते हैं, इसलिए छात्र संघ के चुनावों में जातिगत मतदान होना आम बात है। एक जमाने में विचार और विचारधारा के आधार पर चुनाव लड़े जाते थे, लेकिन अब वह संभव नहीं है। इसलिए मैत्रेयी मिश्रा की गुंडई छात्रावासों में अपना रंग ला रही है और दलित लड़कियों को किनारे के कमरे दिये जाते हैं जहाँ संडास बने हुये हैं, जो गंदगी से बजबजा रहे होते हैं। दूधनाथ जी छात्रावास में जातिवाद का एक चित्र प्रस्तुत करते हुए कहते हैं 'वे सभी महिमामंडित सवर्ण घरों से आती हैं और गप्प के दौरान अक्सर हमारा खानदान, हमारा खानदान बोलती हैं। उन्होंने मुँह बनाया और दोनों बहनों को ऊपर से नीचे तक देखा भी। कुछ ने नाक-भौं सिकोड़ी। कुछ ने रूमाल या दुपट्टा या तौलिया उठाकर नाक पर यों लगाया जैसे मुँह पोंछने जा रही हों। दोनों बहनें इस कमरे से उस कमरे भटकती रहीं। फिर वे उन कमरों की ओर गईं जिनमें उन्हीं की बिरादरी रहती थी। एक ओर किनारे पर जिधर संडास पड़ता था, उधर तीन-चार कमरे थे। एक लंबा-अँधेरा गलियारा था, जिसके अंत में दो-तीन झाड़ू और तीन-चार बाल्टियाँ रखी थीं। एक सीमेंट की झंझरी थी जिससे उजाला आ सकता था लेकिन झंझरी के बाहर एक मोटा चिलबिल का पेड़ अपनी छाँह फैलाये पसरा था।' इस चित्रण को पढ़कर सामान्य नहीं रहा जा सकता। कुछ देर के लिए मन विचलित होता है और खुद से ही पूछता है कि जब शिक्षा प्राप्त करने के बाद भी जातिवादी ही बने रहना है, दलितों को अछूत ही मानना है, उन्हें मुख्य धारा से अलग रखना है, यह मानकर चलना है कि उनके शरीर से बदबू आती है– तो फिर सामान्य आदमी क्या करे? इस घृणित व्यवस्था के विरोध में कहीं से तो चिंगारी दिखनी चाहिए। बेचारी उन दोनों बहनों का क्या दोष जो दलित घर में पैदा हुईं और सपना देखा कि पढ़-लिखकर आगे बढ़ना है। यह सपना तो स्वाभाविक है, लेकिन इसकी नियति अस्वाभाविक।

विडंबना यह कि छात्रावास में इस प्रकार का वातावरण बनाने वाले वे लोग हैं जो समाज को शोषणमुक्त करने तथा वर्गीय व्यवस्था लाने का संकल्प लेकर निकले हैं। विगत 20-25 वर्षों में राजनीतिक पतन जिस गति से हुआ है, उसकी जानकारी लगातार खुलते घोटालों से होती रहती है लेकिन इन घोटालों में अभी तक किसी वामपंथी के लिप्त होने की सूचना नहीं है। दुनियाभर के डायरी कांड से लेकर टूजी, कोयला तथा अन्य अनेक तरह की गंभीर अनियमितताएँ हुईं लेकिन वाम विचारधारा के लोग इन सबसे दूर रहे। पर छात्रावास की स्थिति भिन्न है, अधीक्षिका के पति शार्दूल विक्रम सिंह जो कॉमरेड हैं वे ही अवैध वसूली कर रहे हैं। 65 संवासिनियाँ ऐसी हैं, जो दस हजार रुपये कॉमरेड को देने के बाद अवैध रूप से छात्रावास में रह रही हैं। कॉमरेड स्वयं रुपया माँगते हैं और छात्रावास की सारी अवैध गतिविधियों में हिस्सेदार बनते हैं। 'लड़कियाँ बताती हैं कि जब से सर से मैम, या मैम से सर की शादी हो गई, उस क्लर्क का तबादला रजिस्ट्रार के दफ्तर में वापस हो गया और यहाँ सर ही अब काम-धाम देखते हैं।' एक अध्यापक और वह भी कॉमरेड जब ऐसे काम करने लगे तो फिर

बचाने वाला कौन? कहा जाता है कि आस्थावादी लोग ईश्वर से डरकर बेईमानी से बचते हैं लेकिन कॉमरेड तो ईश्वर को भी नहीं मानते ऐसे में उनकी अपनी नैतिकता ही उनका साथ देती है इसलिए वे हर गलत काम का विरोध करते हुये किसी से डरते नहीं हैं। इस विरोध के पीछे उनकी अपनी वैचारिक दृढ़ता सबसे बड़ा संबल बनती है। लेकिन कॉमरेड शार्दूल विक्रम सिंह तो एक ओर पार्टी की लेवी देते हैं तो दूसरी ओर गरीब और दलित लड़कियों तक से अवैध वसूली करते हैं, उनके चरित्र का यह दोगलापन अब किसी से छुपा नहीं है। डीन उनके राजनीतिक गुरु से शिकायत करते हैं तो वे कहते हैं 'हमने सब तरह से समझाया। इतने छोटे मसले में न पड़ें, बड़ी बदनामी हो रही है। कैसे कम्युनिस्ट हो तुम? बाहर दलितों की रैलियाँ निकालोगे, बोलते हो तो आग उगलते हो। क्या सब कुछ लफ्फाजी है? अपनी आस्थाओं, सिद्धांतों का हनन है यह। लत्तर हो सकते हो, नौकरी जा सकती है। यूनिवर्सिटी के मकान में रहते हो और एच. आर. ए. लेते हो। कितने कमीशन और जाँच-कमेटियाँ, आयोग और सत्ता और पुलिस और महामहिम-सब तो सने हुये हैं। अखबारों तक बात है, यूनिवर्सिटी में हा-हा-हू-हू है। पोल पट्टी खुल रही है। लहकट अफवाहें हैं, लेकिन कुछ नहीं। उल्टे धौंस, उल्टे बेइज्जती। मैंने तो यहाँ तक कहा कि हॉस्टल छोड़ दो। दोनों कमाते हो, बाहर कोई दूसरा घर ले लो।' पर कॉमरेड को खून मुँह लग गया है अब इस प्रकार की बदनामी से उन पर कोई असर नहीं होता। दूधनाथ जी कॉमरेड की जगह किसी तिलकधारी पात्र की रचना भी कर सकते थे लेकिन इससे बेईमानी, अवैध वसूली और तमाम तरह के कारनामों की पोल इस बेशर्मी से नहीं खुलती जितनी कॉमरेड के माध्यम से खुलती है। दूधनाथ जी स्वयं अंतिम समय तक जनवादी लेखक संघ के अध्यक्ष रहे और वामपंथ में उनकी गहरी आस्था थी लेकिन शिक्षा जगत में व्याप्त भ्रष्टाचार को बताने के लिये वे कॉमरेड को लाते हैं, जिसके कंधों पर समाज को बदलने की जिम्मेदारी है, जो अपने निर्णयों के सामने पिता की भी नहीं सुनता, वह कॉमरेड दलाल और धूर्त भी हो सकता है यह मनुष्य के पतन के मनोविज्ञान का सर्वोत्तम उदाहरण है। कॉमरेड के चरित्र को उन्होंने एक-एक घटना के माध्यम से उभारा है कि एक आदमी अपनी बेईमानी और भ्रष्टाचार के लिए अकादमिक जगत के साथ पुलिस, अदालत और राजनेताओं तक को खरीद सकता है, वह विषम स्थितियों में भी कातर नहीं है बल्कि अब उसने हुँकार भरने की अपेक्षा 'हें हें' करना सीख लिया है, वह सबकी कीमत जानता है और उस कीमत के बल पर छात्रावास को नरक बना रखा है।

और उनकी पत्नी यानी छात्रावास अधीक्षिका! दूधनाथ जी लिखते हैं कि वे तो अपने अध्ययनकाल से ही बेलगाम थीं 'मैम अपने देश की सर्वाधिक फैशनेबिल और नवजात यूनिवर्सिटी की छात्रा थीं। अपनी अविश्वसनीय देहयष्टि और उसके गुमान और नाज-ओ-नखरे के कारण वे पूरी यूनिवर्सिटी में छायी हुई थीं। वे अक्सर जींस और टॉप में अपनी लंबी चोटी को आगे-पीछे फेंकती पत्थरों के ऊबड़-खाबड़ में लड़कों के साथ हँसी-ठट्ठा करती, गोधूलि का मजा लेती टहलती या कहीं बैठी रहतीं। चाहे जितना आधुनिक पहनावा हो, वे अपनी गाय की आँखों जैसी बड़ी-बड़ी आँखों में आकर्ण मोटा काजल आँजे रहतीं। उनको देखकर एक शरारती लड़का अक्सर निराला की एक पंक्ति से उनको दुलराता—'निरंजन बने नयन अंजन।' तथा 'वैसे मैम को किसिम-किसिम के स्वाद बहुत पसंद हैं। काफी दिनों तक वे विदेशी ब्रांडों की फैन रहीं और जनता-जनार्दन का कहना था कि वे देसी स्वाद पर लौटने वाली नहीं। लेकिन मैम ने धीरे-धीरे महसूस किया कि इनमें वो नशा कहाँ, जो देसी ब्रांड में है। कभी-कभी पन्नी हो तो बेहतर, क्योंकि उसकी तासीर बड़ी जबर्दस्त होती है। लेकिन अब ज्यादातर मैम मिलिटरी पर निर्भर करती हैं—वेल-पैक्ड, खाँटी और स्मार्ट।' यह मैम का परिचय है जो कॉमरेड की पत्नी हैं और उस छात्रावास की

अधीक्षिका हैं, जिसमें लड़कियों के शारीरिक शोषण से लेकर आर्थिक शोषण की अनंत गाथाएँ बिखरी पड़ी हैं। सवाल यह है कि मैम अपने अध्ययनकाल में जो भी रही हों पर नौकरी पाने के बाद तो उन्हें सुधरना चाहिए था। कोई भी व्यक्ति एक समय के बाद या जीवन में स्थिर हो जाने के बाद अपनी छवि सुधारता है, सुधारनी भी चाहिए लेकिन सुधार तो दूर सुधार की आकांक्षा भी मैम के अंदर दिखती नहीं है। अपनी छवि सुधारने के लिये अंदर की बेचैनी बार-बार बाहर आती है पर मैम के चेहरे पर कोई बेचैनी तो क्या हमेशा एक प्रकार की निश्चिंतता रहती है, उन्हें मालूम है कि कॉमरेड सारा काम छोड़कर छात्रावास की बदमाशियाँ ढँकने और पैसों का जुगाड़ करने में ही लगे रहते हैं, इसके लिए किसको साधना है और किसके सामने 'हें हें' करनी है उन्हें भलीभाँति मालूम है। इस प्रकार का वातावरण छात्राओं के भविष्य के लिए अच्छा नहीं है। दूधनाथ जी ने मैम के चरित्र की एक घटना का और जिक्र किया है जिसका उल्लेख जरूरी है। जब वह लड़की मेहमान के साथ जाने से मना कर देती है और मैम का हाथ मरोड़ देती है तब 'मेहमान उठ कर अस्त-व्यस्त खड़ा था। वह चलकर मैम के निकट आया। उसने एक हाथ मैम के कंधे पर रखा और दूसरे से उनके नितम्बों को सहलाने लगा। मैम ने कुछ रूठने के-से अंदाज में अपने मेहमान को देखा। चलो न, कहीं चलते हैं। मेहमान ने हल्के से अपनी आँख दबायी। थोड़ा वाश करके अब्बी आयी।' और वे दोनों कॉमरेड को घर छोड़कर चले गये यानी वह लड़की न सही मैम ही उसकी कमी को पूरा करेंगी। 'जीप भर्र-भर्र करती रवाना हो गई। और 'कुछ बचा-खुचा है? शार्दूल विक्रम सिंह ने किचेन में खाद्य-सामानों का निरीक्षण करते हुये खानसामिन से पूछा।' यह कैसा कॉमरेड है जो आदमी कहलाने योग्य भी नहीं है, जिसकी बीवी को कोई आदमी इस तरह रात में ले जाये और कहकर ले जाये फिर भी वह आराम की मुद्रा में किचेन में खाना तलाशे, यह बेशर्मी ओढ़ने वाला वह अध्यापक है जिसकी नौकरी कम्युनिस्ट पार्टी की सिफारिश पर लगी थी और जो अभी भी अपने को कॉमरेड कहता है और कम्युनिस्ट पार्टियाँ यह जानते हुए भी कि कॉमरेड निकृष्ट स्तर के घटियापन पर उतर आया है तब भी उसे अपनी पार्टी से निष्कासित न कर उसके बारे में यह राय रखती थीं कि 'और वक्त ऐसा है जिसमें पार्टी बनाम दलित के लफड़े में हमें नहीं फँसना चाहिये। हम दलितों के पक्षधर हैं, लेकिन पार्टी बनाम दलित में हम पार्टी का हित पहले देखेंगे। और मामला सार्वजनिक हुआ तो इसमें पार्टी का अहित है। वैसे भी दलितवाद ने पार्टी का कम नुकसान नहीं किया है। फिर यह एक मामूली सी झिक्-झिक् है। लड़की ने इसे अपनी इज्जत और ईगो का सवाल बना लिया है। पार्टी-पॉलिसी से इसका कुछ लेना-देना नहीं। अतः इस मामले को यहीं दफन समझा जाये। सचिव महोदय ने अपनी बात खत्म की।'

कॉमरेड का आचार और व्यवहार जितना घृणित है, कम्युनिस्ट पार्टी का निर्णय भी उतना ही निंदनीय है। कम्युनिस्टों की ज्यादा समझदारी इस बात में होनी चाहिए कि वे दलित और दुःखी के साथ खड़े दिखें न कि इस बात में कि लेवी देने वाले कम्युनिस्ट का साथ देने के लिए सारे आदर्श भुला दिये जाएँ। ऐसा नहीं है कि कॉमरेड की गलत हरकतों के बारे में कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं को न मालूम हो, दूधनाथ जी ने हर मौके पर उन्हें आगाह किया है लेकिन इस प्रकार अपराधियों को शह देते हुए उन्हें अपने लाभ के लिए छोड़ देना तो कम्युनिस्ट पार्टी का उद्देश्य नहीं है। कम्युनिस्ट पार्टियों की इसी नीति के कारण पं. बंगाल से लेकर त्रिपुरा जैसे गढ़ ढह गये और हिंदी प्रदेशों में जहाँ भारत की अधिकांश जनता निवास करती है, वहाँ से एक भी कम्युनिस्ट विधान सभा और लोकसभा में नहीं है। कम्युनिस्टों की ताकत तो विरोध और जनता के बीच में प्रखर होती है, अब तो स्थिति यहाँ तक आ गई है कि गलत काम

का विरोध करने के लिए भी केवल प्रेस वक्तव्य जारी होते हैं। जनता के बीच उनकी समस्याओं को लेकर आंदोलन खड़े करना कम्युनिस्ट पार्टी का लक्ष्य होना चाहिए, लेकिन लोकतांत्रिक मताधिकार की राजनीति ने कम्युनिस्ट पार्टियों को भी कांग्रेस और भाजपा की तरह बना दिया है। उपन्यास की वह लड़की दलित और गरीब है, उसकी बहन सुदूर पहाड़ पर तदर्थ नौकरी कर बहन का खर्चा उठा रही है, बाप दमे की बीमारी के साथ ठेले पर सब्जी बेचता है और भाई की आय का कोई निश्चित साधन नहीं है, फिर भी वह लड़की सारी परेशानियों से लड़ती हुई पढ़ना चाहती है, अपने स्वाभिमान के साथ रहना चाहती है और चाहती है कि उसे न्याय मिले। उसका ये सब चाहना नाजायज नहीं है, ये तो कोई भी सामान्य लड़की चाहती है, उसे ये अधिकार भारतीय संविधान ने दिए हैं, उसे किसी की कृपा पर यह अधिकार नहीं चाहिए। यह तो किसी को अधिकार नहीं है कि जबरन वसूली कर उससे दस हजार रुपये लिए जाएँ और अपने घर आये मेहमान के साथ हमबिस्तर होने के लिए उसे बाध्य किया जाये। उपन्यास में जो सबसे बड़ी दुःखद स्थिति है वह यह कि उस लड़की की सारी परेशानियों के मूल में एक कॉमरेड और उसकी पत्नी है। कॉमरेड उससे जबरन और अवैध वसूली कर दस हजार रुपये माँगते हैं, उनकी पत्नी अपने मेहमान के साथ हमबिस्तर होने का आदेश देती हैं और छात्रावास में मैत्रेयी जैसी गुंडी के बलपर उसका सामाजिक बहिष्कार करती हैं। यही नहीं दलित होने के कारण मैत्रेयी और उसकी गुंडियों द्वारा यह अफवाह फैलायी जाती है कि उसके कमरे से बास आती है, उसके कमरे के सामने से लड़कियाँ निकलती हैं तो नाक बंदकर या नाक पर तौलिया रखकर। इस प्रकार की स्थितियों में कोई लड़की कैसे अपना मानसिक संतुलन रख सकती है? विडंबना यह भी है कि कॉमरेड ने लड़की को छात्रावास से निकालने और उसे पढ़ने न देने के लिए डीन, कुलपति, कुलाधिपति और न्यायालय तक में अपने प्रभुत्व का बेजां इस्तेमाल किया। यह दुर्भाग्य है कि जिस कुलपति को दूधनाथ जी ने इस उपन्यास में चित्रित किया है, ऐसे कुलपति अब सर्वत्र पाये जाते हैं, कुलपति केवल पद और धन उगाही के लिए आते हैं और विश्वविद्यालय को गर्त में मिलाकर चले जाते हैं, ऐसे कुलपति किसी अनिवार्य फलाँ पिट्ठू के कब्जे में होते हैं जो किसी भी गलत काम को करने में माहिर होते हैं और किसी भी बड़ी समस्या के समाधान के लिये किसी भी सीमा तक गिर सकते हैं। ऐसे लोगों की तलाश कुलपति को करनी नहीं पड़ती बल्कि वे स्वयं वहाँ तक पहुँच जाते हैं। वे सारा जीवन इसी प्रकार के गैर अकादमिक और निकृष्ट कर्मों में लिप्त रहकर बिताते हैं इसलिए उनकी आत्मा उन्हें धिक्कारती भी नहीं है। कॉमरेड ने भी 'हें हें' करना सीख लिया है, उन्हें अपने स्वार्थ के अलावा और कुछ दिखाई ही नहीं देता, वे रात-दिन ऐसे ही षड्यंत्र करते रहते हैं इसलिए उन्हें विश्वविद्यालय या अकादमिक प्रगति और उसके स्तर की न कोई चिंता रहती है ओर न उस चिंता के लिए समय उनके पास है। उन्होंने अपना रास्ता चुन लिया है, उस रास्ते में वे सारे लोग हैं, जो इसी तरह के धतूकर्मों में लिप्त रहते हैं। एक ओर विडंबना की ओर दूधनाथ जी ने ध्यान दिलाया है कि जो लड़की कॉमरेड के समूहबद्ध अत्याचारों के विरोध के कारण दर-दर मारी फिर रही है उसी लड़की को न्याय देने आये महामहिम राज्यपाल से कुलपति कहते हैं 'यह जाँच-कमेटियों की रिपोर्ट है सर। लड़की अपना कोई आरोप साबित नहीं कर सकी। कम्युनिस्टों के उकसावे पर यह सब हुआ, और हो रहा है। वे इसे आंदोलन का रूप देना चाहते हैं। उनके छात्र-संगठन हैं, लोकल नेता हैं। उनके बड़े नेताओं का आदेश है कि मामले को आगे बढ़ाते रहो, दबने न दो, विस्फोटक स्थिति तक ले जाओ। इस यूनिवर्सिटी में लफड़ा हो जाय तो प्रदेश की दूसरी यूनिवर्सिटियों में आग फैलते कितनी देर लगेगी। आप तो जानते हैं सर, यहाँ पोलिटिकलाइजेशन कुछ ज्यादा ही है। बाकी यूनिवर्सिटियाँ तुरंत पीछे

लग लेंगी। एल.आई.यू. की रिपोर्ट है सर! और लड़की तो बस, एक मोहरा है।' कुलपति ने अपना दाँव चल दिया और लड़की के सारे संघर्षों को पलीता दिखा दिया।

लगभग एक तिहाई उपन्यास में वह घटना है, जिसमें लड़की प्रतिरोध कर बाहर आती है, यह अंश जिस बारीकी से बुना गया है, वह दूधनाथ जी की उपन्यास कला की अपनी विशेषता है। वे केवल घटना ही नहीं बताते बल्कि उसे साक्षात् भी करते हैं। छात्रावास के साथ कॉमरेड के घर की हर छोटी-बड़ी घटना उस लड़की के शोषण का प्रमाण बनती है। घर में माई और खानसामिन हैं, जो छात्रावास की कर्मचारी हैं लेकिन मैम की निजी कर्मचारी बनकर वे उस व्यभिचार में भी शामिल होती हैं, जो मैम के यहाँ अक्सर होता है। कसाई के यहाँ काम करते कर्मचारी और रंडियों के कोठों पर रहने वाले भँडुओं की सारी संवेदना धीरे-धीरे खत्म हो जाती है, उन्हें हर आदमी ग्राहक ही लगने लगता है। इसी तरह व्यभिचार माई और खानसामिन के स्वभाव का अंग बन गया है। यदि उनका मन कभी विद्रोह करता कि किसी परायी लड़की को इस प्रकार कैसे किसी मेहमान को सौंपा जा सकता है तो मैम अपने निर्णय पर सोचतीं और हो सकता है यह धँधा समाप्त हो जाता। पर उन्होंने इसे अपनी नौकरी का हिस्सा मान लिया है इसलिए मैम के हर गलत काम को वे खुली आँखों से देखकर भी चुप रहती हैं। उपन्यास का यह आरंभिक अंश इसलिये भी महत्त्वपूर्ण है कि इसमें वह सब षड्यंत्र शामिल है, जिसका विकास आगे होता है। लड़की की मनःस्थिति के साथ उसकी दृढ़ता और अभावों में पनपते विद्रोह को दूधनाथ जी ने जिस कुशलता के साथ उभारा है, वह पठनीय है। शेष उपन्यास में लड़की, उसकी बहन और मनोज के वे निर्णय और क्रियाकलाप शामिल हैं, जिनमें वे अपने साहस और विवेक का परिचय देते हुये न्याय के लिए दर-दर भटकते हैं। दुःखी आदमी हर किसी को आजमाना चाहता है, वह उन्हें भी आजमाता है, जो उनके अपने हैं, अपनी जाति-बिरादरी के हैं, दलितों के मसीहा बनते हैं, वे सबसे मिलते हैं लेकिन कॉमरेड ने सबको ऐसा साध रखा है कि अपने स्वार्थों के कारण विधायक, सांसद, मंत्री, पूर्व मंत्री या पार्टी सचिव कोई साथ नहीं देता। यह कांड अकादमिक जगत पर काला धब्बा है, जिसे सदियों तक मिटाया नहीं जा सकता। इसे यदि प्रतीकात्मक भी लें तब भी यह भयावह है।

और सभी जगहों से निराश लड़की छात्रावास के टॉवर के बहुत ऊपर लगे कंदील की हल्की-सी रोशनी में, जब सारे शहर में अँधेरा पसरा है नीम की मोटी डाल पर गले में रस्सी डाल लटक जाती है या लटका दी जाती है। और सुबह एक कागज उसके पास मिलता है जिसमें लिखा हुआ है 'मेरी मृत्यु के लिए कोई जिम्मेदार नहीं है—तीस नंबर।' गुनहगार बच जाते हैं या बचा लिए जाते हैं और पढ़ लिखकर कुछ बनने का सपना लिए उच्च शिक्षा के इस परिसर में आई लड़की सदा के लिए विदा हो जाती है। छात्रावास और जीवन दोनों जगह से निष्कासित लड़की मरने के बाद भी बहुत सारे अनुत्तरित प्रश्न छोड़ जाती है कि शिक्षा जगत में यदि इस तरह गुंडई चलेगी तो अकेले गरीब बच्चों का पढ़ना असंभव है।

दूधनाथ सिंह की कहानियाँ

रोहिणी अग्रवाल

''डूब गए सब एक साथ, सब अलग-अलग एकाकी पार तिरे''

''तुमने मुझे कितना छोटा और अपाहिज कर दिया है। वह उलट कर पत्नी को देखता है। उस (पत्नी) की एक आँख बाँहों के नीचे दबी हुई है। उसमें एक लंबा आँसू निकल कर अपनी लकीर छोड़ता हुआ गाल के नीचे कहीं कानों की ओर गुम हो गया है।'' ('रीछ' कहानी का एक दृश्य)

''तुम्हीं तो कहती हो सखी! ई कौनो कहानी नहीं है। ई हमार दुःख है। तो हमारा दुःख हमें बताओ सखी। देखो तो, रात ढल गई। सतहवा डूब गया। और हम बैठी हैं सिर में सिर जोड़े...माई, आजी, बूढ़-बक्कर, बाल-बच्चों वाली, नई नवेलियाँ, बाँस की कइन जैसी हरी-हरी बेटियाँ—सब तो हैं। ढेला बाबा की सारंगी की तरह खिंची हुई। तो इस सारंगी को एक बार रुलाओ सखी...हमें अधजल में मत छोड़ो। हम भी तो जानें कि तब हमारे साथ क्या अघट घटा था।'' ('माई का शोकगीत' की एक आर्त्त पुकार)

देख रही हूँ, अपने टोले की अन्य स्त्रियों की तरह बूढ़ी माई भी ढेला बाबा की सारंगी की तरह खिंची बैठी है। साथ ही एक दम चुप! अपने में गुम्म! भीतर-भीतर जाने किन वीथियों-पगडंडियों पर चलकर हजारों-लाखों योजन दूरियाँ नापती हुई, मानो पूरे ब्रह्मांड को अपने अंदर समा लेगी। चेहरे पर तेवर ऐसे जैसे लहकने को एकदम तैयार चूल्हे की आग अपने तेज-ताप-ताकत को कूतने की प्रक्रिया में खुद को जाँच रही हो। बूढी माई के शरीर में कोई हरकत नहीं हुई, पर मैं जाने क्यों सर्वांग सिहर गई। क्या इन स्त्रियों का रुदन इतना मामूली होगा कि खारे आँसुओं की तलैया बनकर अपने वजूद को गाद-कीच में डुबो देगा? या इस जल-प्रलय में अग्नि-प्रलय के तत्त्व घुल-मिल जाएँगे?

मैं आँख बंद कर अपनी समूची इयत्ता को सारंगी में तब्दील करने को होती हूँ कि बंद आँखों के भीतर असाध्य वीणा के तारों पर आपादमस्तक झुका केशकंबली प्रियंवद (अज्ञेय

की कालजयी कविता 'असाध्य वीणा' का नायक) चला आता है। ''मैं नहीं, नहीं/ मैं कहीं नहीं।'' अपने स्वत्व के निषेध के लिए उग्रतर स्वर में विनम्र अनुरोध करता साधक प्रियंवद! ''तू आ—तू हो—तू गा! तू गा!'' एक ऐसा आह्वान जिसमें हर सत्ता-संस्थान की अहंमन्य सत्ता नष्ट कर सब की विशिष्ट भागीदारी सुनिश्चित की जा सके। सुनिश्चित किया जा सके कि कोई भी स्वर अनकहा न रहे। कोई भी स्वर अनसुना न छूटे।

साहित्य भी तो असाध्य वीणा की तरह जीवन के अनकहे सत्य का साक्षी है। साहित्य की गहराई और उसी अनुपात में अपनी व्याप्ति के लिए उन्नत व्यापक व्योम माँगती ऊँचाई रचनाकार और पाठक (आलोचक) दोनों की संयुक्त संवेदनात्मक गहराई पर निर्भर करती है। साहित्य का मर्म कृति मात्र में छिपा नहीं होता। वह कृति के अस्वाद की प्रक्रिया में अपने समय के साक्षात्कार की गहन वैचारिकता में निहित होता है। जाहिर है कृति का महत्त्व महज प्रस्थान बिंदु के रूप में है। न कम न ज्यादा। वह वज्रकीर्ति की जीवन भर की साधना के मिश्रण से बनी वीणा है। एक अदद सुधी पाठक की प्रतीक्षा में अधीर, जो उसे हिला-डुला कर अपनी राह पर आगे न बढ़े, बल्कि वज्रकीर्ति सरीखी सृजनात्मक साधना के साथ अपनी उँगलियों के पोर-पोर से उसके भीतरी रंध्रों में छुपे संगीत-नाद को फूँक सके। साधक (आलोचक) के बिना कृति असाध्य (अलक्षित) रह सकती है, क्योंकि साहित्य उपभोग की वस्तु नहीं, संवेदनात्मक विचार की अनवरत प्रक्रिया है जो समय के समुद्र में तैरते छोटे-छोटे कालखंड सरीखे द्वीपों को संवाद के पुल में बाँधती है। परत-दर-परत छिपे सत्य की सारी परतों को कृति द्वारा बींध पाना संभव नहीं क्योंकि समय की दूरियों के साथ परतें रूप बदलकर सत्य की भीतरी तहों में परिस्थितियों के अनुरूप नए अर्थों और मंतव्यों को भरने लगती हैं। तब समय के एक विषय विशेष कालखंड से बँधी आलोचना अपने युग के अनकहे सत्यों को ढूँढने के प्रयास में रचना के गर्भ में छुपे अनदीखते सत्य के पहलुओं को उद्घाटित करने लगती है। यही रचना का पुनर्जन्म है—दोहराए जाने वाले अर्थ से इतर रचना की मौलिक अभिव्यंजना।

हठात मैं ठिठक जाती हूँ। जानती हूँ, किसी भी रचनाकार की रचनाशीलता का मूल्यांकन करती आलोचना की यह परिपाटी नहीं कि रचना और रचनाकार का अता-पता दिए बिना वह साहित्य के मिस अपनी ही उलझनों-सवालों से मुखातिब हो बैठी रहे। यह तो खाँटी घरेलू औरत की कार्यशैली है जो ऊन के उलझे लच्छों को सुलझाने की मंथर क्रमिक धीरता में अपने अंदर-बाहर की गाँठों को साफ-साफ देख आती है, और फिर कुकर की एक कर्कश सीटी या स्कूल से लौटे बच्चों की हुलसती आमद पर सब कुछ जस का तस छोड़ नए कर्तव्य-लोक में उसी चाव के साथ घुस जाती है। लेकिन साहित्य यदि जीवन की अभिव्यक्ति है, और जीवन अपनी राहें खुद बनाने की खूबसूरत जिद, तो नाक की सीध में लकीर पीटने की यांत्रिकता कैसे किसी पंछी का परिचय बन सकती है?

[एक]

''वह बदबू...तुम्हारी साँस में, बदन में, काँख में...हथेलियों में...यह क्या है... अनइमेजिनेबल... ।''

मैं दूधनाथ सिंह की दो कहानियों 'रीछ' और 'माई का शोकगीत' को लेकर बात करना चाहती हूँ। 'रीछ' सचमुच का रीछ बनकर मेरे सामने आ खड़ा हुआ है—मुझे डराता, जुगुप्सा जगाता, बचपन के दिनों में धकेलता, जब रीछ चिड़ियाघरों के बंद सींखचों में नहीं, जिंदगी और गलियों में मदारी की डुगडुगी पर तमाशा दिखाते हुए हमारे अनुभव का साझा हिस्सा बन

जाया करता था। अनुभव से परे किन्हीं तहखानों में जबरन धकेल दी जाने वाली चीज जब वर्जनाओं या आडंबरों का लबादा पहन लेती है, तब भय या जुगुप्सा जगाने लगती है। अँधेरे रोशनियों को लील नहीं सकते। अपनी विकरालता के कारण गुर्राते हुए रोशनियों को डराने का काम कर सकते हैं। बस!

चाहती हूँ, इस बार आलोचना की शैली थोड़ी बदल लूँ। यह जो आलोचक के हाथ में कैमरा होता है न, रचना की हर बारीकी को फोकस करता कैमरा, उसके एंगिल को इस बार बदल डालूँ। घुमा कर आलोचक पर फोकस कर दूँ और देखूँ, उसकी पाठ-प्रक्रिया किन-किन मोड़ों और पड़ावों से गुजरते हुए उसके रचनात्मक संवेदन को आंदोलित करती है। तब देखती हूँ कि कहानी के दूसरे पाठ के दौरान रस-लोलुप पाठक की अ-गंभीर मुद्रा त्याग उसने इधर-उधर मटरगश्ती करती तमाम दिमागी हरकतों को विचार के एक बिंदु पर एकाग्र कर लिया है। मनन की प्रक्रिया में विचार जब विश्लेषणात्मक बोध का रूप लेने लगा, तो एक ही समय में एक ही रचना का पाठ वह तीन अलग-अलग धरातलों पर करने लगा। मैं इन धरातलों को खूब पहचानती हूँ। पहले धरातल की ऊपरी परत आवरण होने के बावजूद 'कंटेनर' का काम करती है। इसमें सुरक्षित हैं स्मृतियाँ। स्मृतियाँ माने किन्हीं अमूर्त अज्ञात मोह में बाँध लेने वाली महीन लड़ियाँ। स्मृतियाँ जो जीवंत स्पंदनों और हलचलों की साक्षी होने के बावजूद समय के बहते प्रवाह में पिछड़ कर एक बिंदु पर ठहर गई हैं। वे जीवन की खूबसूरती की साक्षी हैं, स्वयं जीवन नहीं। शास्त्र, सत्ताएँ और व्यवस्थाएँ स्मृतियों के बिना संभव नहीं। स्मृतियाँ लाख हड़काने के बावजूद अपनी जगह से टस से मस नहीं होतीं, बल्कि ज्यादा कुरेदो तो नासूर (जिद) बन कर वजूद (तर्क) को कुतरने लगती हैं। मैं चाहती भी नहीं इनसे उलझना। इसलिए इस प्रकोष्ठ में झाँक कर देख लेती हूँ। यूँ भी यहाँ प्रकाश जरा धुँधला है, और मोमबत्ती की कंपकंपाती लौ कभी भी दम तोड़ देने की आशंकाओं से भरपूर। यहाँ मैं पाती हूँ अपने विद्यार्थी जीवन की स्मृतियाँ जहाँ 'रीछ' कहानी यौन कुंठाओं से ग्रस्त नई पीढ़ी के युवक की मनोवृत्तियों को दर्शाने वाली बोल्ड कृति के रूप में दर्ज की गई है। संभोग दृश्यों के खुले अश्लील चटखारों के साथ आगे बढ़ती कहानी जिस अनुपात में नैरेटर की इंसानी इयत्ता को कुचलकर उसके भीतर पलते बनैले जानवर को उस पर हावी करती है और अंततः उसके 'मनुष्य' की हत्या कर पूरी तरह से जानवर में तब्दील हो जाने की सूचना देती है, वह प्रेडिक्टेबल और आश्वस्तिकारक होते हुए भी कहानी को जानदार नहीं बनाती। यह तो कहानी की ऊपरी सतह है, संतरे के छिलके की तरह, जिसे छीले बिना भीतर रसीली फांकों तक नहीं पहुँचा जा सकता। आलोचना हड़बड़ी का अनुष्ठान नहीं है। वह धीमी आँच पर पकाया गया भोजन है जो मसालों के खेल से ज्यादा सानुपातिक ताप, समय, स्थान और धीरज की आपसी जुगलबंदी से मयस्सर होता है। आलोचना भागते चोर की लंगोटी पाकर प्रसन्न नहीं होती। न उसे अपनी उपलब्धि मानकर उसका परचम लहराने पर आमादा होती है। वह 'जिन खोजा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ' सिद्धांत पर चलते हुए गहरे, गहरे और गहरे उतरना चाहती है क्योंकि जानती है, सतह पर औसत दर्जे की उपलब्धियाँ ही उतराया करती हैं।

दूसरे प्रकोष्ठ में बल्ब की सुस्थिर पीली रोशनी इकसार फैली है मानो जमाने की टोह लेने की फिराक में अपने समय की जमीन पर मजबूती से पाँव टिकाए खड़ा हो कोई पत्रकार। स्मृतियों को नॉस्टेल्जिया कह कर मजाक उड़ाना और हमेशा दूसरों के हवाले से अपनी बात कहना इसकी फितरत है। ''अपने आप पर विश्वास नहीं मियाँ?'' कहने को होती हूँ, फिर चुप्पी साध जाती हूँ। देख रही हूँ, यहाँ आत्मकथ्य के बहाने लेखक आलोचक की जमीन और चेतना को हथियाने की कोशिश में लगा हुआ है। दूधनाथ सिंह अपने वक्तव्य में 'रीछ' कहानी

को अतीतजीवी व्यक्ति के संत्रास की कहानी की संज्ञा देते हैं जो विवाह-पूर्व असफल प्रेम और तनावग्रस्त दांपत्य संबंध के कारण जिंदगी से तालमेल नहीं बैठा पाता है। अतीत की स्मृतियों ने उसकी चेतना को हर लिया है। ऐसा व्यक्ति चूँकि अपनी सामाजिक उपादेयता खो चुका है, इसलिए 'मर जाना' उसकी एकमात्र नियति बचती है। लेकिन वह सामान्य मौत नहीं मरता। जिस अतीत में डूब कर वह 'सुख' पाता है, और अपने दुःख को गाढ़ा करते हुए एक ट्रैजिक कैरेक्टर के रूप में जीता है, वही अतीत उसकी 'हत्या' करता है। लेखक स्वयं स्वीकारता है कि इस कहानी का अंत पूर्व-नियोजित था। मेरी तमाम 'शंकाएँ फन काढ़ कर उग्र हो गई हैं। क्या कोई भी सशक्त कहानी पूर्वनियोजित पैरामीटर्स के आधार पर गढ़ी जा सकती है? कहानी लेखक के आत्मान्वेषण की ऊर्ध्व यात्रा है, मुक्ति की अनदेखी-अनजानी उड़ान, जहाँ न गंतव्य का ज्ञान है, न मंजिल तक ले जाने वाली दिशाओं का। फिर प्रोग्राम्ड रोबोट की तरह वह कैसे बनी-बनाई राहों का अनुसरण कर सकता है? यदि ऐसा करता है तो इसके तीन कारण हो सकते हैं। एक, वह मुक्ति के नाम पर अपने ही संकीर्ण दायरों की परिक्रमा करने लगता है। दो, यह स्थिति मुकम्मल वैचारिक तैयारी के अभाव की सूचक है। जाहिर है इसीलिए कहानी संश्लिष्ट नहीं, जटिल उलझी और बोझिल लगने लगती है। तीन, कहानी में कलात्मक कच्चापन का समावेश होना। उल्लेखनीय है कि कहानी में कला किसी ठोस चीज की तरह अपनी उपस्थिति दर्ज नहीं करती। वह महीनतर होते हुए कस्तूरी गंध की तरह हवाओं में घुल जाती है। लेकिन यहाँ प्रतीकात्मकता रीछ की तरह न केवल विशाल-विकराल है, बल्कि दुर्गंध से भी भरपूर है।

फिर भी मैं कहानी को रिजेक्ट नहीं कर पाती।

देखती हूँ, कहानी के नैरेटर को अपनी गिरफ्त में ले कर हमारा समय उसकी जगह आ विराजा है। समय जो अपनी ही अ-गति से हाँफ रहा है। अपनी दृष्टिहीनता के चौकन्नेपन के कारण अँधेरे-उजाले, सच-झूठ का फर्क ही नहीं कर पा रहा है। आत्ममुग्धता के आईनों पर तेज रोशनियाँ फेंक इतना चुँधिया गया है कि पीछे लौटने को आगे बढ़ने का नाम देने लगा है।

लव-जिहाद और शुद्ध नस्ल से लेकर 'रामराज्य' और 'आध्यात्मिक सुख' के नारे अतीत की भव्य वापसी के उपक्रम हैं जो समय से नायकत्व छीन लेते हैं। नायकत्व गतिशीलता, विजन, उत्साह और कर्मठता का नाम है। विडंबना है कि अतीत में परित्राण का सुख ढूँढ़ते लोग बड़ी आसानी से भूल जाते हैं कि लोक की जड़ों में स्थित विश्वास बार-बार अनेक गाथाओं-मान्यताओं के सहारे यही बताते हैं कि उल्टे पैरों वाले लोग इंसान नहीं, भूत-प्रेत होते हैं, अनिष्ट और अमंगल के सूचक। तब अपनी तमाम जटिलता और बिखरावपूर्ण शिथिलता के बावजूद मुझे कहानी मानीखेज लगती है। अपनी रचना (1967) के पचास बरस बाद के भारतीय समाज के 'दुर्भाग्य' पर जार-जार आँसू बहाने वाली नहीं, दुर्भाग्य के मुँह में जाने से बचने की ताकीद करती कहानी। जब सपने चुक जाते हैं, तभी भ्रम उसकी जगह लेने आते हैं। भ्रम का व्यापार सपनों के वही सौदागर करते हैं जो सपनों को बेहतर भविष्य के निर्माण की भूमिका नहीं बना पाते, किसी एक छोटी-सी नींद का सुहाना पड़ाव बनाकर अपना उल्लू सीधा करते हैं।

हाँ, यह तय है कि अतीत (व्यक्ति हो, सत्ता-संस्थान हो या समाज) मृत्यु के लिए अभिशप्त है, लेकिन अतीत के हाथों नहीं, वर्तमान के हाथों।

तीसरा प्रकोष्ठ विश्लेषणात्मक बोध की आत्मलीन साधना के दूधिया प्रकाश में नहाया हुआ है। शोर के बीच मौन की अतल गहराइयों में डुबकी लगाते साधक के भीतर जब अँधेरों

पर उजाले शासन करने लगें, तब दुनियावी हलचलें और परिभाषाएँ बेमानी हो जाती हैं। उल्टी चाल चलना उसका शगल बन जाता है, और शून्य में बसावटों की गूँज सुनना प्रिय शौक। लेकिन कहानी की तरह इस कमरे में न कोई तहखाना है, न दुर्गंध छोड़ता रीछ। कुर्सी पर नैरेटर बैठा है, चिंतन की मुद्रा में, मानो किसी से बतियाते हुए उसके किसी सवाल का जवाब देने में अपने भीतर के सत्व को खंगाल रहा हो। सामने की कुर्सी पर भी कोई बैठा है। ठीक नैरेटर-सा सुदर्शन युवक। 'यह मेरा हमजाद है, जो जब-तब मुझसे मिलने आ जाता है।' मैं चौंक जाती हूँ। लेखक से अलग आलोचक कैसे उसके पात्रों का मनमाना इस्तेमाल कर सकता है? लेखक ने जब अतीत को रीछ के बिंब में बाँधा है तो उसकी अवहेलना करना संभव नहीं।

'लेकिन माँ के पेट से बाहर आने के बाद बच्चे को गर्भाशय के एकाकी सुरक्षित माहौल से अलग दुनिया को अपनी नजर से पहचानना होता है। वह माँ का अंश है, उसके हाथ की कठपुतली नहीं। फिर मैं क्यों लेखक द्वारा दिए गए बिंबों, व्यंजनाओं और नियति के साथ उसी एक दिशा में उसी गति से आगे बढ़ता रहूँ? गति का अर्थ लीक पीटना नहीं, अपनी चाल में अलबेला आत्मविश्वास लाकर नई डगर की तलाश करना भी होता है न!' नैरेटर का क्षीण प्रतिवाद अंत तक आते-आते उसे एक नए अवतार में ढाल गया था।

आलोचक के लिए इससे ज्यादा दिलचस्प स्थिति क्या हो सकती है कि कहानी का पात्र खुद खिसककर उसके पाले में आ बैठे।

देख रही हूँ, नैरेटर के चेहरे पर और असुरक्षा, ऊब और चौकन्नेपन की एक भी लकीर नहीं जो पूरी कहानी में उसकी सहज उत्फुल्लता और नैसर्गिक अंदाज को ढाँपे रहती है। उसकी पूरी ऊर्जा अपनी असलियत को छुपाने और आरोपित कृत्रिमताओं में से चुनकर कोई एक मुखौटा बाहर लाने के बीच जाया हो जाती है। आखिर क्यों छुपाता है वह अपनी असलियत? क्या इरादतन? या परिस्थितिवश? लेखक उसके वजूद को कमतर नहीं करना चाहता, इसलिए पत्नी के साथ दांपत्य जीवन में प्रवेश करने से पूर्व वह उसे अपने पूर्व-प्रेम (असलियत का एक अंश) के बारे में बता देना चाहता है, लेकिन परिस्थितियाँ ऐसी बनती है कि 'बताना' निरंतर टलता रहता है, और 'बचने' की आश्वस्ति भरी साँस के बीच 'घुटने' की यंत्रणा भी गहरी होती चलती है। लेकिन परिस्थितियाँ क्या सचमुच इतनी निरंकुश होती हैं कि इंसान को प्रतिरोध का एक मौका तक नहीं देतीं? या वास्तविकता यह है कि आत्म-दया की मुद्रा हमारी निष्क्रियता के गुरुतर 'अपराध' को कम करने की शातिराना अदा है?

नैरेटर सत्तर के दशक की पैदाइश भले ही हो, समय के साथ चलते-चलते उसने व्यक्तित्व-विकास के कई सोपान पार करते हुए अपनी सोच को उन्नत और संवेदना को महीनतर कर लिया है। वह जानता है कि काल की चक्रिल गति के कारण बीता वक्त बेशक लौट कर आता हो, लेकिन ठीक उसी रूप में अपने को दोहराता नहीं, अपनी प्रतिध्वनियों के साथ परिवर्तन की नई पुकारों को लाता है। इसलिए नई कहानी के दौर के इंटरपर्सनल संबंधों के ताने-बाने के बीच बुने भावुकता, आदर्श, रोमान, विश्वास, संवाद के तंतुओं के निरंतर छीजते जाने के सच को उकेरते हुए वह उस रिक्त हुए शून्य में पसरी विकृतियों और ग्रंथियों को अ-रोमानी यथातथ्य भाव से बयान करने लगता है। सामाजिक इकाई बनने की प्रक्रिया में व्यक्ति जिस तत्परता से अपने 'मैं' से दूर होता चलता है, उसी अनुपात में वह निर्वैयक्तिक, यांत्रिक, असंवेदनशील और अ-रचनात्मक होता चलता है। दूधनाथ सिंह समेत अकहानी आंदोलन की अन्य कहानियाँ ऐसे ही सपाट चेहरे वाले व्यक्तियों की त्रासदियाँ हैं जिन्होंने अपने को न जानने की प्रक्रिया में दुनिया को स्वप्नशील रचनात्मक दृष्टि से न जानने का मूर्खतापूर्ण फैसला लिया है। यह फैसला मूर्खतापूर्ण इसलिए है कि जीवन की आवाजाही के बीच दौड़ते-हाँफते हुए भी

वह जिंदगी के मर्म को नहीं पकड़ पाता जहाँ आनंद उल्लास, ऊर्जा और आशा बनकर सह-अस्तित्व का पाठ पढ़ाता है। भय को विश्वास से, तनाव को संवाद से और चौकन्नेपन को ईमानदारी से तभी जीता जा सकता है जब अपने से बिछड़े हुए उस अन्य 'मैं' को अपने सामने बैठा कर जानने की कोशिश की जाए। अपने से लुकाना अपने ही अन्य 'मैं' को दुर्दांत रीछ में रूपांतरित कर देना है।

तो क्या यह कहानी आत्मसाक्षात्कार की अवश्यंभाविता को रेखांकित करने के इरादे से लिखी गई कहानी है?

लेकिन लेखक और उसका युग ऐसी किसी 'बेवकूफाना रोमानी हरकत' की पैरवी करता नहीं दिखाई देता। न ही आज का युग।

सिद्धांत और व्यवहार, आदर्श और मूल्यों के विघटन को जिस गहरे मोहभंग के साथ 'रीछ' का समय भोग रहा था, आज का समय उसे एक निरासक्त सेलिब्रेशन के साथ देख रहा है। सेलिब्रेशन गहरी आसक्ति (इन्वॉल्वमेंट) की माँग करती है, लेकिन आज वह धूम, धमाचौकड़ी, उत्सवधर्मिता यांत्रिक ढंग से प्रदर्शन और फोटो सेशन के लिए कर ली जाती है। अपने 'मैं' से विलग होकर एकाकी-अपंग हो जाना ठीक वैसा है जैसे शब्द और अर्थ का परस्पर संबंध खोकर अस्तित्वहीन हो उठना। 'रीछ' कहानी तमाम घोषित नकार के बावजूद अस्तित्व की बुनियादी जरूरत को साबुत पा लेने की एक सफल कोशिश है। नैरेटर ने बेशक स्वयं मॉल/भीड़ की तमाम रंगीनियों के बीच पसरे अँधेरों को न देखा हो, लेकिन अपने को पाने की जुगत में भीतरी तहखानों में उतरते वक्त अँधेरों की शिनाख्त करना उसे खूब आता है। वह जानता है, अँधेरे और कुछ नहीं, हमारे अपने सिरजे भय हैं—निर्मूल और कमजोर। पहली ही जोरदार मुठभेड़ में वे दुम दबाकर भाग खड़े होते हैं। और तब पता चलता है कि जिन स्थानों पर अपनी गाढ़ी काली चादर तले उन्होंने दुर्दांत बनैले जानवरों को पाल रखा था, वह दरअसल हकीकत नहीं, हमारा भ्रम था—अपने आप को निष्कवच और निराधार बनाने का अभ्यास। ताकत जहाँ सत्ता का बर्बर उन्मादक सुख देती है, वहीं ताकतहीनता कुचले जाने के बावजूद जिंदा रह सकने का अपराजेय दंभ।

21वीं सदी के दूसरे दशक के अंतिम छोर पर पहुँचकर नैरेटर इस दंभ को अपनी पहचान नहीं बनाना चाहता। चौंधियाती रोशनी के अँधेरों को दूधिया प्रकाश में धोकर उसने उजाले को अपना साथी बना लिया है। इसलिए वह देख पाता है कि जब इंसान मुखौटों का ढाल की तरह इस्तेमाल करने लगता है, तब धीरे-धीरे अपनी असली सूरत भूलने लगता है। यह आत्मप्रवंचना की पहली स्टेज है जो ग्रो करने के सारे अवसरों को चीरते हुए उसे छाया, स्टीरियोटाइप या उत्पाद में तब्दील कर देती है। वह अपने को डूबते देखते हुए भी 'देखता' नहीं, क्योंकि 'देखने' की क्रिया जान बचाने के लिए हाथ-पाँव मारने की सक्रियता की माँग करेगी और आत्मप्रवंचना की दूसरी स्टेज जिस चीज को तेजी से कुतर कर नष्ट कर देती है, वह है उसकी ऊर्जस्वी कर्मठता।

तो क्या रीछ उसके भीतर बैठा आत्मप्रवंचक अन्य 'मैं' है जो जिंदगी में होने का भ्रम देते हुए भी उसे जिंदगी की दौड़ से बाहर रखता है? ''अचानक ही उसका भय अपनी चरम सीमा पर जाकर टूट गया और उसकी जगह एक थकान और सहानुभूति ने ले ली। यह सहानुभूति अपने और 'उसके' दोनों के प्रति थी। एक विवश सी पहचान...उसने धीरे से उसको परे हटा दिया और चुमकारता हुआ सहलाने लगा।''

भय का जनक है अपराधबोध, और संतान है पलायन। पलायन अतीत की गोद में मुँह छुपा कर बैठने की आत्ममुग्धता नहीं है, अपने नाकारापन का स्वीकार है जिसे ''वह मरने

देना चाह कर भी कहीं अंदर से जीवित रखने की उत्कृष्ट लालसा से पीड़ित था।'' कहानी जिन संवेदनाओं और मूल्यों—हार्दिकता, विश्वास, संवाद और सौहार्द—के चुक जाने की बात करती है, उन्हें पाठक के भीतर तेजी से घनीभूत करते हुए नैरेटर की लघुमानव सरीखी सत्ता को महत्तर करते हुए नायकत्व देने लगती है। बेशक नैरेटर कहे कि ''उन दिनों वह एक आदर्शवादी की तरह सोचता था जिसके मन में पाप की गहरी अनुभूति होती है। अब उस बात को याद करना भी कि वह कंफेशन में विश्वास रखता था कितना हास्यास्पद लगता है'', असलियत यह है कि कहानी उसकी मूक यंत्रणा और कुटिलताओं के बीहड़ के बीच टुकड़ा-टुकड़ा उभरते कन्फैशन का ही आख्यान है। ईसाई परंपरा के कन्फैशन में सजग स्वीकार का जैसा विनम्र भाव होता है, वह यहाँ नहीं है, बल्कि उसकी जगह अपने को छुपाने के क्रम में उभरता अकेलापन है, और विनम्र बने रहने की कोशिश में उभरती संवादहीनता है। इसी स्थल पर वह नैरेटर से ज्यादा किसी भी विघटनशील समय को बचाने की पुरजोर कोशिश का प्रतिरूप बन जाता है, क्योंकि तमाम अकर्मण्यता के बावजूद वह अपने को समय के सर्जक के रूप में नहीं, उपभोक्ता और विध्वंसक के रूप में देखने की दिव्य-दृष्टि अर्जित कर सका है। उसकी त्रासदी को गाढ़ा करते हुए आत्मप्रवंचना यदि उसे मौत की ओर धकेलने वाला कारक तत्त्व है तो अंतिम समय में आत्मपड़ताल का अंतिम बिंदु उसकी मुक्ति (रिडम्पशन) का कारण भी है जहाँ शर्म-ग्लानि, आक्रोश-भय के साथ वह अपने अधःपतन को, अपनी बुनियादी संरचना के एक-एक रेशे को अमिश्रित भाव से देख-चीन्ह रहा है। साथ ही जान रहा है, 'त्रासदी' से उबरने की इच्छा जितनी दुर्दांत है, उतनी ही दुर्दांत है अकर्मण्यता।

मुझे इस नैरेटर में आज की उपभोक्ता संस्कृति की विजय-दुंदुभियाँ तो सुनाई दे रही हैं जिन्होंने 'विचार' को छीनकर इंसान को सिर्फ दुर्बलताओं, लालसाओं, विकृतियों और सुविधाभोगी स्वार्थपरताओं का झुंड बना दिया है, लेकिन साथ ही बुद्धिजीवी वर्ग की अकर्मण्यताओं की गूँज भी सुनाई पड़ती है जो 'विचार' और 'पड़ताल' को जमीनी संघर्ष व ऊर्जा से जोड़कर सपनों को हकीकत में बदलने का जज्बा भीतर नहीं पाता।

नैरेटर की द्वंद्वग्रस्तता कहानी की सबसे बड़ी ताकत है। यह उसके पैरों तले की जमीन में कच्ची मिट्टी की नरमाई भरती है ताकि परिवेश से सारी सर्जक-सकारात्मक ऊर्जाएँ सोख कर समय के संग-संग आगे बढ़ते हुए हर परिस्थितिजन्य सत्य और विडंबना से तालमेल बैठा कर अपनी जड़ों और क्षितिज का विस्तार करती चले।

[दो]

''तो क्या प्यार और हमदर्दी कहीं नहीं है?'' ''है बेटी, वह भी है, लेकिन मर्द की मर्जी से है''

'माई का शोकगीत' सुनने से पहले अभी मुझे 'रीछ' के जबड़े से पूरी तरह बाहर निकलना होगा। अपनी मृत्यु के जरिए सभ्यता को जीने का मंत्र देकर नैरेटर तो मुक्त हो गया है, लेकिन मैं उसके दांपत्य-संबंधों की विकट डोरियों में उलझकर जहाँ की तहाँ खड़ी हूँ। किसी के बेडरूम में झाँकना शराफत के नियमों का उल्लंघन है, लेकिन लेखक ने ही बेडरूम के तमाम खिड़की-दरवाजे-परदे खोल कर उसे फुटपाथ पर ला दिया है। शालीनता की चौहद्दियाँ पार करती पत्नी की अश्लील भाषा, शर्मनाक भंगिमाएँ, द्वेष से सने उलाहने और नैतिकता की चिंदियाँ करती धमकियाँ! किन्हीं भी मानकों से ऐसी स्त्री किसी समय-समाज की आखिरी पसंद भी नहीं होगी। इसके बरअक्स है पति—हमारा नैरेटर—बेहद चुप्पा। पत्नी की हर अतिरंजना को

वार की तरह झेलकर भी विनम्र-शालीन-सहयोगी बने रहने वाला पुरुष। क्यों नहीं उमड़ेगी उसके लिए सहानुभूति! क्यों नहीं जुड़ेगा उसके पक्ष में समर्थन! अकेला अपने दम पर क्या-क्या नहीं झेलता पुरुष! गृहस्थी चलाने के लिए नौकरी का जुआ कंधे पर डालकर अपनी जान हलकान करता बैल! झींकती-कर्कशा पत्नी की गुर्राहटों को झेलता मेमना! बॉस की झिड़कियों के बदले कभी-कभार बीवी-बच्चों पर दुलत्तियाँ झाड़ता गधा! दिल के जख्मों और राजों को एक ही पोटली में बाँध भीतरी तहखानों में रख कर फुदकता आता चूहा! नैरेटर की कारस्तानियों को गुनते हुए पुरुष की तस्वीर बनाने की कोशिश करती हूँ तो हर बार मानवेतर प्राणियों की याद आती है। मेरी अपनी सीमा! लेकिन इतना तय है कि मानव होते हुए भी स्त्री और पुरुष दोनों की तासीर एक सी नहीं। कहानी में दृश्य-दर-दृश्य बक-बक करती पत्नी और होंठ भींच कर चुप्पियों पर रहस्य की इबारतें लिखता पति, दोनों एक-दूसरे का विलोम प्रस्तुत करते नजर आते हैं। हो सकता है दांपत्य विघटन की त्रासदी को दर्शाने के लिए। लेकिन कहानी के पन्नों के पार भी ऐसे ही स्त्री-पुरुष हैं। स्त्रियाँ रो कर या बोलकर अपने दर्द-शिकायतें बहा देने वालीं। पुरुष मौसम, राजनीति, क्रिकेट की बातों के आवरण तले जख्म और राज अपने सीने में दफन करने वाले। तो क्या स्त्री मूलतः मूर्ख (सरल) है, और पुरुष स्नॉब (कुटिल)? कहानी, और विशेषतः आलोचना को ध्वनियों से प्रायः नहीं पकड़ा जाता (हालाँकि अच्छी रचना का 'अच्छापन' ध्वनियों में ही निहित है), तथ्यों और उद्धरणों से अपनी बात पुष्ट करना जरूरी होता है। लेकिन शब्दों की सत्ता हमेशा अंतिम और ताकतवर नहीं होती। ध्वनि-तरंगें अक्सर अपने साथ राज खोलती अस्फुट फुसफुसाहटों और भिंची सिसकियों को भी ले आती हैं। फिर भी एक उद्धरण ''सबूत है। मेरा मन...मेरा दिल। मैं तुम्हारी छुअन पहचानती हूँ। तुम मेरे साथ नाटक करते हो। एक खूबसूरत नाटक। लेकिन मैं नाटक नहीं होने दूँगी। तुम्हारा यह अभिनय...तुम्हारा यह ग्रीन रूम. ..मैं खोज निकालूँगी..।'' सोचती हूँ, यह संवाद क्या है? पत्नी का चीत्कार? आरोप? हताशा? प्यार की मनुहार? ठगे जाने की प्रतीति? अपमान की घोर पीड़ा? रौरव नरक में चींथ दिए जाने का एहसास जहाँ से मुक्ति का कोई द्वार नहीं खुलता? या इसे महज औरताना प्रलाप कहकर कान बंद कर लिए जाएँ?

स्त्री के आरोपों को परिवार, समाज और व्यवस्था गंभीरता से नहीं लेते। बकौल सिमोन द बोउवा, 'जब जज, ज्यूरी, वकील, गवाह और अभियुक्त सब पुरुष हों तो स्त्री के खिलाफ एक मौन लामबंदी सब में अपने-आप हो जाती है।' चरित्रहीनता का आरोप स्त्री के लिए आरक्षित है। पुरुष पर वह नहीं लगाया जाता। पुरुष रंगे हाथों दांपत्येतर संबंध जीता पकड़ भी लिया जाए तो उसे इस स्थिति तक पहुँचाने के लिए पत्नी को ही दोषी ठहराया जाता है। नैरेटर के 'निर्दोष' तेवरों में अन्य (पत्नी) पर दोषारोपण करने की कैसी नैतिक दृढ़ता है—''पत्नी ने 'उसे' (पूर्व प्रेमिका को) फिर से जीवित कर दिया था। सिर्फ उसके संसर्ग में जाने भर के देर होती कि वह 'उसमें' लीन हो जाता। पत्नी का व्यंग्य एक सच्चाई में परिणत होने लगा था। उसे यह तक महसूस होने लगा कि वह पत्नी से सहवास में सिर्फ 'उसी' से मिलने के लिए जाता है, सिर्फ 'उसे' पुनर्जीवित करने के लिए, सिर्फ 'उसे' ही बार-बार पाने के लिए—हवा की दीवार के पार लेकिन उसकी समझ में यह नहीं आता कि पत्नी को कैसे समझाए कि 'उसे' इस तरह बार-बार लौटाने में उसी का हाथ है; कि वह असल में क्या कर रही है, कि वह किस तरह स्वयं ही अपने हाथों से उसे खो रही है।'' कैसी विडंबना है कि पुरुष का आत्मस्वीकार कभी सार्वजनिक मंच नहीं लेता। वह शेक्सपियर के नाटकों के स्वगत-कथन (Soliloquy) की तरह लाउड होते हुए भी (जिसे दर्शक सुन सके, लेकिन मंच पर साथ खड़ा अन्य पात्र न सुन सके) किसी व्यवस्था, वर्ग या शास्त्र द्वारा नहीं सुना जाता।

उससे भी बड़ी विडंबना यह कि न्याय की गुहार लगाती स्त्री जिरह-बहस के अदालती दाँव-पेंचों में अभियुक्त के कठघरे की ओर धकेल दी जाती है। मैं इस विडंबना को 'माई का शोकगीत' में प्रवेश का प्रस्थान-बिंदु मानती हूँ। देखती हूँ, नैरेटर-पत्नी और कनियाँ (मोसाफिर सिंह बो) दोनों घुल-मिलकर एक हो गई हैं और इन दोनों में धीरे-धीरे घुल रही हैं पाँच गाँवों की सारी स्त्रियाँ और स्वयं भारतमाता। माँ के रूप में महिमामंडित ताकि अपराध-बोध से नतशिर पुरुष (शिशु?) को पाँव छूने (प्रायश्चित?) का अवसर दे सके, और स्त्री के रूप में उपेक्षित ताकि जोर आजमाइश के लिए अपनी देह प्रस्तुत कर उसकी मर्दानगी को मजबूत करती चले। निर्बलता स्त्री के अबलापन को पुष्ट करने के लिए गढ़ी गई झूठी सांस्कृतिक संरचना है। स्त्रियाँ संस्कृति के जुए को उतार फेंके तो खूब समझती हैं अपनी ताकत। ''हम बच्चे पालती हैं, कुटनी-पिसनी, सोहनी-कोड़नी, कटिया-दंवरी—सब तो करती हैं। तो हम असमर्थ अबला नहीं। जैसे हम यह सब करती हैं, उसी तरह हम भारतमाता को उनकी गुलामी से भी छुड़ा सकती हैं। क्योंकि हम क्या नहीं करतीं—पहाड़ तोड़ने से लेकर खाना पकाने तक, सब्ब!'' सांस्कृतिक राष्ट्रवाद स्त्री की इसी ताकत से भयभीत है। इसलिए उसके 'होने' को 'मातृत्व' की पुरुष-सापेक्ष परिघटना में रिड्यूस कर उसकी ताकत को कमजोरी, कर्मठता को अनुत्पादक श्रम (?) की आवृत्ति में बदल देता है। विमर्श के बहाने स्त्री को समग्रता में देखने की बात भले ही स्त्री-चिंतकों के बीच चलती हो, वास्तविकता यह है कि आज भी स्त्री को माँ (देवी) और औरत (देह) की अपोजिट बायनरी में रखकर ही देखा-पढ़ा जाता है। प्रमाण यह है कि हिंदी साहित्य का अधिकांश व्यवस्थाजन्य मिसोजिनिस्ट पुरुष की चारित्रिक संरचना की पड़ताल करने की बजाय स्त्री के आँसुओं पर दृष्टि केंद्रित कर विचार की तार्किकता को भावुकता की लफ्फाजी में बहाता आया है। दूसरे, पुरुष-रचनाकारों की लेखनी (विचार और संवेदना-सरोकार की खड्डी जहाँ भविष्य के सपने बुने जाते हैं) से स्वतंत्र मानव-अस्मिता के रूप में स्त्री गायब होती जा रही है। वह है तो सिर्फ लेखकीय मंतव्यों और पुरुष पात्रों के विकास के लिए, जैसे बॉलीवुड की मसाला फिल्मों में प्रेम और यौन हिंसा, गाने और 'आँख सेंकने' के लिए नायिका को कास्ट किया जाता है। दुर्भाग्यवश दूधनाथ सिंह का साहित्य भी इसका अपवाद नहीं। यौन हिंसा के खिलाफ स्त्री-प्रतिरोध की मुखर रचना के रूप में रचे जाने के बावजूद उनका उपन्यास 'निष्कासन' न पितृसत्तात्मक व्यवस्था के खिलाफ स्त्री की एकल मुहिम को भगिनीवाद या सामाजिक चेतना के उद्‌बोधन का रूप दे पाता है, न स्त्री-मन के पुरुष को जुझारू स्त्री की बगल में खड़ा कर मनुष्यता की साझी लड़ाई को समय की जरूरत बनाता है। बीहड़ यथार्थ की क्रूरता को असंलग्न भाव से खोलने की ललक (जिसमें हताशा और भविष्यहीनता की मिकदार खासी बड़ी होती है) अक्सर लेखकीय ईमानदारी को डिस्टोपिया के इलाके में प्रविष्ट हो जाने को बाध्य करती है। डिस्टोपिया राजनीतिक मुद्दों के लिए मुफीद शैली हो सकता है, लेकिन स्त्री-प्रश्नों के संदर्भ में वह भय को आतंक, द्वंदग्रस्तता को अकर्मण्यता, और आशा को कुंठा में तब्दील कर स्त्री-गत्यात्मकता के सारे अवसरों को छीन लेता है। इसी के चलते 'निष्कासन' उपन्यास अपनी नायिका की संघर्ष-गाथा न रहकर शिक्षा जगत में व्याप्त अनैतिकता और भ्रष्टाचार से लेकर समूचे राष्ट्र के व्यवस्थागत आधार के लड़खड़ा जाने की सूचनाओं की जुगाली करने लगता है।

लेकिन मैं फुदक कर 'निष्कासन' पर क्यों आ गई हूँ, जबकि मुझे नैरेटर की पत्नी के गालों पर ढुलके आँसू दिखाई दे रहे हैं और उतना ही संत्रस्त कर रही है कनियाँ की पीठ—'कइन की संटी की मार' से 'जमे रक्त वाली गोरी-गोरी पीठ।'

जाहिर है घरेलू हिंसा स्त्री की नियति है, और पितृसत्तात्मक व्यवस्था का पुरुषार्थ।

चलिए, इस पितृसत्तात्मक व्यवस्था को कोई ठोस नाम-शख्सियत दे देते हैं। बाबू मोसाफिर सिंह? बेचारे बाबू मुसाफिर सिंह!! ''पूरे मकान को अपनी सुसुकी से हिला देने वाली रोवाई से उस मोछइल आदमी को घबराहट होती है।'' ऐसा भी क्या प्रतिवाद कि जरा सी संटी की मार न सहे औरत? ''उन्हें गुस्सा आने लगता है।...जैसे वे बबूल की दातुन कूँचते हैं और बीच-बीच में थूकते जाते हैं, उसी तरह कनियाँ को लथेड़ते हैं और थूकते जाते हैं। फिर इस नित्यकर्म से निबटकर आराम से सो जाते हैं।''

कनियाँ और नैरेटर-पत्नी के आँसू-एहसास भले एक हों, दोनों के उत्पीड़न की अलग-अलग बुनावट पितृसत्तात्मक व्यवस्था द्वारा स्त्री के उत्पीड़न के दो स्तर सामने लाती है। कनिया अमानुषिकता को रोज देह के स्तर पर झेलती है, और दर्द की यंत्रणा से मुक्ति पाने के लिए प्रतिशोध के रास्तों की खोज करती है। वह न माँ है, न भारतमाता। होती भी तो असलियत से आँख न चुराती कि रणबांकुरों की फौज जनने के बावजूद माँ के सपनों, सम्मान, संवेदना, और साँस की रक्षा के लिए एक भी पेटजाया आगे नहीं आता। माँ के चारों ओर लट्टू की तरह घूमते बचपन की स्मृतियों को चूल्हे में झोंक विवाह के बाद उसी बापू के पाले में जा खड़ा होता है जिससे बचने के लिए सदैव माँ के आँचल में दुबक जाया करता था। अब माँ में वह पत्नी का 'तिरिया चरित्तर' देखने लगता है, और बाप की निर्मोही उदंडता में अपने तत्सम आचरण के लिए क्लीन चिट की पेशकश। इसलिए कनियाँ अपनी लड़ाई लड़ना चाहती है अपने हौसले और सखियों के सहयोग से। चाहती है मोसाफिर सिंह को छत पर लटकती घिर्री से उल्टा बाँध कर 'कइन' टूटने तक पीटते-पीटते उसी तरह बेदम हो जाए जैसे वह उसे लहूलुहान कर हाँफता है।

नैरेटर-पत्नी की यंत्रणा की बात सोचते हुए मुझे उसके परिपापार्श्व में 'चितकोबरा' (मृदुला गर्ग) की मनु की याद आती है। संभोग के दौरान समूची प्रक्रिया से विरत हो उसके खत्म हो जाने की बाट जोहती मनु। हार्दिकता का अभाव संभोग के आनंद को बलात्कार की क्रूरता में तब्दील कर देता है। भारतीय समाज में मैरिटल रेप की अवधारणा प्रायः मान्य नहीं है। बहुत सचेत भाव से इस समस्या पर हिंदी में लिखा भी नहीं गया है। लेकिन नैरेटर द्वारा 'उसे' याद करने के क्रम में जब दूधनाथ सिंह 'उसकी' हँसी, छवि और बातों को एक-एक कर फ्लैश बैक के जरिए पाठकों के सामने लाते हैं, तब विवाहपूर्व-प्रेम की माँसल स्मृतियाँ एक झन्नाटेदार तमाचा मार कर नैरेटर को अपनी भूमिका जाँचने का आदेश देती हैं। पत्नी के संग एकाकार होते हुए उसे पूर्व-प्रेमिका की खनकदार हँसी सुनाई पड़ती है- ''क्या तुम जानते हो, उन (पति) के साथ मुझे कैसे लगता है?...जैसे कोई रीछ मेरे ऊपर झूम रहा हो। उबकाई आने को होती है।...तुम विश्वास नहीं करते।...तुम्हारे साथ...तुम तो एक बच्चे की मानिंद लेट जाते हो। इतने सॉफ्ट ...कोमल...माई चाइल्ड!...यू आर माय फादर ! ...तुम्हें मैंने किडनैप कर लिया है। मैं तुम्हें जाने नहीं दूँगी। अगर चले भी गए तो मैं पीछा करूँगी। मैं लगी रहूँगी। यह तुम्हारी साँस... यह तुम्हारा चंदन की तरह महकता बदन...मैं इसमें छा जाऊँगी।''

कोई ताज्जुब नहीं कि ठीक इसी वक्त उसे पत्नी के चिड़चिड़ाहट भरे स्वर की अनुगूँज एक बार फिर सुनाई पड़े, ''प्लीज, मुझे माफ करो। ...तुम बसाते हो। कल गर्म पानी से नहा लो।...यह बिस्तर पर बाल किस चीज के हैं? इतने मोटे और काले-काले?...यह तुम्हारे बाल हैं?'' या क्रोध में उचारी गई पत्नी की चेतावनी याद आ जाए कि ''मैं एक क्षण में तुम्हारी यह सारी पवित्रता-पवित्रता की रट तोड़ दूँगी। मैं किसी बहुत फूहड़ नकारा आदमी के साथ.

..तुम जलकर राख हो जाओगे।'' तब हो सकता है एक साथ तीन बातें उसके दिमाग में घूमें। पहली बात, जिस पूर्व-प्रेमिका की याद में वह दिन-रात खोया रहता है, क्या उसने अपने पति से प्रतिशोध लेने के लिए ही उसका इस्तेमाल किया था? दूसरे, क्या उसकी पत्नी भी सॉफ्ट-इमोशनल आनंद के लिए किसी अन्य का ऐसा ही इस्तेमाल करेगी? (हालाँकि इस सवाल में अपने से मुखातिब एक सवाल भी छिपा है कि प्रेमिका को यदि वह सॉफ्ट-इमोशनल प्रेम का आनंद और विश्वास दे सकता था, तो क्यों पत्नी को इस एहसास से वंचित रख रहा है? आखिर ताली कभी एक हाथ से नहीं बजती। लेकिन इस सवाल से मुठभेड़ करने और जवाब पाने की प्रक्रिया में अपने को कटघरे में खड़ा करने की संभावना बहुत क्षीण है।) तीसरे, उसका 'चंदन की तरह महकता बदन' बदबू से लबरेज कैसे हो गया है? और क्यों उसे लगता है कि उसके बीच वाली दंत पंक्ति में, दाढ़ में दो नुकीले दाँत उग आए हैं? कि प्रेमिका के पति की तरह उसे भी पायरिया हो गया है? और ''बार-बार वह पूरे दिन को थूकता रहता है . ..सारे अतीत को थूकता रहता है...लेकिन वह चीज नहीं जाती। एक लुआबदार झाग-सी इकट्ठी होती रहती है अंदर ही अंदर...खून में मिली लिसलिसी सी झाग।''

हो सकता है, पूरी तरह रीछ में ट्रांसफार्म होने की त्रासदी के घटने से पहले वह उस प्रक्रिया को वहीं फ्रीज कर दे क्योंकि स्त्री की तरह पुरुष भी पितृसत्तात्मक व्यवस्था के शिकंजे में पराधीनता का सुख अधिक देर तक नहीं लेना चाहता। मुक्ति हर उदारमना मनुष्य की पहली प्राथमिकता है। तब हो सकता है, मृदुला गर्ग के 'चितकोबरा' के संभोग-दृश्य को पुरुष-मिथ्याभिमान की हिकारत के साथ नहीं, स्त्री-संवेदन के साथ देखे। तब तमाम यांत्रिक संलिप्तता के बावजूद मनु की आवेगहीन निर्लिप्तता और संवेगहीन शुष्कता के मरुस्थल को देख वह सिहर जाए, और तुलना करे कि संभोग के दौरान अपने को पत्नी के हाथों 'ठगा' समझा जाने के बावजूद वह आनंद के लोभ में पत्नी और प्रेमिका दोनों की देह पर एक साथ काबिज होने के जोश में भरा रहता था। यदि और गहराई में जाकर उस 'आनंद' के रेशे को विश्लेषित करने की कोशिश करे तो शायद समझ पाएगा कि उस आनंद में सिर्फ 'अपनी' उपलब्धि का लोभ था, पार्टनर का ख्याल तक नहीं। शायद इसलिए कि हार्दिकता और संवेदना, प्रेम और विश्वास को अपने लिए शत प्रतिशत पाने का आग्रह व्यक्ति में जितना प्रबल होता है उसे दूसरे को देने का भाव उतना ही क्षीण। हो सकता है, आत्म-साक्षात्कार के उस 'दुर्लभ' क्षण में वह समझ पाए कि अपने दुर्दांत स्वरूप और ताकत के कारण दूसरों को आक्रांत करने की प्रवृत्ति का ही नाम है रीछ कि रीछ पुरुष की श्रेष्ठता-ग्रंथि का प्रतिरूप है जो पति बनते ही अनायास उभर आती है, ठीक यशपाल की कहानी 'करवा का व्रत' के नायक कन्हैयालाल की तरह। हो सकता है, ईमानदारी के उजले प्रकाश से देदीप्यमान उस निष्कलुष पल में वह पत्नी द्वारा लगाए गए विश्वासघात और नैतिकता के तमाम आरोपों को स्वीकार कर ले और जान जाए कि अंतर्वैयक्तिक संबंधों में जब-जब व्यक्ति अपने निजी क्षणिक सुखों और स्वार्थों के वास्ते दूसरों के हृदय में बरसों से संजोए विश्वास को ठेस पहुँचाता है, वह तुरंत अपनी मनुष्यता खोकर जानवर (रीछ) में तब्दील हो जाता है। अतीत में डूबे रहना मनुष्य की जिंदगी की स्वाभाविक चाल नहीं। वह प्रकृत्या निरंतर आगे बढ़ने और सामने देखने के लिए सिरजा गया है। इसलिए जब-जब पीछे मुड़कर अपनी आँखें व्यक्ति की अपेक्षा श्मशान के महाशून्य में गड़ाता है, अपने अपराध-बोध और विघटन से नजरें चुराने के क्रम में आक्रामक और खूंखार होने की पुरजोर कोशिश कर रहा होता है।

'रीछ' कहानी अपने खुले अंत की वजह से 'माई का शोकगीत' के केलकुलेटिड गेम

प्लान को धूल चटा देती है। अच्छी कहानी बोतल में भरा पानी नहीं होती—सुनिश्चित आकार और मात्रा के साथ। वह पारे में घुली प्रकाश-तरंगों की तरह होती है जो भराव से ज्यादा रिक्ति का सृजनात्मक उपयोग करते हुए अपने भीतर की संभावनाओं को प्रकाश और पारे की जुगलबंदी से बने अनगिनत संयोगों, अवसरों के अनुरूप अभिव्यक्त करती है। 'माई का शोकगीत' कहानी स्टिल फोटोग्राफी का बेहतरीन नमूना होते हुए भी हृदय के भीतर आलोड़न पैदा नहीं करती। बस, स्मृतियों का एक जखीरा ताजा दम होकर सतह पर उमड़ने लगता है जिसमें कितने ही देश-काल में उत्पीड़न और दमन सहती स्त्रियों की एकसा पीड़ा है। एक ही भाव के साथ कहानी में दम साधकर दूर तक यात्रा नहीं की जा सकती। पाठक गति, गहराई और व्याप्ति तीनों में पर्याप्त परिवर्तन चाहता है। स्त्री-मन को क्लीशे द्वारा अभिव्यक्त करने की जुगत में लेखक स्वयं पसीना-पसीना होने लगते हैं। इसलिए गाँधी जी के सत्याग्रह आंदोलन की पृष्ठभूमि में कहानी का काल नियोजित पर वे उस में 21 वीं सदी के प्रवेश द्वार पर ठिठकी स्त्री-शोषण की काली परछाइयों को भी भर देना चाहते हैं। लेकिन दो कालखंडों को जोड़ते हुए समानता के साथ-साथ बदलाव की अलक्षित सी ऊर्जा को पकड़ नहीं पाते जो स्त्री को समय के प्रवाह में बहता तिनका भर नहीं रहने देती, प्रवाह को मोड़ने वाली ताकत के रूप में चिन्हित करती है। अधिक से अधिक वे यह करते हैं कि 'निष्कासन' उपन्यास की तरह यहाँ भी अपनी राजनीतिक प्रतिबद्धता को कथा के मर्मस्थल पर आरोपित करने लगते हैं। तब माई और अन्य स्त्रियों का उपयोग करते हुए कहानी गाँधी जी के अहिंसात्मक आंदोलन बनाम क्रांतिकारी आंदोलन की डिबेट में तब्दील हो जाती है। ''पराच्छित?...हमने महातमा जी को चिट्ठी डाल दी, बापूजी, हम तो चुरइल हो गए हैं। प्रेत-जोनि में हैं। हमारे तो आतमा ही नहीं। हम पराच्छित नहीं करेंगे।'' कहानी के अंत तक आते-आते 'माई का शोकगीत' रेडिकल फेमिनिज्म का परचम लहराने लगता है। व्यवस्था-विरोध हर कलाप्रेमी को हमेशा आकर्षक लगता है क्योंकि कला मुक्ति के स्वप्न देखती है, और व्यवस्था जड़ता के खूँटे पर सारे सपने और विवेक को गाड़ देना चाहती है। कहानी का पहला पाठ 'चुरइल' बन जाने की उद्दण्ड घोषणा से पाठक (स्त्री) के भीतर खुशी की फुरफुरी लहराने लगता है, लेकिन दूसरा पाठ आवेग को थाम कर विवेक और विश्लेषण के टूल साथ लिए चला आता है। तब आलोचक देखता है, चुड़ैल बनने की माई की घोषणा को गुजरे आज अस्सी-पचासी बरस हो गए हैं। रेडिकल फेमिनिज्म लहर-दर-लहर आगे बढ़कर अपनी ही भ्राँतियों और अंतर्विरोधों में घिरने लगा है। लिबरेटेड स्त्री का इस्तेमाल कर बाजार अपना उल्लू सीधा करने लगा है, और तब सुहाग-चिन्हों और सतीत्व को महिमामंडित करते सांस्कृतिक उत्सवों को मनाती स्त्री समझ नहीं पाती कि वह अपने हक की लड़ाई को कहाँ और किसके खिलाफ फोकस करे।

अलबत्ता यह, समय के रीछ में विघटित होने का संकेत है जिसके विकराल जबड़े में फँसकर हम छटपटा भी रहे हैं और छूटने के सांकेतिक प्रयास में दिशाहीन संघर्ष का सुख भी पा रहे हैं।

कहानियों में सारभूत दूधनाथ

संजीव कुमार

दूधनाथ जी को पढ़ते हुए उनकी कई कहानियों पर अलग-अलग, बहुत विस्तार से लिखने की इच्छा होती रही है। 'सुखांत', 'उत्सव', 'माई का शोकगीत', 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे', 'खोये हुए'— ये सब ऐसी कहानियाँ हैं जिनका चलते-चलाते हवाला भर दे देना इनके साथ एक अन्याय की तरह लगता है। गोया आप किसी मुकम्मल कलाकृति को भगोने में रखे भात की तरह बरत रहे हों, जिसका एक दाना मसल कर बताया जा सकता है कि सीझा है या नहीं! लेकिन आलोचक को कई बार सामान्यीकरण की खातिर विशिष्ट की विशिष्टता बताने का लोभ संवरण करना पड़ता है। वही इपंले को इस बार करना है और उसका कारण है, बतौर कहानीकार, सारभूत/एसेंशियल दूधनाथ की खोज का प्रयास।

दूधनाथ सिंह की कहानियों के दो दौरों की बात बहुत हुई है। वह सही भी है। 1959 में शुरू होकर 70 के आस-पास खत्म होनेवाला पहला दौर ऐसी कहानियों का है जो व्यक्ति-मन की जटिलताओं और मानवीय संबंधों के बिखराव-उलझाव पर केन्द्रित हैं, जबकि 90 के आस-पास शुरू होनेवाले दूसरे दौर में कहानियों की विषय-वस्तु अधिक बहिर्मुखी हुई है तथा मुखर सामाजिक-राजनीतिक चेतना से संपन्न भी। पहले दौर की कहानियाँ कई बार बेहद जटिल हैं और उन्हें पढ़ते हुए 'सुखांत' का यह हिस्सा याद आता है : 'मुझे दहशत हुई कि अब मैं जो कुछ भी कहूँगा, वह बाहरी दुनिया के लिए अर्थहीन होगा। यह क्या हो रहा है मेरे साथ? क्या वे यह साबित करने पर तुले हुए हैं कि मनुष्य की आतंरिक टकराहट की प्रतिध्वनि उनके लिए मात्र एक बड़बड़ाहट है।' दूसरे दौर की कहानियों में यह जटिलता नहीं है, वहाँ मनुष्य की आतंरिक टकराहट की ऐसी प्रतिध्वनियाँ कम हैं जिन्हें बड़बड़ाहट समझे जाने का खतरा हो, सब कुछ साफ-साफ समझ में आनेवाला है।

लेकिन मेरी दिलचस्पी परिवर्तन से अधिक निरंतरता में है। एक तो इसलिए कि इस पर कायदे से बात शायद हुई नहीं है, जबकि परिवर्तन पर बातें पहले भी होती रही हैं। दूसरे

इसलिए भी कि मुझे लगता है, उसी निरंतरता में सारभूत दूधनाथ को तलाशा जा सकता है। परिवर्तन तो काफी कुछ उस शै का नतीजा भी हो सकता है जिसे खुद दूधनाथ जी 'सेकेंडरी इमेजिनेशन' कहते थे!

'सेकेंडरी इमेजिनेशन' उनका प्रिय पद था जिसे मैंने दो अलग-अलग प्रसंगों में उनसे सुना। दोनों बार उन्होंने कॉलरिज से अलग अर्थ में, देखा-देखी लेखन के अर्थ में इसका इस्तेमाल किया। (इस पद के जन्मदाता कॉलरिज के लिए यह पद रचनात्मकता का ही पर्याय है। 'प्राइमरी इमेजिनेशन' वह है जो देखी गयी चीजों के बीच सम्बन्ध-सूत्र बिठाने के काम आती है और 'सेकेंडरी इमेजिनेशन' रचनात्मक कर्म में उसकी प्रतिध्वनि है और इस तरह पोएटिक इमेजिनेशन का पर्याय है। बहरहाल, इस पद को किसी भिन्न, निजी अर्थ में इस्तेमाल करने में कोई बुराई नहीं।) जलेस की आम्बेडकरवाद और मार्क्सवाद पर केन्द्रित बाँदा कार्यशाला में भाषण देते हुए दूधनाथ जी ने कहा था कि हिन्दी का दलित लेखन एक 'सेकेंडरी इमेजिनेशन' है। मराठी में बहुत उम्दा दलित साहित्य लिखा गया। उसे देखकर हिन्दी के दलित लेखकों को लगा कि यह अनुभव तो हमारे पास भी है! हम भी क्यों न ऐसी चीज लिखें! तो हिन्दी का दलित लेखन पैदा हुआ। दूसरी बार यह पद मैंने तब सुना जब एक साक्षात्कार देते हुए उन्होंने उपेन्द्रनाथ अश्क की चर्चा की। बताया कि अश्क जी की कहानियों का संग्रह आया था, जिसकी समीक्षा उन्हें लिखनी थी। पढ़ने पर उन्होंने पाया कि अश्क जी तो निरे 'सेकेंडरी इमेजिनेशन' के कहानीकार हैं। पहले प्रेमचंद की शैली में कहानियाँ लिखते थे। जब नयी कहानी आयी तो लगा कि मैं भी ऐसा लिख सकता हूँ, सो देखा-देखी वैसा लिखने लगे।

गरज कि देखा-देखी लिखना दूधनाथ जी की दृष्टि में रचना के कमतर होने की एक पहचान थी। अब जब मैं उनकी कहानियों के दो दौरों को देखता हूँ तो लगता है कि इससे वे खुद भी मुक्त नहीं थे। पहले दौर में उनके यहाँ शहरी जीवन और प्रेम, दाम्पत्य आदि संबंधों पर केन्द्रित कहानियाँ लिखने का जो रुझान मिलता है, उसमें नयी कहानी के उस्तादों का गहरा प्रभाव है। आप पायेंगे कि उनकी उस दौर की कई कहानियों का संसार निर्मल वर्मा की कहानियों से बहुत मिलता-जुलता है। वहाँ आपको अक्सर सड़क के पार हवा में झुकती विलो की गाछें, पानी में झिलमिलाती क्लब की लाल-हरी रोशनियाँ, मैग्नोलिया में बजता स्पेनिश जैज, एनिमल हस्बैंडरी की छत या प्लेटफॉर्म की टिन शेड पर गिरती पानी की बूंदों का शोर, इंस्टिट्यूट के लाउंज में फुदकती लड़कियाँ, कैफेटेरिया में गूँजती चम्मच-काँटों की खनक, रेस्तरां के खुले लॉन में कटलेट, सैंडविच और चाय के दौर आदि मिलेंगे। इसी तरह 90 के बाद की कहानियों को देखें तो पता चलता है कि तकरीबन बीस साल बाद कहानी में लौटने वाले इस रचनाकार को कहानी-परिदृश्य के बदले होने का पूरा-पूरा अहसास है जहाँ शहरी मध्यवर्गीय व्यक्ति-मन कहानी की मुख्यधारा से खिसक गया है। इस समय के प्रचलित मुहावरे को देखते हुए उन्हें अपने ऐसे ग्रामीण अनुभवों में भी कहानी बनने की पात्रता दिखने लगती है जिनमें यह पात्रता गाँव से ताजा-ताजा निकले युवा दूधनाथ को नहीं दिखती थी। आप उनके पहले दौर में 'रेत' और 'पहलवान' जैसी कहानियों की कल्पना नहीं कर सकते, 'माई का शोकगीत' और 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' तो अपनी सामाजिक-राजनीतिक सजगता में बहुत आगे की चीज हैं।

कहने का मतलब कि दूधनाथ जी 'सेकेंडरी इमेजिनेशन' को जिस अर्थ में इस्तेमाल करते थे, उस अर्थ में वे स्वयं उससे बेदाग न थे। कोई भी नहीं होता। हाँ, जो देखा-देखी से शुरू करके वहीं तक रह जाए, उसमें अपनी ओर से कुछ जोड़ न पाए, वह बड़ा रचनाकार कहलाने की योग्यता अवश्य खो देता है। वह बहुत अच्छा लिखकर भी सुदर्शन और विश्वंभर नाथ शर्मा 'कौशिक' की नियति को प्राप्त होता है।

मुझे लगता है कि दूधनाथ जी के दो दौरों में जो अलगाव दिखता है, उसमें एक हद तक देखा-देखी की छाप है, लेकिन निरंतरता में जो चीज मिलती है, वह उनकी खास 'अपनी' और मौलिक है। उसे ही मैं एसेंशियल दूधनाथ कहता हूँ।

दूधनाथ जी के यहाँ निरंतरता दुनिया को देखनेवाली उस निगाह की है जो उनकी कहानियों से पाठक को मिलती है। पिछले कुछ समय से कहानियों पर लगातार लिखते हुए अब यह मेरी पुरानी टेक हो चली है कि कहानियाँ निगाह देने का काम करती है और इस तरह हमारी अन्धताओं का उपचार करती हैं (अन्धताएँ थोपती भी हैं, यह अलग बात है)। अच्छी कहानियाँ जिस काल्पनिक दुनिया में हमें ले जाती हैं, उससे वापस अपनी दुनिया में लौटने पर हमें कई ऐसी चीजें दिखने लगती हैं जिन्हें या तो हमने पहले देखा नहीं था या अभ्यस्तता-जन्य संवेदनहीनता के चलते जो हमें दिखनी बंद हो गयी थीं। यह साहित्य की सराहना का ऐसा सूत्र है जिसे 'वर्ड' और 'वर्ल्ड' के बीच अपाट्य अंतराल माननेवाली वह ज्ञानमीमांसा भी चुनौती नहीं दे सकती जिसके लिए यथार्थवाद के सारे दावे बेमानी हैं।

तो दूधनाथ जी की कहानियों 'में' और कहानियों 'से' जो निगाह मिलती है, उसकी एक निरंतरता उनके यहाँ चिन्हित की जा सकती है। उस निगाह की दो-तीन बहुत उभरी हुई विशेषताएँ हैं। एक, वह निगाह दुःस्वप्न जैसी भयावह और दारुण स्थितियों को उनके पूरे नंगेपन में, यद्यपि गहरी मानवीय करुणा के साथ, देखती है। दो, वह सफलता और उसके टुच्चे साधनों को उनकी पूरी बारीकी में, यद्यपि गहरी वितृष्णा के साथ, देखती है। तीन, अक्सर वह ऐसे सामान्येतर मनुष्य की निगाह होती है जो सहज-सामान्य दुनियावी व्यापार से, और इसीलिए तार्किकता के प्रचलित मुहावरे से बाहर छिटक गया है।

यह तीसरा पक्ष उनके पहले दौर में ही, 1970-71 में अंतिम रूप पानेवाली 'सुखान्त' के साथ, एक अभूतपूर्व ऊँचाई पर जाकर खत्म हो जाता है। मैं इस तीसरे पक्ष में उन असामान्य या विक्षिप्त चरित्रों को शामिल नहीं कर रहा हूँ जिनकी असामान्यता मनुष्य-विरोधी हिंसा में प्रतिफलित होती है, जैसे 'सींखचों के भीतर' का सोम, या बाद के दौर में 'खोये हुए' का डॉक्टर। वे दूधनाथ जी के यहाँ दृश्य का हिस्सा हैं, दृष्टि का नहीं। मैं जिस सामान्येतर मनुष्य की निगाह की बात कर रहा हूँ, वह कहानी में एक ऐसा प्रेक्षण-बिंदु मुहैया कराता है जहाँ से चीजों का चिरपरिचित खाँचे में दिखना बंद हो जाता है। अगर हम दुनिया की कल्पना गरारियों की शृंखला के रूप में करें तो यह मनुष्य ऐसी गरारी है जिसके दाँत किसी और गरारी के दाँतों में फँसते नहीं हैं और वह शृंखला से बाहर की गतिहीनता में गर्क हो जाता है। ऐसे मनुष्य की निगाह वही नहीं होगी जो दुनिया की गति में शामिल मनुष्यों की होती है। पहले दौर की दूधनाथ जी की अनेक कहानियों—'सपाट चेहरे वाला आदमी', 'बिस्तर', 'रीछ', 'आइसबर्ग', 'ममी, तुम उदास क्यों हो', 'सुखांत' आदि—में आपको यह निगाह मिलेगी। 'सपाट चेहरे वाला आदमी' का वाचक अपने सुख में भी भयानक नीरसता का अनुभव करता है और उसे लगता है कि दुनिया की हर चीज इस एक सवाल से पलायन है कि 'मैं जिंदा क्यों रहूँ?'

'समाज, नीति, आचरण, कर्तव्य, जिम्मेदारी—सब। क्योंकि आदमी इस अंतिम सवाल से भागता है। मुझे यह भी लगा कि आज तक जितनी किताबें लिखी गयी हैं, जितने आर्ष वाक्य कहे गए हैं, उनमें मुझे कुछ भी नहीं मिलेगा। जो पुस्तकालय जला दिए गए, जो ऋषि गूँगे होकर मर गए, वे मुझसे कुछ भी नहीं कहते, जो किताबें किसी ताबूत में गाड़ दी गयीं, वे भी अगर खोदकर लाई जाएँ तो कोई जवाब नहीं देंगी। और यह भी कि भविष्य में जो आविष्कृत होगा, जो खंडित होगा और जो बचाकर सार रूप में सामने रखा जाएगा, जो किताबें

लिखी जायेंगी, वे भी मुझे जवाब न दे सकेंगी। इसके भी आगे मुझे मालूम था कि जो मौन में मर जाएगा, जो नहीं लिखा जायेगा, वह भी इसका उत्तर नहीं है।

'बिस्तर' का कुमार, 'ममी, तुम उदास क्यों हो' की मिसेज रेवाड़ी, 'आइसबर्ग' का विनयये सभी हमें दुनिया को देखने का ऐसा बिंदु मुहैया कराते हैं जो सामान्य मनुष्य का प्रेक्षण-बिंदु नहीं है। यह विशेषता 'सुखांत' में अपने चरम पर पहुँचती है जहाँ प्रथम पुरुष वाचक निरावलंब प्रत्यक्ष का शिकार है। यह एक असफल क्रान्तिद्रष्टा की भयानक कहानी है जिसकी तुलना हिन्दी की किसी और कहानी से नहीं की जा सकती। विक्षिप्त हो चुके इस असफल क्रान्तिद्रष्टा के प्रेक्षण-बिंदु से ही कहानी प्रस्तुत की गयी है और पाठक के रूप में आपके पास इस जानकारी का भी कोई स्रोत नहीं है कि उसकी बहुत सारी बातें निरावलंब प्रत्यक्ष हैं। बावजूद इसके, कहानी के संकेत यह अनुमान लगाने का अवसर देते हैं और पागल करार दिये गये एक क्रान्तिद्रष्टा की दारुण कथा आपके सामने खुलती जाती है। एक खासी लम्बी कहानी में इस तरह के प्रेक्षण-बिंदु का सुसंगत निर्वाह एक रचनात्मक अचम्भा ही कहा जाएगा। ऐसा न तो इससे पहले की हिन्दी कहानी में कहीं मिलता है, न इसके बाद की।

लेकिन जैसा कि मैंने कहा, दूधनाथ जी की यह विशेषता 'सुखांत' में अपने चरम-बिंदु पर पहुँचकर उनके पहले दौर में ही खत्म हो जाती है। जो चीजें उनके यहाँ निरंतरता में मिलती हैं, उनमें से दो को मैंने पीछे चिन्हित किया है। दुःस्वप्न जैसी भयावह स्थितियाँ और दृश्य उनकी दोनों दौर की कहानियों में बहुत उभरे हुए हैं। पहले दौर की 'सपाट चेहरे वाला आदमी', 'रक्तपात', 'रीछ', 'सींखचों के भीतर', 'दुःस्वप्न' जैसी कहानियों में, और दूसरे दौर की सबसे चर्चित कहानियों 'माई का शोकगीत' और 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' में। ये ऐसे दृश्य और प्रसंग हैं जो हिन्दी कहानी में आपको दुबारा उदय प्रकाश के यहाँ ही मिलेंगे। 'रक्तपात' की विक्षिप्त माँ का चपर-चपर खाना, किसी को पहचाने बगैर बिना बात मुस्कुराना या खिलखिलाकर हँस पड़ना और अंत में अपनी बहू की ठोकर खाकर मर जाना याद कीजिये। पूरी कहानी पर एक गहरे अवसाद की छाया है जिसके बीच विक्षिप्त माँ का हँसना-मुस्कुराना बहुत भयावह लगता है और अंतिम प्रसंग में जिस तरह उसकी जान जाती है, वह कहानी में छाये डरावने अवसाद को एकाएक बेहद घना कर देता है। कथानायक की पत्नी अपने विमुख पति को देह-सम्बन्ध के लिए तैयार कर रही है, तभी माँ बिस्तर के पास आ खड़ी होती है और मुस्कराने लगती है। पत्नी को गुस्सा आ जाता है। वह बुढ़िया को धकेल देती है :

''आगे ईंटों का एक घरौंदा था। बच्चों ने शायद दिन में अपने खेलने के लिए बना रखा था। बुढ़िया को ठोकर लगी और वह औंधी-सी लुढ़क गयी। पत्नी गुस्से में झनझनाती हुई उसे उसी तरह छोड़कर खाट पर आकर बैठ गयीं और दोनों हाथों में अपना सिर थाम लिया।

यों ही दो-एक मिनट बीत गए। कोई कुछ नहीं बोला। अचानक उसने बुढ़िया की ओर देखा। वह वैसी ही औंधी फर्श पर पड़ी थी। वह तेजी से उठकर लपका उस ओर—माँ!

उसने बुढ़िया को उठाकर चित कर दिया। लहू की एक हल्की-सी लकीर होंठों के कोनों में दिखाई दी और फिर एक हूल-सी उठी। उसके होंठ हिल रहे थे...

जल्दी से दौड़कर पानी लाओ। उसने चीखकर पत्नी की ओर देखा।

पत्नी उठकर भागी नीचे।

बुढ़िया की आँखें खुली थीं। चेहरे की झुर्रियाँ और भी चिकनी हो गयी थीं। चाँदनी में उसका चेहरा एकदम उजली राख की तरह चमक रहा था। उसने पुकारा, माँ..। और बुढ़िया का सिर बाँहों में थोड़ा और ऊपर कर लिया। बुढ़िया ने सिर जरा-सा उसकी ओर घुमाया

और फिर हलक से खून का एक रेला उसकी गोद में कै कर दिया।''

गैर-इरादतन हत्या के इस डरावने प्रसंग पर ही 'रक्तपात' कहानी खत्म होती है। इसी तरह 'सपाट चेहरे वाला आदमी' के अंतिम प्रसंग में जो सपाट चेहरे वाला आदमी दिखता है, उसे याद कीजिए, आपके गले में भी रोटी उसी तरह अटक जायेगी जैसे उस आदमी के गले में अटकी थी :

''सीली जमीन पर एक आदमी बैठा हुआ रोटियाँ निगल रहा था। उसका चेहरा एकदम सपाट था। नीचे नथुनों से लगता था, नाक है। आँखें कहीं नहीं थीं। वह अंधा भी नहीं था। लेकिन आँखों के गढ़े कहीं नहीं थे। ऐसा लगता था भीतर आँखें, भौंहें, बरौनियाँ सब हैं और हिल रही हैं।''

यह एक वेश्या का बेटा है। वेश्या दूसरे कमरे में ग्राहक के साथ है। जब इस आदमी के गले में रोटी अटक जाती है तो वह छटपटाता हुआ माँ से पानी माँगने लगता है, लेकिन उसका ग्राहक उसे छोड़ नहीं रहा। इस पर दूसरे कमरे में मारपीट होती है। अंततः ग्राहक दफा होता है। अपने आँसुओं और ग्राहक के पसीने से लिथड़ा, चितकबरा और बदरंग चेहरा लिए वेश्या माँ रो रही है। इसके बाद कहानी का आखिरी हिस्सा है :

''उधर से वह सपाट चेहरे वाला आदमी टटोलता हुआ आया। सर्वप्रथम उसके हाथों में माँ की पिंडलियाँ आयीं। फिर उसने अंदाज से उसकी साड़ी खोज ली और उसे ढाँपने लगा। लग रहा था जैसे उसके सपाट चेहरे के भीतर ढेर सारे आँसू इकट्ठे हैं और चमड़े की मोटी झिल्ली फाड़कर अभी-अभी निकल पड़ेंगे। लेकिन उसके होंठ एकदम शांत थे और वह माँ का माथा टटोलकर चुपचाप थपथपाए जा रहा था।''

सपाट चेहरे के भीतर, चमड़े की मोटी झिल्ली के नीचे आँखों, भौंहों, बरौनियों और आँसुओं की हरकत का जैसा बिम्ब इस कहानी में उभरता है, और यह बिम्ब जिस प्रसंग में स्थित है, दोनों बेहद बेचैन करनेवाले हैं। इतना ही बेचैन करनेवाला बिम्ब इस कहानी के मध्य में भी आता है, जब कथानायक/वाचक अपने डॉक्टर के पूछने पर बताता है कि एक समय वह भी रोता था :

''हाँ... एक बच्ची को देखकर। उसे सूखे का रोग था। एकदम पतली त्वचा में से उसकी नसों का नीला खून चलता हुआ दिखता था। जब वह हँसती थी तो लगता था रो रही है। उसका चेहरा फैल जाता बेतरह। छः महीने की उम्र में ही उसकी झुर्रियाँ अस्सी साल की बुढ़िया से भी बढ़ गयी थीं। वह नींद में अजीब ढंग से कराहती थी। ... बहुत देर चुमकारने पर जो कभी मुस्कुराती तो लगता जैसे रो रही है। ... फिर एक दिन वह मर गयी। मरने के उस क्षण में उसकी जीवनी-शक्ति का अंदाज लगा मुझे। जैसे पत्थर के दो पाटों के बीच चँप गया आदमी बेतरह निकलने की कोशिश करे और निकलते-निकलते ऐंठ जाए..''

दूधनाथ जी की कहानियाँ ऐसे दारुण और भयावह बिम्बों-प्रसंगों से भरी पड़ी हैं। सन् 90 के बाद की कहानियों में भी सर्वाधिक चर्चित 'माई का शोकगीत' और 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' में इसकी निरंतरता मिलती है। 'माई का शोकगीत' में मुसाफिर सिंह द्वारा कनियाँ की पिटाई के प्रसंग दहला देनेवाले हैं तो 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' कहानी की पूरी दुनिया ही बेहद भयावह है—औरतों की तिजारत करनेवाले बाप-बेटे की कहानी जिन्हें इस बार गलती से गर्भवती स्त्री हाथ लग गयी है; गयी रात एक बनकटे में स्त्री को सीकड़ से छान कर बेटा रखवाली कर रहा है और बाप ग्राहक लाने गया है। यह उपन्यासिका सरीखी लम्बी कहानी एक लम्बे दुःस्वप्न की तरह लगती है, वैसे ही जैसे दो-ढाई साल पहले अगवा की गयी और कई हाथों से गुजरती इन बाप-बेटे

तक पहुँची हुई उस गर्भवती स्त्री को ''कभी-कभी लगता है कि वह लगातार सोयी हुई है। और यह सब सपने में चल रहा है। दो-अढ़ाई साल हो गए और उसकी नींद खुलने का नाम ही नहीं लेती। उसे लगता है कि जब वह नींद से अँगड़ाई लेती हुई उठेगी तो माँ के बिछौने पर होगी। वह जोर से चीखेगी तो माँ दौड़ी हुई आयेगी। माँ को देखते ही उसे लगेगा कि वह सपना देख रही थी। धीरे-धीरे उसका डर दूर हो जाएगा। माँ बार-बार पूछेगी कि वह इतने जोर से चिल्लायी क्यों? लेकिन वह कुछ नहीं बतायेगी। इतने डरावने सपने को बताने में भी डर लगेगा।'' कहानी के आखिरी हिस्से में बनकटे में लोलुप सियारों से घिरी हुई स्त्री के प्रसव और उसके बाद स्त्री के प्रति सदय हो आये बेटे की बाप के साथ जानलेवा लड़ाई के दृश्यों में कहानी की भयावहता अपने चरम-बिंदु पर पहुँचती है और अंततः जंगली सियारों और मानव-सभ्यता के सियारों से बचकर अपने नवजात शिशु को कंधे से चिपकाए बनकटे से बाहर निकलती स्त्री के सकारात्मक दृश्य के साथ कहानी खत्म होती है।

आप पूछ सकते हैं कि दोनों दौरों की कहानियों—मिसाल के लिए, 'रक्तपात' और 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे'—की भयावहता में क्या साम्य है? क्या दोनों बिलकुल अलग-अलग चीजें नहीं हैं? निश्चित रूप से, इनमें यह अंतर है कि 'रक्तपात' में जो भयावह संवेदनहीनता एक निजी दायरे में चित्रित है, वह 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' में एक विस्तृत सामाजिक आयाम में पसर गयी है। अँधेरे और विषाद को पकड़ने वाली निगाह निजी संबंधों के दायरे से निकलकर एक सामाजिक आयाम ग्रहण कर लेती है। पर निगाह वही है। पारिवारिक-अंतर्वैयक्तिक दायरों में फैलती संवेदनहीनता के प्रति जो संवेदनशील नहीं है, वह बड़े सामाजिक दायरों में फैलती संवेदनहीनता को कैसे समझेगा? निरंतरता इसी अर्थ में है। फिर यह भी ध्यान में रखने की जरूरत है कि पहले दौर में भी दूधनाथ जी के यहाँ बड़े सामाजिक फलक पर अपने अर्थ की कौंध फेंकनेवाले भयावह दृश्य नदारद नहीं हैं। पीछे 'सपाट चेहरे वाला आदमी' की चर्चा हुई है। उस कहानी का स्वर जितना भी व्यक्ति-केन्द्रित प्रतीत हो, उसकी अंतर्वस्तु के सामाजिक निहितार्थ बहुत मुखर हैं। उसी दौर की एक कहानी है, 'दुःस्वप्न', जिसमें शाखा लगानेवालों के हाथ एक 'मुसलमंटे' का बेरहमी से कत्ल किये जाने का भयावह प्रसंग है। यह 1966 की कहानी है जिसके 'टोन' में सामाजिक सजगता वाली कहानी का कोई लक्षण नहीं है, लेकिन आश्चर्यजनक रूप से यह कलकत्ता में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की कारस्तानियों के फैलाव की कहानी है। एक पढ़त में इस बात को समझना थोड़ा मुश्किल होता है तो इसलिए कि प्रस्तुति की पेचीदगी ने कथा (यानी 'इवेंट्स' और 'एक्सिस्टेंट्स' के समुच्चय) को उलझा दिया है। उस दौर में दूधनाथ जी कहीं-न-कहीं उलझाव को अपने समय के साथ चलेवाली कहानियों का अनिवार्य लक्षण मानते थे। 'दुःस्वप्न' कहानी का ही एक वाक्य है, ''क्या तुम आज के आदमी की जिंदगी में भी सुलझी हुई विश्वसनीय बातें देखना चाहती हो—कहानियों की तरह!'' सुलझी हुई बात करनेवाली कहानियों के प्रति जो हिकारत इस कथन में झलकती है, उसी ने उन्हें संभवतः सुलझे हुए प्रस्तुति-शिल्प से दूर रखा था, जिसके कारण सामाजिक रूप से सजग कहानियों के सन्देश भी बहुत मुखर नहीं हो पाते थे। बाद के दौर में यह उलझाव दूर हुआ, और उसका दूर होना भयावह और दारुण दृश्यों के सामाजिक परिपार्श्व के पूरी तरह उभर आने का एक कारण बना। उनके यहाँ दोनों दौरों में नजर आनेवाले बदलाव और निरंतरता को हम इस तरह भी समझ सकते हैं।

निरंतरता में मिलनेवाली दूसरी चीज है, सफलता और उसके टुच्चे साधनों के प्रति वितृष्णा से भरी मारक निगाह। दुनियावी अर्थ में सफल माने जानेवाले चरित्र उनकी कहानियों में लगातार आते हैं और हर बार उन्हें देखने-दिखाने वाली निगाह में गहरा व्यंग्य या आक्रोश या और

कुछ नहीं तो बेबस अस्वीकार होता है। कुछ कहानियों में ऐसे चरित्र बहुत अहम किरदार में हैं—पहले दौर की 'दुर्गन्ध', 'आइसबर्ग', 'प्रतिशोध' जैसी कहानियों में और दूसरे दौर की 'हुँड़ार', 'आखिरी छलाँग', 'गुप्तदान', 'नपनी' आदि में। यह पक्ष पर्याप्त विस्तृत विवेचन की माँग करता है, इसलिए फिलहाल इसे बाद के लिए छोड़ रहा हूँ, पर 'सुखांत' का एक लंबा उद्धरण यहाँ इस लोभ से दे रहा हूँ कि उससे सफल लोगों को परखने वाली दूधनाथ जी की गहरी नजर की झलक मिल जाती है :

''कुछ बड़े दूरदर्शी किस्म के लोगों से मेरा सम्बन्ध था। ऐसे लोग जो छोटे-से-छोटा काम भी काफी योजनाबद्ध तरीके से करते हैं। उन्होंने समय-समय पर मुझे काफी रुपये कर्ज दिए थे। जितनी बार वे रुपये देते, उनकी मृदुभाषिता और बढ़ती जाती थी। वे जैसे इसकी ताक में रहते थे। वे अपने व्यवहार से यह प्रकट करते कि जैसे जितनी देर वे मदद नहीं करते, उतनी देर बड़े दुःखी रहते हैं। उन्हें दुनिया उचाट और बेकार लगती है। उन्हें लगता है कि जीवन में अब वे कभी कोई अच्छा काम नहीं कर पायेंगे जिससे उन्हें संतोष हो। वे यह बताते कि यही वे अवसर हैं जब वे अपने श्रम और अपने जीवन को सार्थक समझते हैं।... कि मैं संकोच में पड़कर उन्हें दुःखी कर देता हूँ... चलते-चलते वे सिर्फ इतना ही दरियाफ्त करते कि आजकल मैं क्या कर रहा हूँ? बड़ी सादगी से। मासूमियत से। जैसे यूँ ही पूछ लिया हो। मैं अपनी योजनाएँ और समस्याएँ और बेकारी उनके सामने रखता। उनकी आँखें एकाएक गंभीर हो जातीं। फिर न जाने क्या सोचकर वे संतोष का भाव जाहिर करते। मुस्कुराते। कंधे उचकाते और मेरी पीठ थपथपाते हुए चल देते। मेरे उस डर का वैकुअम फूलकर और बड़ा हो जाता। वे मेरे इन सारे कार्यक्रमों से, मेरी असफलताओं से कैसे अपना पैसा वसूल कर पायेंगे! वे कौन लोग हैं?... क्या उनके बारे में जो कुछ भी मुझे मालूम है, वही सच है? वे मुझे अपने किस तेल या मोटर या कील या जूते का इश्तेहार बनायेंगे!... मेरा डर मुझे ढँक लेता—कि तभी वे अपनी मुस्कानें बिखेरते हुए अचानक लौट आते और कहते, ''माई बॉय, डोंट बी नर्वस। गो ऑन। गो ऑन। वी विल सी व्हाट कम्स आफ्टर।'' इसके बाद वे मुझे गोश्त और शराब की दावत देते। इससे क्या यह साबित नहीं होता कि उन्हें मेरे ऊपर नाज था! वे भविष्य की किसी अनाम आशा पर अपना पैसा लगाए बैठे थे और अपनी मानवीयता के नाटक से मुझे लगातार आक्रान्त कर रहे थे...।''

पीछे मैंने ऐसे प्रेक्षण-बिंदु की चर्चा की थी जहाँ से चिरपरिचित खाँचे में चीजों का दिखना बंद हो जाता है। 'अपने जमाने के गहरे विध्वंसक अर्थों के अन्धकार में गुम' 'सुखांत' कहानी का यह असफल क्रांतिकारी अपने 'दूरदर्शी' मददगारों की मंशा को जिस तरह देख रहा है, वह किसी प्रचलित अर्थ में सामान्य मनुष्य के प्रेक्षण-बिंदु से मुमकिन नहीं है। सफल लोगों की परिष्कृत चालों, टुच्चेपन, घिन और उबकाई पैदा करनेवाली जोड़-तोड़ को दूधनाथ जी अपनी कई कहानियों में उधेड़ते हैं। कहीं यह बहुत मार्मिक कथा-विधान में फलित होता है, जैसे 'आइसबर्ग' और 'खोये हुए' में, तो कहीं तीखे हास्य-व्यंग्य का रूप लेता है, जैसे 'दुर्गन्ध', 'गुप्तदान' या 'हुँड़ार' में। इनमें से 'आइसबर्ग' पहले दौर की कहानी है तो 'खोये हुए' दूसरे दौर की। 'दुर्गन्ध' पहले दौर की कहानी है तो 'गुप्तदान' और 'हुँडार' दूसरे दौर की। इस पक्ष पर विस्तार से बात फिर कभी, पर इतना निश्चित है कि इसे भी दूधनाथ जी की कहानियों में मौजूद निरंतरता के रूप में चिन्हित किया जाना निराधार न होगा।

यूनिवर्सिटी 'सदाचारी' कमीनों का कबाड़ख़ाना है

विभु प्रकाश सिंह

अगस्त 2001 में 'कथादेश' पत्रिका ने दलित कहानी विशेषांक प्रकाशित किया। इस विशेषांक में बस दो लम्बी कहानियाँ प्रकाशित हुईं। औपन्यासिक विस्तार लिए हुए दूधनाथ सिंह की लम्बी कहानी 'निष्कासन' और अखिलेश की 'ग्रहण'। कुछ ही समय पश्चात् सन् 2002 में 'निष्कासन' का प्रकाशन राधाकृष्ण प्रकाशन से उपन्यास रूप में हुआ। जिस दौर में यह कृति प्रकाशित हुई उस दौर में दलित लेखन को लेकर दलित बनाम गैर दलित की बहस चरम पर थी। बहस समाप्त अब भी नहीं हुई है पर बहस की तल्ख़ी जरूर कम हुई है।

दूधनाथ सिंह का लम्बा सम्बन्ध विश्वविद्यालयी जीवन से रहा है। भारतीय विश्वविद्यालय जिन्हें ज्ञान और उज्ज्वल चेतना के प्रसार का वाहक होना था, वे क्रमशः ओछी राजनीति, सवर्णवाद, स्वार्थपरकता और जड़ता के गढ़ बनते गए। इसी संड़ाध भरी विश्वविद्यालयी पृष्ठभूमि में एक दलित लड़की के संघर्षों का आख्यान है—निष्कासन। उपन्यास के प्रारम्भ में लेखक ने प्रेमचंद का एक कथन उद्धृत कर अपना पक्ष स्पष्ट किया है—''...जो कुछ असुन्दर है, अभद्र है, मनुष्यता से रहित है, वह उसके लिए (साहित्यकार के लिए) असह्य हो जाता है। उस पर वह शब्दों और भावों की सारी शक्ति से वार करता है। ... जो दलित है, पीड़ित है, वंचित है- चाहे वह व्यक्ति हो या समूह—उसकी हिमायत और वकालत करना उसका फर्ज है।''

उपन्यास का कथानक इसकी मुख्य चरित्र दलित 'लड़की' के विश्वविद्यालय एवं छात्रावास में प्रवेश से लेकर उसके निष्कासन तक फैला हुआ है। प्रवेश और निष्कासन के विस्तार के बीच में है लड़की का दीर्घ और अनवरत संघर्ष और अन्त में किया गया उसका आत्मघात। विश्वविद्यालय में प्रवेश लेकर लड़की उसी विश्वविद्यालय में पहले से अध्ययनरत अपनी बड़ी बहन के साथ मृदुला साराभाई छात्रावास में अतिथि छात्रा के रूप में रहने लगती है। छात्रावास की अधीक्षिका 'मैम' और उनके पति शार्दूल विक्रम सिंह विश्वविद्यालय द्वारा निर्धारित अतिथि शुल्क के अतिरिक्त अवैध दस हजार रुपए की माँग करते हैं। दोनों बहने इतनी बड़ी धनराशि

एकमुश्त दे पाने में अक्षम हैं। एक वामपंथी छात्र संगठन में सक्रिय अपने मित्र मनोज पाण्डेय की मदद से बड़ी बहन रुपए जमा करती है। शार्दूल विक्रम सिंह भी छात्र जीवन में उसी वामपंथी छात्र संगठन के सक्रिय सदस्य थे। विश्वविद्यालय की नौकरी में आ जाने के बाद भी उनका जुड़ाव उस छात्र संगठन से सम्बन्धित वामपंथी दल से था। मनोज इस बात पर हैरान होता है कि पैसे की इस अनुचित माँग में कामरेड शार्दूल विक्रम सिंह शामिल हैं। छात्रावास की सवर्ण छात्राओं का व्यवहार लड़की के प्रति अपमानजनक रहता है। वे अपने हाव-भाव तथा बातों से लड़की की जाति के प्रति घृणा प्रदर्शित करती रहती हैं।

आगे के घटनाक्रम में बड़ी बहन की तदर्थ नियुक्ति गोपेश्वर (अब उत्तराखंड) के एक कॉलेज में हो जाती है। लड़की की देहयष्टि पर मोहित मैम उसे छात्रावास में स्वयं द्वारा संचालित देह व्यापार में शामिल करने का निर्णय लेती हैं। समस्या लड़की के नकार और प्रतिरोध से उत्पन्न होती है। क्रोधित मैम पति को आदेशित करती हैं 'कल ही निकालो साली को'। लड़की से पुनः दस हजार रुपए की माँग की जाती है। लड़की के असमर्थता प्रकट करने पर शार्दूल विक्रम सिंह इच्छा प्रकट करते हैं 'रुपया नहीं दे सकती तो कुछ और दो'। इस कलुषित मानसिकता और अन्याय के विरुद्ध लड़की एक लम्बी लड़ाई लड़ती है। इस लड़ाई का सिरा विश्वविद्यालय प्रशासन से लेकर राष्ट्रपति-राज्यपाल तथा प्रधानमंत्री-मुख्यमंत्री तक फैला हुआ है। इनके बीच में उच्च शिक्षा मंत्री, प्रमुख सचिव (गृह), प्रमुख सचिव (सतर्कता), राष्ट्रीय एवं प्रादेशिक अनुसूचित जाति एवं जनजाति आयोग इत्यादि भी हैं। सत्ता पक्ष के अतिरिक्त विपक्ष, शोषण के विरुद्ध संघर्ष का दम भरने वाले वामपंथी दल, लड़की की जाति से सम्बन्धित नेताओं के पास भी न्याय की आशा में लगाई गई दौड़ व्यर्थ सिद्ध होती है। अन्त में लड़की भारतीय जन के विश्वास के अन्तिम अरण्य न्यायालय की शरण में जाती है और वहाँ से भी पराजित होती है। राजनैतिक, संवैधानिक या सामाजिक तन्त्र का कोई हिस्सा लड़की की मदद नहीं करता। विश्वविद्यालय प्रशासन अपने मनोनुकूल समितियाँ और रिपोर्ट बनाकर लड़की को छात्रावास से निष्कासित करता है तथा आगे की अनुशासनात्मक कार्यवाही की पृष्ठभूमि भी तैयार कर लेता है। संघर्ष और न्याय की अन्तिम दहलीज़ भी छू चुकी लड़की मूक प्रतिरोध के रूप में आत्मघात का चुनाव करती है। मृदुला साराभाई छात्रावास- जहाँ से उसका निष्कासन हुआ था—के परिसर में ही वह आत्महत्या करती है और अपनी इस आत्महत्या, जो सही मायने में उसकी सामाजिक हत्या है, के लिए वह सबको क्षमा कर देती है 'मेरी मृत्यु के लिए कोई जिम्मेदार नहीं है—तीस नम्बर'।

इस छोटे से उपन्यास में लेखक तमाम सामाजिक विद्रूपताओं को उजागर करता है। विद्रूपताओं के उद्घाटन में लेखक अपनी पक्षधर विचारधारा को भी ढील नहीं देता। शार्दूल विक्रम सिंह जैसा छद्म वामपंथी चरित्र हो या लड़की की सहायता करने में वामपंथियों की उदासीनता, सबका चित्रण यथार्थपरक है। भारतीय समाज में छद्म वामपंथियों का सबसे बड़ा समूह विश्वविद्यालयों में है। ये विचारधारा एवं संगठनों का उपयोग रणनीतिक सीढ़ी की तरह करते हैं। आज जब राजनीतिक जगत में प्रतिद्वन्द्वी विचारधारा की प्रबलता है तो ऐसे छद्म चरित्रों ने विचारधारा की केंचुल त्यागने में देर नहीं लगायी। कुछ समय पूर्व के घनघोर मार्क्सवादी बौद्धिक अब लकदक राष्ट्रवादी हो चुके हैं। इसी तरह के अवसरवादी वामपंथी चरित्र के प्रतिनिधि प्रतीक के रूप में शार्दूल विक्रम सिंह आते हैं जो 'गर्भ से ही लाल लंगोट और लाल झंडे के साथ पैदा हुए थे।' उन्होंने दूर दृष्टि और पक्के इरादे के साथ पढ़ाई पूरी की और विभाग में नियुक्ति के प्रत्याशी बने। पार्टी ने भी 'अपने इस ज्वालामुखी के लिए सारे संसाधन झोंक

दिए' और उन्हें विभाग पहुँचा दिया। नियुक्ति के पश्चात इस चरित्र के विचार एवं व्यवहार की फाँक स्पष्ट होती है। वे एक रिश्वतखोर बाबू की तरह अपनी पत्नी एवं छात्रावास की अधीक्षिका के सारे कुकर्मों में सहभागी बनते हैं। 'रुपये के बिना विचारों की रक्षा भी सम्भव नहीं है' नारे के साथ वे अतिथि छात्राओं से अवैध वसूली करते हैं और छात्रावास में हो रही वेश्यावृत्ति से आँखे बन्द किए रहते हैं। लड़की से रुपए न दे पाने के बदले में 'कुछ और' की माँग करते हैं साथ ही विश्वविद्यालय की घटिया जातीय राजनीति में संलिप्त होकर लड़की को निष्कासित करवाने में प्रमुख भूमिका निभाते हैं।

शोषण के विरुद्ध एवं न्याय के पक्ष में संघर्ष की बात करने वाले वामपंथी दल की भूमिका का बयान भी इस उपन्यास में शामिल है। वैचारिक स्तर पर सघन संघर्षरत दल वास्तविक धरातल पर नितान्त पैसिव हो जाता है। पदाधिकारियों एवं कार्यालय दोनों में 'एक बासी ठंढापन सर्वत्र व्याप्त था ... बाहर धूप थी, गर्मी भी लेकिन भीतर घुसते ही एक सीलन भरी ठंड।' सचिव महोदय के अनुसार वक्त ऐसा है जिसमें पार्टी बनाम दलित के लफड़े में नहीं फँसना चाहिए। क्योंकि शार्दूल विक्रम सिंह कॉडर से आते हैं इसलिए दलित पक्षधरता के बावजूद वे पार्टी का हित पहले देखेंगे। सचिव यह भी याद दिलाते हैं कि दलितवाद ने पार्टी का बहुत नुकसान किया है और मामले का सार्वजनिक होना पार्टी के अहित में होगा। लड़ना तो दूर की बात मामले की सार्वजनिकता से पार्टी भयभीत है। अपने उपन्यास 'आखिरी कलाम' में भी दूधनाथ सिंह वामपंथी दलों की इस पैसिविटी पर चोट करते हैं। आखिरी कलाम के तिरासी वर्षीय कथा नायक तत्सत पाण्डेय का कथन है ''जो इस बर्बरता को रोक नहीं सकते उन्होंने जनता पर से अपना नैतिक दावा उठा लिया है।''

भारतीय समाज में व्याप्त जातिवाद विश्वविद्यालयों में पहुँचकर अधिक संकीर्ण और घातक हो जाता है। ऐसा लगता है यहाँ शिक्षायुक्त मस्तिष्क 'मुक्त' न होकर 'गर्हित' होते चले जाते हैं। ऊपर से आदर्शों की परत चढ़ाए इनके दाँव-पेंच इतने महीन और मारक हो जाते हैं कि बचना असम्भव है। छात्रावास की अधीक्षिका 'मैम' से लेकर विश्वविद्यालय के सारे पदाधिकारी सवर्ण हैं। मामले की जाँच के लिए गठित समितियों की 'विश्वसनीयता' बनाए रखने के लिए दलित व्यक्तियों का 'जुगाड़' किया जाता है। पहली समिति के लिए एक ऐसे दलित प्राध्यापक की 'खोज' की जाती है जिसकी प्रोफ़ेसरशीप कार्य-परिषद में 'फँसी' रहती है। दूसरी समिति के लिए एक बूढ़ी गाँधीवादी दलित महिला को चुना जाता है जो स्मृति विभ्रम की शिकार है और जिसके बारे में प्रोफेसर त्रिपाठी विश्वस्त हैं कि वो दस्तख़त करने चली आएँगी। दूसरी समिति में अधीक्षिका- जिस पर उत्पीड़न का आरोप है - भी सदस्य रहती हैं। लड़की के विरोध के बाद भी उन्हें हटाया नहीं जाता। इन 'जुगाड़' के दो दलित सदस्यों को छोड़कर दोनों समिति के सारे सदस्य सवर्ण रहते हैं। ज़ाहिर है निर्णय भी इकतरफा और लड़की के विरुद्ध होगा। दूसरी समिति की रिपोर्ट तो शार्दूल विक्रम सिंह स्वयं तैयार करते हैं। इस प्रकार की नाटकीय जाँच समितियाँ हमारे शिक्षा संस्थानों की सच्चाई हैं। जातिवाद की सामाजिक जड़ें इतनी गहरी हैं कि मनोज पाण्डेय जैसा उच्च शिक्षित, वामपंथी विचारधारा का लड़का जो हर संघर्ष में कदम दर कदम लड़की के साथ होता है, वह भी लड़की के शादी के प्रस्ताव पर पिताजी का हवाला देकर पीछे हट जाता है।

निष्कासन में उन दलित राजनेताओं की भूमिका की पड़ताल की गयी है जो सामाजिक न्याय का नारा देते हुए संसद और विधानसभाओं तक तो पहुँच जाते हैं परन्तु सामाजिक अन्याय के विरुद्ध आवाज़ उठाने का साहस नहीं रखते। कभी आर्थिक स्वार्थ सामने आते हैं तो कभी

पार्टी लाइन। लड़की एक सजातीय, तीन बार के पूर्व विधायक एवं आबकारी मंत्री के पास सहायतार्थ जाती है। मंत्री जी एक 'छोकरी' के लिए छात्रावास में फल और सब्जी के ठेके को खोना नहीं चाहते। वे लड़की को चेतावनीयुक्त सलाह देते हैं 'मायावती बनना चाहती है तू और यूनिवर्सिटी के पण्डों के बीच में?' लड़की अपने क्षेत्र के सांसद—जो लड़की के पिता के अनुसार दलितों के मसीहा हैं—के पास जाती है और वहाँ से धकियाकर निकाली जाती है। दोनों राजनेता हिन्दुत्व समर्थक दल से सम्बद्ध हैं। जब नींव में ही वर्णाधारित धर्म समाहित हो तो निर्माण श्रेष्ठ हो ही नहीं सकता। पूर्व आबकारी मंत्री का दर्द छलक ही आता है 'इनकी पार्टी में रहकर जातिवादी राजनीति करूँ? कर सकता हूँ क्या?' डेढ़ दशक पश्चात भी हम देख रहे हैं कि समृद्ध दलित आन्दोलनों से निकले हुए दल असमानता के पोषक धर्माधारित दलों से चिपके पड़े हैं। समानता और न्याय के उनके प्रश्न और नारे भविष्य के लिए स्थगित हैं।

भारतीय लोकतन्त्र के तथाकथित 'चतुर्थ स्तम्भ' की सामयिक दुर्गति जगज़ाहिर है। भारतीय मीडिया की सत्ता की चाकरी भरी चाटुकारिता का भयानक दौर है यह। भविष्य में जब भारतीय मीडिया का इतिहास लिखा जाएगा तो निश्चित तौर पर मीडिया की मुख्य धारा का यह दौर शर्मनाक माना जाएगा जिसमें तर्कों और तथ्यों को तिलांजलि देकर कुतर्क और झूठ को प्रस्थापित किया जा रहा है। दूधनाथ सिंह मीडिया के इस भावी चरित्र को एक दशक पूर्व ही अच्छी तरह भाँप लेते हैं। 'आखिरी कलाम' में उन्होंने विस्तार से मीडिया के इस चरित्र को उद्घाटित किया है जिसमें झूठ, अफवाह और कुतर्क के बल पर सत्य तथा मुद्दे गायब कर दिए जाते हैं जिससे उन्माद फैलाने में और मदद मिलती है। मीडिया के इस कृष्ण पक्ष की झलक निष्कासन में भी है जिसमें अखबार वाले कुलपति और अधीक्षिका से 'रिश्तों' के आधार पर खबर 'बनाते' हैं। किसी अखबार में विस्तृत रिपोर्ट नहीं छपती और न ही कोई अखबार 'दलित छात्रा का उत्पीड़न या उत्पीड़न की कोशिश' जैसा शीर्षक देता है। मामले की लीपा-पोती में मीडिया उत्पीड़कों के साथ है।

अपने इन दोनों उपन्यासों में भविष्य में एक और बहुतायत से घटित होने वाली प्रवृत्ति की ओर संकेत लेखक करता है। वह प्रवृत्ति है—अपनी नाकामियों और नाकारेपन को कम्युनिस्टों के नाम उपयोग की चादर से ढँकने की। प्रदेश के राज्यपाल जो दलित उत्पीड़न के विरुद्ध हैं विश्वविद्यालय का दौरा करते हैं। इस दौरे में लड़की के प्रतिवेदन को वे संजीदगी से लेते हुए कुलपति से प्रश्न करते हैं। प्रश्न के उत्तर में कुलपति अपने अनिवार्य फलाँ पिट्ठू प्रो. त्रिपाठी द्वारा प्रदत्त 'गुन्ताड़ा' फेंकते हैं 'सब कम्युनिस्टों की साज़िश है सर!' फिर सम्पूर्ण घटनाक्रम की व्याख्या इसी 'साज़िश' के प्रकाश में करते हुए वे लड़की को मात्र 'मोहरा' घोषित करते हैं। कम्युनिस्टों का नाम सुनकर सत्ता दल समर्थित दलित राज्यपाल को घटना से सम्बन्धित 'फाइल' देखने की आवश्यकता महसूस नहीं होती। हालिया समय में कम्युनिस्टों को दोष देकर अपने कुकर्मों पर पर्दा डालने की घटनाओं में खूब वृद्धि हुई है। अभी जल्द ही देश के एक प्रसिद्ध विश्वविद्यालय में एक लड़की से अभद्रता हुई। विरोध और सुरक्षा की माँग करने पर प्रॉक्टोरियल बोर्ड के लठैतों और पुलिस ने उन्हें दौड़ाकर पीटा। छात्राओं से मिलने की उचित और साधारण सी बात को खारिज करने वाले कुलपति ने निजी राष्ट्रीय समाचार चैनलों पर आकर पूरे घटनाक्रम से अपने दायित्व को बेहयाई से अलग करते हुए घटना और विरोध का पूरा ठीकरा 'बाहरी तत्त्वों' पर मढ़ा। बाहरी तत्त्वों से उनका स्पष्ट आशय कम्युनिस्टों से था। इस तरह की बढ़ती प्रवृत्ति के क्रम में यह एक छोटा उदाहरण भर है।

'निष्कासन' के आने के बाद दूधनाथ सिंह पर दो आक्षेप लगे। एक आक्षेप रचना के

भीतर से उपजा दूसरा बाहर से। बाहर का आक्षेप एक सवर्ण, गैर दलित लेखक का दलित विषय पर लेखन करना रहा। इस बात को लेकर कई दलित लेखकों ने बहुत तीखे आक्षेप किए। अपनी आलोचनात्मक पुस्तक 'दलित साहित्य के प्रतिमान' की भूमिका में डॉ. एन. सिंह ने अखिलेश की कहानी 'ग्रहण' के साथ निष्कासन को 'दलितों के प्रति घृणा का प्रचार करने' वाली कहानी माना है, जिनके माध्यम से दोनों 'सवर्ण लेखकों के मन में दलितों के प्रति पहले से रची-बसी घृणा खुलकर बाहर आ गई है।' निष्कासन के सन्दर्भ में मन की घृणा खुलकर सामने आने की पहचान डॉ. एन. सिंह कथानक के एक प्रसंग से करते हैं जिसमें छात्रावास की अधीक्षिका महिष्मती सिंह लड़की को अतिथि के सम्मुख परोसने के पूर्व तैयार करती हैं। तैयार करने के क्रम में 'मैम ने चुन्नटें बनायीं और खोंस दीं। खोंसते हुए, पता नहीं जानबूझकर या अनजाने, उनकी उँगलियाँ कुछ ज्यादा ही भीतर तक चली गयीं। उनके चेहरे पर एक अश्लील मुस्कुराहट और घिन एक साथ उभरी और उन्होंने अपनी उँगलियाँ यों खींचीं जैसे बिच्छू का डंक छू गया हो। वे बगल के वाशबेसिन पर गयीं और लिक्विड डिटॉल साबुन से हाथ धोया, पोंछा और ड्रेसिंग टेबिल के पास जाकर उँगलियों में क्रीम मला। क्रीम मलते हुए, लड़की को शीशे में देखते हुए उनके मुँह से निकला—स्टुपिड... गँवार।' इस प्रसंग- जिसमें स्वयं अनैतिक कार्यों में लिप्त एक सवर्ण स्त्री दलित लड़की से स्पर्श के पश्चात साबुन से हाथ धुलती है और क्रीम लगाती है- के आधार पर डॉ. एन. सिंह लेखक को कटघरे में खड़ा करते हैं। उनके अनुसार दलित लड़की के स्पर्श मात्र से जिस घृणा की अभिव्यक्ति कथाकार ने की है, वह उनकी निजी मनोवृत्ति है। किसी रचना के हर पात्र के कार्य-व्यापार को रचनाकार की मंशा या मनोवृत्ति नहीं ठहराया जा सकता। कथानक की संरचना के आवश्यकतानुसार घटनाक्रम, पात्रों का कार्य-व्यापार निर्धारित होता है, ऐसे में किस-किस पात्र के कार्य-व्यापार के लिए हम लेखक की मनोवृत्ति को जिम्मेदार ठहराएँगे। अगर यही प्रसंग किसी दलित लेखक की कहानी में आए, तो क्या उस सवर्ण महिला पात्र की मनोवृत्ति का चित्रण करने वाले दलित लेखक के सन्दर्भ में भी यही बात डॉ. एन. सिंह कह सकते हैं? एक पात्र की अस्पृश्यता की मनोवृत्ति और व्यवहार को रचनाकार पर आरोपित करना अनुचित है। और अगर हम प्रसंग को ध्यान से पढ़ें तो हाथ धुलने का कारण अस्पृश्यता से इतर भी है।

आक्षेप का दूसरा कारण जो रचना के भीतर से उपजा है—लड़की द्वारा अन्त में की गयी आत्महत्या। तमाम पाठकों और आलोचकों के अनुसार यह आत्मघात रचना को कमजोर बनाता है। दलित साहित्यकारों ने इस आत्मघात को दलित विरोधी कहा। दरअसल जनमानस में एक सामान्य विचार व्याप्त है कि आत्महत्या करने वाला कायर होता है। यह विचार आत्महत्या के जटिल मनोवैज्ञानिक कारकों को दरकिनार कर एक सहज सामान्यीकरण मात्र है। प्रत्येक आत्महत्या कायरता नहीं होती और कुछ आत्महत्याएँ वस्तुतः 'हत्या' होती हैं। संघर्षरत लड़की ने न्याय के लिए हर प्रयत्न किया। सामाजिक, राजनैतिक संस्थाओं से लेकर न्यायालय तक लड़ाई और उस लड़ाई से थक चुकी लड़की द्वारा किया गया आत्मवध कायरता नहीं बल्कि एक तरह का नैतिक प्रतिरोध है। एक व्यक्ति अनन्तकाल तक संघर्ष नहीं कर सकता। सत्ता की प्रचण्ड शक्ति उसे पस्त कर सकती है, तोड़ सकती है। संघर्ष की उस टूटन को न समझकर इकहरी धारणा के तहत कायरता का निर्णय सुना दिया जाता है। लड़की का आत्मवध पाठक के मन में क्रोध और प्रश्न पैदा करता है। सरलीकृत समाधान प्रस्तुत करने वाली कृति की अपेक्षा प्रश्न पैदा करने वाली कृतियाँ अधिक महत्त्वपूर्ण होती हैं। 'निष्कासन' का यह अन्त कथानक के आन्तरिक कार्य-व्यापार से उपजा स्वाभाविक अन्त है। उपन्यास का अन्तिम वाक्य

'और उसके भी आगे जो बाकी है, वह बहुत कुछ बाकी है' यह संकेत करता है कि भविष्य में हर संघर्ष का अन्त आत्मवध नहीं होगा, स्थितियाँ अनिवार्यतः बदलेंगी।

एक बहुत पुराने साक्षात्कार में दूधनाथ सिंह ने कहा था कि 'अपनी जानकारी के दायरे के बाहर कुछ नहीं लिखता। जो मेरा घर, परिवार, इलाहाबाद, कलकत्ते का माहौल है उसके बाहर नहीं गया मैं। और यह कहना तो थोड़ी बड़बोली होगी, लेकिन मुझे लगता है कि दो-चार-पाँच उपन्यास तो लिखे ही जा सकते है। अगर मैं ठीक ढंग से लिखूँ और अगर जीवित रह जाऊँ। और बेकार वक्त बर्बाद न करूँ।' लेखन में एक लम्बा अन्तराल लेकर उन्होंने वक्त तो बर्बाद किया परन्तु लम्बा जीवन और 'ठीक ढंग' के लेखन से उन्होंने उस वक्त की भरपायी की। दूधनाथ सिंह के समृद्ध एवं वैविध्यपूर्ण रचना संसार तथा उपन्यास के रूप में 'आखिरी कलाम' की वृहत्तर प्रसिद्धि के बीच 'निष्कासन' उनके निकटतम जीवनानुभव का अभिन्न अंग है।

आलोचना का लावण्य
(संदर्भ : निराला : आत्महंता आस्था)

ए. अरविंदाक्षन

मैथ्यु अरनॉल्ड का ऑक्सफोर्ड भाषण आलोचना के क्षेत्र में पर्याप्त चर्चा का विषय रहा है। उनका विषय रहा 'आलोचना का धर्म'। उन्होंने कहा कि आलोचक का लक्ष्य यह है कि वह कला के वास्तविक चरित्र को सही ढंग से देखें। कुछ वर्षों के बाद ऑस्कर वाइल्ड ने मैथ्यु अरनॉल्ड का विरोध करते हुए भाषण प्रस्तुत किया था 'आलोचना का वास्तविक धर्म और मूल्य'। उन्होंने कहा कि आलोचना रचना की आध्यात्मिकता की गहराई को और गहन बनाती है। ऑस्कर वाइल्ड ने आलोचना को रचना का दर्जा प्रदान किया है। वे यह कह रहे हैं कि अंततः आलोचना भी रचना है। एक बार रचना के रचित होने के बाद वह आस्वादक की वस्तु बन जाती है। आलोचक उच्च स्तरीय आस्वादक होता है। काव्य शास्त्रीय शब्दावली में उसे सहृदय कहा गया है। सहृदय का अर्थ बहुत व्यापक है। सहृदय आस्वादक के मनोमंडल में रचना की पुर्नरचना होती है। इसलिए आस्वादन-आलोचना-सर्जनात्मक क्रिया है। यह भी कहा जा सकता है कि रचना जब आस्वादक के हृदय में पुनर्रचित होती है तो वह सार्थक और सफल हो जाती है। यदि कला आत्माभिव्यक्ति है तो आलोचना भी आत्माभिव्यक्ति है। आलोचक की आत्माभिव्यक्ति में उसके रचनात्मक स्वत्व की पहचान मुख्य है। उसमें महान रचनाओं के साथ उसके निरंतर संपर्क से उत्पन्न गंभीर सांस्कृतिक बोध गतिशील रहता है। उसकी गतिशीलता में मूल्य-दृष्टि, याने उसका सौंदर्यसंपन्न विवेक, क्रियाशील होने लगती है तो उसके अंतर्मन में मूल्यों का अतिविस्तृत क्षितिज रक्ताभ होने लगता है। स्वतंत्रता, नैतिकता, सत्य और सौंदर्य आदि आलोचक को आंदोलित करते हैं। मानवीयता की अनन्यता से ओतप्रोत यह सौंदर्य दृष्टि आलोचना की सृजनात्मकता का बुनियादी घटक है। रचना की लावण्य-प्रतीति के साथ आलोचक की समांतर यात्रा का सार्थक प्रतिफल आलोचना के लावण्य को द्युति संपन्न कर देता है। यही कहा जा सकता है, आलोचना स्वयं लावण्य बोध की सृजनात्मक अभिव्यक्ति है।

दूधनाथ सिंह की आलोचनात्मक रचना 'निराला : आत्महन्ता आस्था' निराला की रचनाओं का विश्लेषण भर नहीं करती है। वह निराला की कविताओं के अंतस को खोजने वाली रचना

है। दरअसल वे निराला की कविता के सौंदर्य को एक शिल्पी की तरह गढ़ रहे हैं। एक शिल्पी अपनी शिल्प-रचना में सौंदर्य का ही आह्वान करता है; शिल्प सापेक्ष सौंदर्य का आह्वान। दूधनाथ सिंह के आह्वान में शिल्प सापेक्ष सौंदर्य के आह्वान के अतिरिक्त एक कॉस्मिक सौंदर्य का संगुंफन भी मिलता है। यही उनके लावण्य-चिंतन की खूबी है। अपनी आलोचना में वे न निराला को महिमामंडित करते हैं और न उन्हें अतिशय उदात्तता के शिखर तक पहुँचा देते हैं। दूधनाथ सिंह यह जरूर चिह्नित करते हैं कि काल की सामान्य परिगणना से परे जाने वाली निराला द्वारा परिकल्पित काल-परिगणना है जो उनकी कविताओं को सार्वकालिकता और सार्वभौमिकता प्रदान करती है और वही उनके कॉस्मिक रेंज का निदान है।

रचनाकार के रूप में जब हम निराला को देखते हैं तो हमें मालूम होगा कि उनकी तरह पैशनेट रचनाकार नहीं के बराबर हैं। यह पैशन उनकी रचनात्मकता की मूल धुरी है। इसी तथ्य को दूधनाथ सिंह अपनी आलोचना के शीर्षक से जोड़कर चर्चा करते दिखाई दे रहे हैं। परन्तु उनकी चर्चा पुस्तक-शीर्षक तक सीमित नहीं है। ज़रा देखें कि दूधनाथ सिंह ने क्या लिखा है, ''शायद कुछ लोगों को भ्रम हो कि मैंने अपनी पुस्तक में निराला को आत्महंता सिद्ध करने की कोशिश की है। ऐसा कुछ नहीं है। दरअसल कला और रचना को लेकर मेरी एक व्यक्तिगत धारणा है : मुझे लगता है कि एक बार पूरी तौर पर रचना के प्रति अपने समर्पण के बाद, व्यक्ति कोई भी दूसरी जिम्मेदारी सच्चे मायने में और मुकम्मल तौर पर नहीं निभा सकता। वह कोशिश कर सकता है; वह एक संतुलन बनाए रखने का उत्कट प्रयत्न कर सकता है; लेकिन अक्सर वह अपने को इसमें असफल पाता है। इसके लिए उसे दोषी भी नहीं ठहराया जा सकता। कला-रचना के प्रति एकांत समर्पण की अंतिम परिणति यही होती है। यह जीभ पर अपने ही खून का स्वाद लगने की तरह है; यह लगातार, अनवरत, निरंतर अपने को ही खाते रहना है; इस आत्म-बुभुक्षा से सच्चे और मौलिक रचनाकार की कहीं कोई मुक्ति नहीं है। इसी में से वह सृजन के सघन क्षणों को रचना में मूर्त करता है।'' दूधनाथ सिंह की इस अवधारणा का बीज शब्द है। आत्म-बुभुक्षा—अपने ही खून का स्वाद स्वयं अनुभव करना। अपने को खाते रहने की क्रिया में मग्न होना। अपने को विनष्ट करने में तल्लीन होना। रचनाकार का अपने प्रति अकारुणिक हुए बगैर रचना लीन होना असंभव है। अकारुणिक स्व जागरण (रुथलेस सेल्फ एवेरनेस) रचनाकार को अतीत रचनाक्षम बनाता है। दूधनाथ सिंह का बीज शब्द—आत्म-बुभुक्षा—रचनाकार की अकारुणिक मानसिकता को ही द्योतित करता है। निराला के रचना—व्यक्तित्व के इस अनन्य पक्ष को दूधनाथ सिंह ने अपनी आलोचना के केंद्र में रखा है। महादेवी वर्मा का निराला पर रचित एक संस्मरण है जो उनके 'पथ के साथी' में संकलित है। निराला के असंतुलित जीवन में संतुलन लाने की कोशिश में महादेवी बुरी तरह से हार जाती हैं। निराला के अलावा और किसी रचनाकार में ऐसी अनन्यता देखने को नहीं मिलती है। दूधनाथ सिंह अपने बीज शब्द को विस्तार देते हुए फिर लिखते हैं—''कला के प्रति संपूर्ण आत्म-समर्पण उसे बाहरी दुनिया से बेखबर कर देता है। वह इन दोनों दुनियाओं में सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाता...इस तरह यह एकांत समर्पण एक प्रकार का आत्म भोज होता है : कला - रचना के प्रति यह अनंत आस्था एक प्रकार के आत्म-हनन का पर्याय होती है, जिससे किसी मौलिक रचनाकार की मुक्ति नहीं है। जो जितना ही अपने को खाता जाता है—बाहर उतना ही रचता जाता है। लेकिन दुनियावी तौर पर वह धीरे-धीरे विनष्ट, समाप्त, तिरोहित तो होता ही चलता है। महान और मौलिक सर्जना के लिए यह आत्म-बलि शायद अनिवार्य

है। इन्हीं अर्थों में मैं ने निराला के संपूर्ण रचना-जीवन को 'आत्महन्ता आस्था' की संज्ञा दी है।'' दूधनाथ सिंह ने निराला के रचना-व्यक्तित्व के अहम पक्ष को अपनी आस्वादन-क्षमता के सम्मुख रखा। दो बातें यहाँ विचारणीय होती हैं। पहली है, जो निराला के जीवन और साहित्य से परिचित है उनके लिए दूधनाथ सिंह की यह अवधारणा विचारोत्तेजक ही लग सकती है। इसमें वाद-विवाद की संभावनाएँ नहीं के बराबर हैं। दूसरी बात दूधनाथसिंह की आलोचना के प्रतिमानों से संबंधित है। उनकी यह रचना एक सवाल हमारे सामने छोड़ती है जिसका जवाब हमें ढूँढना है। 'आत्महन्ता आस्था' नामक यह आलोचनात्मक रचना क्या सामान्य आलोचनात्मक कृतियों के नियमों का पालन मात्र करने वाली है? इसमें वह कौन-सी क्षमता है जिसमें आलोचना की सीमाओं का यह पार कर जाती है। दूधनाथ सिंह की यह रचना सृजनात्मक आलोचना के औदात्य का परिचय देने में सक्षम है। यह कैसे? सृजनात्मक आलोचना प्रथमतः व्याख्या की जड़ता को तोड़ती है। उसके स्थान पर कवि की अनुभूतियों के साथ वह यात्रा करती है। आत्मान्वेषण की यह प्रवृत्ति आलोचना के निहितार्थ को गंभीर बनाती है। इसमें आलोचना के समस्त तर्क युक्ति पर आधारित होते हैं। यहाँ आलोचक को एक और दायित्व को पूरा करना पड़ता है और वह है युक्ति पर आधारित तर्क जड़ता की प्रतीति न दे। सभी तर्क सक्षम और सबल बने जिसके लिए युक्ति का सहारा लेना पड़ता है। लेकिन आलोचक का आत्यंतिक लक्ष्य सौंदर्य का निष्पादन है। रचना की अनन्यता के विस्तृत अनुभव का क्षेत्र का अनावरण एक सौंदर्यान्वेषी आलोचक ही कर पाता है। इस तरह आलोचना अपनी लावण्यानुभूति से ओतप्रोत सघन रचना बन जाती है। दूधनाथ सिंह की यह आलोचनात्मक कृति आलोचना के लावण्य को भली-भाँति प्रस्तुत करती है। उनके सामने एक 'पैशनेट' रचनाकार हैं, निराला। उनका निरालापन बाह्य स्थितियों में नहीं है। अपने समय की गंभीरताओं के प्रति पूरी तरह से असहिष्णु होकर जीना तथा यथास्थान यथासंभव ढंग से अपने प्रतिरोध को व्यक्त करने वाले निराला को दूधनाथ सिंह को संस्थित करना था। यहीं से दूधनाथ सिंह की आलोचक-कर्मठता आरंभ होती है।

रचनात्मकता के स्तर पर एक सार्थक जीवन और व्यावहारिक स्तर पर असफल जीवन व्यतीत करने वाले निराला ने इन दोनों के बीच संतुलन बनाए रखने का प्रयास नहीं किया। क्यों? वे अपनी रचनात्मकता के लिए समर्पित थे। समझौतापरस्ती के लिए उसमें स्थान नहीं था। विपन्नता में जीवन गुज़रा। एक के बाद एक दुर्घटनाएँ आती रहीं। टूटने को वे बाध्य हुए। दुःख उनका स्थायी साथी बना। कई प्रकार की विडंबनाओं से वे घिरे रहे। समय और इच्छा के साथ उनका द्वंद्व निरंतर चलता रहा। समय को उन्होंने तिलांजलि दी और अपनी इच्छा-रचनात्मकता-को प्रश्रय भी दिया। भले ही उनकी निजता, जो विविधयामी विडंबनाओं से ग्रस्त है, कविता में झलकती रही फिर भी वह विस्तार करती गयी। पूरी उदात्तता के साथ। सुलझने का उनका अनुभव तीव्र था, पर उत्थान का अनुभव भी तीव्र है। त्रासद अनुभवों की गहराई निराला के रचना-जीवन में सर्वत्र फैली है! साथ ही आत्म-विस्तार की भावना उनमें सदैव उद्वेलित रहती है। अपने दुःख को 'दुःखी भाई' के साथ तालमेल बिठाने की प्रवृत्ति इसी उद्वेलन का परिणाम। 'रुदितानुसारी कवि' की शिखरता तक उनका आत्मविस्तार प्रसार पाता रहता है। दूधनाथ सिंह निराला की रचनात्मकता के बारे में लिखते हैं—''निराला की काव्यात्मक उपलब्धि उनकी शुरुआतों का कहीं अंत न होना ही है। उनकी कविता का सजग-सचेत अंत कहीं नहीं होता। वह लगातार अपनी अर्थ छवियों और अपने 'मीन-मधु' से पाठक को आंदोलित करती चलती है और सर्वथा नए असंतोष का सृजन करती है। इस रूप में निराला का कहीं

भी अंत नहीं होता। उनकी रचनात्मकता का कोई अंतिम पूर्ण विराम नहीं है।''

कभी खत्म न होने वाली कविता के बारे में मुक्तिबोध ने जो लिखा वह कविता की गंभीर अवधारणा के रूप में चर्चा का विषय रहा और आज भी वह चर्चा में है। यह तथ्य निराला के रचना-जीवन का भी अभिन्न हिस्सा रहा जिसकी विस्तृत-चर्चा दूधनाथ सिंह कर रहे हैं। जो आलोचक कविता की अंतरंगताओं में कवि के आत्मसंघर्ष को कविता के संदर्भ में सौंदर्यात्मक प्रतिमानों के रूप में देख पाता है वह वास्तव में काव्य-सौंदर्य का ही विस्तार कर रहा है। दूधनाथ सिंह कविता-सौंदर्य के इस विस्तृत परिदृश्य को सांस्कृति अर्थोत्पत्ति के संदर्भ में ही देख रहे हैं। निराला का आत्महंता पक्ष आत्मसंघर्ष से ही संबंधित है। मुक्तिबोध ने नयी कविता के आत्मसंघर्ष पर जो बल दिया है वह इसी अवधारणा का विकास है।

दूधनाथ सिंह ने कवि के आत्म और रचनात्मकता के ऐक्य पर सदैव जोर दिया है। कवि के लिए यह आत्मन्वेषण का प्रसंग है तो आलोचक के लिए भी यह सौंदर्यान्वेषण का परिदृश्य है। कवि के आत्म को आलोचक सौंदर्य की दृश्यात्मकता में परिणत करके चित्रित करता है। दूधनाथ सिंह ने लिखा, ''निराला की रचनात्मकता का श्रेष्ठतम प्रतिफलन (गद्य और कविता—दोनों ही क्षेत्रों में) अपने निजत्व की समीपतम पहचान की अभिव्यक्ति में हुआ है। यह एक प्रकार का सघनतम आत्म-साक्षात्कार है—कविता या रचना को अपने निजी जीवन में घुला देने की समीपतम पहचान का परिणाम है। अपने जीवन-बिंब और काव्य-बिंब को एकमेक कर देने के कारण ही उनके काव्य में वह गहराई आ सकी है, धीरे-धीरे, परत-दर-परत खुलती है और अपनी गरिमा, पवित्रता और भावोच्छलता से पाठक को आह्लादित करती हुई, उसके मन पर अपना अमिट प्रभाव छोड़ जाती है। उच्छल पावनता, सुख, आत्मतोष, गरिमामयता, अवसाद, खिन्नता और जर्जरपन से तिरोहित होते हुए शरणागति की पावनतम इच्छा—यह सब कुछ निजत्व की उसी समीपतम पहचान का प्रतिफल है।'' अपनी आलोचना के मेरुदंड के रूप में दूधनाथ सिंह ने इस लावण्य दृष्टि को प्रस्तुत किया है। यह इसलिए लावण्यमय है कि इसमें आत्मसंघर्ष और जीवन संघर्ष का सुरम्य तालमेल दिखाई देता है। इन दोनों संघर्षों के बीच कहीं भी कोई खालीपन दिखाई नहीं देता है। वस्तुतः वह जीवन की लावण्यमयता है जिसे दूधनाथ सिंह ने निराला की अपूर्वतम प्रवृत्ति के रूप में पहचाना है।

रचना विधान की दृष्टि से निराला के गीत और उनकी लंबी कविताएँ अलग-अलग प्रतीत होती हैं, पर इनमें चकित कर देने वाला पक्ष दोनों का प्रमेयगत साम्य है। दोनों में जागरण के शब्द तीर्थ हैं तो अवसाद का अथाह प्रवाह है। ऋतु सौंदर्य की छटाएँ हमें मिलती हैं तो दुःख परितप्त हृदय का एकांत चिह्नित मिलता है। ये मात्र विषय-वैविध्य की बहिरंगताएँ नहीं हैं। जीवन की ये बहिरंगताएँ एवं गहन अंतरंगताएँ हैं। जीवन में कुछ भी एकपक्षीय नहीं है। 'मरण को जिसने वरा है/ उसी ने जीवन भरा है' — ये निराला की पंक्तियाँ हैं। जीवन के प्रति यह निश्चल व परिपक्व भाव निराला की दृष्टिसंपन्नता में उपलब्ध है। निराला के गीतों और लंबी कविताओं में बहुध्रुवीय भाव-भंगिमाएँ एकमेक हो गई हैं। दूधनाथ सिंह निराला की इस विशेष दृष्टि में ही उनके काव्य सौंदर्य को देखते हैं। काव्य उन्नयन की यह प्रवृत्ति ही निराला को सार्वकालिक संभावना प्रदान करती है। दूधनाथ सिंह लिखते हैं—''...अपनी लंबी कथ्यात्मक कविताओं का भी विषय निराला स्वयं है। इस तरह की कविताएँ उनके गीतों या ऋतु कविताओं की तरह ही गहरे आत्म-साक्षात्कार की कविताएँ हैं। इन कविताओं में निराला ने दुहरे स्तर पर अपने को दुआ है। उनकी पहली चिंता ऐतिहासिक और राष्ट्रीय उन्नयन की है, और दूसरी चिंता अपनी रचनात्मकता और प्रतिभा-तेजस्विता

की छान-बीन, पुर्नपहचान तथा प्रतिष्ठा है। इन्हीं दोनों अर्थों का साक्षात्कार इन कविताओं के माध्यम से अत्यंत सफलतापूर्वक निराला ने किया है।'' भीतर और बाहर के संघर्ष ने ही उनको सौंदर्य द्रष्टा बनाया है। इसका प्रमुख कारण अपनी निजता के प्रति उनका समर्पण बोध है। द्विमुखी संघर्ष के बीच संघर्ष के बीच के रूप में दुबारा अंकुरने की क्षमता निराला की निजता का प्रदेय है। इस तथ्य को दूधनाथ सिंह ने अपनी आलोचना के केंद्रीय तत्त्व के रूप में स्वीकार किया है। उसका जो अलग सौंदर्य है उसे वे बराबर चिह्नित करते हैं। निराला की राष्ट्रीय उद्‌बोधन परक रचनाएँ हों, गीत हों, लंबी कविताएँ हों, सब में वे दूधनाथ सिंह इस निजता को ही प्रमुखता देते हैं, ''उनकी निजता ही उनकी कविता को समझने व्याख्यायित करने का मूल मंत्र है उससे बाहर किसी रूप में जाना निराला के साथ अन्याय होगा।'' निराला के अपने लावण्य दर्शन की पारदर्शिता को ही दरअसल दूधनाथ सिंह रेखांकित कर रहे हैं। निराला के आत्म-साक्षात्कार की विशेषता यह है कि वह प्रथमतः इतना गरिमामय है कि उस पर किसी बाहरी दृष्टि का प्रभाव देखना अनौचित्यपूर्ण है। निराला की बहुत सी रचनाएँ मूलतः प्रगतिशील हैं। इसलिए प्रगतिशील आलोचकों ने उन पर मार्क्सवादी प्रभाव को देखा और तद्‌नुसार उनकी प्रगतिकामी कविताओं पर व्याख्याएँ भी प्रस्तुत कीं। दूधनाथ सिंह इसे गलत साबित कर रहे हैं। सहज रूप से हम निराला में प्रगतिशील चेतना का अनुभव कर सकते हैं। यह उनके व्यक्तित्व का मनुष्योन्मुखी पक्ष है जिस पर किसी बाहरी दर्शन को आरोपित करने की आवश्यकता नहीं है। निराला की निजता में जीवन का लबालब रूप मिलता है। उनकी मानवीयता कभी सतही नहीं रही। स्वयं उन्होंने अपने जीवन में अवहेलित होने या उपेक्षित होने का अनुभव जाँचा-परखा था। यह उनका आत्मानुभव था। इसलिए अपने दुःखी भाइयों के प्रति अत्याचार को उन्होंने अलग नहीं माना था। उसे उन्होंने अपने आत्म से जोड़ा था। इस कारण से ही दूधनाथ सिंह निराला पर बाहरी प्रभाव को मानने के पक्ष में नहीं हैं। वे लिखते हैं—''इस संबंध में निराला के ऊपर मार्क्सवादी प्रभाव और तत्कालीन प्रगतिशील आंदोलन के प्रभाव की चर्चा बार-बार की जाती है। प्रगतिशील आंदोलन के आलोचकों का यह निःसंशय मत है कि निराला को (पंत की तरह ही) इस तरह की नई संवेदना की कविताएँ लिखने की प्रेरणा प्रगतिशील आंदोलन से ही मिली और 'कुकुरमुत्ता' तथा 'नए पत्ते' संग्रह की रचनाएँ इसी प्रगतिशील आंदोलन का प्रतिफल हैं। कुछ वर्षों पहले 'कुकुरमुत्ता' के नए संस्करण की भूमिका लिखते हुए मैंने कविता के माध्यम से इसकी छानबीन की तो मुझे इस कथन में सच्चाई कम भावुकता अधिक लगी।'' दूधनाथ सिंह निराला की 'कुकुरमुत्ता' जैसी कविताओं में बाहरी प्रभाव से ज्यादा उनकी 'सांस्कारिक निष्ठा' प्रतिफलित देखते हैं। बाहरी प्रभाव की भ्रामक व्याख्या के वे पक्षधर भी नहीं हैं। वैचारिकता की बैसाखी के बिना निराला की कविताएँ अपने प्रगतिशील चरित्र को व्यक्त करती हैं। जिस महान रचनाधर्मी कवि के पास सृजनात्मक ऊर्जा की तेजस्विता झलकती मिलती है उनमें सौंदर्य का सहज अनुभव सर्वत्र देखने को मिलता है। दूधनाथ सिंह की आलोचना-दृष्टि एक महान कवि को, कविता की निजता की स्फूर्तिदायक चेतना की उपस्थिति के कारण, उनके लावण्यानुभव के बृहत्तर संदर्भ में देखना पसंद करती है। दूधनाथ सिंह के अनुसार निराला का रचना-जीवन जो लावण्यानुभव प्रसारित करता है वह उनमें आद्यंत रहा है। उनकी कविताओं में नहीं है बल्कि उनकी गद्य रचनाओं तथा चिंतनपरक निबंधों में भी निराला की यह सहज सांस्कारिक निष्ठा देखने को मिलती है। दूधनाथ सिंह परोक्षतः यह भी व्यंजित करते हैं कि निराला में सहज रूप से निहित प्रोमिथ्यु मोटीफ ही वास्तव में उनके रचना जीवन को प्रशस्त करता है। स्वयं को प्रचंड दंड विधान के लिए समर्पित करके अग्निदान का रूपक प्रोमिथ्य की तरह निराला

भी विकसित करते हैं। कवि की ऐसी अंतवृत्तियों पर दूधनाथ सिंह ने अपनी आलोचना को गहनतम लावण्यानुभव में परिणत किया है। 'तुलसीदास' शीर्षक लंबी कविता की ये पंक्तियाँ 'करना होगा यह तिमिर पार/ देखना सत्य का मिहिर द्वार' यदि निराला की निजता को व्यक्त करती हैं तो दूधनाथ सिंह की आलोचना दृष्टि के लावण्यानुभव को भी व्यक्त करती रहती हैं। मुक्ति यानी स्वतंत्रता के अनेकानेक रूपक निराला की कविता के लावण्य दर्शन की ऊर्जा हैं तो स्वतंत्र चिंतन का लावण्य दर्शन दूधनाथ सिंह की आलोचना 'निराला आत्महंता आस्था'—को सृजनात्मकता प्रदान करने वाला घटक हैं वे यह आसानी से सिद्ध कर सके हैं कि आलोचना भी रचना है।

एक कलाकार के आत्म-मंथन और जनपक्षधरता के कवि दूधनाथ सिंह

विन्ध्याचल यादव

दूधनाथ सिंह की कालरात्रि के क्षण हम उनके पास मौजूद थे, जब उनका जीवन-दीप बुझने के पहले भभक रहा था, आशा का प्रदीप हमारे भीतर बुझ चुका था, बस हम हारे हुए थकित-चकित, निर्विकार खड़े थे। ठकमुर्री मार गयी थी सबको। अभी करुणा की हूक के साथ कलेजा हलक को नहीं आ रहा था, शायद हमारी टूट चुकी आशा की भीगी बाती में कुछ बूँदे-बाकी रह गयी थीं। अन्ततः दिया बुझ गया और चाहकर भी विश्वास न कर सकने वाली एक रिक्तता वे हमारे बीच छोड़ गये। सर्वप्रथम अपने अमर रचनाकार को श्रद्धांजलि, कुँवर नारायण की इन पंक्तियों से, जिसे स्वयं दूधनाथ जी ने अनेक जगह उद्धृत किया है–

घर रहेंगे
हमीं उनमें रह न पायेंगे
समय होगा
हम अचानक बीत जायेंगे।

× × × ×

दूधनाथ सिंह मूलतः कवि थे, ऐसा नहीं कहा जा सकता, हलाँकि वे स्वयं मानते हैं कि वे सर्वाधिक कविताएँ ही पढ़ते हैं। दरअसल, जैसे जयशंकर प्रसाद के 'नाटककार' और 'कवि' के बीच उनका 'कथाकार' आता है, उसी तरह दूधनाथ सिंह के 'कथाकार' और 'आलोचक' के बीच उनका 'कवि'। दूधनाथ सिंह के प्रिय कवियों में निराला, टैगोर, गालिब, शमशेर और मुक्तिबोध थे, हलाँकि उनकी कविताओं की रचना-प्रक्रिया पर शमशेर का सबसे ज्यादा असर दिखता है। भाषा-शिल्प और संवेदना में अत्यन्त मौलिक होते हुए भी मुक्तिबोध और शमशेर की कविताई की तासीर उनकी कविताओं में उपलब्ध है। शमशेर के विषय में लिखते हुए 'लौट आ, ओ धार' में लिखते हैं :

''...उनकी कविताएँ क्या हैं- सिवा निजत्व के अनबोले आख्यान के।...वे कविता के शरीर में विचारों को 'सेल्स' की तरह बिछा देते थे। इसलिए विचार उनकी कविता की जरूरत नहीं हैं, वह कविता में रचा हुआ कविता का स्वभाव है। किसी दूसरे कवि का वे अपनी तरह होना बिल्कुल पसन्द नहीं करते थे।...वे अपने में सम्पूर्ण, स्वतंत्र, एकात्म और अंतिम हैं।... उनकी कविता का हर शब्द अपने बिंबात्मक प्रयोग के अंतिम छोर पर है। वे उसका सर्वस्व निचोड़ लेते हैं और किसी और कवि के लिए उसमें कुछ नहीं छोड़ते।''[1]

वे स्वयं मानते हैं—''कविता बिंबात्मक अलंकृति है। अन्दर को लौटती हुई भाषा का प्रकाश है। थोड़े अमूर्तन के बिना 'कविता' संभव नहीं। अभिधा में थोड़ी फैंटेसी जरूरी है। एक अनूठापन...। जो चलता है उससे बाहर-बाहर।''[2] असल में दूधनाथ सिंह जीवन-जगत अर्थात् यथार्थ भौतिक जिन्दगी को निरर्थक-सी, नीरस-निर्मम-फेंटी गयी और उदासीन, लेकिन जीने के लिए जरूरी-मानते हैं।[3] और मानते हैं कि मनुष्य का काम इसी शुष्क-निर्मम जिन्दगी को सरस, मानवीय और जिन्दगी के प्रति ललक से भरना है—

''आह मेरी कविता
मैं तुझे पाठक या श्रोता कहाँ से ला दूँ
यह वह कविता नहीं है
यह केवल खून सनी चमड़ी उतार लेने की तरह है।
यह कोई रस नहीं, जहर है...जहर!
आह मेरे लोगों!
मैं तुम्हें अमृत के घूँट कहाँ से पिला दूँ?[4]

इस 'जीवन-विष' के साथ उनके यहाँ जीवन का तिरस्कार या निषेध नहीं, उन्हें अपनी ओर आकर्षित करती जीवन जल की हरी-हरी सतह है—

''क्यों दी इतनी अथाह पावनता, कि प्यार नहीं कर सकता तुमसे भी
क्यों दिया आँखों में रेत के फफोलों से भरा हुआ दरिया
चेहरे पर घोसला बनाये हुए, चित्रलिखी, पंखहीन, एकाकीपन चिड़िया
इतना सब देने के बाद
वह क्यों दी
जीवन-जल की हरी-हरी सतह...तब क्यों दी?''[5]

यह 'जीवन-जल की हरी-हरी सतह' पुरानी शब्दावली में कहें तो 'माया' है जिसे संतो ने 'महाठगिनी' कहा। यही वह आकर्षण है जो जीवन जीने को ललचाता है, यह जानते हुए भी कि जीवन-जगत दुःखमय और निस्सार है। 'तब क्यों दी' की ललचती खीझ दूधनाथ सिंह के जीवन-दर्शन और जीवन जीने के ढंग के बीच एक पुल बनाती है जिसे भक्ति कविता अपने दर्शन में जगत की मायावादी नश्वरता तथा लोक जीवन के प्रति अपनी गहरी अनुरक्ति के अन्तर्विरोध के तौर पर दर्ज कर आयी है। यों दूधनाथ सिंह अपनी कहानियों में जहाँ आजादी के बाद के मोहभंग, पारिवारिक टूटन, ऊब, महानगरीय एकाकीपन, अनर्थकताबोध और अन्य तमाम समकालीन विचारधाराओं से स्रोत ग्रहण करते दिखाई पड़ते हैं वहीं कविता में जीवन की निस्सारता के अपने मूल दर्शन को भक्ति-आंदोलन की सांस्कृतिक कविता के लोकधर्मी स्वरूप के साथ जोड़ते हैं। यह बात भी मायने रखती है कि दूधनाथ जी के प्रिय कवि निराला ने भी अपनी तमाम कविताओं में 'माया' का उपयोग निस्सार जीवन-जगत के प्रति आकर्षण या प्रियता के कारण के तौर पर किया है, यहाँ 'प्लावित माया'- के साथ 'आकांक्षाओं से भरी रण-तरी' को जोड़कर पढ़ें—

तिरती है समीर-सागर पर
अस्थिर सुख पर दुःख की छाया–
जग के दग्ध हृदय पर
निदर्य विप्लव की प्लावित माया–
यह तेरी रण-तरी
भरी आकांक्षाओं से

कविता कर्म को दूधनाथ सिंह 'अवसेरि' (यह कबीर का शब्द है, 'अवस्मृति' के लिए आया हुआ) की अवस्था में लिखी जाने वाली विधा मानते हैं।[6] यह सम्मोहन की अवस्था है, एक अतिभौतिक विमोह। जैसे देवी साधक पर जब सवारी करती है तो वह वही नहीं होता जो वह वास्तव में होता है।

'कला की दुनिया, ऐसी ही सम्मोहन की, अवसेरि की दुनिया होती है, जहाँ पहुँचकर साधक (कवि) खेलता (रचना करता है) है। और जब वह 'जीने की दुनिया' में लौटता है थका-माँदा, निढाल-तब यह बार-बार फेंटी गयी, नीरस-निरर्थक लेकिन जीने के लिए जरूरी दुनिया उसको पुनः घेर लेती है। 'कला की दुनिया' और 'जीने की दुनिया'के बीच यह आवागमन अत्यन्त कठिन और निर्मम होता है। लेकिन यही एक कलाकार की नियति भी तो है।[7] यों दूधनाथ सिंह के लिए रचनाकर्म कोई 'स्वान्तः सुखाय' या 'कैथार्सिस' (विरेचन) के बाद की आत्मगत शांति नहीं, अपितु एक घनघोर आत्मसंघर्ष से उपजा निर्मोह, अनमनापन है, जिसे तमाम आलोचकों ने उनकी कहानियों, कविताओं में एक 'निगेटिव-डिस्अप्वाइन्टमेंट' या अवसाद के रूप में रेखांकित किया है। जो असल में संघर्षपूर्ण जीवन-जगत में बटोरी गयी अनुभूतियों विसंगतियों के कला की सर्जनात्मक व आनंददायी वैकल्पिक दुनिया में उड़ेल आने की रिक्तता से उपजी है और जिसकी अनिवार्य परिणति पुनः इसी 'जीने के लिए जरूरी दुनिया' में अपने छूँछेपन के संघर्षपूर्ण पुर्नभराव में होनी है।

अर्थात् कलाकार बारंबार इस भौतिक दुनिया में उसकी तमाम निस्सारताओं के बावजूद जीने की जिद लिए संघर्ष करता है और इस क्रम में अपने अनुभव-कोश को पुनः पुनः संचित करता है और अपनी कला-सर्जना में बार-बार उसे उड़ेल आता है। यह क्रम ही तो एक कलाकार का, मनुष्य की हैसियत से, जगत की नीरसता, अमानवीयता के खिलाफ उसे सरस-मानवीय तथा यथासंभव जीवन के लिए आकर्षक बनाने की इंसानी कोशिश है। असल में कलाकार अपनी कला-सर्जना से दुनिया के सम्मुख एक मॉडल पेश करता है जिससे दुनिया जीने के लिए पहले से और खूबसूरत हो सके, इसी मॉडल को दूधनाथ सिंह 'सांस्कृतिक यथार्थीकरण'[8] कहते हैं। सरल शब्दों में ऐसे मूल्यों का सृजन जो पूर्व के मूल्यों से आगे हों, मानवीय एवं लोकतांत्रिक हों, जीवन के पक्ष में हों। उपर्युक्त पूरी बहस के संदर्भ में दूधनाथ सिंह की दो कविताएँ उद्धृत हैं जो उक्त प्रकार के आत्मसंघर्ष और जीवन-जगत की भौतिक चुनौतियों से जूझने की संवेदना पर प्रकाश डालती हैं–

ठीक इसी तरह, इसी तरह, इसी तरह मैं
अपने को खा-खा के जिंदा रहूँगा।

(अगली कविता)

वह तो रोज-रोज अपने को खाता था
और घायल सिपाही की तरह एक खंदक से कूदकर
दूसरी खन्दक तक जाता है।

(कृष्णकांत की खोज में दिल्ली यात्रा)

दूधनाथ सिंह ने 'आत्महंता आस्था' में सृजन के सघन क्षणों का सम्बन्ध इसी आत्मबुभुक्षा से जोड़ा है। दरअसल एक सच्चा रचानाकार 'घनी सुनहली अयालों' वाले सिंह की भाँति होता है जिसकी जीभ पर उसके स्वयं के भीतर निहित रचनात्कमकता का खून लगा होता है। अपनी सिंहवृत्ति के कारण वह इस खून का स्वाद कभी नहीं भूलता, हरवक्त शिकार की ताक में सजग रहता है—एकाग्रचित्त, आत्म-मुख, झपटने को तैयार। इसी तरह की एकाग्रचित्तता और आत्ममुखता में सिंह को मचान पर बैठे हुए शिकारी का ध्यान नहीं रहता। यहीं से एक भयंकर अपमान, यन्त्रणा और दुःखान्त की सृष्टि होती है, जिससे वह अपनी सारी गर्जनाओं के बाद भी मुक्त नहीं हो पाता और मारा जाता है। महान और मौलिक कलाकारों का यही बिम्ब बार-बार दूधनाथ सिंह के दिमाग में बनता है।'[9]

इसी 'रचनात्मकता के खून' को दूधनाथ सिंह ने एक कविता में 'युवा खुशबू' कहकर पुकारा है और जब साधक (कवि) की 'अनुभूति की जीभ' पर रचनात्मकता का यह खून चढ़ जाता है तब उसकी अभिव्यंजना अनिवार हो जाती है। अनुभूति की जीभ इसलिए क्योंकि दूधनाथ जी लिखते हैं कि—

''उसने मेरी आँखों में छिपी वह गहरी दरार देख ली और अन्दर प्रवेश कर गई।''

(युवा खुशबू)

आँख के रास्ते खुशबू का अन्दर प्रवेश घ्राण का ऐन्द्रिक निषेध है, खुशबू नाक के रास्ते घुसती है, आँख का रास्ता संवेदना का रास्ता है, अनुभूति का रास्ता है—जहाँ से कवि के भीतर युवा खुशबू प्रवेश करती है। और जब एक बार यह नव्य अनुभूति या चेतना रूपी युवा खुशबू कवि के भीतर बस जाती है तब चेतना की अभिव्यक्ति को रोक पाना रचनाकार के वश में नहीं रहता, अनिवार हो जाता है, उसे कविता-प्रक्रिया में जाना ही पड़ता है। कवि होने का दर्द झेलना ही होता है। अब बिना प्रसव-पीड़ा के प्रसव कहाँ संभव, और बिना प्रसव के मुक्ति कहाँ?

मैं चाहे लाख छटपटाऊँ अब...नीली नसों के छिन्न-भिन्न जाल में
चाहे लाख असमर्थता जताऊँ, चाहे लाख अपनी गुदड़ी दिखाऊँ चाहे लाख
अपनी अपात्रता प्रमाणित करूँ...चीखूँ, चिल्लाऊँ... अब मैं
कहीं नहीं जा सकता, कुछ नहीं कर सकता।
अब मैं अपने पैबन्द दिखाकर स्वयं को पुराना साबित नहीं रह सकता
अब मैं अपनी विपन्नता के कवच में सुरक्षित नहीं रह सकता
अब मैं चाहे लाख यत्न करूँ, मैं किसी तरह अपने को गँदला नहीं कर सकता।''

(युवा खुशबू)

यह 'युवा खुशबू' कवि के भीतर रचनात्मकता का झोंका है या चेतना की नई धार है जो उसके भीतर अपनी समस्त विरासत, अपने समस्त ज्ञान-अनुभूति तथा अपने निजत्व के प्रति एक क्रूर और निर्मम आंतरिक परख से पैदा हुई है जो एक अग्रिम अभाव की अनुभूति या तड़प छोड़ जाती है।[10] अर्थात् 'निजत्व की निर्मम व्याख्या' और 'अग्रिम अभाव की अनुभूति'—ये दो चीजें हैं जो सच्ची मौलिकता को जन्म देती है। यह 'युवा खुशबू' सच्ची मौलिकता है जो कवि की चेतना में समा गयी है। सामाजिक सरोकारों के प्रति कवि की सारी उदासीनता-अकर्मण्यता या तटस्थता को तोड़कर बेचैनी पैदा कर देती है। यह कविता एक सच्ची मौलिकता से युक्त नव्य चेतना सम्पन्न कलाकार की मध्यवर्गीय कमजोरियों तथा उसके भीतर निहित संभावनाओं के अन्तर्द्वन्द्व से उपजी कविता है—

उसके पास कितने आश्चर्य हैं देखो
उसके स्पर्श में अन्दर ही अन्दर कैसी यह आग की लपक है देखो,
कहाँ से, कहाँ से आती है
यह युवा-खुशबू, जो हमें झूठा और गँदला, अपाहिज और बदबूदार
बार-बार साबित कर देती है,
जो हमारे चारों ओर खतरे के नये-नये जंगल उगाती है
और हमें खोखला, निरर्थक साबित कर जाती है बार-बार

(युवा खुशबू)

'हमारे चारों ओर खतरे के नये-नये जंगल' का उगना तभी कोई मायने पा सकेगा जब हम खतरे का सामना करने का जोखिम लेने की प्रतिबद्धता दिखा पायें-'अभिव्यक्ति के खतरे उठाने ही होंगे/तोड़ने होंगे सारे गढ़-मठ'' (मुक्तिबोध)। यह 'युवा खुशबू' एक तरफ मध्यवर्गीय जन के भीतर निहित संभावनाओं-सांस्कृतिक ऊर्जाओं का प्रतीकधर्मी रचाव है तो दूसरी तरफ एक सच्चे कलाकार के भीतर अपने जीवन-जगत से अर्जित की गयी बेचैनी कुछ नया, और बेहतर रच देने की बेचैनी है—रचनात्मकता की मरोड़ है :

''रह-रह पसीने में हजार-हजार कल्ले-सी फूटती है वह
रह-रह के अन्दर से बाहर की ओर उफनती है-सुनहरी फेन की तरह
सारे वायुमण्डल में खींचकर तान देती है मुझे, सुगंधि के झीने वितान के समान
परिचित कराती है मिट्टी में लिथड़े इस कविता के सोने से, किरण-किरण घाव से।''

(युवा खुशबू)

अंतिम पंक्ति गौरतलब है - कविता सोना है, और मिट्टी में लिथड़ी है। 'पसीने' के साथ 'मिट्टी में लिथड़े' होने को पढ़ें तो कविता की सर्जना का जो बिंब बनता है वह गिट्टी-मिट्टी तोड़ते मेहनत-मजूरी करते श्रम-संघर्ष करते वक्त का है। सिगार पीते आरामकुर्सी पर अधलेटी सुविधा जीविता से कविता नहीं फूटती। 'कविता का सोना' श्रम, पसीना, मिट्टी में लिथड़ कर ही अर्जित किया जा सकता है। 'किरण-किरण घाव' जैसा प्रयोग दूधनाथ सिंह की काव्यभाषा का वह प्रिज्म है जो जाल की तरह उनके समूचे कविता कर्म में बिछा हुआ है और अर्थ की सप्तवर्णी भंगिमा से उनके रचनाकर्म को चमकाता है। हलाँकि इसका अर्थ नस-नस में समाई वेदना से है लेकिन 'किरण-किरण घाव' लिखकर दूधनाथ सिंह ने किरणों की सघनता को घाव की सघनता और किरणों की गहनतम पहुँच को घाव की गहराई से जोड़कर इस प्रकार व्यंजित कर दिया है कि अर्नेस्ट हेमिंग्वे का एक नये कवि युवक से (जो अपनी कविता दिखाने उनके पास आया था) पूछा गया वह सवाल उभर आता है जिसमें वे युवक कवि से पूछ बैठे थे कि पहले वे चोटें वे घाव दिखाओ-कहाँ हैं? वो जख्म जो तुमने खाएँ हैं फिर कविता देखूँगा। युवक ने कहा-कौन से घाव? मैनें तो कोई घाव नहीं खाए! हेमिग्वें ने कहा तब कैसी कविता? बिना जीवन संघर्ष और समाजिक यंत्रणा के कविता?

तब दूधनाथ सिंह के यहाँ एक कवि (सच्चे कलाकार) के पास 'अपनी कविता के अंदाजे बयाँ' के अलावा कोई रास्ता नहीं बचता, वह अपनी लड़ाई और जिम्मेदारी का दोष किसी और पर डाल नहीं सकता और उसके पास 'नींद और जश्न और सुविधा का कोई शहर कोई गाँव' नहीं बचता। और उसे 'अभिव्यक्ति के सारे खतरे उठाने ही होंगे' नहीं तो अपनी जाति, अपनी संस्कृति और अपनी अस्मिता की 'डॉगर मौत' को वह बचा नहीं सकता—

इस 'डॉगर मौत' के लिए कौन जिम्मेदार है?
गिद्धों और कौवों और कुत्तों-सियारों की
काली छाया दिन-ब-दिन घनी होती जा रही है
अब तुम लौट नहीं सकते इससे बाहर-यह तुमने कहा
अपना माथा झुकाकर।
अब तुम्हें भुगतना ही पड़ेगा यह मैदान
अँदाजें बयाँ अपनी कविता का

(जनमत के मौन अंधकार में)

दूधनाथ सिंह ने 'अगली कविता' शीर्षक कविता में एक कवि-कलाकार की प्रतिबद्धता और सामाजिक-राजनीतिक पक्षधरता पर अपना संकल्प यूँ व्यक्त किया है–

मेरे हाथों में किसी का कटा हुआ सिर नहीं होगा
मेरे जीभ पर किसी का भी खून नहीं लगा होगा
मैं उन अदालतों में जाऊँगा नहीं
जहाँ होता है न्याय का शील-भंग
ये अग्निमान अपनी मुट्ठियों में बन्द किये
स्वयं ही राख हो रहूँगा - मैं
पर किसी मरी हुई जाति के लिए
कविताएँ - नहीं लिखूँगा।

फिर वे इसी कविता में मध्यवर्गीय अवसरवादी-निर्वीर्य-बंजर बुद्धिजीवियों, बादशाहों, पण्डें-पुजारियों, मुल्ला-मौलवियों, लेखक-पत्रकार-वकील वर्ग के हिजड़ों का 'चेहरा रोशनी की ओर घुमाना ही पड़ेगा'- ऐसी प्रतिबद्धता रचते हैं और कवि कलाकार के दायित्व और सत्ता द्वारा जनता के छले जाने को पूरे युगबोध के साथ बेनकाब करते है–

मुझे उस पर वह अपनी कविता लिखनी ही पड़ेगी
उस चमकते प्रेत-सन्नाटे में मुझे उसका
चेहरा रोशनी की ओर घुमाना ही पड़ेगा
वही, जिसे बार-बार सोने का नया
सिंहासन बनवा दिया करते हैं हम
वही-जिसकी बिच्छूनुमा मूँछे और झुर्रियाँ
टेढ़ी और पकी हुई भौहें
और तेवर और भारी-भरकम जिरह-बख्तर उतार
जिसे कोमल, शालीन हम समझ लिया करते हैं
वही, जिसके लिए हम गढ़ते हैं - नये सौंदर्य मान
नये शब्दकोश...प्रतीक, काव्य-बिम्ब,
वही-जिसकी व्याख्या में सारी मौलिकता उड़ेल
रिक्त हुआ की है ब्राह्मण-मण्डली हर बार।
मुझे उसका चेहरा रोशनी की तरह घुमाना ही पड़ेगा।

× × ×

ऐसा किये जाने पर हर बार
मैं उन हिंजड़ों से मिलूँगा जरूर

जो इतिहास बनने की प्रतीक्षा में
स्वेच्छा से रथ पर बँधे हुए आगे आयेंगे...बार-बार।

('अगली कविता' से)

दूधनाथ सिंह के यहाँ कलाकार के आत्ममंथन और आत्मसंघर्ष के भीतर से ही उनकी राजनीतिक चेतना-सामाजिक पक्षधरता, प्रेम और मृत्युबोध की कविताएँ फूटती हैं। एक कलाकार के निजत्व के साथ शेष समाज के बनते तमाम संश्लिष्ट सम्बन्धों की पकड़ के भीतर से ही उनका कवि अपने लिए विषय-भाषा और शिल्प ईजाद करती है। कहना चाहें तो कह सकते हैं कि कवि की जो अपनी 'पर्सनालिटी' है उसके आतंरिक विखण्डन और शेष दुनिया के साथ उसके संश्लिष्ट रिश्तों के बीच से कविता अपना आकार अपनी आत्मा ग्रहण करती है। उनके यहाँ अपने होने का बोध बहुत गहरा है, कवि या कलाकार होने का दायित्वबोध तो और भी गझिन और द्वन्द्वग्रस्त—

चाहे कृष्णकान्त चिंघाड़े भले नहीं
गुर्राता जरूर था
झूठ ही सही, पर अपने होने का
उसे कितना खूबसूरत गुरूर था।

(कृष्णकांत की खोज में दिल्ली यात्रा)

कवि/कलाकार के इसी आत्ममंथन के भीतर से निकली है 'तैमूरलंग' कविता, जो मनुष्य के भीतर व्याप्त अधिकार पिपासा या महत्त्वाकांक्षा की विध्वंसक वृत्ति तथा मानव के भीतर निहित सृजनधर्मिता के अन्तर्द्वन्द्व पर लिखी गयी कविता है। तैमूर हम सबके भीतर उग आती हुई वह विध्वसंक अधिनायकवादी मनोवृत्ति है जो सब कुछ को अपने अधीन कर लेना चाहती है लेकिन यह भावना कितनी मिथ्या और सारहीन होती है, जो उसी मनुष्य की रचनात्मक सृजनात्मकता के सम्मुख टूक-टूक होकर बिखर जाती है। 'तैमूरलंग' मनुष्य की खतरनाक महत्त्वाकांक्षाओं पर उसकी मानवीय सृजनशीलता के विजय की कविता है। हर तैमूरलंगी विध्वंस मनुष्य की इसी रचनात्मक जिजीविषा के आगे बौना होता आया है।

कविता की शुरुआत में तैमूरलंग जितना आदिम दुर्दान्त/अपनी लपटभरी आँखों से तेज, लपलपाते अग्निबाण फेंकता है। लाल-लाल रक्त सने दाँत किटकिटाता, क्रोधान्ध दिखता है सबकुछ को रौंदकर 'जन-रेगिस्तान' बनाने में जुड़ा है, किसी मायावी विध्वंसक की तरह अट्टाहास करते हुए उसने मुट्ठियाँ खोल दीं- गाँव के गाँव शहर के शहर, खेत खलिहान, कल कारखाने, जच्चागृह भस्म हो गये। कविता के अन्त में वह कितना निरूपाय कितना अकेला कितना असहाय दिखता है। उसकी 'लपटभरी आँखों के इर्द-गिर्द अब माँस की थिगलियाँ झूल आयी हैं और 'जबड़ें लटक आयें हैं'। वह अब भी दाँत किटकिटाता, है लेकिन शून्य-मन, खिन्न मन, चकित, आवेशहीन, जर्जर। इस किटकिटाहट में लाचारी और हीनता व्यक्त होती है, भय नहीं पैदा कर पाता वह। तैमूर की दहशत अब 'काने इतिहास' और 'केवल एक लँगड़ी और जादुई कहानी', जिसे 'पिता अपने पुत्रों को मनोरंजनार्थ सुनाते हैं,' - में बदल चुकी है। यह मानवीय सभ्यता की सर्जनात्मक चेतना की विजय है। यह कविता दूधनाथ सिंह के सजग इतिहास बोध व सांस्कृतिक पक्षधरता की कविता है जहाँ वे दिखाते हैं कि हिंसा-क्रूरता और तानाशाही, दमन के बरक्स अंततः मनुष्य की सृजन-चेतना और जिजीविषा बचती है। तैमूरलंग कविता में तैमूर संस्कृति और मानव सभ्यता की अधिरचना पर चोट करता है लेकिन फिर भी वे संस्कृतियाँ उग जाती है, दूधनाथ सिंह की सांस्कृतिक विकास के आधारों की समझ देखने लायक है—

कोई उससे बचकर निकल नहीं सका
सारे आश्रमों और विश्वविद्यालयों में उसने
सन्निपात के कीटाणु छोड़ दिए
सारे पुस्तकालयों में उसने बारूद बिछा दी
सभा-भवनों में डायनामाइट लगा दिया
सारे बुद्धिजीवियों के इर्द-गिर्द गहरी सुरंगे खोद दी
पूजा-गृहों को बूचड़खाने में बदल दिया
सारे इतिहास को सरेआम कत्ल किया
सारी भाषाओं को जिन्दा दफन कर दिया।

(तैमूरलंग)

यानी किसी सभ्यता के जिंदा रह सकने के नक्के-नक्के बंद। दूधनाथ सिंह की राजनीतिक-सांस्कृतिक समझ की जबरदस्त कविता है—तैमूरलंग। एक इसी तरह की कविता है 'काली चट्टान' जो दूधनाथ सिंह की कम्यूनिस्ट चेतना की प्रतिनिधि कविता है। एक बात यहीं कह देना ठीक रहेगा कि जब दूधनाथ सिंह अपने इतिहास बोध, राजनीतिक चेतना, सामाजिक प्रतिबद्धता और सांस्कृतिक पक्षधरता के ठोस 'कंटेण्ट' की भी कविताएँ लिख रहे होते हैं तो भी उनकी दूसरी आँख कविता की सर्जनात्मक भाषा, बिंबविधान और कलावादी पहलुओं की ओर जमीं रहती है। कविता के कलापक्ष का बलिदान वे कभी विषयवस्तु की बेदी पर करने को सहमत नहीं दिखते। 'कृष्णकांत की खोज में दिल्ली यात्रा', तैमूरलंग, कालिदास, काली चट्टान उनकी घनघोर वैचारिक अर्न्तद्वन्द्व की कविताएँ हैं लेकिन यहाँ भी उनके काव्य-चित्र, बिंबविधान, सटीक विशेषणों और उपमानों ने काव्यभाषा को निर्जीव वर्णनात्मकता से बचा लिया है। 'पुतलियों में धँस जाने वाला अँधड़ प्रकाश' 'लपलपाते इस्पात की तरह सच्चाइयाँ' 'डॉगर-मौत', 'जिन्दा कैलेण्डर', 'स्वेच्छा से रथ पर बँधे हुए हिजड़ें', 'नीली कपास', काली बर्फ, रोशनी के फफूँद जगमगाते अँधेरे का खेल' 'लट्ठ में रजाई' (बद्धमूल संस्कारों की गठरी) 'मौन का विराट् अश्वत्थ', 'वाक् की कटार', आदि तमाम ऐसे ही प्रयोग हैं जो भाषा को इकहरा, सपाट नहीं होने देते - उल्टे अर्थ संगुंफन की तमाम संभावनाएँ छोड़ जाते हैं।

ऊपर जिस काली चट्टान कविता का जिक्र आया है वह इतिहास की काली चट्टान है जो सत्ता के साम्प्रदायिक दमनकारी खूनखराबे के रंग और मिट्टी का रंग पहचानने वाले मेहनतकश आम आदमी के बीच में द्वन्द्व से निर्मित है और इन दोनों के बीच कवि-कलाकार की भूमिका है, उसकी चेतना की पक्षधरता और पॉलिटिक्स है। साथ ही इस जनपक्षधरता के सत्तावादी खतरे हैं। इस त्रिकोण में यह कविता 'हत्याकाण्डों' में सनी निरीह धरती का रंग लिए सभ्यता की माँद में छुपे' साम्प्रदायिक सत्ताधारी वर्ग की 'जिराफ की सवारी' और 'उनकी खुरों के नीचे आदमी की कुचली हुई नीली कपास' के बिंब के साथ शुरू होती है और आम आदमी का 'खौलता हुआ शांत-चेहरा' उभरता है जो 'अपना हक छीनने वालों से बदला लेने के लिए/तैयार हो रहा है चुपचाप।'

वह मोजैक के चिकने फर्श पर पाँव रखते घबराता है।
वह अपने पसीने की कच्ची, बेशर्म बू से परेशान है।
वह अपनी काली पीठ पर जलते हुए सूरज को पाकर मुस्कुराता है...
...वह अपने काले रंग को कड़वे तेल से सँवारता है
वह अपनी खुली मजबूत टाँगों से सकुचाकर

अक्सर एक लुँगी खरीदने की बात सोचता है
वह आटे को चीनी की तरह इस्तेमाल करता है
वह अपनी हरी मिर्च का स्वाद नहीं बदल सकता
उसने अपनी फटी मैली कथरी को
इस देश के इतिहास के इर्द-गिर्द लपेट दिया है
वह दुःख और निराशा, गरीबी और अपमान के सीने
से चिपटा धुँआ हो रहा है -
वह सिर्फ दिल की चिलम में सुलग रहा है ...
वही, सिर्फ वही मिट्टी का रंग पहचानता है।

(काली चट्टान)

वह आदमी 'मोजैक के चिकने फर्श' पर नहीं 'घास के मैदानों या अधबने मकानों में राहत महसूस करता है। यहाँ तक आकर दूधनाथ सिंह की जनपक्षरता और उनकी कविताओं में निहित इतिहास-दृष्टि तथा उसके सांस्कृतिक-परिप्रेक्ष्य का साम्राज्यवाद विरोधी चरित्र पूरी तरह साफ हो जाता है। अब एक कविता लेते है जिसमें दूधनाथ सिंह की सामाजिक पक्षधरता और भारतीय समाज के भीतर पैबस्त सामंती ताकतों के खिलाफ उनका प्रतिरोध बड़ी कलात्मकता से दर्ज हुआ है। कविता है—'कालिदास'। यह पूरी कविता 'मौन के विराट् अश्वत्थ' और 'वाक् की लपलपाती कटार' के दो बिम्बों के बीच शास्त्र और अभिजात परंपराओं के विरुद्ध जनसाधारण के कठिन जीवन संघर्ष से प्रेरित कवि-कलाकार की लोक चेतना की अभिव्यक्ति के अन्तर्संघर्ष से बुनी गयी है। 'अश्वत्थ' - स्कंदपुराण का शब्द है जिसका अर्थ होता है—पीपल जिसके जड़ में विष्णु, तने में केशव, पत्तियों में श्रीहरि इत्यादि समाये हुए हों। कवि ने ब्राह्मणवादी-अभिजन समाजव्यवस्था के ज्ञान के पाखण्ड, आत्ममुग्धता और बंजरपन के बरक्स दिशाहारा-जर्जर-विक्षुब्ध जनता की चेतना के वाक् की कटार को रखा है। और यह अश्वत्थ सदियों से भारतीय जनता के उस धार्मिक संस्कार का प्रतीक बन गया है जिसके पाखण्ड के नीचे जनता के तर्क तथा उसकी प्रतिरोध की चेतना का गला घोंट दिया गया था। हिंदी कविता में ब्राह्मणवादी समाज व्यवस्था की आंतरिक साजिशों और उसके शोषण के खतरनाक पैटर्न के खिलाफ दूधनाथ सिंह की यह कविता अपने आप में विशिष्ट है। सामंती ब्राह्मणवाद की मानसिकता का एक चित्र निम्नवत् है—

उसके पहले उन्होनें कभी भी चुनौतियाँ नहीं स्वीकारी थी
इसके पहले कभी भी उन्होनें इतिहास की निहाई पर
सिर नहीं रखा था।
वे केवल आप्तवचन उद्धृत कर गर्व से
निरीह जनता को फाड़ते हुए
प्रतिष्ठा के बिल में घुस जाया करते थे
उन्होंने परस्पर सहमति की चिकनी बैसाखियाँ लगा रखी थीं
...उन्हें कोई महामूर्ख चाहिए था।
उन्हें कोई काला-कलूटा, भदेस एक
मिट्टी का माधो चाहिए था।
मछलियाँ पकड़ता हुआ कालू मल्लाह
या गायें चराता हुआ बुद्धू गोपाल

हल चलाता हुआ गबदू हलवाहा
जो सहज ही उनकी चकाचौंध से चकित रह जाय
अपने भोलेपन को, मिट्टी में सँवराई अपनी
सज्जनता को जो श्रद्धागदगद हो अर्पित कर दे
जो उनके दिये गये कृत्रिम गूँगेपन को
महज एक भोली सी लालच में ओढ़ ले
और उसे मौन का विराट अश्वत्थ घोषित कर
वाक् की कटार को साबूत ही लील जाय।

(कालिदास)

आज भी हमारे समाज की तमाम आम जनता ब्राह्मणवादी परंपराओं, जो कि असल में उनके ही शोषण के औजार हैं—को चुपचाप बिना तर्क किए मानती जा रही है और 'खुद को उन्हीं की तरह ब्राह्मण कहलाने का झूठा/अधिकार प्राप्त करें'—ऐसी लिप्सा से ग्रस्त है। इसी के खिलाफ कवि, इसी जनता के संघर्ष से शक्ति और चेतना ग्रहण कर अपनी कविता अपनी कला में उस पूरी शास्त्रवादी ब्राह्मणवादी समाज व्यवस्था के खिलाफ वाक् की कटार खींच लेता है—

सदियों के बाद उन्हें अचानक वह
वाक् की कटार लपलपाती दिख गयी थी
जिसने उनके षड़यन्त्र की पिटारी को
झटके से खोल दिया था
जिसने उनके मुलम्मा चढ़े स्वर्णिम सिंहासन को
यहाँ-वहाँ खरोंच दिया था।
जो उनकी संतुष्टि के अँधेरे में गहरे
रक्तवर्ण घाव की तरह आकर बैठ गयी थी
जो उनकी प्रतिष्ठा के बिल में गर्म-गर्म
तरल शीशे सी गलगल करती हुई भर गयी थी
जिसने उनकी सुरक्षा की दीवार में बाहर की हवा के लिए
एक छोटा-सा, जलता हुआ छेद कर दिया था।
जिसने उनके शब्द-उपदंश में हल्का सा नश्तर लगा दिया था
जिसने उनके चमड़ी के नीचे बहते
गन्दे परनालों को खोलकर
जनसाधारण को नाकबन्द करने और
स्तब्ध रह जाने पर विवश कर दिया था।

(कालिदास)

'गंदे परनाले को खोलना' कठिन और खतरनाक होने के बावजूद कलाकार के लिए चुनौतीपूर्ण सामाजिक दायित्व है जिससे उस सड़ान्ध भरी पूरी आदिम व्यवस्था की गन्दगी खुलकर सबके सामने आ सके। दूधनाथ सिंह 'कालिदास' शीर्षक से व्यवस्था विरोध की ऐसी क्रांतिकारी कविता लिख सकते हैं जहाँ कालिदास को महज एक सच्चे कलाकार के रूप में ग्रहण कर उनसे 'वाक् और अर्थ' का शब्दबोध लिया गया है - बाकी सब उन दिशाहारा जन का है जिसे अरुण कमल ने अपनी कविता में 'सारा लोहा उन लोगों का केवल अपनी धार' कहा है।

आजादी के बाद के मोहभंग और आजादी के पहले की उस क्रांतिकारी पीढ़ी का आत्मसंघर्ष (कुछ कुछ 'ब्रह्मराक्षस' जैसा-देह छाती मुँह छपाछप, करता साफ फिर भी मैल, फिर भी मैल') तथा अन्ततः सत्ता के गलियारों में समझौता परस्ती की टूटन के बीच लिखी गयी कविता है 'कृष्णकांत की खोज में दिल्ली यात्रा।' कृष्णकांत क्रांतिकारी व्यक्तित्व का था। ऐसा कवि समझता है। लेकिन कविता में 'वह' बताता है कि कृष्णकांत अब व्यवस्था का हिस्सा बन सत्ता के अवसरवाद का चेहरा बन गया है। कवि ने आजादी के पहले की लड़ाई के स्वप्न और क्रांतिकारी संस्कारों को 'लट्ठ में रजाई टॉगने' के प्रतीक से व्यक्त किया है जबकि दिल्ली और कृष्णकान्त - दोनों उन संस्कारों और मूल्यों को सत्ता के लाभ-लोभ में गिरवी रख बदल चुके है। इसी अर्थ में यह कविता मोहभंग के आगे तक जाती है जहाँ मोहभंग के बाद उन्हीं तत्त्वों से हाथ मिला लेने की त्रासदी घटित होती है।

आप क्यों नहीं समझते
दिल्ली दरअसल एक खूनी दरवाजा है
× × ×
इसी चमकती सल्तनत में बैठा है आपका
वह - कृष्णकांत।

दरअसल कृष्णकांत की खोज में कवि स्वयं को भी तलाशता है, यह स्वयं कवि के टूटने की भी कहानी है। वह कृष्णकांत को वहाँ-वहाँ ढूढँता है, असल में जहाँ-जहाँ वह स्वयं हो सकता था। कवि कृष्णकांत को जमुना की कगार पर, गालिब की मजार पर, रोशनआरा रोड पर, जामा मस्जिद के पीछे और सरदार जी के होटल में आग तापते हुए कल्पित कर आता है और फिर अंदाज लगाता है–

''कृष्णकांत कहीं पहलवान छाप बीड़ी पी रहा होगा
और पच्चीस साल पहले फटा हुआ हिन्दुस्तान का नक्शा
अपनी नसों से सी रहा होगा।''

पच्चीस साल पहले भारत-पाकिस्तान विभाजन से फटे त्रासद नक्शे को अपनी नसों के सीने का बिंब-आजादी के सपनों के बिखराव की समूची कचोट तथा उस विभाजन के प्रति अन्तर्तम में वेदना की गहराई को व्यक्त करता है, जो बाद में न केवल राजनीतिक छल-छद्म के प्रति मोहभंग तक जाता है अपितु उसका अपने इन मूल्यों तक से मोहभंग हो जाता है और अन्ततः सत्ता के अवसरवाद के साथ नाभिनालबद्ध होना उस क्रांतिकारी कृष्णकांत की नियति बन जाती है। यह कविता दूधनाथ सिंह की कथा तत्त्व प्रधान कविताओं में से एक है जिसमें कविता में यात्रावृत्तांत को घोल दिया गया है, ऐसे ही उनकी तमाम कहानियाँ हैं, जिनमें कविता का घोल मिलाकर तैयार कर लिया गया है, ऐसी ही कहानी है 'सरहपाद का निर्गमन' और 'फूलों वाली लड़की'[11]–एक रंगारंग फिलॉसफी के साथ जीने का हठ लिए।

कविता में दूधनाथ सिंह के आदर्श शमशेर थे, जाहिर है काव्यभाषा और काव्यबिंबों की कारीगरी और शिल्प की कलाकारी उनकी कवताओं में होनी ही थी, और दूधनाथ सिंह स्वयं कवि या कलाकार होने को सामान्य जीवन में मनुष्य होने से अलग और गहरे स्तर पर विशिष्ट मानते थे और उसके समाज के प्रति बर्ताव को अधिक उत्तरदायी, गंभीर और कलात्मक मानते थे, सो उनके यहाँ भाषा-भाव-शिल्प सब जगह कुछ अनूठा कुछ नया करने की विकलता दिखाई पड़ेगी। दूधनाथ सिंह के कवि ने छायावाद की रूमानियत, भक्ति कविता की दार्शनिक लोक संसक्ति तथा मुक्तिबोध की फैंटेसी और शमशेर की अनुभूतियों की बिंबात्मक प्रस्तुति को

आत्मसात् किया है जो उनकी कविताओं में कला का एक अलग स्तर बनाते हैं–

स्वागत होटल में लोग अपनी खुशी फुसफुसा रहें हैं
मरीना समुद्र तट पर सुबह
मछुआरों के नंगे बच्चे नहा रहे हैं
जिस बैरक में क्लाइव रहता था– उसके पास
प्याज की दस-दस गाँठों का ढेर लगाये– औरतें
खरीददार के इन्तजार में झुँटैले बालों से जुएँ निकाल रही हैं
दो हजार वर्ष पुरानी कवयित्री एक
हाथ उठाये मछुआरों की झोपड़ी की तरफ इशारा कर रही है
प्रेम काली पसलियों में दमे की तरह हाँफ रहा है...।

ये कुछ स्केचनुमा अलग-अलग चित्र 'मद्रास' कविता के हैं, जैसे विभिन्न रंगो में बारी-बारी से डूबो कर ब्रश किया गया हो एक जगह। स्वागत होटल के लोगों की फुसफुसाहट, मछुआरों के नंगे बच्चे, प्याज के गट्ठे, झुटैले बालो वाली औरतें और फिर दो हजार वर्ष पुरानी कवियित्री का मछुवारों की झोपड़ी की तरफ इशारा- सब अलग-अलग लेकिन एक में घनीभूत। 'टाइम' और 'स्पेस' को एक में घालमेल कर दूधनाथ सिंह ने यहाँ कविता का रसायन तैयार किया है। जो स्थान क्लाइव की बैरक के कारण उसके वर्चस्व, दमन, नृशंस साम्राज्यवादी सोच का प्रधिनिधित्व करता था, टाइम बदल देने पर उसे देखें तो वह रोजी रोटी के सवालों से जुड़ जाता है और झुटैले बालों वाली झुग्गी झोपड़ी की गरीब महिलाएँ प्याज के गट्ठे बेंचती हैं, वहाँ दो हजार वर्ष पुरानी कवयित्री का मछुआरों की झोपड़ी की तरफ इशारा करना हमारी कविता के अभिजात सौन्दर्यबोध का अभिजन अभिरुचि का जनपक्षरता की ओर शिफ्ट होने का संकेत है। प्रेम का काली पसलियों में दमे की तरह हाँफना- एक तो उन सर्वहारा वर्ग के लोगों की जिन्दगी में भूख और रोटी के सवाल का प्रेम के सवाल से मुख्य को जाने का संकेत है, तो वहीं प्रेम उनकी पसलियों में गहरे धँसा है, उनके जीवन से निकला नहीं है, वह है और बहुत गहरे तक है, ये अलग बात है कि वहाँ जीविका और भूख इतनी ऊपर है, इतनी मुख्य है कि प्रेम को हाँफता दर्ज किया गया है। यह उन गरीब-मजदूर वर्ग के लोगों की सच्चाई है जहाँ जिंदा रहने की शर्त (भूख-रोटी), सांस्कृतिक होकर जीने (प्रेम) से बहुत प्राथमिक है।

दूधनाथ सिंह अर्थपूर्ण विशेषणों, रूपक तत्त्व (आब्जेक्टिव कोरिलेटिब्स) तथा बिंबधर्मिता के कलात्मक कवि है। विशेषण और बिंबधर्मिता उनकी काव्यभाषा की ताकत है। एक छोटी सी कविता है–

कन्याकुमारी : सूर्योदय-सूर्यास्त
काले समन्दर में अचानक एक लाल स्तंभ उगता है।
लहर-लहर मारती है गैंती टूटकर फैलता है लाल रंग
एक गुस्सैल इशारे की तरह
तमतमाता हुआ सूरज
उठता है : गिरता है
काला समन्दर फिर वही
अपना अट्टहास शुरू करता है
लौटते हैं हम चुपचाप
शुरू होती है कविता फिर

एक चीख के मानिंद।

(एक और भी आदमी है)

यह एक दृश्य है प्रातः काल का, सिर्फ दृश्य पर कविता रचते हुए दूधनाथ सिंह पहले तो समन्दर के पहले 'काला' विशेषण लगा देते हैं जो नीले समन्दर की उद्दाम गंभीरता के बरक्स उसकी भीषणता को व्यक्त करने लगता है - और उसमें उग आया रोशनी का लाल-स्तंभ काले समन्दर की भीषणता के खिलाफ प्रतिरोध की आग है। लहरें गेंती की तरह इस लाल स्तंभ को तोड़ती हैं और पूरे समन्दर में टूटकर बिखरते प्रतिरोध का लाल रंग फैल जाता है। उस भूखी नंगी जनता के गुस्सैल इशारे की भाँति सूरज तमतमाता है, और लहरों के हिचकोलों में उठता गिरता है, यानी यह उठना-गिरना प्रतिरोध के जूझने का बिंब है। लेकिन हर बार प्रतिरोध कामयाब नहीं होता और काला समन्दर अट्टहास करता है। और तब शुरू होती है कलाकार की भूमिका जब प्रतिरोधी ताकतें हारती हैं– उनके पक्ष में खड़ी होती कविता उठती है– चीख के मानिन्द।

जैसे छायावादी कविता में 'घन तिमिर' में सिर्फ 'चपला की रेख' है, 'अमानिशा' गहनतर है - 'केवल जलती मशाल' से, उसी तरह दूधनाथ सिंह की कविताओं में अँधेरा उजाले से ज्यादा घना है और न केवल मात्रात्मक घनापन अपितु दूधनाथ जी के यहाँ वह उजाले से ज्यादा रचनात्मक भी है, उनकी कविताओं में बार-बार प्रकाश को आँखों को चौंधियाने वाला चुभने वाला और 'अंधड़ प्रकाश' कहा गया है लेकिन -

केवल दिन है
केवल उजाला है
सब कुछ दिखता है अनचाहा
तुम्हारे बिन
केवल दिन ही दिन है
रात कहाँ गयी
वह हल्की उजास
अँधेरी बात कहाँ गई।

(तुम्हारे लिए)

यह सौंदर्यबोध की शिफ्टिंग है, हम अक्सर 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' की बात करते हैं लेकिन अँधेरे में जो बात है, जो आत्मीयता है, जो रस रंग है जो रचनात्मकता है- वह उजाले में कहाँ? दूधनाथ सिंह के यहाँ अँधेरा और मृत्यु दोनों जीवन के साथ बड़े गझिन रचाव में उभरते हैं। जीवन के साथ मृत्यु लगी हुई आती है कहीं उससे अलग होती ही नहीं बल्कि दूधनाथ सिंह के यहाँ जिन्दगी मृत्यु पर रुकती नहीं मृत्यु के बाद भी जारी रहती है। प्रसाद से लेकर महादेवी तक 'मृत्यु अरे हे चिर निद्रे तेरा अंक हिमानी सा शीतल',[12] से लेकर 'रहने दो हे देव अरे यह मेरा मिटने का अधिकार' तक छायावादी कविता निराला के मृत्युबोध के गीतों में जीवन का विष बुझा हुआ देखती है, अर्थात् वहाँ मृत्यु को लेकर एक सकारात्मकता है। दूधनाथ सिंह की कविताओं में, विशेषकर प्रेम कविताओं में छायावाद का यह मृत्युबोध सुना जा सकता है–

उठो न ! मैं हूँ, अकेला नहीं हूँ - मौत भी साथ है
उठो न ! होठों पर कोहरा, पलकों के बीच एक गर्म ओस पड़ी
मैं झुका हूँ, अँधेरे में, नींद गड़ी ! उठो न! दुनिया यही है–

लोहे के हाथ और शीशे का मानस, मानसरोवर में गिद्धों की बीट
हवा को बुहारती कूड़े में लुढ़की, हाथों में गजरा लपेटे हुए बुत।
शाम की सफेद झक् रात की सियाह, सुबह कीचड़ में
टूटी हुई, कमल की पंखुड़ी!
तुम अभी तक सोयी हो? उठो न!

(अपनी शताब्दी के नाम)

यह कविता बिंब विधान के नजरिए से भी पढ़ी जा सकती है। लोहे के हाथ-निर्ममता और दुनिया वालों के बेगानेपन कों, शीशे का मानस जड़ दिमाग-संवेदनहीनता को, मानसरोवर में गिद्धों की बीट उन अयोग्य अवसरवादी लोगों को बिंबायित करती है जो तमाम ऊँची जगहों पर बैठे हुए हैं जहाँ उन्हें नहीं होना चाहिए। हाथों में गजरा लपेटे हुए जो कूड़े में लुढ़की है हमारे समाज के लोगों का अपनी विरासतों को बचाने के प्रति घनघोर उपेक्षा व तिरस्कार का बिंब रचती है। दूधनाथ सिंह के यहाँ प्रेम का परिसर महज जीवन नहीं जीवन के पार तक है–

मैं
मरने के बाद भी
याद करूँगा
तुम्हें
तो लो, अभी मरता हूँ
झरता हूँ
जीवन
की
डाल से।''

(तुम्हारे लिए)

प्रेम की कितनी सूक्ष्म आहट, सुगंध से भी महीन अहसास देखिए :

मेरे जूतों में तुम्हारे तलुओं का स्पर्श है
एक दिन जूते खराब हो जाएँगे
फिर मैं अकेला रह जाऊँगा
जब तक रहूँगा।

(तुम्हारे लिए)

कुल मिलाकर दूधनाथ सिंह की कविताएँ जीवन-मृत्यु, प्रकाश, अंधकार, कलाकार के आत्ममंथन, जन के आत्मसंघर्ष, सामाजिक टूटन व घुटन के साथ गहरे राजनीतिक-सांस्कृतिक इतिहासबोध के फ्रेमवर्क में रची गयी हैं जहाँ बड़े यत्न से विशेषणों, 'आब्जेक्टिव कोरिलेटिव्स' तथा बिंबो को काव्यभाषा में सिरजा गया है। उन्होंने 1965 के बाद से लेकर मृत्यु तक कविताएँ (निरन्तर तो नहीं) लिखी हैं जिसमें उनका 71 प्रेम कविताओं का अंतिम काव्य संग्रह 'तुम्हारे लिए' 2014 ई0 में आया। इसके अलावा 'अपनी शताब्दी के नाम', 'युवा खुशबू और अन्य कविताएँ', 'एक और भी आदमी है', 'सुरंग से लौटते हुए' (लम्बी कविता) इनके काव्य संग्रह हैं। 'सुरंग से लौटते हुए' कविता मिल नहीं पायी। अतः उसका संदर्भ यहाँ नहीं दिया जा सका है। अपने कथाकार व्यक्तित्व में अमर लेखक की कविताएँ कितनी क्वालिटी कविताएँ हैं यही

दर्शाना इस लेख का मुख्य उद्देश्य रहा है, सम्भवतः इसलिए जानबूझकर उनकी कविताओं के लम्बे उद्धरण आने दिये गये हैं। कोई मूल्यांकन अपने आप में मुकम्मिल नहीं होता, इस अधूरेपन के एहसास को दूधनाथ सिंह के न होने के अधूरेपन के साथ जोड़ते हुए उन्हीं की एक कविता से उन्हें नमन !

आ जाओ तुम अभी अगर
तो जीवन लौटे, यहीं अचेतन
के भीतर फिर चेतन का उल्लास
कि जैसे अभी गर्भ से माँ के
बाहर आया है - कोमल वह चीत्कार

(तुम्हारे लिए)

संदर्भ

1. 'लौट आ, ओ धार', दूधनाथ सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, दूसरा संस्करण-1997 ई., पृ. 52
2. 'बतौर भूमिका' से, 'युवा खुशबू और अन्य कविताएँ', वाणी प्रकाशन, दिल्ली प्रथम संस्करण, 2010 ई.
3. 'एक बात' से, तुम्हारे लिए, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2014 ई.
4. यह रस नहीं, जहर है, 'अपनी शताब्दी के नाम', साहित्य भण्डार, इलाहाबाद, 2014 ई., पृ. 87
5. अभिशाप, 'अपनी शताब्दी के नाम', पृ.-16
6. 'तुम्हारे लिए' की 'एक बात' शीर्षक भूमिका से
7. वही
8. काव्यगत प्रभाव मौलिकता की समस्या, निबन्ध से, 'अपनी शताब्दी के नाम' में संग्रहीत, पृ. 142
9. आत्महंता आस्था, दूधनाथ सिंह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, आठवाँ संस्करण 2014, पृ. 7
10. काव्यगत प्रभावः मौलिकता की समस्या नामक ऊपर उद्धृत निबन्ध से, संदर्भ वही, पृ. 147
11. जलमुर्गियों का शिकार, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2015
12. कामायनी, चिंता सर्ग

केदारनाथ सिंह की कविताएँ
जनतंत्र के अकाल में सारस का प्रतिरोध

आशुतोष कुमार

केदारनाथ सिंह की कविता का सफर हिंदी कविता का एक युग है, इसे उनके सख्त आलोचक भी मंजूर करते हैं। उनका पहला संग्रह 'अभी, बिल्कुल अभी' 1960 में और दूसरा 'जमीन पक रही है' 1980 में प्रकाशित हुआ। यह दौर 'समकालीन कविता' के नाम से पहचानी गई हिंदी कविता के उद्विकास का दौर है। 'नई कविता' और 'अकविता' के प्रयोगशील कालखंडों से छन कर और निथर कर आई समकालीन कविता के शिखर हस्ताक्षरों के रूप में केदारनाथ सिंह और रघुवीर सहाय का नाम ही लिया जाता है। इन दो नामों को समकालीन कविता की बड़ी बहस के दो ध्रुवों की तरह भी पेश किया जाता है। यह बात केदारजी की मृत्यु के बाद 'बुद्धू बक्सा' ब्लॉग पर प्रकाशित कृष्ण कल्पित के उस लेख में भी दर्ज है, जिसमें यह भी कहा गया है :

''समकालीन हिंदी कविता के सर्वाधिक कलावादी कवि केदारनाथ सिंह थे। केदारजी कविता के इंटीरियर डेकोरेटर थे। किस बिम्ब को किस बिम्ब के पास और किस कुदाल को किस हल के पास रखना है, यह केदारजी अच्छे से जानते थे। इसे कविता का इंस्टालेशन आर्ट भी कह सकते हैं।''[1]

केदारनाथ सिंह की कविता पर कलावादी होने के अलावा 'रूमानी यथार्थवादी'[2] होने के आरोप भी लगाए गए हैं। उनकी कविता औद्योगिक युग की आधुनिक चेतना के बरक्स धर्मदर्शनवादी चेतना की ओर उन्मुख है। यथार्थ का रूमानीकरण और रहस्यीकरण करती है। शहर के बरक्स गाँव और प्रकृति की रूमानियत में शरण लेना चाहती है।

केदारनाथ सिंह और रघुवीर सहाय की 'बहस' के उत्साही प्रवर्तक यह मानने लगते हैं कि रघुवीर सहाय की कविता रूमानियत की व्याधि से मुक्त है, कलावाद और रहस्यवाद के विरुद्ध है और सामाजिक-राजनीतिक यथार्थ के आदर्शीकरण की हर कोशिश को प्रश्नांकित करने में सक्षम है।

इसके बावजूद यह समझा जाता है कि हिंदी कविता की नई पीढ़ियों पर केदारनाथ सिंह की 'रूमानियत' का अधिक असर हुआ। हिंदी कविता उन्हीं के मुहावरे को पकड़ कर कविता का एक सरल, सुपाच्य, चित्रलिखित, कौतूहलमय और कलात्मक संसार बनाती चली गई। मुहावरे के सहारे चलने वाली कविता के साथ ऐसी दुर्घटना हो जाए, यह नामुमकिन नहीं। लेकिन खुद केदारनाथ सिंह की कविता की दुनिया भी ऐसी नहीं है।

केदारजी की कविता में रूमान का तत्त्व है। लेकिन वह 'यथार्थ का रूमानीकरण' नहीं है। न वह छायावादी किस्म की रूमानियत है।

यथार्थ का रूमानीकरण नहीं किया जा सकता। यथार्थवाद और रूमान जिन्दगी को देखने के दो नजरिए हैं। रूमान अशुभ के विरुद्ध शुभ की संभावना की खोज है। जीवन में अटूट आस्था इसका आधार है। यथार्थवाद अशुभ का साक्षात्कार है। दोनों अनिवार्यतः विपरीतार्थक नहीं हैं। रूमान यथार्थ से पलायन नहीं, उसका विस्तार है। अगर पलायन हो जाए तो रूमान का अंत है। रूमान का रूमानियत में बदल जाना है। स्वप्न का स्वप्नजीविता में बदल जाना है।

टूटे हुए ट्रक में उगी हुई घास का गुणगान प्राक् पूँजीवाद की तरफ प्रत्यावर्तन नहीं, तकनीकी बदलाव की तीव्र गति के समक्ष जीवन की सहज गति की अजेयता है। रूमान हर दौर में तकनीकी के प्रचंड आवेग के दबाव में कुचली जा रही जीवन की नैसर्गिकता का पुर्नरेखांकन होता है। केदारनाथ सिंह समेत हिंदी की समकालीन कविता का एक हिस्सा ऐसा ही है। इसका यह मतलब नहीं कि वे यथार्थविरोधी, प्रतिगामी और प्राक्-आधुनिक कविताएँ हैं।

'जाना' जैसी कविता प्राक्-आधुनिक बोध से नहीं लिखी जा सकती। केदार जी की कुदाल औद्योगिक सभ्यता के विरुद्ध कृषि सभ्यता को पुनर्स्थापित करने का आह्वान नहीं करती। नवउदारवादी कौशल के बरक्स श्रम की अस्मिता को रेखांकित करती है। यह समकाल का क्रिटीक है, निषेध नहीं।

केदार जी का रूमान उन्नीसवीं सदी के रूमान से गुणात्मक रूप से भिन्न है। उनका बाघ अपनी बाघ सुलभ हिंसा को सेलिब्रेट नहीं करता, उसे उतार फेंकना चाहता है। लेकिन बाघ न होने का पाखण्ड रच कर नहीं।

केदार जी के रूमान में बाघ के भारी पंजों की आवाज विस्मृत नहीं होती। रात भर बजने वाली जंजीरों की आवाज लोरी की धुन में नहीं ढलती। उनकी कविता उठते हुए हाहाकार की तरफ पीठ नहीं करती। लेकिन हाहाकार आखिर मृत्यु के विरुद्ध जीवन की पुकार हैं। इस पुकार में जीवन की जो सुगंध है, केदारजी की कविता अनदेखी उसकी भी नहीं कर सकती।

केदारजी का बनारस न मिथकीय है, न कालातीत। तनिक ध्यान से पढने पर कोई भी देख सकता है कि बनारस कविता में एक ऐसे शहर की विडम्बना की ओर इशारा है, जो कालातीत होने के भौकाल को ही अपनी समकालीनता की पूँजी बना कर जीने को अभिशप्त जान पड़ता है! और अपने इस अभिशाप से उसी तरह बेखबर है, जैसे एक पैर पर खड़ा साधु बेकार हो चुके अपने दूसरे पैर से होता है। लेकिन बनारस एक भौकाल भर नहीं है। यह मनुष्य के श्रम से रचा गया और सहेजा गया एक वास्तविक शहर भी है। इसी अर्थ में वह एक ही साथ है भी, और नहीं भी है।

बनारस आधुनिक हिंदी कविता की महानतम उपलब्धियों में भले शामिल न हो, लेकिन उसकी निकटता हुसैन के चित्रों से ही है, गीता प्रेस के कैलेंडरों से नहीं।

केदारनाथ सिंह मूलतः शब्दों के साथ मुठभेड़ के कवि हैं। भाषा की पकी हुई जमीन उनकी उपलब्धि है, और सीमा भी। पकी हुई जमीन पर नई फसलों की आमद मुश्किल होती है। 'जमीन पक रही है' के बाद की उनकी यात्रा कमोबेश कविता की उसी परिपक्व जमीन पर है :

मुक्ति का जब कोई रास्ता नहीं मिला
मैं लिखने बैठ गया हूँ
मैं लिखना चाहता हूँ 'पेड़'
यह जानते हुए कि लिखना पेड़ हो जाना है
मैं लिखना चाहता हूँ 'पानी'
'आदमी' मैं लिखना चाहता हूँ
एक बच्चे का हाथ
एक स्त्री का चेहरा
मैं पूरी ताकत के साथ
शब्दों को फेंकना चाहता हूँ आदमी की तरफ
यह जानते हुए कि आदमी का कुछ नहीं होगा
मैं भरी सड़क पर सुनना चाहता हूँ वह धमाका
जो शब्द और आदमी की टक्कर से पैदा होता है
यह जानते हुए कि लिखने से कुछ नहीं होगा
मैं लिखना चाहता हूँ।

क्या 'मुक्ति' शीर्षक कविता का कवि सचमुच यह जानता है कि लिखने से कुछ नहीं होगा? फिर भी वह लिखना चाहता है तो क्यों? आखिर कोई कविता क्यों लिखता है? कविता बिना शक भाषा में की जाने वाली एक कार्रवाई है, लेकिन इस कार्रवाई से होता जाता क्या है? शब्दों का एक खेल? एक मनोरंजन या और भी कुछ?

आजकल भाषाविज्ञान का बड़ा जलवा है। हमें बताया गया है कि भाषा सच्चाई को जानने और बताने का एक माध्यम मात्र नहीं है। वह तो दरअसल सच्चाई को बनाने का और जरूरत पड़ने पर बिगाड़ने का जरिया है। सच्चाई का खुद कोई वजूद नहीं है। वह तो भाषा की एक निर्मिति है। इसलिए मनुष्य भी भाषा की ही एक निर्मिति है। भाषा के बाहर मनुष्य का न कोई अर्थ है, न अस्तित्व। यूँ मनुष्य अपनी ही रची हुई भाषा के सामने इस कदर असहाय है, जैसे वह स्वयं द्वारा कल्पित ईश्वर के सामने होता है।

केदारनाथ सिंह की कविता की ढेर सारी खूबियों की चर्चा की जाती है। इस बात पर कम ध्यान दिया गया है कि भाषा और मनुष्य के गहरे और जटिल रिश्ते की पड़ताल उनके कवि कर्म की बुनियादी प्रेरणाओं में से एक है। उनकी कविता उस भाषाई नियतिवाद को चुनौती देती है, जो मानता है कि मनुष्य भाषा का एक खिलौना मात्र है। दूसरी तरफ वह उस नजरिए को भी नामंजूर करती है, जो भाषा को मनुष्य के खिलवाड़ का इलाका घोषित करती है।

ऊपर दी गयी कविता केदारजी की रचना प्रक्रिया का भेद खोलने वाली कविता है। कविता शब्द और आदमी की टक्कर से पैदा होने वाला धमाका है, एक ऐसा बेआवाज धमाका, जिससे कोई क्रान्ति भले ही न हो, लेकिन वह मनुष्य और भाषा दोनों को कहीं कुछ तोड़ता और तब्दील करता है। केदारनाथ की शक्ति यह है कि वे भाषा के एक दूसरे से उलट दोनों आयामों को समझते हैं। वह मनुष्य की आत्मा की कोख है, तो उसकी जबान कैद कर लेने वाली जंजीर भी।

मातृभाषा के बारे में उनकी मशहूर कविता यों है :

जैसे चींटियाँ लौटती हैं
बिलों में
कठफोड़वा लौटता है
काठ के पास
वायुयान लौटते हैं एक के बाद एक
लाल आसमान में डैने पसारे हुए
हवाई-अड्डे की ओर
ओ मेरी भाषा
मैं लौटता हूँ तुम में
जब चुप रहते-रहते
अकड़ जाती है मेरी जीभ
दुःखने लगती है
मेरी आत्मा

लेकिन कवि यह देख कर हैरान है कि जो भाषा के सब से बड़े जानकार हैं, वे ठीक उस वक्त खामोश रह जाते हैं, जब बोलना निहायत जरूरी होता है :

बिजली चमकी, पानी गिरने का डर है
वे क्यों भागे जाते हैं जिन के घर हैं
वे क्यों चुप हैं जिनको आती है भाषा
वह क्या है जो दिखता है हरा हरा-सा

जैसे घर एक शरणस्थली है और एक बंदीगृह भी, वैसे ही भाषा भी है। केदारजी वस्तुओं की स्वायत्तता का सम्मान करने वाले कवि हैं। दरअसल वे उस जमाने के कवि हैं, जिसमें कवियों को यह मुगालता नहीं रह गया है कि वे वस्तुओं को अपने मन माफिक उलट पलट सकते हैं, बदल सकते हैं। संसार जहाँ है, वहाँ है, मनुष्य उस का नियंता नहीं है, जैसे कि आधुनिक वैज्ञानिक मनुष्य को कभी लगता था।

लेकिन मनुष्य अपने रचे इतिहास के हाथों अपने कर्त्तापन को पूरी तरह गँवा चुका हो, ऐसा भी नहीं है। जैसे दुनिया के साथ है, वैसे ही भाषा के साथ भी है। भाषा अपनी स्वायत्तता में कितनी भी कठोर और तटस्थ हो, मनुष्य के साथ अपनी अंतरंगता में वह कविता में तब्दील होने के लिए बाध्य होती है। केदार जी निरपेक्ष संसार के साथ ऐसी ही मानवीय अंतरंगता को रेखांकित करते हुए अपनी कविता उपलब्ध करते हैं।

यह कोई कोमल मधुर संगीतमय संसार नहीं है, जैसा कि कुछ लोग समझाते हैं, वहाँ जीवन की सारी जटिलताएँ हैं। प्रेम कविता की पंक्तियों के बीच हत्याओं के सुराग मिलते हैं। बनारस के सारे मिथकीय रहस्य को भिखारियों के कटोरों का निचाट खालीपन तोड़ता है। उनकी कविता में सारस का दिखना किसी स्वर्गीय सरोवर के आसपास होने का संकेत न हो कर उस अकाल का संकेत है, जिसका साया समकालीन मनुष्य की नियति पर पड़ा दीखता है। लेकिन केदारजी सभ्यता के इस संकट को एक ठेठ हिंदी कवि की तरह कहते हैं :

मेरी भाषा के लोग
मेरी सड़क के लोग हैं
सड़क के लोग सारी दुनिया के लोग
पिछली रात मैंने एक सपना देखा

कि दुनिया के सारे लोग
एक बस में बैठे हैं
और हिंदी बोल रहे हैं
फिर वह पीली-सी बस
हवा में गायब हो गई
और मेरे पास बच गई सिर्फ मेरी हिंदी
जो अंतिम सिक्के की तरह
हमेशा बच जाती है मेरे पास
हर मुश्किल में।

केदारनाथ सिंह की कथित रूमानियत को जाँचने का एक तरीका उनकी प्रेम कविताओं पर गौर करना हो सकता है। रूमानियत अगर प्रेम कविताओं में न होगी तो और कहाँ होगी? केदार जी की प्रेम से संबंधित कविताएँ प्रमाण है कि उनकी कविता में रूमान का तत्त्व भले हो, रूमानियत नहीं है।

1980 में प्रकाशित 'जमीन पक रही है' में एक छोटी-सी कविता है—जाना। यह केदारनाथ सिंह के सबसे प्रसिद्ध कविताओं में से एक है :

मैं जा रही हूँ - उसने कहा
जाओ - मैंने उत्तर दिया
यह जानते हुए कि जाना
हिंदी की सब से खौफनाक क्रिया है।

यह एक समकालीन भावबोध है। यहाँ एक आधुनिक स्त्री है, जो अपने लिए एक स्वतंत्र निर्णय ले सकती है। अगर वह जाना चाहती है, अपने साथी के सामने बिना हिचके इसकी घोषणा भी कर सकती है। पुरुष साथी भी उसका फैसला सुन कर भावुक, कातर या क्रोधित नहीं होता। वह उस निर्णय को स्वीकार करता है। वह विचलित दिखाई नहीं देता। भले ही अपने मन के खौफ को भी समझता है।

खौफ के बावजूद वह स्त्री के निर्णय लेने के अधिकार में हस्तक्षेप नहीं करता। अनुराग और संयम की यह एकाग्रता इस कविता का मुख्य आकर्षण है।

इसमें प्रेम की छायावादी वेदना कहीं नहीं है। अज्ञेय की कविताओं जैसी प्रेम और वैयक्तिक स्वाधीनता का तनाव, दुविधा और विडम्बना भी नहीं है। शमशेर की कविता जैसा प्रेम की भीतर लैंगिक और वर्गीय अस्मिताओं के टकराव से होने वाली टूटन और बिखराव भी नहीं। बस प्रेमभावना के साथ एक दूसरे की स्वाधीनता का सहज स्वीकार है। इस स्वीकार में एक सयानापन है, जो उसे समकालीन बनाता है। भावबोध की आधुनिकता अब मंज गयी है, थिर हो गयी है। अधिकार भावना छूट गयी है। फिर भी प्रेम बचा रह गया है। अधिकार और अहं-भाव के छूटने के प्रक्रिया में होने वाली पीड़ा और विडम्बना से मुक्ति मिल गयी है।

इस कविता को यादगार बनाने के लिए इतना बहुत है। लेकिन इस कविता को याद रखने का एक कारण और है। इस कविता में केदारनाथ सिंह की रचना प्रक्रिया को समझने की कुंजी भी मौजूद है। वह कुंजी है—भाषा और मनुष्य के जटिल रिश्ते की खोज। 'मैं भरी

सड़क पर सुनना चाहता हूँ वह धमाका/ जो शब्द और आदमी की टक्कर से पैदा होता है।' ('मुक्ति' से)

कविता में 'जाना' सिर्फ जाना नहीं है। वह हिंदी की एक क्रिया भी है। कविता इस तथ्य को अलग से रेखांकित करती है। इस रेखांकन से कविता में आये क्रियापद जाना के आशयों में लोमहर्षक विस्तार हो जाता है। अब वह सिर्फ एक व्यक्ति का, प्रेमिका का, जाना नहीं है। अब वे तमाम गीत और कविताएँ याद आने लगती हैं, जिनमें जाने और बिछुड़ जाने का मर्म समाया हुआ है। जैसे उन पीछे छूट गयी स्त्रियों के गीत, जिन के संगी रोजी-रोटी की फिक्र में परदेस चले गए। जैसे नागमती को छोड़कर रतनसेन का जाना। राम का वन जाना और वन में स्वर्णमृग ढूँढने जाना। कामायनी में श्रद्धा को छोड़कर मनु का चला जाना। 'अँधेरे में' दस्तक देती आत्मसम्भवा अभिव्यक्ति का सहसा गायब हो जाना। यों जाना क्रिया के अनगिनत आशय और उदाहरण याद आ कर इस छोटी-सी कविता में अंतहीन अनुगूँज पैदा कर जाते हैं।

हिंदी की सब से खौफनाक क्रिया के रूप में जाना एक अकेली व्यक्तिबद्ध घटना नहीं हो सकती। वह एक सामाजिक और समष्टिमूलक घटना हो जाती है। इस अर्थ में किसी का भी जाना अकेले और एक ही बार नहीं हो सकता। उसमें मनुष्य के जाने की न जाने कितनी आहटें समा जाती हैं। अचरज यह कि इससे इस अनुभूति की गहन निजता कहीं से भी क्षतिग्रस्त नहीं होती। फिर भी वह निरी व्यक्तिगत नहीं रह जाती। निजता और सामाजिकता की यह एकाग्रता केदारजी की कविताओं की अनन्य विशेषता है। इस तरह उनके यहाँ निजता और सामाजिकता का अटूट विभाजन खत्म हो जाता है। शायद यही वह धमाका है, जो मनुष्य की तरफ पूरी ताकत से किसी शब्द के उछाले जाने से पैदा होता है।

यों केदारनाथ सिंह की कविताएँ शब्द और मनुष्य की टकराहट से दोनों की मुक्ति का रास्ता खोजती हुई दिखाई पडती हैं।

भाषा के बारे में परम्परागत समझ यह रही है कि भाषा विचारों के आदान प्रदान का एक उपकरण मात्र है। दूसरी तरफ संरचनावादी-उत्तरसंरचनावादी दृष्टि यह कहती जान पड़ती है कि मनुष्य और उसका जीवन भाषा की एक संरचना मात्र हैं।

इन दो अतिवादी दृष्टियों से बच कर केदारनाथ जी की कविता मनुष्य और भाषा दोनों की अंतःक्रिया में रचनात्मक सम्भावनाओं की खोज करती है। लेकिन वह यह भी समझती है कि भाषा के साथ मनुष्य का रिश्ता कितना जटिल और द्वन्द्वपूर्ण है। शब्द जीवन में नए आशयों और सम्भावनाओं को जन्म दे सकते हैं, लेकिन वे उन्हें नष्ट भी कर सकते हैं। जैसे मनुष्य शब्दों को नया जीवन दे सकते हैं, और उन्हें नष्ट भी कर सकते हैं।

'जमीन पक रही है' के कवि को तीखा अहसास था कि वह एक ऐसे दौर में है जब शब्दों के अर्थ छिन गए हैं। और यह उसके युग के संकट का सबसे महत्त्वपूर्ण सूचक है :

पर सच तो यह है कि यहाँ
या
कहीं भी फर्क नहीं पड़ता
तुमने जहाँ लिखा है 'प्यार'
वहाँ लिख दो 'सड़क'
फर्क नहीं पड़ता

(फर्क नहीं पड़ता)

विडम्बना यह है कि जहाँ प्यार की जगह सड़क लिख देने से फर्क नहीं पड़ता, वहीं मेज को मेज कह देने से बहुत बड़ा फर्क पड़ सकता है :

मैं बहस शुरू तो करूँ
पर चीजें एक ऐसे दौर से गुजर रहीं हैं
कि सामने की मेज को
सीधे मेज कहना
उसे वहाँ से उठाकर
अज्ञात अपराधियों के बीच रख देना है।

(फर्क नहीं पड़ता)

असल में इन दो स्थितियों में कोई विरोध नहीं है। शब्दों से अर्थ के लोप और जीवन से सच्चाई, ईमानदारी और पारदर्शिता जैसे मूल्यों के विलोप में सीधा रिश्ता है। यहाँ जॉर्ज ऑरवेल के प्रसिद्ध उपन्यास 'उन्नीस सौ चौरासी' को याद किया जा सकता है। इस उपन्यास में एक समूचा सरकारी विभाग इस काम के लिए है कि कैसे प्रचलित भाषा से शब्दों की छँटाई की जा सके। लोगों के पास इस्तेमाल करने के लिए कम से कम शब्द हों तो उनके पास महसूस करने के लिए कम से कम संवेदनाएँ होंगी, सोचने के लिए कम से कम विचार होंगे, पूछने के लिए कम से कम सवाल होंगे, वे कम से कम मनुष्य और अधिक से अधिक मशीन होंगे। सरकार भाषा की केवल छँटाई नहीं करती, उसे संशोधित भी करती है। एक शांति मंत्रालय है, जिसका काम युद्ध की तैयारियाँ करना और उसे संचालित करना है। एक सत्य का विभाग है, जिसका काम केवल झूठ का प्रचार करना है। यह उपन्यास दिखाता है कि भाषा को नियंत्रित करना मनुष्य और उसके समाज को नियंत्रित करने का एक प्रभावशाली तरीका है। ऐसे समय में कवि की यह बेचैनी समझ में आती है :

और भाषा जो मैं बोलना चाहता हूँ
मेरी जिह्वा पर नहीं
बल्कि दाँतों की बीच की जगहों में
सटी हुई है।

(फर्क नहीं पड़ता)

'जमीन पक रही है' का कवि सत्तर के बेचैन दशक की उपज है। यह बाकी दुनिया के साथ भारत में भी लोकतंत्र के मुलम्मे के उतरने का दौर था। यह नक्सलबाड़ी विद्रोह और उसके बर्बर दमन का दौर था। यह राष्ट्रीय आन्दोलन के विरासत को सम्हालने वाली सत्ताधारी पार्टी का अधिनायकवाद के दलदल में फँस जाने का दौर था। यह शब्दों से उनके अर्थ छीन लेने का दौर था। लेकिन यह प्रतिरोध का दौर भी था। यह नए अर्थों की रचना और नए स्वप्नों की कल्पना का दौर भी था। केदारनाथ सिंह की कविता इसी दौर की कविता है। यह भाषा के भीतर दमन और प्रतिरोध की द्वंद्व को समझने और उसे गहराने की कविता है।

क्या ऐसे दौर में इस दौर से जूझे बगैर प्रेम संभव है?
क्या ऐसे दौर में विशुद्ध 'प्रेम कविता' संभव है ?

केदार जी के यहाँ मुश्किल से ही कोई ऐसी कविता मिलेगी, जिसे 'प्रेम कविता' कहा जा सके, लेकिन 'प्रेम कविता' पद बार-बार उनकी कविता का विषय बनता है।

'जमीन पक रही है' में ऐसी ही एक कविता है—'एक प्रेम कविता को पढ़ कर'।

कविता शुरू होती है वाचक की इस हैरत से कि उसने अभी जो लम्बी कविता पढ़ी,

उसमें बत्तखें कहाँ हैं। कविता में बत्तखों का आभास तो था, लेकिन उनसे मुलाकात नहीं हुई।

क्या 'प्रेम कविता' में बत्तखों का होना जरूरी है? क्या प्रेम कविता में प्रेम के अतिरिक्त कुछ भी होना जरूरी है? क्या प्रकृति का होना जरूरी है?

कविता की यह शुरुआत 'प्रेम कविता' जैसे पदबंध पर एक टिप्पणी है। क्या कविताओं को इस तरह अलग-अलग खाँचों में डाला जा सकता है? क्या कोई कविता ऐसी हो सकती है, जिसमें प्रेम ही प्रेम हो, प्रेम के सिवा और कुछ न हो? समाज न हो? प्रकृति न हो?

'प्रेम कविता' एक ऐसा पदबंध है, जो प्रेम को व्यापक जीवन से काट कर रखता है। जीवन से विच्छिन्न प्रेम जितना भयानक हो सकता है, 'प्रेम कविता' भी उतनी ही दहशतभरी हो सकती है। इस कविता में एक स्त्री है, जो अकेली खड़ीं बस का इंतजार कर रही है। जाहिर है, उसे कहीं जाना है और जाना जरूरी है। लेकिन कहाँ जाना है, इसके बारे में प्रेम कविता चुप रहती है। प्रेम कविता में आगे कहीं वह आलू चीरती हुई दिखाई देती है। लेकिन इसके आगे उसके व्यक्तित्व के बारे में कविता कुछ नहीं बताती। प्रेम कविता उसे सिर्फ स्त्री के रूप में पहचानती है, व्यक्ति के रूप में नहीं। प्रेम कविता में स्त्री पुरुष के प्रेम का उपकरण मात्र है। मनुष्य के रूप में उसका कोई वजूद नहीं है। यह उसके मनुष्यत्व की हत्या है। इसलिए आश्चर्य नहीं कि वाचक को यह प्रेम कविता अपनी अंतिम पंक्तियों में तेज गोली में बदलती हुई दिखाई देती है, जिसे स्त्री को निशाना बना कर चलाया गया है। प्रेम कविता जहाँ खत्म होती है वहाँ स्त्री इस हिंसक कविता से बाहर निकल जाती है और इस तरह उसे ध्वस्त कर देती है।

'एक प्रेम कविता को पढ़ कर' शीर्षक कविता पाठक के मन में कई विचलित करने सवाल उठा देती है। क्या प्रेम कविता जैसा वर्गीकरण स्त्री को एक अमूर्त प्रेमपात्र में बदलकर और प्रेम को व्यापक जीवन यथार्थ से विच्छिन्न कर स्त्री की मानवी अस्मिता के साथ हिंस्र व्यवहार नहीं करता? क्या 'प्रेम' स्वतः एक हिंस्र अवधारणा नहीं है? प्रेम हम एक दूसरे से करते हैं या नहीं करते। लेकिन क्या दोनों ही स्थितियों में हम एक दूसरे का उत्पीड़न भी नहीं करते? एक दूसरे की स्वतन्त्रता छीन लेने की कोशिश नहीं करते? क्या प्रेम के नाम पर किये जाने वाले अत्याचार और हिंसा पर हमारी नजर जाती है?

बाद के दिनों में लिखी गई चर्चित कविता 'बाघ' (1984-1985) के एक अंश में एक छोटे-से शहर में रहने वाली स्त्री के बारे में यह कहा गया है :

...उसका खयाल था
कि यह जो प्यार है
यह जो हम करते हैं एक दूसरे से
या फिर नहीं करते
यह भी एक बाघ है
और इतना करीब
कि ध्यान से सुनो
तो तुम अपनी छाती में सुन सकते हो
उसके भारी पंजों के चलने की आवाज

1995 में आए संग्रह 'उत्तर कबीर और अन्य कविताएँ' में एक दिलचस्प कविता है— 'कूड़ा और चिड़िया के बीच फँसी एक प्रेम कविता।'

कविता में एक लड़का-लड़की साथ बैठे हैं। लड़के की नजर कूड़े के ढेर पर बैठी चिड़िया

पर जाती है। वह जानना चाहता है कि चिड़िया का नाम क्या है। लड़की के लिए यह व्यर्थ का सवाल है उसके लिए।

चिड़िया का नाम उतना ही व्यर्थ है, जितना कूड़े का। लेकिन लड़का परेशान है। वह जानता है कि कूड़े का कोई नाम नहीं होता, लेकिन चिड़िया का होता है, जिसे जानना जरूरी है। क्योंकि नाम चिड़िया के न रहने के बाद भी मनुष्य का पीछा करता है, उसकी उम्र भर। लड़की को लगता है, यह एक भयानक बात है। वह उठ कर चली जाती है। लेकिन लडका वहीं कूड़े और चिड़िया के बीच उलझा बैठा रह जाता है। जैसे कूड़े और चिड़िया के नाम का सवाल दुनिया के होने न होने का सवाल हो।

लड़के के लिए चिड़िया का नाम जानना इतना जरूरी क्यों है? भाषाविज्ञानी कहते हैं कि नाम यादच्छिक होते हैं। नाम के पीछे कोई तर्क नहीं होता। वह एक संयोग मात्र होता है। लेकिन नाम का एक इतिहास होता है। उसका एक सांस्कृतिक अर्थ होता है। एक सभ्यतागत पहचान होती है। चिड़िया का नाम मनुष्य के साथ उसके एक आत्मीय, खास रिश्ते का आधार बनता है। अगर नाम मिट जाए तो वह रिश्ता भी खत्म हो जाए। फिर चिड़िया और किसी अनजान कीड़े में कोई फर्क न रह जाए। लेकिन मनुष्य अपनी दुनिया के इन रिश्तों से ही मनुष्य बनता है। उसका वजूद इस बात पर निर्भर करता है कि उसकी दुनिया में कौन-सी चिड़िया, पशु, पेड़, अनाज, नदियाँ, पहाड़, गाँव, देश, लोग, बोलियाँ, संगीत आदि निवास करते हैं। अगर इन नामों को मिटा दिया जाए तो क्या उसका वजूद ही न मिट जाएगा? फिर उसके प्रेम का वजूद भी कहाँ होगा? अगर वह चिड़िया के नाम की उपेक्षा कर सकता है, तो क्या खुद अपनी प्रेमिका या दोस्त के नाम की उपेक्षा नहीं कर सकता? जाहिर है, चिड़िया के साथ उसके रिश्ते और लड़की के साथ उसके रिश्ते में एक अटूट सम्बन्ध है। अगर एक रिश्ता टूट सकता है तो बाकी भी टूट सकते हैं। यों नाम का सवाल दुनिया के होने न होने का सवाल बन जाता है।

लड़की को यह बात भयानक लगती है। और देखा जाए तो ऐसा है भी। क्योंकि अगर उसका प्रेम सम्बन्ध चिड़िया के नाम पर निर्भर करता है, तो फिर सारी दुनिया पर निर्भर करता है। फिर तो लड़के के साथ उसका रिश्ता, चाहे जो कुछ भी हो, एकान्तिक और निजी नहीं रह सकता। लेकिन एकांतिकता और निजता के बिना क्या प्रेम बचा रह सकता है? इसी विडम्बना का सामना न कर पाने के कारण लड़की उठ कर चली जाती है और लड़का कूड़े और चिड़िया के नामों में उलझा बैठा रह जाता है। एक सम्भावित 'प्रेम कविता' कूड़े और चिड़िया के बीच फँसी रह जाती है। लेकिन इशारा कर जाती है कि प्रेम शायद ऐसी ही किसी विडम्बना का नाम है, जो होने न होने के बीच, कूड़े और चिड़िया के नामों के बीच कहीं फँसी रह जाती है।

गीतकार जब कहता है कि प्यार को प्यार ही रहने दो, कोई नाम न दो, तब भी वह उसे एक नाम दे रहा होता है। केदारनाथ सिंह की प्रेम से सम्बन्धित ये चंद कविताएँ भी प्रेम पद में निहित संभावनाओं, तनावों, अंतर्विरोधों, विडम्बनाओं और हिंसा को पाठकों के लिए अनुभवगम्य और बोधगम्य बना पाने में सफल होती हैं। विशेष रूप से एक ऐसे दौर में जब स्वतन्त्रता की कामना जितनी तेज हो, दमन का तन्त्र भी उतना ही मजबूत दिखाई दे रहा हो।

जनतांत्रिक मूल्यों की अकाल-वेला में केदारनाथ सिंह की कविता जन प्रतिरोध के सारसों की अप्रत्याशित आवाज की तरह विकसित हुई। उनका संग्रह 'अकाल में सारस' 1988 में प्रकाशित हुआ था, जिसमें इसी शीर्षक की एक कविता है। कविता इस तरह शुरू होती है :

तीन बजे दिन में
आ गए वे
जब वे आए
किसी ने सोचा तक नहीं था
कि ऐसे भी आ सकते हैं सारस

एक के बाद एक
वे झुंड के झुंड
धीरे-धीरे आए
धीरे-धीरे वे छा गए
सारे आसमान में
धीरे-धीरे उनके क्रेंकार से भर गया
सारा का सारा शहर

वे देर तक करते रहे
शहर की परिक्रमा
देर तक छतों और बारजों पर
उनके डैनों से झरती रही
धान की सूखी
पत्तियों की गंध...

अकालग्रस्त देस-देसावर से सारसों के शहर में इस तरह आने की किसी को उम्मीद न थी। शहर की एक बुढ़िया सहानुभूति के भाव से अपने आँगन में पानी का एक कटोरा रखती है। लेकिन सारस उसकी अनदेखी कर लौट जाते हैं। लौटते हुए उनकी आँखों में दया और घृणा का मिलाजुला भाव है।

सारसों की जगह किसानों को रख दें, तो यह समूची कविता हाल ही में मुम्बई में हुए पचास हजार किसानों के लॉन्ग मार्च का सशक्त रूपक बन जाएगी। किसानों के श्रम के शोषण से जगमागाते हुए शहरों में लॉन्ग मार्च करते हुए किसानों के अकस्मात आने और शहरी सहानुभूति को घृणा और दया की नजरों से देखते हुए लौट जाने में एक ठेठ किसानी प्रतिरोध है।

इस प्रतिरोध की भाषा सारसों की भाषा है। या अकाल के विरुद्ध किसी सूखी नाली में शीशे के टुकड़ों के बीच उगी हुई दूब की भाषा है। या सड़क के किनारे बरसों से पड़े हुए ट्रक पर उग आई हरी लतरों की भाषा है। इस भाषा में गर्जन-तर्जन का आभास नहीं, लेकिन एक प्रचंड रचनात्मक प्रतिकार है।

प्रतिरोध की यह किसानी भाषा ओढ़ी हुई सहानुभूति की शहरी संस्कृति को समझ नहीं आती। लेकिन चम्पारण के सत्याग्रही गाँधीजी को खूब समझ में आती थी, जिन्हें केदार जी की एक कविता में किसी खलिहान में भिखारी ठाकुर का नाच देखने के लिए चुपचाप भीड़ के बीच बैठा देखा जा सकता है।

केदारनाथ सिंह ऐसे कवि हैं, जो भूमंडलीकरण के दौर की मेट्रोपोलिटन कविताई के बीच अचानक किसान के छूटे हुए कुदाल को एक प्रश्नचिह्न की तरह खड़ा कर देते हैं।

ठीक इस समय जब जनविरोधी अर्थ-राजनीति का 'दुकाल' अपने नग्नतम निशाचरी रूप

में प्रगट होने को बेताब दिखता है, और उसके विरुद्ध जनवेदना सत्याग्रही प्रतिरोध का नया आख्यान रचने को कटिबद्ध हो रही है, केदारनाथ सिंह का जाना अत्यंत क्षोभजनक लगता है। क्योंकि यही वह समय है जब जड़ता के विरुद्ध कविता की इस ललकार की सबसे ज्यादा जरूरत है कि 'वे क्यों चुप हैं, जिनको आती है भाषा'!

केदारनाथ सिंह का राजनीतिक प्रतिरोध कविता तक सीमित न था। एक सजग नागरिक के रूप में भी दमन के सामने चुप रहने का विकल्प उन्होंने कभी नहीं चुना। हालिया दौर को याद करें तो पुरस्कार-वापसी प्रतिरोध के दौर में लेखकों के पक्ष में उनका प्रखर वक्तव्य याद आता है। एक साँझे बयान में देश में बढ़ती असहिष्णुता और साम्प्रदायिक फासीवादी उन्माद के विरुद्ध लेखकों के मुखर होने की उनकी अपील याद आती है।

केदारजी की कविता जीवन का राग अलपाने वाले आम कवियों की तरह हाहाकार की तरफ पीठ देकर खड़ी नहीं होती। 'उठता हाहाकार जिधर है, उसी तरफ अपना भी घर है' की घोषणा करने वाली उनकी कविता प्रतिरोध के लेखकों के साँझे बयान की तरह पढ़ी जा सकती है। इसी हाहाकार में जीने की सुगंध भी है। 'खुश हूँ आती है रह रह कर/ जीने की सुगंध बह बह कर।' जीने की सुगंध के बिना हाहाकार प्रतिरोध की ललकार नहीं बन सकता। हाहाकार और जीवन सुगंध को विपरीत पदों के रूप में देखने के अभ्यासी केदारजी की कविता की धार को समझने में चूक जाते हैं।

जैसे कविता कहीं खत्म नहीं होती, वैसे ही कवि की भी कभी मृत्यु नहीं होती। केदारजी नहीं रहे लेकिन उनकी कविता 'आदमी के उठे हुए हाथों की तरह' हिन्दुस्तानी अवाम के संघर्षों को उसी तरह थामे रहेगी, जिस तरह उसने उनके प्रिय शहर बनारस को सदियों से थाम रखा है।

संदर्भ

1. http://buddhubaksa.com/2018/03/21/krishna-kalpit-on-kedarnath-singh
2. https://tirchhispelling.wordpress.com/2018/04/12/kedarnath-singh-was-one-of-the-romantic-realist-poet-of-hindi-by-usman-khan/

तलुओं में पृथ्वी
केदारनाथ सिंह की कविताएँ

आशीष त्रिपाठी

केदारनाथ सिंह को यथार्थवाद से एक खास तरह का परहेज है, खासतौर पर वह 'यथार्थवाद' जो जीवन-जगत की वास्तविकताओं को देखे गये दृश्यों और घटनाओं के बराबर मानता हुआ उनके यथातथ्य वर्णन-चित्रण पर एकांतिक जोर देता है। हू-ब-हू वर्णन जहाँ यथार्थवाद का एकमात्र और निर्णायक लक्षण हो—ऐसे यथार्थवाद के प्रति उनमें कोई दिलचस्पी नहीं है। जीवनानुभव हमें जिस तरह मिल जाते हैं—उन्हें अपने ठोस रूपों में ज्यों का त्यों रख देना केदार जी को कविता के लिए उचित नहीं लगता। वे 'अनुभव' के 'कविता' में रूपांतरण के हामी हैं। यह काव्यांतरण उनके लिए कविता होने की बुनियादी शर्त है। काव्यांतरण की इस प्रक्रिया में 'अनुभव' का 'वस्तुगत' होना जितना महत्त्वपूर्ण है, उससे ज्यादा महत्त्वपूर्ण है उसका काव्यात्मक होना। केदारजी की काव्यात्मकता में गहरी रुचि है। थिर और गहरी। स्वातंत्र्योत्तर काव्य-परिदृश्य में गद्यात्मकता की प्रभावशाली उपस्थिति होने के बावजूद। निबंधात्मकता से हीन कविता-वाक्य रचना उनके लिए कविता-प्रक्रिया का जरूरी हिस्सा है। शायद यही वह पहलू है, जिससे उन्होंने मुक्तिबोध के बाद के काव्य-परिदृश्य में अपनी विशिष्ट पहचान बनायी है।

काव्यात्मकता में गहरी दिलचस्पी उन्हें प्रगीत से विरासत में मिली है और इसके लिए उन्होंने प्रगीत से एक रचनात्मक संवाद निरंतर बनाये रखा है। आधुनिक कविता में 'प्रगीत' का महत्त्व और प्रभाव समय के साथ कम होने के बावजूद केदार जी प्रायः 'प्रगीत' को 'कविता' में जगह देते रहे हैं। अनेक बार तो आभास होता है कि मुक्तछंद की संरचना में उन्होंने एक लयहीन प्रगीतात्मकता की खोज की है। उनकी कविता ने प्रगीत के सत्व को सोख लिया है। उनकी कविता की आत्मा में प्रगीत की आत्मा जज्ब है। उनकी 1967 की एक कविता 'तुम आयी' इसका सटीक उदाहरण है :

तुम आयी
जैसे छीमियों में धीरे-धीरे
आता है रस
जैसे चलते-चलते एड़ी में
काँटा जाए धँस
तुम दिखी
जैसे कोई बच्चा
सुन रहा हो कहानी
तुम हँसी
जैसे तट पर बजता हो पानी
तुम हिली
जैसे हिलती है पत्ती
जैसे लालटेन के शीशे में
काँपती हो बत्ती!
तुमने छुआ
जैसे धूप में धीरे-धीरे
उड़ता है भुआ

और अन्त में
जैसे हवा पकाती है गेहूँ के खेतों को
तुमने मुझे पकाया
और इस तरह
जैसे दाने अलगाये जाते हैं भूसे से
तुमने मुझे खुद से अलगाया।

'जो एक स्त्री को जानता है' में 'अनुभव' प्रगीतात्मक संरचना में विन्यस्त है। यह वस्तुतः एक प्रेम कविता है, जिसमें अलगाव की थिर उदासी है और स्मृतियों की जबर्दस्त उथल-पुथल भरी ऊष्मा। कविता की शुरुआत उस स्त्री को भूल जाने की गुजारिश से होती है—'हवा को बहने दो/ और इस स्त्री को भूल जाओ/ जिसे तुम प्यार करते हो।' इस भूलने में उसकी स्मृतियों का पूरा संसार है, जैसे कि सारा जीवन इसी में भरा है :

इसमें तुम्हें जंगली पत्तों की खुशबू
और एक जानवर के रोओं की गरमाहट मिलेगी।
तुम्हें एक मजबूत पत्थर मिलेगा
जिस पर तुम बैठ सकते हो
पत्थर को छुओ
तुम्हें पानी का संगीत सुनाई पड़ेगा
एक कुत्ता उठा लो
और तुम पाओगे तुम उसकी नसों में
ख़ून की तरह बह रहे हो
तुम बाहर निकलोगे

और तुम्हें सूरज मिल जायेगा
अपनी भेड़ों को हाँकता हुआ गड़ेरिया सूरज
उसे देखो
उसे पहचानो
उसे महसूस करो अपनी गर्दन और ललाट पर

तुम पेड़ को देखोगे
और तुम्हें लगेगा वह अपनी जड़ें
तुम्हारी तरफ फेंक रहा है
जड़ें तुम्हारे ख़ून में फैलती जा रही हैं
तुम्हें लगेगा
उन्हें सहो-उन्हें सूँघो-उन्हें फैलने दो
यह जड़ों का संगीत है
जो तुम्हारी नसों में बज रहा है

अन्त में
सबसे अन्त में तुम्हें नदी दिखाई पड़ेगी
एक लम्बे सफ़र के बाद नदी को देखना
तुम्हें रोमाँचकारी लगेगा
तुम हैरान रह जाओगे यह देखकर
कि पानी में आज भी वही चमक है
जो पिछले मार्च में तुमने देखी थी।

यह प्रेम की अत्यंत सघन भावनात्मक उपस्थिति है जिसमें कि 'शहर एक स्त्री की अनुपस्थिति का दूसरा नाम है।'

'सूर्य', 'आत्मचित्र', 'बनारस' जैसी कविताओं में यह प्रगीतात्मकता कविता का प्राण है, और कविता की पूरी देह में फैली है। इसके समानांतर 'जमीन', 'जल-हँसी', 'अपनी छोटी बच्ची के लिए एक नाम', 'हम जो सोचते हैं' आदि कविताओं में 'प्रगीत' कम जगह घेरने के बावजूद निर्णायक और प्रभावकारी ढंग से उपस्थित है। 'प्रगीत' जहाँ कविता की आत्मा और देह में ज्यादा विस्तार से फैला हुआ नहीं दीखता, वहाँ भी उसकी उपस्थिति निरंतर बनी रहती है। निबंधात्मक कविता-वाक्य से परहेज करने वाले केदार जी 'सादृश्य' जैसी कविता की सबसे पुरानी प्रविधि को गहरे विश्वास और निज-उपकरण की तरह प्रयोग में लाते हैं। ये सादृश्य साधारण इतिवृत्तात्मक वर्णन को कविता की आभा से भर देते हैं और कविता भरे थनों वाली गाय की तरह हो जाती है। अर्थ, अभिप्राय और इंगित से भरी :

- *तो पके हुए ज्वार के खेत की तरह लगता है*
  माँझी का पुल
- *उधर घास में धँसे हुए खुर-सा*
  चमक रहा था रास्ता
- *वह रोटी में नमक की तरह प्रवेश करता है*
- *लाल पत्थर की तरह लग रही थी जमीन*

- *उसके सामने घोड़े की पीठ की तरह*
  फैली हुई थी जमीन
  जमीन सिर्फ जमीन की तरह लग रही थी
- *शुरू में दुनिया*
  एक थन की तरह लगती होगी उसने सोचा
  और उसने कहा कोई बात नहीं
  वह आज भी एक जानवर की तरह ठोस
  और खूबसूरत दिखती है
- *मेरी उम्मीद*
  उसका पीछा नहीं करती
  सिर्फ कुछ देर तक
  चील की तरह हवा में मँडराती है
  और झपट्टा मारकर
  ठीक उसी जगह बैठ जाती है
  जहाँ से वह चला गया था।
- *हँस दी वह सुबह सुबह*
  सिहरते जलाशय के लहरदार पानी में
  बालू पर
  सूखी जलघासों के इर्द-गिर्द
  हल्दी के पानी-सी
  हँसी वह फैल गयी
  दूर-दूर लहरों में
  लहरों की भीतरी गुफाओं-कन्दराओं में
  गूँजती चली गयी
- *खोल दूँ यह आज का दिन*
  जिसे
  मेरी देहरी के पास रख गया है
  एक हल्दी-रँगे
  तजे
  दूरदेशी पत्र-सा!

सादृश्य कविता को विषयवस्तु की सीमा से बाहर निकलने और सीमित वस्तु-संसार और समय को अतिक्रमित करने का साहस देता है :

- *जैसे चीटियाँ लौटती हैं*
  बिलों में
  कठफोड़वा लौटता है
  काठ के पास
  वायुयान लौटते हैं एक के बाद एक
  लाल आसमान में डैने पसारे हुए
  हवाई अड्डे की ओर

- *आना*
  जैसे हाथों में
  आता है जाँगर
  जैसे धमनियों में
  आता है रक्त
  जैस चूल्हों में
  धीरे-धीरे आती है आँच

  आना जैसे बारिश के बाद
  बबूल में आ जाते हैं
  नये-नये काँटे

  आना जैसे मंगल के बाद
  चला आता है बुध

- *लेकिन तब से वह घर*
  मेरे साथ-साथ है
  मैंने आने वाले ठण्ड के विरुद्ध
  उसे एक हल्के रंगीन स्वेटर की तरह
  पहन रखा है

- *पृथ्वी के ललाट पर*
  एक मुकुट की तरह
  उड़े जा रहे थे पक्षी

सादृश्य की यह प्रविधि कविता के इतिहास में प्रारम्भ से ही प्रयोग में आती रही है। भारतीय अलंकारशास्त्र में इसे उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा जैसे अलंकारों के रूप में देखा और पहचाना गया है। केदारनाथ सिंह की कविता में उपमा का ज्यादा रचनात्मक उपयोग हुआ है। काव्यांतरण की प्रक्रिया में केदार जी उपमा को एक प्रभावी अस्त्र की तरह बरतते हैं। वे रूपक और उत्प्रेक्षा जैसे अलंकारों का उपयोग लगभग नहीं करते। 'उपमाकालिदासस्य' की परम्परा में समकालीन कविता में 'उपमाकेदारस्य' कहा जा सकता है।

केदारनाथ सिंह उपमा का प्रभावशाली प्रयोग करते हैं। केदार जी उपमा का प्रयोग करते हुए यह ध्यान रखते हैं कि वह बिंबात्मक हो। उनकी उपमाएँ प्रायः एक बिंब का रूप लेती देखी जा सकती हैं। साथ ही वे उपमा के साथ बिंब, प्रतीक और रूपक (मेटॉफर) का रचनात्मक संयोजन कर अपनी कला को ज्यादा गझिन बनाते हैं। उनकी ज्यादातर कविताओं में काव्य-उपकरणों का यह मिश्रण गहरा प्रभाव पैदा करता है। कुछ कविताओं को उदाहरण की तरह सामने रखने से इसे समझना ज़रूरी है।

'सुई और तागे के बीच में' कविता के केन्द्र में 'माँ' है। 'माँ' वस्तुतः एक विशिष्ट व्यक्ति होने की बजाय एक 'टाइप' है : जीवन स्थितियों और 'भावना' के आरोप से बना। उपमा जैसे पुराने उपकरण का प्रयोग करते हुए केदारनाथ सिंह माँ के अवचेतन और उसके

अ-प्रकट भावना-संसार को पहचानने की कोशिश करते हैं : 'हालाँकि नींद में / वह खुद एक पक्षी की तरह लगती है।' माँ 'मैं' के अकेलेपन के बारे में चिंतित है, हालाँकि वह खुद कई दशकों से अकेली है। माँ का अकेलापन सिर्फ भौतिक और सांसारिक नहीं है– मानसिक है। इसीलिए नींद में वह अपनी इच्छाओं के साथ उड़ती है–ठीक एक पक्षी की तरह। माँ की उड़ान अव्याख्यायित है। क्योंकि उसके लिए माँ की इच्छाओं को जानना और पढ़ना होगा। भारतीय समाज में पितृसत्तात्मक दबावों के कारण यह करना एक प्रतिबंधित क्षेत्र में प्रवेश करने जैसा है। इस दुनिया में प्रवेश करने से 'माँ' के गढ़े हुए टाइप का तिलस्म टूट जायेगा। 'माँ' एक 'टाइप' की बजाय एक 'व्यक्ति' की तरह सामने आयेगी। कवि यह खतरा मोल नहीं लेता। वह उसी मोहक 'टाइप' में वापस लौट आता है, जहाँ 'माँ' कर्मशीलता, उत्तर दायित्व, दुःख और अवसाद का मिला-जुला रूप बनकर उभरती है :

जब वह बहुत ज्यादा थक जाती है
तो उठा लेती है सुई और तागा
मैंने देखा है कि जब सब सो जाते हैं
तो सुई चलाने वाले उसके हाथ
देर रात तक
समय को धीरे-धीरे सिलते हैं
जैसे वह मेरा फटा हुआ कुर्ता हो

माँ समय को फटे कुर्ते की तरह सिलती है। यह रूपक 'माँ' और 'वाचक' के परिवार के निकट अतीत के जीवन के बिखरावों और अभावों को प्रकट करता है, जिससे निजात पाने की कोशिश 'माँ' ने की है। यह गरिमा 'माँ' के टाइप का प्रमुख तत्त्व है। 'माँ' के हाथों में सुई और तागा है। अनवरत कर्मशीलता है। इस कर्मशीलता के नीचे दबी हुई है माँ :

पिछले साठ बरसों से
एक सुई और तागे के बीच
दबी हुई है माँ
हालाँकि वह खुद एक करघा है
जिस पर साठ बरस बुने गये हैं
धीरे-धीरे तह पर तह
खूब मोटे और गझिन और खुरदुरे
साठ बरस

'माँ' पर पारिवारिक जवाबदेहियों का बोझ है। बोझ के नीचे दबी माँ की विवशता को 'करघे' के प्रतीक और अंतिम पंक्तियों के रूपक के माध्यम से व्यक्त करने की कोशिश की गयी है। करघा समय है, जिस पर 'माँ' के पिछले साठ बरस बुने गये हैं। स्पष्ट है कि केदार जी प्रतीक, बिंब और रूपक के माध्यम से वह जादू रचने में समर्थ होते हैं, जिससे उन्हें यथातथ्यता और गद्यात्मकता के दबावों से मुक्त होने और पक्षी की तरह उड़ान भरने की शक्ति मिलती है।

'बीमारी के बाद' कविता की शुरुआत एक सादृश्य से होती है :

चीजों में स्वाद फिर लौट रहा है
जैसे खेतों में
लौट रहे हैं तिनके

यह उपमा है। बीमारी एक तरह का ठहराव होता है। इसमें जीवन स्थगित हो जाता

है। बीमारी के बाद जीवन पुनः सक्रिय होता है। दिलचस्प है कि तब रोजमर्रा का साधारण जीवन भी, जो सामान्यतः दुहरावों से भरा होता है और ऊब पैदा करता है, अद्‌भुत लगता है। ऐसे में 'बाहर' देखना भी उत्तेजना और उत्सुकता से भरा होता है - ''बाहर' - इस शब्द में कितनी आँच है!/ कितनी उत्तेजना!' बीमारी के बाद यह सुखद है क्योंकि 'मैं' 'अपने अन्दर की सारी छटपटाहट के साथ' बाहर है। 'बाहर' 'एक समूचा शहर है' - आश्वस्तियों और आशंकाओं से भरा :

मैं जानता हूँ बाहर होना एक ऐसा रास्ता है
जो अच्छा होने की ओर खुलता है
और मैं देख रहा हूँ इस खिड़की के बाहर
एक समूचा शहर है
एक विशाल फूल की तरह खिलता हुआ शहर
जहाँ मेरे बहुत से दोस्त हैं
और बहुत से बधस्थल

शहर एक विशाल फूल की तरह है - खिलता हुआ : इसका अभिप्राय जितना सुखद है, उसे दोस्तों की उपस्थिति और अधिक गहरा करती है। 'बहुत से बधस्थल' होने की आशंकाएँ इसकी एक-आयामिता को तोड़ती हैं। अब शहर एक ज्यादा वास्तविक स्वरूप ग्रहण करता है। स्पष्ट है कि केदार जी की रचनात्मकता 'उपमा' पर बहुत अधिक निर्भर करती है। 'अँधेरे पाख का चाँद' कविता की शुरुआत भी एक उपमा से होती है :

जैसे जेल में लालटेन
चाँद उसी तरह
एक पेड़ की नंगी डाल से झूलता हुआ

परम्परा में 'चाँद' की उपस्थिति के समानान्तर यह एक उपस्थिति है, जो यातना को प्रकट करती है। यह कृष्णपक्ष का चाँद है - धीरे-धीरे सिकुड़ता हुआ। अँधेरा धीरे-धीरे बढ़ता है। अँधेरे के अभिप्रायों को 'राम की शक्तिपूजा' और 'अँधेरे में' कविता से जोड़कर समझा जाना चाहिए। ठोस अर्थों में यह संसार में फैले अन्याय, शोषण, असमानता और परतंत्रता को प्रकट करता है। 'अँधेरे' की 'यातनामय' उपस्थिति पृथ्वी को एक विशाल क़ैदगाह में बदल देती है, जहाँ संसार का प्रत्येक मुनष्य अंततः एक क़ैदी है। इस गहरे दूर तक फैले अँधेरे में बस चाँद है जो इन क़ैदियों को खुश होने का मौका देती है :

और हम
यानी पृथ्वी के सारे के सारे क़ैदी खुश
कि चलो कुछ तो है
जिसमें हम देख सकते हैं
एक-दूसरे का चेहरा

पृथ्वी एक क़ैदगाह है - यह रूपक कविता में अनकहा परन्तु अर्थ में कहा है। इस कविता का समूचा अर्थ इस रूपक पर इतना अधिक निर्भर है कि यह कविता एक संवांग रूपक में बदल जाती है। 'बुनाई का गीत' जैसी कविताएँ इस शृंखला में देखी जा सकती हैं।

केदारनाथ सिंह कविता के पुराने उपकरणों का खुलकर उपयोग करते हैं। इसी क्रम में हम उन्हें मानवीकरण का रचनात्मक उपयोग करते हुए देखते हैं। मानवीकरण एक ऐसी प्रविधि है जिसमें प्राकृतिक उपादानों और अन्य निर्जीव वस्तुओं पर मनुष्य की दैहिक गतिविधियों का

आरोपण किया जाता है। छायावादी कवियों ने इसका ताक़तवर प्रयोग किया है। निराला के यहाँ 'संध्या' का 'सुंदरी' और 'परी' हो जाना - इसी के उपयोग से संभव हो पाता है। 'दाने' कविता में 'दाने' मनुष्यवत् हो जाते हैं : 'नहीं/ हम मण्डी नहीं जायेंगे/ खलिहान से उठते हुए/ कहते हैं दाने।' मानवीकरण के कारण पूरी कविता एक रूपक-कथा में बदल जाती हैं। यहाँ दाने बात करते हैं और चिट्ठी भेजते हैं। 'अकाल में सारस' की 'धब्बा' कविता भी मानवीकरण और रूपक-कथा का उदाहरण है। इस कविता में धब्बा और बारिश का मानवीकरण है। एक साधारण घटना इस मानवीकरण से एक दिलचस्प कथा बन जाती है : 'दिन भर/हाथ उठाये हुए/सड़क पर पड़ा रहा खून का धब्बा/जब कोई नहीं आया/तो दिन भर की तपिश के बाद/घुमड़कर आ गई झमाझम बारिश/बारिश धब्बे के पास गई/उसने धीरे-से धब्बे को छुआ/उठाया/गले से लगाया/फिर उस उतनी-सी जगह को/जहाँ पड़ा था धब्बा/अपने गीले हाथों से/रगड़-रगड़ धोया।' इसी संग्रह की 'रात में सिलाई' कविता में लालटेन का मानवीकरण कवि को श्रमशील वर्गों के जीवन की विथा-कथा को सहानुभूति से प्रकट कर पाने में समर्थ बनाता है। रात में सिलाई करते दर्जी के एकांत में लालटेन एक परिजन की तरह पेश आती है। वह उससे बातें करती है, सहानुभूति से रोकती-टोकती और गहरे अपनापे से उसकी परवाह करती है: 'देखो/देखो-देखो बचाओ अपनी उँगली/टोकती है लालटेन ×× ×× जब सिलते-सिलते/वह थक जायेगा/उसके नाखूनों की कोरों तक/जब लबालब भर आयेगा खून/तो एक बार आँख उठा/वह धीरे-से देखेगा लालटेन को/मानो पूछता है - 'अब'!/अब सो जाओ/सो जाओ - कहेगी लालटेन/फिर आदमी और लालटेन/दीवार से सिर टिका/दोनों सो जायेंगे।' गहरी करुणा जो केदार जी के समग्र काव्य-संसार के पार्श्व में प्रभावी ढंग से उपस्थित रहती है, इस रूपक-कथा को एक औपचारिक बयान से ऊपर उठा देती है। कमाल मानवीकरण, रूपक-कथा और करुणा के रचनात्मक संयोजन का है। करुणा कुम्हार की माटी में पड़े जल की तरह है - अलग-अलग तत्त्वों को गूँथ देने वाली।

चूँकि केदार जी सादृश्य का प्रयोग करते हैं। इसलिए उनकी कविताओं में खूबसूरत बिम्बों का मेला लग जाता है। उनके ज्यादातर बिम्ब 'दृश्य बिम्ब' है। ये अकारण नहीं है कि उनकी कविताओं में 'देखना' क्रिया का बहुतायत से प्रयोग मिलता है :

- *उस आदमी को देखो*
- *कि तभी मुझे दिखा*
  उसके धूप भरे चेहरे पर वह चिकना
  सा द्रव
  जो आदमी को पेड़ों से अलग करता है
- *मैंने एक बूढ़े आदमी को हँसते हुए देखा*
- *मगर उसे जब देखता हूँ*
  देखा नहीं जाता है।
- *और मैंने देखा है कि सर्दियाँ जब भी आती हैं*
  तो माँ थोड़ा और झुक जाती है
  अपनी परछाईं की तरफ
- *कई दिनों बाद मैंने बाहर देखा है*
- *मैंने आँखे खोलीं*
  देखा—मैं बैठा नीले घोड़े पर

- *मैंने देखा वे धीरे-धीरे*
  कुएँ से झाड़ी की ओर बढ़ रहे हैं
  झाड़ी से शहर की ओर
- *मैंने दूर से देखा*
- *एक बूढ़े उदास गड़रिये का चेहरा*
  जिसे मैंने एक दिन नदी में
  पड़ा हुआ देखा था
  जहाँ उसकी भेड़ें पानी पी रही थीं
- *मैंने देखा*
  उस चेहरे की झुर्रियों में
  अब भी जगह थी
  जहाँ एक चिड़िया
  घोसला बना सकती थी

केदारनाथ सिंह की कविताओं से गुजरते हुए हम सहज ही लक्षित कर सकते हैं कि वे 'देखने' के कवि हैं। उनकी कविता में चाक्षुष-सौंदर्य की खोज साफ देखी जा सकती है। उनके इन्द्रियबोध में सुनने, सूँघने और छूने की बजाय देखने पर जोर है। उनकी कविताओं में दृश्य-बिम्बों की अधिकता को उचित ही पाठक और आलोचक सहज ही लक्षित करते रहे हैं।

यह 'देखना' विशिष्ट है। केदारनाथ सिंह जीवन-जगत् को कभी एक बच्चे की तरह तो कभी एक लोककवि की तरह देखते हैं। इसीलिये वे जटिलता की बजाय सहज की तरफ ज्यादा देखते हैं। पारम्परिक और सदियों से एक जैसी गति वाले अपेक्षाकृत स्थिर जीवन की झाँकियाँ उनकी कविता में ज्यादा प्रभावी ढंग से आती हैं। गँवई पृष्ठभूमि, त्रिलोचन की कविता की ओर झुकाव और प्रगीतमुखी संरचना की ओर आकर्षण-संभवतः वे कारण हैं, जो इसके लिए जवाबदेह हैं। कई बार ऐसा लगता है जैसे केदानाथ सिंह अपने समकालीन वास्तविक जीवन में नहीं, बल्कि लोकगीतों, लोककथाओं और लोकगाथाओं की दुनिया में रहते और वहीं रहकर देश-दुनिया को देखते हैं। फ़ैज़ की काव्य-पंक्ति 'दहर को दहर का अफ़साना बना रखा था' को याद करना उचित होगा। क्या यह संभव नहीं कि कवि अपने समय-समाज में रहते हुए भी अपने समय-समाज से पार जाकर अपने लिए कोई और समय-समाज रच ले। इससे जीवन-जगत की कठोरता, भयावहता, तीक्ष्णता और असह्यता को अपनी तरह से कम कर पाना संभव होता है। यथार्थ का बोझ कम हो जाता है और उसे हल्का कर उसे अपेक्षाकृत सहनीय, देखने योग्य और मोहक रूप में ढाल पाना संभव होता है।

प्रगीतात्मकता, बिंब, उपमा, प्रतीक, वृत्तांत, चित्रण, मानवीकरण और आख्यान जैसे पारम्परिक काव्य-उपकरणों के रचनात्मक संयोजन से केदारनाथ सिंह एक नये 'लोक' की सृष्टि करते हैं, जिसमें लोक कथाओं-किस्सों और दास्तानों की तरह अति प्राकृत घटनाएँ संभव होती हैं। इस दुनिया के एक हिस्से में एक जादुई शक्ति है। यहाँ बूढ़ा मल्लाह गंगा के चंचल जल को राम-राम कहता है, शब्द एक खूब लाल पक्षी की तरह गाँव के कछार मे मिलते हैं और घर आ जाते हैं, कूबड़ा-सा शब्द हाँफता हुआ कहता है—'चलो पहुँचा दूँ घर!' इस दुनिया में शब्द खेतों में पकते हैं और माँ चक्की के अन्दर चली जाती है और वहाँ से आवाज देती है, गाती है। यहाँ सूर्य 'आसमान से नहीं/किसी जानवर की माँद से निकलता है।' यहाँ दाने और लालटेनें बात करती हैं, दरख्तों की पीठ थपथपायी जा सकती है, जमीन कपड़े उतारती

है - पकती है, जमीन को आलू की तरह चीरा जा सकता है, जमीन की महक को दर्जी सिल सकता है, नदियाँ चटाई या फूलदान के नीचे बह सकती हैं, नदी झुम्मन मियाँ को पहचानती है, झींगे कूदकर उनके झोले में आ जाते हैं :

- *उसने एक औरत के बारे में सोचा*
  उसने एक दरख्त की पीठ थपथपाई
  उसने महसूस किया उसे भी चरनी चाहिए घास
  जैसे घोड़े चरते हैं
  इसमें शर्म की कोई बात नहीं
  जमीन अपने कपड़े उतार रही थी
  हवा में एक अजीब-सी ठण्ड थी
  जिसमें जमीन का कत्थईपन मिला हुआ था

  जमीन पक रही है - उसने कहा
  और उसे लगा था एक ऐसी खबर है
  जो खरहों की माँद तक पहुँचा देनी चाहिए

- *उसने तय किया वह एक दिन*
  एक जादू लायेगा और जमीन को बीचोबीच
  आलू की तरह चीर देगा

  वह जमीन की महक दर्जी तक ले जायेगा
  और कहेगा - 'सिलो'

ऐसा ही कवि 'बाघ' जैसी कविता लिख सकता है, जिसे स्वयं कवि ने 'ढलती (बीसवीं) शताब्दी का पंचतन्त्र' कहा है : 'पंचतंत्र'।

[दो]

केदारनाथ सिंह की कविताओं में 'समाज' ठोस रूपों में प्रायः उपस्थित नहीं है। उसे पर्दों के पार तरल रूपों में ही देखा जा सकता है। कविता की भाषा की दीवारों के बीच बस कहीं-कहीं वह झलकता है - स्थिर। 'उत्सव' हीन। गतिहीन। मद्धम स्वरों वाली किसी संगीत-रचना की तरह गहरा। उदास। बाजारों, मेलों, ठेलों, धक्कम-पेल, भागम-भाग, चीख-पुकार और शोर करता भारतीय समाज यहाँ तनिक भी जगह नहीं पा सका है। 'समाज' को पहचानने का सबसे ठोस जरिया, जो इकाइयाँ रही हैं, वे प्रायः यहाँ ताकतवर नहीं हैं या कि पूरी तरह अनुपस्थित हैं - जैसे कि परिवार।

समकालीन हिन्दी कविता की एक प्रभावशाली प्रवृत्ति समाज के ठोस रूपों का अंकन रही है। केदार जी की कविताएँ इसका अपवाद हैं। 'परिवार' नाम की इकाई प्रायः भारतीय कवियों का प्रमुख सरोकार रही है। कालिदास से लेकर सूर, जायसी, तुलसीदास, मैथिलीशरण गुप्त जैसे कवि परिवार के कवि हैं। अनेक बार तो लगता है कि पारिवारिकता भारतीयता का मुख्य रचना-आधार है। भारतीय लोग संबंध-रचना में पारिवारिकता को ही तरजीह देते रहे हैं।

ईश्वर को भी पिता, माता, भाई, पति आदि पारिवारिक रूपों में देखने की रवायत भक्ति-काव्य में देखी गयी है। अनजान लोगों को भी पारिवारिक संबोधनों से बाँध लेना भारतीय जन-जीवन में आम है। ऐसे में केदारनाथ सिंह जैसा 'मानवीय ऊष्मा का कवि' परिवार को लेकर एक हद तक क्यों निस्पृह है - यह गंभीर प्रश्न है। 'अपनी छोटी बच्ची के लिए एक नाम', 'सुई और तागे के बीच', 'पिता के जाने पर' जैसी कविताएँ इसके अपवाद हैं।

केदार जी की कविता में समाज, सामाजिक मनुष्य और मनुष्य संगी प्रकृति पार्श्व में मौजूद है भाषा की संधियों में। केदार जी की पंक्ति का सहारा लेकर कहूँ तो 'तलुओं में पृथ्वी' की तरह। केदार जी द्वारा 'समाज' को अभिव्यक्त करने के लिए इस्तेमाल की गयी तकनीकों और उनके उपयोग की प्रविधियों को समझने के लिए विभाजन से जुड़ी दो कविताओं को पढ़ना कारगर होगा।

'सन् 47 को याद करते हुए' कविता में केदारनाथ सिंह भारत विभाजन की स्मृति और उसकी राजनीति पर एक गम्भीर सवाल उठाते हैं। नूर मियाँ की याद तब आती है जब कविता का चरित्र 'केदारनाथ सिंह' सन् 47 को याद करता है। सन् 47 के साथ अनिवार्यतः जुड़ा है—भारत विभाजन। भारत-विभाजन सिर्फ पंजाब और बंगाल का विभाजन नहीं है। इसका असर भारत, पाकिस्तान या बांग्लादेश में मौजूद शहरों, नगरों और गाँवों पर भी पड़ा। 'केदारनाथ सिंह' का गाँव भी 'विभाजन' का शिकार हुआ। शायद तभी नूर मियाँ गाँव छोड़कर चले गये। 'स्मृति' पर इतना दबाव है कि सन् 47 को गाँव छोड़कर हमेशा के लिए चले गये नूर मियाँ स्मृति का जीवित हिस्सा शायद नहीं रह गये हैं? तभी तो कवि को पूछना पड़ता है—'तुम्हें नूर मियाँ की याद है केदारनाथ सिंह?' पर भारतीय समाज की ताक़त यह है कि वह 'स्मृति' में ऐसे हिस्से को ज्यादा जीवित रखता है, जिसका सम्बन्ध हमारे सामुदायिक और सामाजिक दुःखों से होता है। 'केदारनाथ सिंह' से सवाल करने वाले 'वाचक' की स्मृति में नूर मियाँ की याद बहुत गहरी है - 'गेहुँए नूर मियाँ/ठिगने नूर मियाँ/रामगढ़ बाजार से सुरमा बेच कर/सबसे आखिर में लौटने वाले नूर मियाँ।' नूर मियाँ की याद के साथ जुड़ी है एक खास जीवन की याद। 'मदरसा' और 'इमामबाड़ा' इसके प्रतिनिधि हैं। 'मैं', 'केदारनाथ सिंह' और 'नूर मियाँ' के बीच सम्बन्ध जोड़ता है - मदरसा ! क्योंकि अगली पंक्तियों में 'उन्नीस का पहाड़ा' और 'स्लेट पर जोड़ घटा' का जिक्र है। भारतीय समाज में विभिन्न समुदायों का जीवन एक सीमा तक स्वायत्त रहा है, परन्तु उनके बीच निरंतर आवाजाही भी रही है। 'चौपाल', 'हाट', 'सट्टी', 'मंडी' और 'बाजार' जैसी संस्थाएँ ऐसी ही हैं। मदरसा भी इन्हीं जगहों में एक है। शायद इस मदरसे में नूर मियाँ, मैं और 'केदारनाथ सिंह' एक साथ गणित पढ़ते थे। 'मैं' और 'केदारनाथ सिंह' एक ही व्यक्ति हो सकते हैं, तब यह कविता आत्मसंबोधन में बदल जायेगी। विभाजन के बाद नूर मियाँ चले गये। विभाजन की कसक कवि के मन में गहरे तक धँसी है। कवि इसे अस्वाभाविक मानता है। तभी तो वह पूछता है - 'क्या तुम अपनी भूली हुई स्लेट पर/जोड़ घटा कर/यह निकाल सकते हो/कि एक दिन अचानक तुम्हारी बस्ती को छोड़कर/क्यों चले गये थे नूर मियाँ?' यह सवाल सिर्फ एक व्यक्ति का सवाल नहीं है। लाखों 'केदारनाथ सिंह' 'नूर मियाँ' जैसे लाखों लोगों के लिए यह सवाल पूछते रहे हैं। विस्थापित लोगों की अगली जिन्दगी के बारे में सवाल मन में कौंधते हैं, पर जिनके जवाब मिलना असंभव है : 'क्या तुम्हें पता है/इस समय वे कहाँ हैं/ढाका/या मुल्तान में?' नूर मियाँ की याद 'मैं' के मन में एक गहरा विषाद पैदा करती है। पाकिस्तानी जीवन के बारे में गहरी दिलचस्पी वस्तुतः नूर मियाँ के वर्तमान के बारे में हैः 'क्या तुम बता सकते हो/हर साल कितने पत्ते गिरते हैं/पाकिस्तान

में?' 'पत्ते गिरने' की क्रिया यूँ तो प्रकृति की स्वाभाविक क्रिया है, परन्तु भाषा में इसे एक अवसाद-मुखी प्रतीक की तरह प्रयोग में लाया जाता रहा है। सवाल पूछने वाले का मन अवसाद से भरा है—स्पष्ट है। 'पत्तों का गिरना' अर्थात् 'पतझड़' जीवन के क्षय की ओर भी इशारा करता है। पाकिस्तान में मुहाज़िरों से होने वाला बर्ताव भी इस पंक्ति के पीछे कहीं मौजूद हो—इससे इनकार नहीं किया जा सकता। कविता के अंत में 'केदारनाथ सिंह' की चुप्पी के मायने बहुत स्पष्ट हैं और आखिरी सवाल के भी, 'तुम चुप क्यों हो/केदारनाथ सिंह/क्या तुम्हारा गणित कमजोर है?'

विभाजन के प्रति केदार जी का नज़रिया ज़्यादा मुखर तरीक़े से 'तालस्ताय और साइकिल' संग्रह की 'बर्लिन की टूटी दीवार को देखकर' कविता में व्यक्त हुआ है। भारत-पाकिस्तान की ही तरह जर्मनी का विभाजन हुआ था। बर्लिन में एक दीवार बनाकर इस विभाजन को रूप दिया गया था। नब्बे के दशक में जर्मन नागरिकों ने इस दीवार को तोड़कर जर्मनी के एकीकरण के लिए दबाव बनाया, जिसे अंततः राजनेताओं ने स्वीकार किया। टूटी दीवार देखकर कवि के मन में भारत-पाकिस्तान-बांग्लादेश के एकीकरण की भावना एक गहरी बेचैनी के साथ आकार लेती है। एक पागल बेचैन स्त्री के रूपक के माध्यम से वे इसे व्यक्त करते हैं - ''पर मुझे लगता है मेरे भीतर की वह पागल स्त्री/अब एक दीवार के आगे खड़ी है/और चीख रही है - यह दीवार /आखिर यह दीवार कब टूटेगी ?'' कविता में एकीकरण की यह इच्छा अहमद फ़राज़ की ताज़ा ग़ज़ल का एक मिसरा भूलने से एकीकृत हो जाती है। केदार जी अपेक्षाकृत शिथिल वृत्तांत के बीच इन काव्य-युक्तियों का प्रयोग कर वृत्तांत को कविता में रूपांतरित कर पाने में सफल हुए हैं। कवि की इच्छा एक उत्कट आवेग के साथ प्रकट होती है—'इतने बरस हुए/ग़ज़लों से भरे इस उपमहाद्वीप में/मुझे एक भूले हुए मिसरे का अब भी इंतज़ार है।'

विभाजन का दंश और एकीकरण की इच्छा को इस तरह व्यक्त कर कवि केदारनाथ सिंह ने असंख्य भारतीय नागरिकों के अनकहे को ही व्यक्त किया है और इस तरह उन्होंने एक नागरिक की जिम्मेदारी पूरी की है।

[तीन]

केदारनाथ सिंह प्रगतिशील काव्यधारा के कवि हैं । एक कवि के रूप में उनके सामाजिक सरोकार नार्गाजुन-त्रिलोचन-केदार-मुक्तिबोध की कविता से जुड़ते हैं। भारतीय समाज में चल रहे संघर्षों और जन-आंदोलनों से सीधी तौर पर न जुड़े होने के बावजूद वे 'स्वतंत्रता' और 'समाजवादी जनतंत्र' के महास्वप्नों से संबद्ध हैं।

राजनैतिक जनतांत्रिकता का संघर्ष केदारनाथ सिंह की कविताओं में अनेक रूपों में अभिव्यक्त होता है। कविता 'बुनाई का गीत' संसार के पुनर्निमाण के मार्क्सीय स्वप्न से प्रेरित है। केदार जी स्पष्ट हैं कि यह कार्य साधारण जनों द्वारा सम्पन्न होगा। वे कहते हैं - 'उठो/झाड़न में/मोजों में/टाट में/दरियों में दबे हुए धागो उठो/उठो कि कहीं कुछ गलत हो गया है/उठो कि इस दुनिया का सारा का सारा कपड़ा/फिर से बुनना होगा/उठो मेरे टूटे हुए धागो/और मेरे उलझे हुए धागो/उठो कि बुनने का समय हो रहा है।' बुनाई मूलतः श्रमिकों की क्रिया है। यह दुनिया, भगवत रावत के अनुसार 'दी हुई दुनिया' है। यह 'दी हुई दुनिया' कपड़े की ही तरह बुनी गयी है। कवि स्पष्ट है कि इसकी बुनाई में 'कहीं कुछ गलत हो गया है।' दुनिया में नयी न्यायपूर्ण व्यवस्था के लिए इसकी एक और बुनाई की जरूरत है। इस दुनिया को नये सिरे से बुनने के लिए ऊँचे और कुलीन लोगों की नहीं, झाड़न-मोजों और टाट-दरियों में लगे

धागों की तरह के बेहद साधारण लोगों की जरूरत है। शोषित निम्न वर्ग की शक्ति और संघर्ष में यह आस्था प्रगतिशील कवि के लिए बेहद स्वाभाविक है।

अनेक बार केदारनाथ सिंह की कविता के बारे में कहा जाता है कि उनकी कविता में वह वर्गीय दृष्टि नहीं मिलती है जो मुक्तिबोध और नागार्जुन की कविता में है। इस दृष्टि से 'बनारस' कविता को पढ़ा जाना चाहिए। कविता का एक बड़ा हिस्सा 'बनारस' शहर की सांस्कृतिक और सामाजिक विशिष्टता को बेहद काव्यात्मक भंगिमा में प्रकट करता है। धार्मिक जनों और दुनिया भर के पर्यटकों के लिए आकर्षण का केन्द्र यह 'महान पुराना शहर' कवि के लिए अनंत शवयात्रा का शहर है : 'इसी तरह रोज-रोज एक अनन्त शव/ले जाते हैं कन्धे/अँधेरी गली से चमकती हुई गंगा की तरफ' । धार्मिक मान्यताओं के अनुसार मणिकर्णिका घाट और हरिश्चंद्र घाट में शवदाह से मोक्ष प्राप्त होता है। मोक्ष-आकांक्षी समाज के लिए 'बनारस' का एक अर्थ 'मणिकार्णिका' है। मोक्ष की आकांक्षा बनारस को अनंत शव-यात्रा और शव-दाह का शहर बना देती है। 'मुर्दहिया' और 'मणिकार्णिका' जैसी आत्मकथाओं के लेखक तुलसीराम कहते हैं- 'बनारस में मृत्यु एक बड़ा उद्योग है।' (जनसत्ता, 26.10.14) कवि केदारनाथ सिंह के लिए यह उदासी का विषय है।

बनारस की संरचना में तेजी और तीखापन नहीं है । यहाँ सब कुछ धीरे-धीरे होता है : 'इस शहर में धूल/धीरे-धीरे उड़ती है/धीरे-धीरे चलते हैं लोग/धीरे-धीरे बजते है घंटे/शाम धीरे-धीरे होती है।' बनारस का जीवन इस 'धीरे-धीरे होना' से बँधा है-'धीरे-धीरे होने की एक सामूहिक लय/दृढ़ता से बाँधे है समूचे शहर को/इस तरह कि कुछ भी गिरता नहीं है।' यह लय जहाँ अतीत की पुरातनता को बचाये रखती है, वहीं एक तरह की यथास्थिति को प्रोत्साहित करती है : 'कि हिलता नहीं है कुछ भी/ कि जो चीज जहाँ थी/ वहीं पर रखी है/××××/ सैकड़ों बरस से।' शायद यह लय सामाजिक संरचना में प्रभावशाली सामंतवादी सामाजिक-आर्थिक संरचना की उप-उत्पाद है। यथास्थितिवादी शक्तियाँ इससे नवजीवन प्राप्त करती हैं। वे सामाजिक परिवर्तनों को पूरी ताकत लगाकर रोकती हैं। इसमें सबसे प्रभावशाली भूमिका धर्म-तंत्र की है। बनारस का सामाजिक जीवन 'धर्म-तंत्र' से नाभिनाल बद्ध है। केदार-रंग के बिम्बों और प्रतीकों का इशारा साफ है : 'कभी सई-साँझ/बिना किसी सूचना के/घुस जाओ इस शहर में/कभी आरती के आलोक में/इसे अचानक देखो/अद्‌भुत है इसकी बनावट/यह आधा जल में है/आधा मंत्र में/आधा फूल में है/आधा शव में/आधा नींद में है/आधा शंख में/अगर ध्यान से देखो/तो यह आधा है और आधा नहीं है/जो है वह खड़ा है/बिना किसी स्तम्भ के/जो नहीं है उसे थामे हैं/राख और रोशनी के ऊँचे-ऊँचे स्तम्भ/आग के स्तम्भ/और पानी के स्तम्भ/धुएँ के/खुशबू के/आदमी के उठे हुए हाथों के स्तम्भ।' आरती का आलोक, जल, मंत्र, फूल, शव, शंख, राख और रोशनी के स्तंभ, आग और पानी के स्तंभ, धुआँ, खुशबू और आदमी के उठे हुए हाथों के स्तंभ—इन प्रतीकों और बिम्बों का संकेत धर्म-तंत्र और धार्मिक अनुष्ठानों तथा परंपराओं की ओर है। केदार जी की यह काव्य-पंक्ति धार्मिक और सामाजिक संरचना की ओर बेहद अर्थगर्भी ओर मार्मिक संकेत करती है—'यह आधा है और आधा नहीं है।' कविता के प्रारम्भ में भी इसी ओर एक प्रभावशाली संकेत मौजूद है—'जो है वह सुगबुगाता है/जो नहीं है वह फेंकने लगता है पचखियाँ।' 'है' और 'नहीं है' का खेल एक वर्चस्वशाली धर्मतंत्र द्वारा निर्मित है। 'जो है वह खड़ा है/बिना किसी स्तंभ के।' जो है—वह अपनी ताकत और जीवनी-शक्ति से खड़ा है। 'जो नहीं है', उस 'अनुपस्थित' को थामने और खड़ा रखने के लिए 'राख और रोशनी', 'आग और पानी', 'धुएँ और खुशबू' तथा सबसे अधिक 'आदमी के उठे हुए हाथों

के स्तम्भ' सदियों से काम कर रहे हैं। यह 'अनुपस्थित' ईश्वर भी है और मृत लौकिक व्यक्ति भी। स्वर्ग भी है और मोक्ष भी। अगले जन्म में सुखमय जीवन की आकांक्षा भी । समूची धर्म-सत्ता इस 'अनुपस्थित' को सबसे शक्तिवान बनाकर उसके व्यापार में लगी है। जबकि 'जो है', अर्थात् जिसकी उपस्थिति प्रत्यक्ष है - प्रकृति और मनुष्य, बिना किसी सहयोग के खड़ा है।

'बनारस' में इस 'अनुपस्थित' सत्ता को सदियों से अर्घ्य अर्पित किया जा रहा है : 'किसी अलक्षित सूर्य को/देता हुआ अर्घ्य/शताब्दियों से इसी तरह/गंगा के जल में/अपनी एक टाँग पर खड़ा है यह शहर/अपनी दूसरी टाँग से/ बिल्कुल बेखबर।' केदारनाथ सिंह का यह रूपक केवल बनारस पर लागू नहीं होता। यह समूचे भारत पर लागू होता है और पूरी दुनिया पर भी। ये दुनिया 'अपनी एक टाँग पर खड़ी है अपनी दूसरी टाँग से बिल्कुल बेखबर'। वर्ग-विभाजित समाज में दो वर्ग शरीर में दो टाँगों की तरह हैं। अभावग्रस्त, वंचित, कामगार, किसान, मजदूर, दलित, स्त्री और आदिवासी - भारतीय समाज की 'दूसरी टाँग' हैं। भारत में वर्ग-विभाजन सिर्फ आर्थिक स्तर पर नहीं समझा जा सकता। यह 'वर्ण' और 'जाति' की ताकतवर सामाजिक-धार्मिक संस्थाओं का सहारा लेकर सामाजिक संरचना की रगों तक मौजूद है। शूद्र वर्ण- वस्तुतः सर्वहारा वर्ग ही है। इसकी अनेक जातियों को ताकतवर धर्म-तंत्र के कारण छुआछूत की भयानक सामाजिक घृणा का सदियों तक सामना करना पड़ा है। आर्थिक विषमता के शिकार जन तो सभी वर्गों और जातियों में रहे हैं, परंतु आर्थिक, धार्मिक और सामाजिक सभी तरह की असमानता के शिकार शूद्र ही हुए हैं। भारतीय समाज विशेष रूप से गाँव वर्गीय-यथास्थिति का भयानक आईना हैं। हजारों साल से हमारे गाँवों के भीतर सुख है, समृद्धि है, ऐश्वर्य है, विलासिता है, भोग है, स्वर्ग है और उसी गाँव में एक दक्खिन टोला है जिसे पानी और हवा का भी हक नहीं। प्रेमचन्द की कहानी 'ठाकुर का कुआँ' और अंशुल त्रिपाठी की कविता 'दक्खिन टोला' को याद करना उचित होगा । उत्तर भारत में दलितों, शूद्रों और अछूतों की बस्तियाँ दक्खिन दिशा में बसाई जाती हैं। क्यों? क्योंकि जितनी हवाएँ बहती हैं, या तो पूरब से बहती हैं या पश्चिम से। दलितों से अनंत घृणा करने वाला स्वर्ग-वासी समाज उन्हें पूरब या पश्चिम में बसने नहीं देता। इन दिशाओं में बसेंगे तो उनकी बस्ती से होकर आयी हवा गाँव में बहेगी जिसके आधे हिस्से में स्वर्ग है और आधे में रौरव नर्क। आधुनिक विकास, आजादी और लोकतंत्र के बावजूद यह वर्ग- विभाजन आज भी भारतीय समाज की कठोर सच्चाई है।'बनारस' कविता का दो टाँगों का रूपक भारतीय समाज का एक केन्द्रीय रूपक है। 'बनारस' कविता सामाजिक जनतंत्र की गहरी आकांक्षा को अभिव्यक्त करने वाली एवं बिंबधर्मी कविता है।

स्वतंत्रता की आकांक्षा से उपजे सामाजिक संघर्ष को एक और कविता बहुत अद्‌भुत तरीके से व्यक्त करती है। यह कविता है -'भिखारी ठाकुर'। यह उनके कविता संग्रह 'उत्तर कबीर और अन्य कविताएँ' में संकलित है। यदि भारतीय समाज में जनतंत्र की आकांक्षा का एक रूपक 'बनारस' है तो एक दूसरा रूपक इस कविता में है। भिखारी ठाकुर भोजपुरी के एक बड़े नाटककार, अभिनेता, संगीतकार और एक थियेटर कंपनी के संचालक थे। अपने नाटकों में उन्होंने खास तौर से पूरबिया लोगों के अनेक तरह के दुःखों को व्यक्त किया। भिखारी ठाकुर क्रान्तिकारी नहीं थे। समाज को आमूल-चूल बदलने की वैज्ञानिक चेतना उनमें नहीं थी। उनके नाटक अंततः सामंती सामाजिक आदर्शों का गान करते हैं। बावजूद इसके उन्होंने अपने नाटकों के भीतर पूरबिया मजदूरों के जीवन के बुनियादी प्रश्नों को उठाया। हमारे समय में भिखारी ठाकुर भारत में औपनिवेशिक शोषण को आवाज देने वाले नाटककार के रूप में उभरे

हैं। उन्होंने पूँजीवादी विकास के कारण हुए गँवईजनों के विस्थापन की मानवीय त्रासदी को 'करुणा' के पुरातन मानवीय भाव में व्यक्त किया है। केदारनाथ सिंह की यह कविता भिखारी ठाकुर पर है—आजादी के बाद की प्रतिनिधि हिन्दी कविताओं में एक। समाज की अन्तरात्मा की सामूहिक मुखरता कविता की शांत संरचना में प्रभावशाली तरीके से व्यक्त हुई है। यह कविता भिखारी ठाकुर के बहाने पुरबिया जनों के औपनिवेशिक शोषण और उपनिवेशवाद-विरोधी स्वातंत्र्य संघर्ष को कलात्मक ढंग से व्यक्त करती है।

इस कविता में केदारनाथ सिंह की कविता की ज्यादातर खूबियाँ एक साथ देखी जा सकती हैं। प्रारम्भ में केदार जी भिखारी ठाकुर की कला और उनके अभिनय के बारे में संकेत करते हैं : 'सिर्फ वे नाचते थे और खेलते थे मंच पर वे सारे खेल/जिन्हें हवा खेलती है पानी से/या जीवन खेलता है/मृत्यु के साथ।' अभिनय अंततः जीवन की कला है। भारतीय अभिनय में जीवन जगत अपनी सम्पूर्णता में खिलता है। भारतीय परम्परा अभिनय में प्रकृतता और वास्तविकता के अनुकरण की यूरोपीय मान्यताओं का अनुगमन नहीं करती। यहाँ अभिनय एक खेल है। उसमें नट की कला का भी समावेश है। नेमिचंद्र जैन ने इसे उचित ही अभिनटन कहा है। केदार जी उचित ही संकेत करते हैं कि अभिनय-प्रक्रिया में भिखारी ठाकुर का 'सरजू के कछार-सा/एक सपाट चेहरा' अनेक रूप धर लेता था -'नाचते हुए बन जाता था/कभी घोर पियक्कड़/कभी वर की खामोशी/कभी घोड़े की हिनहिनाहट/कभी पृथ्वी का सबसे सुन्दर मूर्ख।' ये सारे चेहरे अंततः जीवन को ही प्रकट करते थे। अभिनेता द्वारा धरे गये होने के बावजूद 'ये सारे चेहरे सच थे।' इनकी सच्चाई का कारण इनके पीछे हुई यातना थी : 'सारे चेहरे हँसते थे एक गहरी यातना में'। हँसी और गहरी यातना का युग्म बेहद अर्थगर्भी है। सामंतवादी शोषण चक्र में पिछले सीमांत किसान, भूमिहीन मजदूर, खेती पर निर्भर शिल्पी औपनिवेशिक दासता के युग में पूँजीवादी विकास के दौरान औद्योगिक मजदूर के रूप में विस्थापित हुए। ये 'गहरी यातना' में जी रहे थे। यह 'यातना' 'तोड़ती पत्थर' की मजदूर स्त्री की विवशता की वंशज है—'जो मार खा रोयी नहीं'। भारतीय जनता की जिजीविषा और संघर्षशीलता उसे यातना से लड़ने की शक्ति देती है। भिखारी ठाकुर की कला 'अपने मुखौटे के खिलाफ' 'गहरी यातना' में भी 'हँसने' से बनती है। भिखारी ठाकुर औपनिवेशिक शोषण के विरुद्ध खड़ी भारतीय लोक कला के प्रतिनिधि चेहरे के रूप में सामने आते हैं।

औपनिवेशिक दासता के खिलाफ खड़े स्वतंत्रता संघर्ष के विशिष्ट ऐतिहासिक संदर्भ कविता की अर्थ-भंगिमाओं को विश्वसनीय बनाते हैं। बीसवीं सदी के प्रारम्भ में किसानों के संघर्ष स्वतंत्रता आंदोलन को एक नया आयाम दे रहे थे। चम्पारण का किसान आंदोलन इसका प्रतीक है : 'महात्मा गाँधी आकर/लौट गये थे चम्पारन से/और चौराचौरी की आँच पर खेतों में पकने लगी थीं/जौ गेहूँ की बालियाँ/पर क्या आप विश्वास करेंगे/एक रात जब किसी खलिहान में चल रहा था/भिखारी ठाकुर का नाच/तो दर्शकों की पाँत में एक शख्स ऐसा भी बैठा था/जिसकी शक्ल बेहद मिलती थी महात्मा गाँधी से'। यह कविता का जादू है। जो जीवन में नहीं घट सकता कविता में घट जाता है। 'महात्मा गाँधी लौट गये थे' और 'पंक्तियों में बैठे एक आदमी की शक्ल महात्मा गाँधी से बेहद मिलती थी'—इन पंक्तियों के अभिप्रायः बहुत गहरे हैं। चम्पारण का किसान आंदोलन निर्णायक प्रभाव तो नहीं डाल सका, परंतु किसानों की सहभागिता के बगैर स्वतंत्रता की लड़ाई नहीं खड़ी की जा सकती है—यह बात स्पष्ट हो गयी थी। असहयोग आंदोलन एक जनांदोलन का रूप ले रहा था कि चौरी-चौरा कांड के कारण उसे वापस ले लिया गया। केदारनाथ सिंह का संकेत बेहद स्पष्ट है—'चौरी चौरा की आँच पर/ खेतों में पकने

लगी थीं जौ गेहूँ की बालियाँ।' किसानों के भीतर एक आग जल रही थी, चौरी-चौरा बस उसकी अभिव्यक्ति थी। खेत और खलिहान लड़ाई में शामिल हो रहे थे। किसान की चेतना करवट ले रही थी। भिखारी ठाकुर इस चेतना के प्रतिनिधि थे। स्वातंत्र्य-समर का शीर्ष नेतृत्व इस चेतना से संवाद कर रहा था—दर्शकों की पाँत में महात्मा गाँधी जैसी शक्ल वाले आदमी की उपस्थिति इसी ओर संकेत करती है।

भिखारी ठाकुर के नाटक को आमतौर पर 'नाच' कहा जाता था । यह नाच उत्सव नहीं था। इसमें अभिव्यक्त होते थे दुःख और यातनाएँ : 'इस तरह एक साँझ/से दूसरी भोर तक/कभी किसी बाजार के मोड़ पर/कभी किसी उत्सव के बीच की/खाली जगह में/अनवरत चलता रहा/वह अजब बेचैन सा चीख भरा नाच/जिसका आज़ादी की लड़ाई में कोई जिक्र नहीं।' भिखारी ठाकुर के बारे में इस तरह का वाक्य, इससे पहले किसी ने नहीं लिखा था : 'अनवरत चलता रहा/ वह अजब बेचैन-सा चीख भरा नाच।' स्वतंत्रता आन्दोलन का इतिहास मूलतः शहरी मध्यवर्ग और अभिजन समाज और कांग्रेस को केन्द्र में रखता है । इसमें क्रान्तिकारियों, किसान आंदोलनों, आदिवासी विद्रोहों, दलित-संघर्षों, लेखकों, कलाकारों, रंगकर्मियों और पत्रकारों का कोई जिक्र नहीं है। प्रेमचन्द, गणेश शंकर विद्यार्थी और भिखारी ठाकुर का उल्लेख ग़ायब है। इतिहास लेखन की मौजूदा परम्परा पर ये टिप्पणी है : 'अनवरत चलता रहा/वह अजब बेचैन सा चीख भरा नाच/जिसका आजादी के लड़ाई में कोई जिक्र नहीं।'

इतिहास से बहिष्कृत होने के बावजूद 'नाच' की शक्ति का एहसास ताकतवर प्रभुओं को था : 'पर मेरा ख्याल है/ चर्चिल को सब पता था/ शायद यह भी कि रात के तीसरे पहर/ जब किसी झुरमुट में/ ठनकता था गेहुँअन/ तो नाच के किसी कोने से/ धीरे-धीरे उठती थी/ एक लम्बी और अकेली/ भिखारी ठाकुर की आवाज़/ और ताल के जल की तरह हिलने लगती थी/बोली की सारी/सोई हुई क्रियाएँ।' सामंती-ब्राह्मणवादी परम्परा और औपनिवेशिक आधुनिकता भाषाओं को महत्त्व देती है, बोलियों को नहीं। कवि ने भाषा नहीं कहा है, बोली कहा है। बोली की क्रियाएँ हिलती हैं भाषा की नहीं। बोली अर्थात् साधारण जनता की क्रिया-शक्ति को महात्मा गाँधी और स्वातंत्र्य- समर के शीर्ष राजनीतिक नेता ही नहीं जगा रहे थे, भिखारी ठाकुर जैसे लोक कलाकारों की भी इसमें महती भूमिका थी। कविता के आखिरी हिस्से को रेखांकित किया जाना चाहिए :

और अब यह बहस तो चलती रहेगी
कि नाच का आज़ादी से
रिश्ता क्या है
और अपने राष्ट्रगान की लय में
वह ऐसा क्या है
जहाँ रात-बिरात जाकर-टकराती है
बिदेसिया की लय

'बिदेसिया' भिखारी ठाकुर का नाटक है। इसमें पूरबिया औरतों के दुःखों को व्यक्त करने वाला गीत बिदेसिया कहलाता है। इस गीत की लय राष्ट्रगान की लय से टकराती है। लयों का यह टकराव एक रूपक है जो हमारे जनतंत्र के सबसे बुनियादी और केन्द्रीय संघर्ष की तरफ इशारा करता है। मालिकों, प्रभुओं, ऊँचे लोगों, कुलीनों अभिजनों, पश्चिम और अमेरिका की तरफ देखने वाले लोगों के राष्ट्र से टकराता है किसानों, मजदूरों, आदिवासियों और दलितों का देश। राष्ट्रगान से टकराती है बिदेसिया की लय। बिदेसिया यानी बोली, और बोली बोलने

वाले साधारण लोग। अंतिम पंक्तियों में केदारनाथ सिंह ने राष्ट्रराज्य के वर्चस्व और उसके विरुद्ध चल रहे सीमांत-जनों के संघर्ष की ओर इशारा किया है। राष्ट्र गठन की प्रक्रिया में सीमान्त के छूटे हुए समाज और समुदाय जो राष्ट्र में पूरी तरह गठित नहीं हो सके, उनकी असहमतियाँ और असंतोष, प्रतिरोध और विद्रोह अनेक रूपों में व्यक्त होते हैं। साधारण, गरीब, अभावग्रस्त, निर्धन और वंचित लोग राष्ट्र की मुख्यधारा से बाहर रखे जाते हैं। उनकी न्याय की आकांक्षा राष्ट्र की ताकतवर संरचना से टकराती है। मालिकों के मजबूत केन्द्रीयकृत राष्ट्र से बाहर कर दिये गये लोगों का संघर्ष आधुनिक स्वतंत्र भारतीय राष्ट्र राज्य के लिए एक समस्या की तरह सामने है।

लयों के टकराव का संकेत एक स्पष्ट राजनीति है। बहुत गहरे अर्थों में। गहन। अमुखर। आमतौर पर हम इतने मुखरतापसन्द हैं कि हमें इस तरह मद्धम आवाज़ में कही गई बातें, सुनायी नहीं देतीं। जैसे जीवन के हज़ार रूप, छवियाँ और छायाएँ होती हैं, वैसे ही भाषा में भी प्रतिरोध और प्रतिवाद की अनंत छवियाँ रची जा सकती हैं। प्रचलित मुखर छवियों और मुद्राओं के समानांतर यह अनाक्रामक और अमुखर मुद्राएँ हैं। एक अरब लोगों के देश में हमें कविता के रूपों की बहुलता चाहिए। हमें भाषा की बहुलता चाहिए। हमें संवेदना के साथ अनेक तरह का बर्ताव करने वाली कविता चाहिए। केदारनाथ सिंह की कविताएँ कविता के लोकतंत्र को विस्तृत करती हैं।

अपने कवि स्वभाव के विपरीत केदार जी कभी-कभी मुखर तरीके से अपने समय-समाज पर टिप्पणियाँ करते हैं। 'अकाल में सारस' की 'काली मिट्टी' कविता इसका सटीक उदाहरण है :

काली नदिया काला धन
सूख रहे हैं सारे बन

काला सूरज काले हाथ
झुके हुए हैं सारे माथ

काली बहसें काला न्याय
ख़ाली मेज़ पी रही चाय

काले अक्षर काली रात
कौन करे अब किससे बात

काली जनता काला क्रोध
काला-काला है युगबोध

स्पष्ट है कि इस सरलीकरण में नारा बनने की संभावनाएँ हैं। यहाँ सबसे ज्यादा प्रभावशाली शब्द है—काला—जो एक ताक़तवर प्रतीक की तरह बरता गया है। 'काला धन', 'काला न्याय', 'काली रात' में यह सटीक अर्थ देता है, परन्तु 'काली जनता', 'काला क्रोध' और 'काला युगबोध' में एक अर्थ—धुँध पैदा करता है। स्वाभाविक ही है कि अपने काव्य-मुहावरे से बाहर जाकर कवि ऐसे ही संकट में घिरे। 'शहर में रात' कविता त्रिलोचनमुखी लयात्मक वृत्तांत है। इसमें भी अनेक मुखर और सरल पंक्तियाँ हैं :

वे क्यों चुप हैं जिनको आती है भाषा

परन्तु इसके साथ छंद की भरपायी करती यह पंक्ति अपेक्षाकृत हल्की है :

वह क्या है जो दिखता है धुआँ-धुआँ सा

फिर भी कविता के कुछ हिस्से प्रभावी बन पड़े हैं :

यह शहर कि जिसकी ज़िद है सीधी-सादी
ज़्यादा से ज्यादा सुविधा सुख आज़ादी

कविता के अंत में 'जंज़ीरों' के प्रतीक का उपयोग है, जो कविता की मुखरता बढ़ा देता है :

जब आँख लगे तब सुनना धीरे-धीरे
किस तरह रात-भर बजती हैं जंज़ीरें

'रास्ता' जैसी कविताएँ इसी शृंखला में पढ़ी जा सकती हैं, परन्तु ये केदार जी के स्वभाव और मुहावरे के ज्यादा नज़दीक हैं। कविता की पहली पंक्ति दो-अर्थ चिपकाये है : 'बगुले उड़े जा रहे थे'? 'बगुले' का प्रतीकार्थ स्पष्टतः राजनैतिक है। इस कविता को एक रूपक की तरह पढ़ा जा सकता है। कविता आज़ादी के सैंतीसवें वर्ष में लिखी गयी है। सैंतीस वर्षों के बाद की ठिठकन को इन पंक्तियों में पढ़ा जा सकता है : 'हम चले जा रहे थे चुप/किन्हीं बातों में खोये हुए/चले जा रहे थे हम/कि अचानक हमारे पाँव ज़रा ठिठके/कि अचानक हमने पाया/रास्ता खत्म!'

'क्या हुआ/किधर गया रास्ता!' में छुपी सवालिया बेचैनी का सम्बन्ध आज़ादी के तीसरे, चौथे और पाँचवें दशक से जोड़कर देखा जाना चाहिए। नक्सलबाड़ी विद्रोह से बाबरी मस्जिद ध्वंस और नयी अर्थनीति के स्वीकार के बीच के समय में यह दिशाहीनता भली-भाँति देखी जा सकती है। सामाजिक-आर्थिक प्रगति का नेहरूयुगीन प्रारूप जैसे अर्द्धसामंती-अर्द्ध पूँजीवादी समाज में काम नहीं कर रहा था। सामंती, कुलीन और पूँजीवादी तत्त्व आज़ादी को आगे बढ़ने से रोक रहे थे। वे आज़ादी और लोकतंत्र का सीमित और सिर्फ़ अपने पक्ष में उपयोग करना और उसे साधारण-वंचित-दलित जनों तक जाने से रोकना चाहते थे। 1975-1992 के बीच की यह ठिठकन और दिशाहीनता भारत के राजनीतिक इतिहास में बहुत मुखर है। अंततः इससे उबरने का रास्ता कविता में एक बूढ़ा किसान ढेला फेंक कर बताता है : 'उसने एक ढेला उठाया/और उस तरफ फेंका/जिधर झुकी हुई चर रही थी/एक काली गाय।' कविता की अन्तिम पंक्तियों का अभिप्राय साफ है : 'अब दृश्य बिल्कुल साफ था/अब हमारे सामने/गाय थी/किसान था/रास्ता था/सिर्फ हमीं भूल गये थे/जाना किधर है।' गाँव और किसान को ही आज़ाद भारत की सभी परियोजनाओं और नीतियों के केन्द्र में होना चाहिए - कवि की स्पष्ट मान्यता है। यही रास्ता अंततः प्रगति का सही रास्ता होगा - केदार जी की वैचारिकता इसे समझती है।

केदारनाथ सिंह की कविताओं में अक्सर ऐसे बूढ़े अपनी जगह बना लेते हैं। 'टमाटर बेचने वाली बुढ़िया', 'शीत लहरी में फँसा बूढ़ा आदमी' आदि कविताएँ देखी जा सकती हैं। ये बूढ़े अक्सर इस तरह आते हैं जैसे वे किसानी गँवई जीवन की लोककथाओं में होते हैं— अनुभवी, कर्मठ, वाणी के चमत्कारों को भेदते, आशा से लबरेज, गहरी जीवनासक्ति से भरे।

[चार]

केदारनाथ सिंह की कविता की संरचना पर बात करते हुए सबसे पहले हमारा ध्यान इस तरफ जाता है कि वे मुक्त छन्द के कवि हैं। केदारनाथ सिंह मुक्त छन्द के जिस शिल्प को उठाते

हैं वह शिल्प, मूलतः हिन्दी की बुर्जुआ कविता द्वारा, जिसे आमतौर पर कलावादी कविता भी कहा जाता है, इस्तेमाल किया जाता रहा है। अज्ञेय, श्रीकान्त वर्मा और अशोक वाजपेयी—इसके तीन प्रतिनिधि कवि हैं। ये गैर-प्रगतिशील कहे जा सकते हैं। जन-विरोधी नहीं। मेरी दृष्टि में मनुष्य-विरोधी और समाज विरोधी कलावादी कविता हिन्दी में नहीं है। प्रगतिशीलता विरोधी ये कवि जनता के दुःख दर्द और संघर्षों को कविता में प्रकट करने और जन-संघर्षों और जनांदोलनों में शामिल होने को उचित नहीं मानते। ये शासक वर्गों की सांस्कृतिक अभिरुचियों के ज्यादा निकट हैं और ज्यादातर मामलों में शासक वर्गों की राजनीति पर कोई टिप्पणी नहीं करते। ये 'राजनीति' को साहित्येतर वस्तु मानते हैं। इन सीमाओं के बावजूद ये कवि निर्णायक मौकों पर लोकतंत्र का समर्थन करते रहे हैं। सांप्रदायिक हिंसा, सांप्रदायिक नरसंहार और राज्य नियंत्रित हिंसा का साथ देने वाला कोई कलावादी घराना हिन्दी में नहीं है।

केदारनाथ सिंह की विशिष्टता यह है कि उन्होंने इस संरचना को, जो आमतौर पर बुर्जुआ या गैर प्रगतिशील कवियों द्वारा इस्तेमाल की जा रही थी, बहुत ही शाइस्तगी और विनम्रता के साथ एक बड़े लोक से जोड़ा। यह लोक किसी भी स्थिति में उस बुर्जुआ खाँचे के भीतर नहीं आ सकता था। टमाटर बेचने वाली बुढ़िया, कैलाशपति निषाद, शीत लहरी में फँसा बूढ़ा आदमी, गड़रिया, बढ़ई, बूढ़ा चौकीदार, बंसी मल्लाह, लालमोहर, झपसी, जगदीश, रतन हज्जाम (झाँसी का पुल), रास्ता बनाने की बजाय ढेला फेंकने वाला बूढ़ा (रास्ता), थका हुआ बूढ़ा मल्लाह (मैंने गंगा को देखा) झुम्मन मियाँ (बिना नाम की नदी) 'धूप में घोड़े पर बहस' करते तीन जन, पानी में घिरे हुए लोग, जगरनाथ दुसाध, नूर मियाँ (सन् 47 को याद करते हुए), सड़क पार करता आदमी (उस आदमी को देखो), अखबार वाले, दूधवाले, कुम्हार (सुबह हो रही है मैंने हवा से कहा) माँ, प्रेयसी, तुम बेटी और स्वयं 'मैं' इस लोक के हिस्से हैं। यह साधारण जनों का लोक है। निरंतर काम में लगे लोगों का लोक। इसका प्राथमिक आधार गँवई समाज है वह जो आज गाँवों में रह रहा है और जो गाँव छोड़कर शहर चला गया है और अपने साथ गाँव लेता चला गया है। वह रहता तो मुम्बई या दिल्ली में है, लेकिन उसका गाँव नहीं छूटा है। वह महानगरीय और शहरी नहीं हो पाया है। केदारनाथ सिंह ने गँवई और विस्थापित गँवई लोगों के लोक से कविता को जोड़ा है। विस्थापित गँवई लोग वह सेतु हैं, जो शहर को गाँव से बहुत गहराई से जोड़ देते हैं। बार-बार उनकी स्मृति गाँव की तरफ जाती रहती है। 'अकाल में सारस' संग्रह की 'चिट्ठी' कविता इसकी सटीक बानगी पेश करती है। अपनी विशिष्ट काव्य-शैली में केदार जी एक चिट्ठी की बात से कविता की शुरुआत करते हैं, जो गाँव से आयी हैं, 'जो शायद नदी ने भेजी थी': 'एक बूँद की तरह/टँका था/छोटा-सा प्यारा-सा/गाँव का नाम—'चकिया'।' गाँव का नाम कवि को संभवतः स्मृति-लोक में ले जाता है और शहरी वर्तमान की विडंबनाएँ मुखर होने लगती हैं। 'गाँव' और 'शहर' का वर्तमान अंतराल एक भयावह सच्चाई की तरह सामने आता है : 'शहर के उस सबसे व्यस्त चौराहे पर/सबसे छिपाकर/मैं देर तक पढ़ता रहा/उस खाली-खाली चिट्ठी को/और सारी चिट्ठी में/गूँजता रहा/चीखता रहा/बस एक ही शब्द/चकिया! चकिया!!/मुझे याद आई/एक और भी चिट्ठी/जो बरसों पहले/मैंने दिल्ली में छोड़ी थी/पर आज तक/पहुँची नहीं चकिया।' केदारनाथ सिंह गाँव से शहर में विस्थापित और शहरी न हो पाये गँवई जनों की संवेदना के प्रतिनिधि हिन्दी कवि हैं। उनकी ऐसी कविताओं के कारण परवर्ती पीढ़ी के कवियों को भी इस मनोविज्ञान को प्रकट करने का साहस मिला है।

केदारनाथ सिंह ने मुक्त छंद की इस बुर्जुआ संरचना को प्रगतिशील आशयों से जोड़ा।

कविता में वे मुखरता और वाग्मिता का प्रायः प्रयोग नहीं करते, बावजूद इसके उनकी स्वाभाविक पक्षधरता संघर्षरत साधारणजनों के प्रति है—यह बात सहज ही अनुभव की जा सकती है।

केदारनाथ सिंह की बहुत सारी कविताएँ गहरे अर्थों में मुखर हुए बिना राजनीतिक कविताएँ है। ये कविताएँ विरोध नहीं करती। तेज आवाज़ में, मुखर आवाज़ में नहीं बोलती है। परन्तु यह अपने समय और समाज को बहुत संजीदगी से रिस्पॉन्स करती हैं। उसके बीच वह अपनी राजनीति तय करती हैं। इनमें वर्णन है। इनमें चित्रण है। इनमें आख्यान है। इनमें अनाटकीय संवाद है। इनमें कौंध का, स्पार्क का बहुत गहरा इस्तेमाल मिलता है। इनकी लय थोड़ी मद्धम है। इनका सुर थोड़ा मद्धम है। ये मध्य सप्तक की कविताएँ हैं, जो तार सप्तक की ओर नहीं, क्रमशः मन्द्र सप्तक की ओर जा रही हैं। वाच्यार्थ और साधारण व्यंग्यार्थ दोनों से परे जाने की कोशिश इन कविताओं में दिखाई देती हैं। इन कविता में बहुत गहरे स्तर पर पश्चिमी आधुनिकता बोध के साथ एक संघर्ष मिलता है—क्राफ्ट के स्तर पर भी और संवेदना के स्तर पर भी। इस अर्थ में केदार जी की कविताएँ औपनिवेशिक आधुनिकता से परे जाकर देशज संस्कारों की आधुनिकता निर्मित करने की कोशिश करती हैं।

हस्तिनापुर की एक निर्वासित स्त्री

घनश्याम कुमार 'देवांश'

यह नाटक एक कवि की कल्पना में, गंगा का समकालीन प्रश्नों और संदर्भों में नया अवतरण है। 'हस्तिनापुर की एक निर्वासित स्त्री' एक ऐसी स्त्री की कथा है जो राजसत्ता और पितृसत्ता दोनों को ही चुनौती देती है। भरतवंश में 'स्त्रियों' की अवमानना, अपमान और उनके प्रति किए गए अन्याय को यह नाटक प्रत्यक्ष करता है। और इस अर्थ में यह 'मिथकीय' नहीं 'समकालीन' पाठ बन जाता है। साहित्य कला परिषद, दिल्ली द्वारा मोहन राकेश सम्मान, 2017 से सम्मानित यह नाटक अपने प्रकाशन से पूर्व ही वरिष्ठ नाट्य निर्देशक श्री सुरेश शर्मा के निर्देशन में मोहन राकेश नाट्य समारोह, 2017 के दौरान श्रीराम सेंटर ऑडीटोरियम, मंडी हाउस, दिल्ली में 15 अक्तूबर, 2017 को खेला गया। इस अप्रकाशित नाटक को प्रकाशित करते हुए हमें खुशी हो रही है।

नाटक के मुख्य पात्र

वेदव्यास	(महाभारत रचयिता)
सुनीति	(व्यास की पत्नी)
देवव्रत	(गंगापुत्र)
शांतनु	(हस्तिनापुर सम्राट)
रुचिरा व निपुणा	(दासियाँ)
तुंगभद्र	(अश्व सेनानायक)
गंगा	(शांतनु की प्रेमिका)
अग्निवर्ण	(शांतनु का मित्र)
इंद्रसूत्र	(प्रधान अमात्य)
भार्गव	(हस्तिनापुर का पुरोहित)
सेनापति	(हस्तिनापुर का सेनापति)

स्थान-समय

अंक 1 : पहला दृश्य : हस्तिनापुर। वेदव्यास की कुटिया। भोर का समय।
दूसरा दृश्य : पूर्वदीप्ति में लगभग पंद्रह वर्ष पूर्व का समय। हस्तिनापुर। युवराज शांतनु का राजमहल प्रकोष्ठ। रात्रि का समय।

अंक 2 : पहला दृश्य : हस्तिनापुर। गंगा का राजमहल प्रकोष्ठ। संध्या का समय।
दूसरा दृश्य : हस्तिनापुर। सम्राट शांतनु का राजमहल प्रकोष्ठ। अर्ध रात्रि का समय।

अंक 3 : पहला दृश्य : हस्तिनापुर का न्यायाधिकरण कक्ष। दिन का समय।
दूसरा दृश्य : हस्तिनापुर। वेदव्यास की कुटिया। भोर का समय।
तीसरा दृश्य : अंक 1 के पहले दृश्य वाला स्थान। भोर का समय।

पहला अंक

(दृश्य एक)

(तीन ओर मूँज की टट्टियों से घिरी हुई सूत्रधार व्यास की कुटिया। एक कोने में रखा हुआ जल का कुम्भ। सामने की ओर मूँज की टट्टियों के सहारे सूखते हुए ताजा लिखे भोजपत्र। बीच में कुश का आसन और दीवार की तरफ रखी हुई लेखन वेदिका। दुबली-पतली काया वाला सूत्रधार व्यास दर्शकों से पीठ किए हुए वेदिका पर सिर रखे जैसे सोया हुआ है। वेदिका के आसपास कुछ भोजपत्र बिखरे हुए हैं और बाकी सहेजकर रखे हुए हैं। मसि से भरा हुआ पात्र मोरपंख के साथ वेदिका पर रखा हुआ है जिसपर दिये का हल्का-सा प्रकाश फैला है। सहसा पृष्ठभूमि में एक शिशु के रोने की आवाज धीरे-धीरे शुरू होती है और फिर तेज होती जाती है। नदी के बहने की धीमी आवाज आती है। सहसा जैसे शिशु को धारा में बहा देने की आवाज आती है और इसके साथ ही शिशु क्रंदन की ध्वनि का लोप हो जाता है। कुछ पल बुलबुले उठने की आवाज आती है फिर वह भी जाती रहती है।)

व्यास : (घबराते हुए लगभग चीखने लगता है) सुनीति, सुनीति, रोको। उन्हें रोको सुनीति! रोको!

(एक प्रौढ़ा स्त्री का भागते हुए कुटी में प्रवेश)

सुनीति : (व्यास को झकझोरते हुए) क्या हुआ आर्य! आप स्वस्थ तो हैं?

व्यास : (सुनीति का हाथ अपने हाथों में लेते हुए, कुछ शांत व स्थिर हो जाता है) हाँ... हाँ...संभवतः स्वस्थ ही तो हूँ।

सुनीति : क्या आज फिर वही स्वप्न देखा?

व्यास : (कुछ क्षण अवाक् सा शांत बना रहता है और फिर अपनी चेतना में लौट आता है) हाँ, जीवन की कुछ घटनाएँ एक दुःखद स्वप्न की तरह प्रतीत होती हैं और वे गुजर जाने के बाद भी एक साये की तरह हमारी चेतना के पीछे लगी रहती हैं। उनसे छुटकारा पाना सरल बात नहीं होती।

सुनीति : (थोड़ी देर समझने का प्रयास करते हुए और फिर खीझते हुए) यह बस कवि होना भी दुनिया का एक ही रोग है। बड़े-बड़े वैद्यों को भी नाड़ी का पता न चले कि आखिर इन लोगों को सहसा हो क्या जाता है? और जिस स्त्री

का पति कवि हो उसके कष्टों की तो कोई सीमा ही नहीं रह जाती।

व्यास : तो क्या सचमुच तुम्हें भी मुझसे कष्ट ही है।

सुनीति : और नहीं तो क्या! दिन भर प्रयास तो आपका यही रहता है। (जाने लगती है)

व्यास : सुनीति! मेरी बात तो सुनो। आखिर इस कवि के पास एक दो पल बैठे रहने से ही तुम्हें ये बीमारी नहीं लग जाएगी।

सुनीति : सो तो है लेकिन कवि के समान मेरे पास भी समय का अनंत कोश हो तब तो। सूर्योदय हो चुका है, जाकर वत्स निशंक को उठाती हूँ। आजकल वह अपनी गौशाला छोड़ने के लिए तैयार ही नहीं होता। कहता है प्रवीर आकर उसकी गायों को हाँक ले जाएगा।

व्यास : (एक हाथ की टेक लेते हुए खड़ा होते हुए कहता है) प्रवीर के पास भी निशंक से हास-परिहास का भरपूर समय रहता है।

(मंच पर सहसा देवव्रत का प्रवेश। बड़ा अस्थिर व बेचैन-सा। साधारण श्वेत वस्त्रों में बिना किसी राजकीय परिधान के वह अत्यधिक क्लांत दिख रहा है)

सुनीति : (देवव्रत को देखती हुई) वत्स देवव्रत! इस समय यहाँ? तुम ठीक तो हो वत्स?

देवव्रत : (कुछ अन्यमनस्क सा) हाँ माँ! स्वस्थ ही हूँ। परंतु अस्वस्थ होता तो शायद अधिक अच्छा होता।

व्यास : (आगे बढ़कर) ऐसा क्यों कहते हो वत्स?

देवव्रत : (व्याकुल होता हुआ) ठीक ही तो कह रहा हूँ तात। मेरी ओर से पिता की वितृष्णा कुछ तो कम होती। उन्हें तो जैसे याद ही नहीं आता कि मैं उनका पुत्र हूँ।

व्यास : महाराज व्यस्त रहते हैं न। इसी से उन्हें अधिक समय नहीं मिल पाता। तुम दिल छोटा न करो।

देवव्रत–किन्तु मैं देखता हूँ कि रंगशालाओं तक पहुँचने का समय भी वे निकाल ही लेते हैं। शायद मैं ही इस योग्य नहीं। (वह कुछ और व्याकुल सा हो उठता है) अब तो मैं उनसे पहले की भाँति प्रश्न भी नहीं पूछा करता। जानता हूँ मेरे प्रश्नों से वे असहजता सी महसूस करने लगते हैं। लेकिन मैं क्या करूँ तात! अपने प्रश्न लेकर किसके पास जाऊँ?

व्यास : ऐसा नहीं है वत्स।

देवव्रत : ऐसा ही है तात! इस राजभवन में तो कभी-कभी साँस लेना भी मुश्किल लगता है। यहाँ के मनुष्यों से तो प्रस्तर की मूर्तियाँ भी श्रेष्ठ मालूम होती हैं। बनावट की सारी सीमाएँ इन राजमहलों में पार की जा चुकी हैं। उनके आदर और सम्मान से मुझे घृणा सी होती है। मैंने तो यह समझा था कि माँ के जिस स्पर्श और प्रेम से मैं सदा वंचित रहा, वह कदाचित् मुझे इस राजभवन में उनकी विभिन्न स्मृतियों के रूप में प्राप्त हो सकेगा। लेकिन यहाँ देखता हूँ तो पाता हूँ कि जैसे माँ की हर स्मृति यहाँ से मिटा दी गयी है।

सुनीति : वत्स! तुम्हारी ये भावुकता क्षत्रियत्व को शोभा नहीं देती।

देवव्रत : और मुझे ऐसे क्षत्रियत्व से घृणा होती है, जिसमें भावुकता और संवेदनशीलता

के लिए कोई जगह नहीं है। मैं ऐसा पुरुषत्व भी क्या करूँगा जिसमें आँसुओं के लिए कोई स्थान ही न हो। माँ ने मुझे दीन-हीन, उपेक्षित और असहाय बनाकर इस राजकुल में क्यों छोड़ दिया। क्यों नहीं वे मुझे भी अपने साथ ही लेती गईं? और कुछ नहीं तो मुझे भी अन्य भाइयों की तरह जल में डुबाकर...

व्यास : (विस्मय से बीच में ही रोककर) ये क्या कह रहे हो वत्स? ऐसा तुमसे कौन कहता है?

देवव्रत : (व्याकुलता से) यही तो कष्ट है तात् कि कोई कुछ कहता नहीं...कोई कुछ बोलता नहीं। लेकिन सबकी दृष्टि मेरे भीतर न जाने कौन सी छाया ढूँढती रहती है? वह छाया जिससे राजमहल का हर प्राणी डरता है। वह छाया जिससे पूरा हस्तिनापुर भयभीत-सा प्रतीत होता है। मैं स्वयं उस छाया के वाहन से अधिक कुछ नहीं। वह छाया मेरे और मेरे वर्तमान के बीच निरंतर खड़ी रहती है। कोई कुछ नहीं बताता। कोई कुछ नहीं कहता। लेकिन मुझे पता है कि वह छाया कौन है।

(कहकर कुछ क्षण चुप रहता है, फिर व्यास की आँखों में गहराई से देखता है) क्या मेरे भीतर सचमुच की कोई छाया है जो पिता को मेरे करीब नहीं आने देती? (फिर कुछ क्षण चुप रहकर) तात्! मेरे लिए तो गुरु परशुराम का अरण्य आश्रम ही उचित था। मुझे अब समूचे हस्तिनापुर में अपना स्वागत मिथ्याडंबर सा प्रतीत होता है। वहाँ प्रदर्शन है, सम्मान है, स्नेह नहीं। भय है, जीवन का अभयारण्य नहीं। बनावटी कोमलता है, प्रदर्शन है, भव्यता है, आत्मा नहीं। (व्यास की ओर देखकर) तात! आप पिता से कहें, कि वे मुझे हस्तिनापुर से वापस लौट जाने की अनुमति दे दें। मैं जानता हूँ वे आपकी बात कभी नहीं टालेंगे।

व्यास : (देवव्रत के कंधे पर हाथ रखते हुए) देवव्रत तुम्हारा जीवन अरण्य के लिए नहीं है। यदि होता तो तुम्हारी माँ मुझसे अवश्य कह कर जाती।

देवव्रत : तात्, आपने तो माँ को देखा होगा।

व्यास : (याद करता हुआ) हाँ देखा था। कोई भी उन्नत और सभ्य समाज उन्हें पाकर गर्व करता। वह ऐसी थीं कि किसी एक युग में उनका विशाल अस्तित्व नहीं समा सकता।

देवव्रत : और फिर भी उनका इतना तिरस्कार?

व्यास : पुत्र! समाज जब समझने में चूक जाता है तो वह घृणा और तिरस्कार की सारी सीमाएँ लाँघकर अपनी समझ और संवेदनशीलता खो बैठता है। ऐसा समाज जब पशुता पर उतरता है तब वह करणीय और अकरणीय दोनों का भेद भूल जाता है। ऐसे असहिष्णु समाज में असहमतियों के लिए कोई स्थान नहीं होता।

देवव्रत : और अंत में उन्हें निर्वासित कर दिया गया?

व्यास : मैं उस घटना को निर्वासन का नाम नहीं दे सकता। निर्वासन तो असहायों और निर्बलों का होता है। मुझे आश्चर्य होता था कि एक अकेली स्त्री अपने कालखंड की पूरी गर्दन पैरों तले दबाये खड़ी थी। विद्वानों के ग्रंथकोश और

महारथियों के शस्त्रागार उनके समक्ष असहाय हो चुके थे। यदि वह एक पुरुष होती तो समाज उसे अपने मस्तक पर मुकुट की तरह सजा लेता। लेकिन दाम्पत्य की परिधि से बाहर स्वतन्त्रता जैसे जीवन मूल्य का शंखनाद करने वाली एक स्त्री का समाज सहन कैसे कर सकता था।

देवव्रत : और क्या ये सच है कि माँ ने सभी भाइयों की हत्या कर दी थी?

व्यास : (अनमने भाव से) पता नहीं पुत्र। मैं तो मात्र इतना जानता हूँ कि उनके व्यक्तित्व का पार पाना एक युग और एक व्यक्ति के बस के बाहर की बात है।

देवव्रत : तब माँ का आखिर अपराध क्या था?

व्यास : (जैसे अतीत में खोते हुए) मात्र इतना कि सबसे पहले वह एक स्त्री होना चाहती थी।

(देवव्रत अवाक् होकर व्यास को देखता रह जाता है।)

(दृश्य दो)

(राजमहल का एक प्रकोष्ठ। चमकदार धातु से बने दो आसन। बीच में एक स्तंभिका पर रखे हुए द्राक्षा व अन्य आसव पदार्थ। पीछे की तरफ दो स्तम्भ जिन पर सुंदर कलाकृतियाँ उत्कीर्ण हैं। दोनों कला स्तंभों को आपस में जोड़ती एक सुरुचिपूर्ण दीवार। बीच में एक झरोखा। युवराज अग्निवर्ण और युवराज शांतनु प्रकोष्ठ में उपस्थित। अग्निवर्ण अर्ध लेटी अवस्था में थोड़ी तत्परता से कभी सुरा का बड़ा धातु पात्र मुँह से लगाकर पीता है तो कभी द्राक्षा लेकर खिलवाड़ के साथ उसे चूसते हुए खाने लगता है। शांतनु अनमन्यस्क सा बैठा हुआ है।)

अग्निवर्ण : (जैसे स्वयं से बात करता हुआ) ये द्राक्षा भी बड़ी विचित्र वस्तु है। खाते हुए प्रत्येक बार लगता है कि बस यही आखिरी द्राक्षा। आखिर इसमें ऐसा है क्या जो बार-बार मुँह को लाई जाए। न ठीक से मीठी, न ठीक से खट्टी। भला ये भी कोई खाने की वस्तु है? लेकिन हाथ कब चोरी से द्राक्षा पर चले जाते हैं पता भी नहीं चलता। और फिर इनका यह विचित्र स्पर्श? ओह! खींचकर तोड़ना और फिर मुख के आगे कर देना। मुख में भी इसका चक्कर काटते फिरते रहना। (मुँह के भीतर द्राक्षा को इधर-उधर फिराते हुए जोर से हँसता है) बड़ा विचित्र फल है। न जाने क्या-क्या स्मरण आने लगता है। (फिर शांतनु की ओर देखकर सहसा चुप हो जाता है) देखता हूँ आज मित्र शांतनु का चित्त स्थिर नहीं है। क्या बात है मित्र? उदासीनता का कारण तो कहो? क्या अब विश्राम की इच्छा है तो मैं चलूँ? (खड़ा होता है)

शांतनु : नहीं नहीं, बैठो मित्र। अभी इन आँखों में नींद कहाँ?

अग्निवर्ण : हाँ, वह तो कई दिनों से मैं देख ही रहा हूँ लेकिन... (फिर कुछ पल जैसे चेहरे को गौर से देखता हुआ) लक्षण कुछ तो संकेत कर ही रहे हैं। (मुस्कुराता है।)

शांतनु : (अग्निवर्ण के चेहरे को गौर से देखता हुआ) कैसा संकेत?

अग्निवर्ण : लेकिन समझ में ये नहीं आता कि तुम्हारे मुख पर ये संकेत कैसे आ सकते हैं?

शांतनु : स्पष्ट क्यों नहीं कहते?

अग्निवर्ण : संकेत तो किसी कामिनी की कामना में घायल होने के ही दिख रहे हैं। लेकिन मेरी समझ में ये नहीं आ रहा कि...

शांतनु : क्या नहीं समझ आ रहा?

अग्निवर्ण : यही कि तुम कैसे घायल हो सकते हो?

शांतनु : क्यों? क्या मैं पुरुष नहीं हूँ?

अग्निवर्ण : लेकिन ऐसी कोई स्त्री भी तो होनी चाहिए जिस पर तुम आसक्त हो जाओ और फिर भी वह तुमसे दूर और विरत बनी रहे। इस अग्निवर्ण को एक तुम्हारे अतिरिक्त इस दुनिया में और किसी से ईर्ष्या नहीं होती। यहाँ मेरी तरह मनचाहे हिरण के आखेट में जाल उठाए महीनों भटकना पड़े तो पता चले।

शांतनु : इसी से तो मन और व्याकुल होता है मित्र। न जाने देवी गंगा में ऐसा क्या आकर्षण है...

अग्निवर्ण : (घोर आश्चर्य से हाथ में लिया हुआ पात्र स्तंभिका पर रख देता है, जैसे कि सारा नशा उड़ गया हो।) क्या कह रहे हो मित्र?

शांतनु : (तनिक आश्चर्य से) हाँ देवी गंगा! लेकिन इसमें इतने आश्चर्य की क्या बात है? क्या तुमने उनका अद्‌भुत व अद्वितीय सौंदर्य नहीं देखा? उन्हें देखने के बाद संसार की अन्य सुंदरियाँ चंद्रमा के सामने जुगनुओं की भाँति प्रतीत होती हैं।

अग्निवर्ण : स्त्री? तुम उसे स्त्री कहते हो? सौंदर्य का तो जो भी कहो मित्र, लेकिन मुझे तो उन्हें स्त्री कहने में भी संकोच ही होता है। लज्जा का तो उनके व्यक्तित्व में दूर-दूर तक कोई चिन्ह भी नहीं दिखता। उनका पुरुषोचित व्यक्तित्व तो बड़े-बड़े पुरुषों को भी लजा जाये। (शांतनु की ओर देखकर) मित्र! तुम तो भयकारी बातें कर रहे हो। तुमसे तो आगे सावधान ही रहना चाहिए और दूर भी।

शांतनु : (आश्चर्य से) क्यों?

अग्निवर्ण : (व्यंग्य से) जिसका हृदय आज देवी गंगा पर आसक्त हो गया है वह कल मुझपर भी आसक्त हो जाये तो क्या आश्चर्य है?

शांतनु : तुम्हें उपहास सूझ रहा है?

अग्निवर्ण : तो मैं कहूँगा कि मैं तुमसे अधिक गंभीर हूँ। जबसे हम गंगा के स्वयंवर सम्मिलन से लौटे हैं तब से मैंने किसी युवक से झूठे भी उनकी प्रशंसा में कोई शब्द नहीं सुने। हाँ, आलोचना अवश्य सुनी है।

शांतनु : (आश्चर्य से) आलोचना? क्या आलोचना सुनी है?

अग्निवर्ण : क्या तुम सचमुच नहीं जानते या मेरे मुख से ही सुनना चाहते हो?

शांतनु : संभवतः तुम्हारे ही मुख से सुनना चाहता हूँ।

अग्निवर्ण : लेकिन ये जानने के उपरांत कि युवराज के हृदय में उनकी कामना है, मैं उनकी आलोचना करना उचित नहीं समझता। अतः मैं चुप ही रहूँगा।

शांतनु : तो मैं समझूँगा कि तुम मुझे अपना मित्र ही नहीं समझते।

अग्निवर्ण : (गंभीर मुद्रा में खड़ा होकर टहलने लगता है) मित्र शांतनु, देवी गंगा का जीवन तमाम अपवादों से भरा हुआ है।

शांतनु : कैसे अपवाद?

अग्निवर्ण : कहते हैं उनके पिता ने बाल्यकाल से ही उनका पालन-पोषण पुरुषोचित तरीके से किया। उनका बाल्यकाल समवयस्क राजकुमारों की गर्दन झुकाते हुए ही बीता है। आर्य बृहस्पति अपनी इस अकेली शिष्या के प्रति विशेष गर्व करते थे। कई मित्र तो कहते हैं कि देवी गंगा शास्त्र संबंधी प्रश्नों की बौछारों से गुरु बृहस्पति तक को आतंकित कर देती थीं। आयु में कहीं बड़े ब्राह्मण और राजनीतिज्ञ भी उनसे वाद-विवाद करने से बचने में ही भलाई समझते थे।

शांतनु : और आर्य परशुराम?

अग्निवर्ण : उनके आश्रम की तो मत ही पूछो। जिनकी एक फटकार तक से बड़े-बड़े यशस्वी और आयुधवेत्ता लघुशंका का स्थान खोजने लगते थे, स्वयं देवी गंगा के प्रभाव में रहते थे। सुनने में तो आता है कि उनके आश्रम में जिस आयुधशास्त्र के अध्ययन में राजकुमार पंद्रह वर्षों से भी अधिक लगाकर उन्हें संतुष्ट नहीं कर पाते थे, वह सारा अध्ययन देवी गंगा ने मात्र पाँच वर्षों में ही पूरा कर लिया था।

शांतनु : (व्यंग्य से) और कोई आलोचना बची है कि बस इतना ही?

अग्निवर्ण : आलोचना? ये तो केवल पूर्वपीठिका है।

शांतनु : अर्थात्? आलोचना अभी करोगे?

अग्निवर्ण : मैं नहीं करता, पूरा लोक देवी गंगा को अपवाद कहता फिरता है।

शांतनु : क्या कहता है?

अग्निवर्ण : यही कि देवी गंगा प्रेम और कामना का विषय नहीं हैं। वह सौंदर्य, कमनीयता और प्रेम का एक सम्मिलित अपवाद भर हैं।

शांतनु : तो क्या अपवाद में कोई जीवन नहीं होता? क्या उसमें प्रेम के प्रति कोई आकांक्षा नहीं रह जाती? क्या अपवाद को किसी की प्रतीक्षा नहीं रहती?

अग्निवर्ण : प्रतीक्षा होती तो अपने पिता द्वारा इतने मान से आयोजित स्वयंवर में आए राजकुमारों व युवराजों को वे लज्जित करने का प्रयत्न नहीं करतीं। उनके सौंदर्य से प्रभावित होकर गया तो मैं भी था लेकिन उनसे साक्षात् करने के बाद वैसी कोई इच्छा दूर दूर तक मन में नहीं बची। (वितृष्णा से) हुँह! भला ऐसी स्त्री का कोई क्या करेगा जो रात भर पुरुष का मस्तिष्क खाती रहे और उसकी काम वासना के जलते हुए काष्ठ पर जल उड़ेलती रहे?

शांतनु : तो क्या सचमुच वो ऐसी है?

अग्निवर्ण : और नहीं तो क्या? जिसने आर्य बृहस्पति और आर्य परशुराम की रातों की नींद उड़ा दी हो, वो तुम्हारा तो पता नहीं लेकिन मेरा क्या हाल करती, मैं तो ये सोचकर भी अपनी कल्पना में आत्महत्या करने लगता हूँ।

शांतनु : (जोर से हँसता हुआ) मित्र! कुछ भी हो, तुम बातें इतनी रोचक करते हो कि कभी-कभी मन का सारा अवसाद दूर हो जाता है।

अग्निवर्ण : अवसाद? वो क्या होता है ये जाकर देवी गंगा के पिता से पूछो। उनका तो इधर प्रशासन तक करना असंभव हो गया है। आजकल मंत्री परिषद् के आयोजनों में देवी गंगा के स्वर के अतिरिक्त और कोई स्वर सुनाई ही नहीं देता। आजकल उनके यहाँ राजनियमों में नित्य ही नए परिवर्तन होते रहते हैं। सुनते हैं कितनी बार तो वे क्षुब्ध होकर देवी से यहाँ तक कह चुके हैं कि अब वे स्वयं सारा राजपाठ संभालकर उन्हें मुक्त कर दें। लेकिन देवी गंगा उनकी न ये बात मानती हैं न वो। इस अखिल ब्रह्मांड में वे तो सिर्फ एक ही व्यक्ति की बात मानती है।

शांतनु : (आश्चर्य से) किसकी?

अग्निवर्ण : अपने आप की। और किसकी बात वे मान सकती हैं? न जाने उन्हें पुरुषों के मस्तिष्क खाने में क्या आनंद आता है।

शांतनु : ओह!

अग्निवर्ण : मैं कहता हूँ कि आखिर स्त्री में कुछ तो स्त्रियोचित होना चाहिए। थोड़ी चंचलता, थोड़ी चपलता, थोड़ी मूर्खता, थोड़ा हठ और यदि ये सब न भी हो तो कम से कम जरा सी लज्जा तो अवश्य होनी चाहिए। इतना ही कि प्रणय को प्रस्तुत पुरुष के समक्ष गर्दन न सही तो आँखें ही झुका ले। मेरी समझ से तो स्त्री और पुरुष सम्बन्धों के बीच तर्कों का दीपक बुझा ही रहे तभी सहजीवन और रति क्रिया सुखपूर्वक चल सकती है, अन्यथा नहीं।

शांतनु : ये तुम्हारे वास्तविक विचार हैं या देवी गंगा के तथाकथित तिरस्कार की प्रतिक्रिया मात्र?

अग्निवर्ण : मेरा कैसा तिरस्कार? जब वह तुम्हारे बल और सौन्दर्य पर भी नहीं मुग्ध हो सकी तब तो उसके जीवन में प्रेम का कोश बस रिक्त ही समझो। मैं तो जहाँ हूँ, वहीं संतुष्ट हूँ। नित्य रात्रि सुरा से अपनी प्यास बुझाकर किसी कामिनी के केशों के सागर में गोते लगाते हुए मेरी दिन भर की थकान कहाँ लुप्त हो जाती है, पता ही नहीं चलता और मैं प्रातः स्वयं को पूरी तरह स्वस्थ और प्रफुल्लित महसूस करता हूँ।

शांतनु : (कुछ सोचते हुए) तुम्हारी स्थिति और है अग्निवर्ण। तुम्हारे और मेरे भीतर अत्यधिक असमानताएँ हैं।

अग्निवर्ण : लेकिन यह मत भूलो कि एक सबसे बड़ी समानता अवश्य है।

शांतनु : वह क्या?

अग्निवर्ण : (मुस्कुराते हुए) यही कि हम दोनों पुरुष हैं।

शांतनु : परंतु फिर भी मुझे देवी गंगा की आवश्यकता है।

अग्निवर्ण : और मुझे बिलकुल नहीं है।

शांतनु : मैं देवी गंगा से अपने मन की बात कहे बिना नहीं रह सकता। मेरा मन उन्हीं के इर्द-गिर्द छाया की भाँति घूमता रहता है। मेरा मन कहता है कि वे मेरे साथ सहजीवन को अवश्य प्रस्तुत होंगी।

अग्निवर्ण : (आश्चर्य से) सहजीवन? देवी गंगा के साथ? लगता है मेरी आलोचना का तुम पर कुछ उल्टा ही असर हो गया है।

शांतनु : सच कहूँ तो तुम्हारी इस आलोचना से उनके प्रति मेरी उत्सुकता और भी

बढ़ गयी है।

अग्निवर्ण : उत्सुकता अच्छी बात है मित्र। लेकिन उत्सुकता में आकर मनुष्य को अग्निकुंड में नहीं कूद जाना चाहिए।

शांतनु : मैं कल प्रातः ही उनके लिए यात्रा पर निकल जाऊँगा।

अग्निवर्ण : (कक्ष से बाहर जाने को जैसे तैयार होता हुआ, आश्चर्य से) कल ही? तब तो मैं कहूँगा मित्र आज की रात अच्छे से विश्राम कर लो। तुम्हारी आने वाली रात्रियों में तो अब मुझे अधिक विश्राम नहीं दीख पड़ता।

शांतनु : (रोष से) अब बस भी करो मित्र! इतनी अधिक प्रवंचना भी अच्छी नहीं होती।

अग्निवर्ण : (जाने लगता है) इसी से मैं आलोचना नहीं करता था। जानता था पुरुष अपनी प्रेमिका की आलोचना का अधिकार अपने अतिरिक्त और किसी को कभी नहीं देता। जानता था कि न जाने कब तुम्हें मुझ पर क्रोध आने लगे।

शांतनु : (संयत होकर) नहीं, मैं तुम पर क्रोध नहीं करता।

अग्निवर्ण : जाता हूँ। लेकिन जाते-जाते इतना अवश्य कहे देता हूँ कि अच्छे सहजीवन के लिए मूर्ख स्त्री ही सबसे उपयुक्त होती है।

(प्रस्थान)

दूसरा अंक

(दृश्य–एक)

(राजभवन में गंगा का प्रकोष्ठ। कलात्मक दीवारों से सुसज्जित एवं पीछे दाएँ कोने की तरफ एक बड़ा झरोखा। पर्यंक व साथ में स्तंभिका, जिस पर भोजपत्र की दो पांडुलिपियाँ रखी हुई हैं। पीछे दीवार के साथ लगा एक ग्रंथकोश, जिनमें कई पुरानी पांडुलिपियाँ संग्रहीत हैं। दो सहायिकाएँ निपुणा व रुचिरा कक्ष को सतर्कता से व्यवस्थित करती हुईं।)

निपुणा : (पर्यंक का निरीक्षण करती हुई बार-बार सूँघती है) हाँ, ठीक है।

रुचिरा : (हँसकर) क्या ठीक है निपुणा? पर्यंक पर बिछा प्रत्येक वस्त्र धुला हुआ और दुर्गंध से मुक्त है।

निपुणा : नहीं, दुर्गंध नहीं, मैं तो सुगंध पहचान रही थी। बिना किसी सुगंध के राजमहल का पर्यंक अधूरा सा प्रतीत होता है।

रुचिरा : वो तो ठीक है निपुणा, लेकिन देवी गंगा को इत्र और सुगंध से विशेष चिढ़ है। पिछले वर्ष एक दिन मैंने उनके पर्यंक पर एक इत्र का प्रयोग कर दिया था। उस रात तो देवी गंगा उपवन में शिला पर जा सो रहीं।

निपुणा : (तनिक भय से) तब तो आपको बहुत कठोर दंड मिला होगा।

रुचिरा : नहीं तो। (कहकर मुस्कुराती है) बल्कि अगली सुबह मैंने उन्हें इतना प्रसन्न देखा कि मेरा सारा भय ही जाता रहा।

(निपुणा पर्यंक के पास स्तंभिका पर रखी पांडुलिपियाँ उठाकर ग्रंथकोश की ओर चल देती है।)

रुचिरा : (आश्चर्य से) अरे अरे, ये क्या कर रही हो?

निपुणा : बस इन्हें यथास्थान रख रही हूँ।

रुचिरा : नहीं, मैंने उन्हें वहाँ प्रयोजन से रखा है। ये पांडुलिपियाँ अभी अपठित हैं। देवी उन्हें वहीं रखती हैं, अपने पास।

निपुणा : (हँसते हुए लौट आती है और उन्हें पुनः वहीं रख देती है) तब तो महाराज को अवश्य इन पाण्डुलिपियों से ईर्ष्या होती होगी।

रुचिरा : संभवतः!

निपुणा : संभवतः?

रुचिरा : हाँ संभवतः। आरंभ में मैं उनमें कुछ ऐसे भाव देखती थी, लेकिन अब इधर इन भावों का कुछ अभाव सा होता जा रहा है अथवा संभव है मेरा भ्रम ही हो। (कहकर कुछ पल चुप हो जाती है और फिर स्तंभित खड़ी निपुणा की ओर देखती रह जाती है) जरा सुन तो! मैं दीपक का प्रबंध करना तो भूल ही गई। तू जरा एक नया दीपक तो ले आ।

निपुणा : अच्छा! (जाती है)

रुचिरा : और सुन, दीपक तनिक बड़ा लाना। देवी को अध्ययन के लिए अच्छे प्रकाश की जरूरत पड़ा करती है।

(निपुणा का प्रस्थान। दूसरी ओर से विषयपति कौशेय का प्रवेश)

कौशेय : रुचिरा, अभी कक्ष तैयार होने में कितना समय शेष है?

रुचिरा : (चारों ओर एक दृष्टि फिराते हुए) बस एक दीपक का प्रबंध ही शेष है।

कौशेय : (आश्चर्य से चारों ओर देखता हुआ) मात्र एक दीपक? न कोई प्रकाश माला, न द्वार पुष्प, न स्वागत चिह्न, न सुगंध, न सुवास? देवी तीन माह के उपरांत हस्तिनापुर लौट रही हैं और तुम उनका स्वागत इस तरह करोगी?

रुचिरा : क्षमा देव! किन्तु इसके अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार से उनका स्वागत अच्छा विचार नहीं है। मैं पूर्व में कई बार प्रयास करके देख चुकी हूँ लेकिन प्रत्येक बार उल्टे मुझे उनके रोष का ही भाजन बनना पड़ा है। परंतु यदि आपकी विशेष आज्ञा हो तो... (निपुणा का इसी बीच हाथ में जलता हुआ दीपक लिए हुए प्रवेश)

कौशेय : (रुचिरा की बात बीच में ही काटता हुआ) नहीं, फिर इसकी कोई जरूरत नहीं। जैसा भी उन्हें रुचे आज वही ठीक है। (कहकर कुछ सोच में पड़ जाता है फिर जैसे संज्ञा में लौटते हुए) अच्छा तो मैं फिर न आ सकूँगा। देखना देवी के कक्ष में कोई कमी या असुविधा शेष न रहे।

(कौशेय के जाते ही निपुणा रुचिरा की ओर कुछ घबराई हुई सी आती है)

निपुणा : मैंने कौशेय को पहली बार इतना चिंतित देखा है। क्या सचमुच वल्लभी से जुड़ी घटना इतनी अस्वाभाविक थी?

रुचिरा : तुम देवी गंगा को नहीं जानती निपुणा। उनके लिए कोई घटना स्वाभाविक और साधारण नहीं होती, विशेषकर तब जब वह अन्य सभी के लिए स्वाभाविक व साधारण हो।

निपुणा : किन्तु महाराज ने तो इस घटना पर कुछ भी प्रतिक्रिया नहीं की। बल्कि मुझे तो संदेह है कि इतनी साधारण घटना किसी ने उन्हें बताई भी होगी और यदि बताई भी होगी तो उससे उन्हें कोई अंतर पड़ा भी होगा।

रुचिरा : महाराज को तो आजकल देवी गंगा की किसी बात से अधिक अंतर नहीं पड़ता। वे देवी के जीवन में जितना कम संभव हो सके उतना ही हस्तक्षेप करते हैं। बल्कि मैंने उन्हें इस कक्ष में भी यदा-कदा ही आते देखा है। देवी के रुग्ण होने या फिर कोई अत्यंत विशेष अवसर होने पर ही वे इधर आते हैं।

निपुणा : लेकिन मैंने सुना है कि वे जब इधर आते हैं तो कई-कई दिन इधर से जाते भी नहीं?

रुचिरा : हाँ, ये भी है। एक बार मैंने उन्हें देवी से यह कहते सुना था कि बिना मानसिक व भावनात्मक तैयारी के तुम्हारे सामने आना ऐसा ही लगता है जैसे बिना शस्त्र के रणभूमि में चले जाना।

निपुणा : रुचिरा, कहीं ऐसा तो नहीं कि महाराज देवी गंगा के अलंकार विहीन कक्ष में कोई आकर्षण ही न महसूस करते हों?

रुचिरा : (लंबी साँस लेकर) देवी का तो कक्ष ही नहीं, व्यक्तित्व भी वनवासियों सा सहज, कोमल व प्राकृतिक है। उन्हें बनावट, आडंबर और अलंकार से बड़ा विद्वेष-सा है। मैंने उन्हें आज तक किसी के आकर्षण की चिंता करते नहीं देखा।

निपुणा : मुझे तो आरंभ से ही महारानी को देखने की बड़ी उत्सुकता है, न जाने...

रुचिरा : सावधान निपुणा, देवी के सामने महारानी शब्द कभी प्रयोग न करना। (हँसती है) उन्हें इस शब्द से बड़ी घृणा है।

निपुणा : आश्चर्य! महारानी शब्द से घृणा? (जाकर दीपक की जगह बदलने का प्रयास करती है) कहाँ रखूँ इसे? यहाँ... यहाँ... या यहाँ?

(सहसा मंच पर भोजपत्रों का ढेर लिए सुनंदन का प्रवेश। कक्ष के बीचों बीच जाकर खड़ा हो जाता है। थोड़ा अशांत-सा दिखता हुआ)

रुचिरा : अरे सुनंदन! इतनी पांडुलिपियाँ? (जाकर उसके हाथों से लिपियाँ लेती हुई नीचे रखने लगती है)

सुनंदन : हाँ, देवी गंगा बस अभी अभी पहुँची हैं। उनके आदेश से मैं सीधा उनके कक्ष में चला आया।

रुचिरा : अच्छा किया। अब चिंता मत करो। हम इसे सहेजकर रह देंगी। (सुनंदन जाता है)

(देवी गंगा का प्रवेश)

रुचिरा : (आगे बढ़कर) प्रणाम देवी!

गंगा : रुचिरा, तुमने तो मेरा कक्ष बहुत संभालकर रखा है। प्रत्येक वस्तु यथावत् है। (चारों ओर देखती है, किन्तु जरा ओट में खड़ी निपुणा पर उसकी दृष्टि नहीं पड़ती।)

रुचिरा : देवी, शीघ्र ही संध्या का समय होने वाला है। आपके स्नान का प्रबंध कर दिया गया है।

गंगा : हाँ, तनिक साँस तो ले लूँ। एक तो यात्रा की यह लंबी थकान, ऊपर से द्वार पर यह लंबा स्वागत! आखिर मनुष्य सुख से अपने भवन में भी नहीं जा सकता। (कहते कहते पीछे मुड़ कर देखती है तो ओट में खड़ी निपुणा

पर दृष्टि पड़ती है) तुम कौन हो और मेरे कक्ष में क्या कर रही हो?

निपुणा : प्रणाम देवी! मैं निपुणा, आपकी सेविका।

गंगा : सेविका? लेकिन रुचिरा मैंने तो कभी अतिरिक्त सेविका के लिए कहा ही नहीं। वल्लभी कहाँ है? दिखाई नहीं दे रही?

रुचिरा : (सर झुकाये हुए) देवी! विषयपति कौशेय ने वल्लभी के स्थान पर अब निपुणा को आपकी सेवा में नियुक्त कर दिया है।

गंगा : क्यों? क्या वल्लभी का मन यहाँ नहीं लगता था। अच्छा, उसे बुलाओ। मेरे पास उसके शिशु के लिए एक उपहार है।

रुचिरा : क्षमा देवी! शिशु नहीं रहा।

गंगा : (हतप्रभ होकर) नहीं रहा? ओह... वल्लभी कहाँ है?

रुचिरा : (भयभीत होकर) क्षमा देवी! वल्लभी भी नहीं है।

गंगा : (सशंकित-सी आश्चर्य से कुछ पल देखती हुई) वल्लभी भी नहीं है? अर्थात्?

रुचिरा : (सर झुकाते हुए) उसने आत्महत्या कर ली देवी।

गंगा : (कुछ पल अवाक-सी खड़ी रह जाती है, फिर जैसे मौन तोड़ते हुए) कोई जाओ और सुनंदन को बुलाकर लाओ, इसी समय अविलंब।

निपुणा : जी अच्छा! (त्वरित गति से जाती है)

(कुछ पल मंच पर पूरा सन्नाटा रहता है। फिर निपुणा का द्वार से प्रवेश। पीछे-पीछे सुनंदन का प्रवेश।)

सुनंदन : (दुःख व भय मिश्रित भाव से) प्रणाम देवी !

गंगा : सुनंदन तुम्हें लज्जा नहीं आती? (सुनंदन जैसे शर्म से वैसे ही सर गड़ाए खड़ा रहता है। गंगा पुनः ऊँचे स्वर में पूछती है) अब कुछ कहते क्यों नहीं?

सुनंदन : क्षमा देवी! मैं निरपराध हूँ।

गंगा : फिर अपराध किसका है? वल्लभी का? कि उसने तुम्हारे प्रेम को स्वीकार किया?

सुनंदन : देवी! मैं वल्लभी से विवाह करना चाहता था, किन्तु...

गंगा : किन्तु क्या?

सुनंदन : किन्तु दासी से विवाह करने की राज्य में कोई व्यवस्था नहीं है।

गंगा : (कुछ पल मौन रहकर) तो क्या साथ रहने की भी व्यवस्था नहीं है?

सुनंदन : अधिकार नहीं है देवी। (कुछ पल मौन... फिर जैसे कुछ याद करते हुए उसका गला भर आता है) वल्लभी से उत्पन्न संतान की मेरे सामने ही हत्या कर दी गयी और मैं... मैं कुछ न कर सका। संतान की पीड़ा से दुःखी वल्लभी को अश्व सेनानायक की सेवा में नियुक्त कर दिया गया।

गंगा : (आश्चर्य से) पुनः?

सुनंदन : वल्लभी ने एक दिन के बाद ही अपना जीवन समाप्त कर लिया। (कहकर रोने लगता है)

गंगा : (कुछ पल दुःख और चिंता में डूबी रहकर) तुम जाओ सुनंदन! मुझे तुम्हारे लिए दुःख है।

(सुनंदन चला जाता है। गंगा सोचते हुए टहलती रहती है और फिर बेहद चिंतित अवस्था में पर्यंक पर बैठ जाती है। फिर सहसा तनिक क्षोभ से)

विषयपति को बुलवा लाओ। निपुणा जाती है। कुछ क्षण उपरांत निपुणा के साथ विषयपति कौशेय का प्रवेश।)

कौशेय : देवी गंगा को कौशेय का प्रणाम ।

गंगा : ये मैं क्या सुन रही हूँ कौशेय? वल्लभी को मेरी सेवा से हटाने का निर्णय?

कौशेय : क्षमा देवी! दासियों का स्थानांतरण स्थान और समय के साथ करते रहना पड़ता है। यदि इससे आपको कष्ट पहुँचा है, तो मैं क्षमा प्रार्थी हूँ।

गंगा : आप मेरे कष्ट की चिंता न करें। आप मुझे कारण बताएँ।

कौशेय : आपकी अनुपस्थिति में शिशु जन्म होने के उपरांत वल्लभी के कारण राजमहल की शांति में गतिरोध उत्पन्न हो रहा था। फिर वल्लभी अपने शिशु को अपने साथ ही रखना चाहती थी, जो कि राजनियमों के अनुसार निषिद्ध है।

गंगा : लेकिन मुझे ज्ञात हुआ है कि उसके शिशु की हत्या कर दी गई थी!

कौशेय : मैं क्षमा चाहता हूँ देवी। दासियों को संतान का पूर्ण अधिकार नहीं है।

गंगा : पूर्ण अधिकार नहीं है? अर्थात्?

कौशेय : अर्थात् उनको संतान का अधिकार तभी है जब कोई पुरुष उसकी संतान के पिता होने का पूर्ण दायित्व स्वीकार करे।

गंगा : किन्तु सुनंदन ने तो उसका पिता होने की घोषणा संभवतः की थी!

कौशेय : क्षमा देवी! किन्तु राज नियम ये भी है कि यदि कोई राज पुरुष इसका खंडन करे या इसमें आपत्ति करे तो दासी अपनी संतान के अधिकार से वंचित रह जाती है।

गंगा : क्या मैं यह जान सकती हूँ कि यह आपत्ति किस राजपुरुष ने प्रस्तुत की?

कौशेय : अश्व सेनानायक तुंगभद्र ने देवी।

गंगा : तो तुंगभद्र को इसका दंड भुगतना होगा।

कौशेय : मैं क्षमा चाहता हूँ देवी, लेकिन ऐसा संभव नहीं है।

गंगा : क्यों संभव नहीं है?

कौशेय : क्योंकि दासियों से जुड़े प्रश्न राज न्यायाधिकरण में प्रस्तुत किए जाने की कोई व्यवस्था नहीं है। नियमतः वे न्याधिकारण जा ही नहीं सकतीं।

गंगा : तो मैं स्वयं जाऊँगी।

कौशेय : क्षमा देवी! लेकिन उनसे जुड़ा कोई भी न्याय प्रश्न अन्य व्यक्ति भी न्यायाधिकरण में उपस्थित नहीं कर सकता।

गंगा : (घृणा से) तुम जा सकते हो विषयपति। तुम मनुष्य नहीं हो। मैं तुंगभद्र से स्वयं प्रश्न करूँगी।

कौशेय : मुझे क्षमा करें देवी! मैंने जो कुछ किया है, राज नियमों की सीमा में ही रहकर किया है। यदि आप अश्व सेनानायक से अभी मिलना चाहें, तो वे अभी इसी समय उपस्थित हो सकते हैं क्योंकि आपके स्वागत उत्सव के बाद से वे मेरे ही साथ हैं।

गंगा : अवश्य! मुझे कोई आश्चर्य नहीं कि वे आपके साथ रहे होंगे। उनसे कहिए तत्काल आने का कष्ट करें।

(कौशेय चला जाता है। गंगा स्तंभिका पर रखी पांडुलिपियाँ अनमने भाव से उठाती है और पृष्ठ पलटने लगती है) रुचिरा! ये पांडुलिपियाँ तो नई

लगती हैं!

रुचिरा : जी देवी! राज्य के दो नए युवा कवि आए थे। वे ही दे गए हैं।

(अश्व सेनानायक तुंगभद्र का प्रवेश)

तुंगभद्र : देवी गंगा को अश्व सेनानायक तुंगभद्र का प्रणाम।

गंगा : आओ तुंगभद्र! स्वागत है।

तुंगभद्र : मुझे याद किए जाने का प्रयोजन?

गंगा : कौशेय ने मेरे यहाँ एक नई दासी निपुणा को नियुक्त किया है, जो सुंदरता में वल्लभी के ही समान है। मैंने सोचा संभवतः तुम्हारी रुचि हो!

तुंगभद्र : (कुछ क्षण अवाक्-सा खड़ा रहता है) क्षमा देवी! मैं निरपराध हूँ।

गंगा : बड़े विचित्र हो। स्वयं को निरपराध भी कहते हो और क्षमा भी माँगते हो?

तुंगभद्र : मैंने कोई अनुचित कार्य नहीं किया देवी।

गंगा : तो क्या तुमने एक स्त्री को साधन के रूप में प्रयोग नहीं किया?

तुंगभद्र : वल्लभी तो मेरी दासी थी देवी। राज्य ने स्वयं ये अधिकार दिया है। राजपुरुषों को ही नहीं, यहाँ तक कि साधारण नागरिकों को भी। राजपुरुषों का दासियों की कोख में अपनी संतान छोड़ना राज्य की संप्रभुता व सुरक्षा के लिए उचित नहीं है इसलिए मेरे पास कोई मार्ग नहीं था क्योंकि वह पूर्व में मेरी भी दासी रह चुकी थी। और यदि मेरा यह सब करना अपराध था तो राज्य में प्रतिदिन ऐसी अनेक घटनाएँ घटती हैं, जिन पर सभ्य समाज ने आज तक कभी कोई आपत्ति नहीं प्रस्तुत की। किन्तु मैं अब भी आपके रुष्ट होने का कारण समझ पाने में असमर्थ हूँ।

गंगा : (तनिक क्रोध से) तुमने वल्लभी का अंत कर दिया! नहीं?

तुंगभद्र : तो मैं क्षति-पूर्ति के लिए तैयार हूँ देवी। यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं वल्लभी से अधिक योग्य, सुंदर व निपुण दशाधिक दासियाँ आपकी सेवा में कल ही प्रस्तुत कर दूँगा।

गंगा : (अत्यंत क्रोध से) दूर हो जा मूर्ख। अन्यथा मैं तुम्हारा वध कर दूँगी।

तुंगभद्र विस्मित होता हुआ शीघ्रता से कक्ष से बाहर निकल जाता है। गंगा उसी तरह क्रोधित व अपमानित मुद्रा में खड़ी रहती है। कुछ ही क्षणों में शांतनु का प्रवेश।

रुचिरा : (शांतनु को देखकर सजग हो उठती है और कक्ष से बाहर जाने को प्रस्तुत होती है) महाराज की जय हो।

(गंगा शांतनु को देख संयत होने का प्रयास करती है)

शांतनु : (समीप जाकर) देवी! इतने क्रोध का कोई कारण? क्षमा चाहता हूँ, व्यस्त होने के कारण आने में विलंब हुआ।

गंगा : आपके राज्य में राज-नियमों की इतनी पराकाष्ठा देखकर मुझे आश्चर्य होता है।

शांतनु : (तनिक गंभीरता से) मैं जानता हूँ कि दासी वल्लभी के प्रकरण से आपको कष्ट पहुँचा है, किन्तु एक दासी के लिए राज-नियमों में परिवर्तन नहीं किए जा सकते। और फिर इतनी सी बात के लिए कुलीन वर्गों को असंतुष्ट करना भी कोई समझदारी की बात नहीं।

गंगा : (आश्चर्य से) तो क्या आप इस प्रकरण से परिचित थे?

शांतनु : राजा को अपने अधीन समस्त प्रकरणों से परिचित रहना ही पड़ता है। और फिर मैं आपके राजमहल की देखरेख और सुरक्षा के बारे में स्वयं विषयपति को बुलाकर संवाद कर लिया करता था।

(गंगा आश्चर्य से कुछ पल शांतनु के शांत मुख की ओर देखती रहती है)

शांतनु : (जिज्ञासा से अपने चेहरे पर हाथ फेरते हुए) क्या देख रही हो? मेरा चेहरा तो ठीक है न?

गंगा : नहीं, बस देख रही हूँ कि प्रायः पुरुषों के चेहरे में कुछ एकरूपता सी होती है।

शांतनु : (मुस्कुराते हुए) हाँ, वे स्त्रियों के चेहरे से कुछ भिन्न होते हैं। (कहते हुए गंगा को अपने आलिंगन में लेता है)

गंगा शांतनु को अब भी अपलक देखती रहती है। मंच पर अंधकार फैलता जाता है।

(दृश्य–दो)

(राजभवन में शांतनु का प्रकोष्ठ। बैठने का एकमात्र आसन रोगशैया वाले पर्यंक के समीप ही लगा हुआ है। शीतकाल का समय। शांतनु रुग्ण अवस्था में पर्यंक पर लेटा हुआ है। एक परिचारिका पर्यंक के समीप ही खड़ी हुई है। पास ही एक धातु स्तंभिका पर कुछ औषधियाँ व पात्र रखे हुए हैं। मंच पर पूरा अंधकार। अचानक छः या सात शिशुओं के क्रंदन की आवाज, जो धीमे-धीमे स्वर में शुरू होती है और फिर कुछ क्षणों उपरांत तेज होती चली जाती है। पृष्ठभूमि में धीरे-धीरे जल के बहने की आवाज आती है। क्रमशः एक एक शिशु को जल में गिराने की आवाज आती है। अंतिम सातवें शिशु के गिरने के साथ ही क्रंदन का पूरी तरह लोप व पानी के साथ बुलबुले उठने की आवाजें।)

शांतनु : (घबराकर बड़ी बेचैनी के साथ बदहवास-सा जाग उठता है और चीखने लगता है। मंच पर धीरे-धीरे प्रकाश बढ़ता जाता है) हाय! मेरे पुत्र...मेरे सात-सात पुत्र। रोको...रोको, कोई इस पापिनी को रोको। इस हत्यारिन को रोको। है?? क्या कोई नहीं। कोई बुलाओ उस अकर्मण्य सेनापति को। नदी का पूरा तीर सैनिकों से घेर दिया जाये। कोई... कोई स्त्री उधर न जाने पावे।

(परिचारिकाएँ दौड़ लगाना शुरू करती हैं। अग्निवर्ण को पुकारती हैं। प्रकोष्ठ में भागते हुए अग्निवर्ण का प्रवेश, जैसे नींद से जागकर आया हो—अस्त व्यस्त, बेहद चिंतित और सशंकित सा। साथ में दूसरी ओर से राजवैद्य का प्रवेश। कुछ सैनिकों के साथ सेनापति का भी प्रवेश)

अग्निवर्ण : (पर्यंक पर बगल में बैठते हुए शांतनु को झकझोरता है) मित्र शांतनु! स्थिर हो, स्थिर हो!

शांतनु : (शांत होकर थोड़ा कातर भाव से अग्निवर्ण को देखता है और प्रलाप करता है) ओह! तुमने मुझे समझाया था कि शिला पर कृषि का प्रयास नहीं किया जाता। किन्तु मैं मूर्ख उसपर जमी हरी काई को देख उसे अपने प्रेम की उर्वर भूमि समझ बैठा। (कुछ क्षण शांत रहकर अग्निवर्ण को जोर से झकझोरता

है।) अग्निवर्ण! अग्निवर्ण! सत्य कहो। क्या कभी तुमने ऐसी स्त्री के बारे में स्वप्न में भी सुना है कि वह...वह अपनी कोख से जन्मे सात-सात पुत्रों की सरिता के जल में डुबोकर हत्या कर दे। बताओ अग्निवर्ण बताओ! कुछ तो कहो। (अग्निवर्ण निरुत्तर बैठा जैसे उसे समझने की कोशिश कर रहा है। शांतनु कोई उत्तर न पाकर एक वितृष्णा भरी हँसी हँसता है) हाँ, तुम क्या कहोगे... जानते हो, शिशुओं की खोज में लगे मल्लाह नायक ने क्या कहा? मल्लाह नायक ने कहा कि मेरे नन्हें अबोध राजकुमारों को संभवतः सरिता के मत्स्य और घड़ियाल नोच नोचकर खा गए। सुन रहे हो तुम? उसने कहा कि मेरे सातों शिशुओं को जलचर खा गए।

राजवैद्य : (काँपते हाथों से औषधि पात्र बढ़ाता है) क्षमा महाराज! लेकिन इस समय आपका ये औषधि लेना नितांत आवश्यक है।

शांतनु : (राजवैद्य के हाथ से पात्र धकेल कर गिरा देता है।) औषधि! मुझे औषधि की नितांत आवश्यकता है? मुझे? राजवैद्य उस अभागिनी पापिनी के लिए कोई औषधि क्यों नहीं तैयार करते। अरे उसके मन मस्तिष्क के लिए वन में जाकर कोई औषधि क्यों नहीं ढूँढते, जिसने मेरे राजवंश के अतुल्य प्रकाश से जगमगाते हुए सात-सात दीपक अपनी एक फूँक से बुझा दिये। (राजवैद्य संकोचपूर्वक सर झुकाये खड़ा रहता है) अच्छा! जान गया। तुम्हारे पास उसके लिए कोई औषधि नहीं है। (आवेश से काँपता हुआ खड़ा हो जाता है और राजवैद्य के कंधे पकड़कर जोर से हिलाता है) अच्छा! औषधि नहीं, विष तो होगा! विष तो होगा राजवैद्य? तुम... तुम उसे विष ही क्यों नहीं दे देते किसी आसव में मिलाकर?

राजवैद्य : (अवाक् होकर) महाराज!

अग्निवर्ण : (शांतनु को पर्यंक पर जबर्दस्ती बैठाकर) महाराज! स्वयं को संभालिए। राजवैद्य निर्दोष हैं। उनपर क्रोध प्रकट करना उचित नहीं। राजवैद्य आप जाएँ, मैं आपको बुला लूँगा।

राजवैद्य : जी अच्छा। (जाता है)

शांतनु : (सेनापति व सैनिकों को देखकर) तुम... तुम लोग कौन हो? तुम भी वैद्य हो?

सेनापति : (संकोच से) मैं आपका सेनापति महाराज।

शांतनु : (वितृष्णा से) हाँ तुम तो सेनापति हो ... लेकिन तुमसे तो मैंने सरिता की पहरेदारी के लिए कहा था? तुम यहाँ क्या कर रहे हो?

सेनापति : (सशंकित-सा) मैं...मैं आपकी सुरक्षा में महाराज।

शांतनु : (अग्निवर्ण को देखता हुआ) मेरी सुरक्षा में! सुनते हो अग्निवर्ण! यह कहता है कि मेरी सुरक्षा करेगा। इससे पूछो कि क्या यह मेरे जीवन को देवी गंगा की स्वेच्छाचारिता के विष से बचा सकता है?

(अग्निवर्ण सेनापति को जाने का संकेत करता है। सेनापति अपने सैनिकों के साथ सर झुकाये हुए प्रस्थान कर जाता है।)

शांतनु : (उनको पीछे मुड़कर जाता देख आश्चर्य से) हाँ? चले गए? अर्थात् ये भी मेरी सुरक्षा नहीं कर सकते। क्या तुम... तुम अग्निवर्ण? क्या तुम मेरी सुरक्षा

कर सकते हो? (अग्निवर्ण सर झुका लेता है) तुम भी नहीं? ओह कोई भी नहीं? आज शांतनु की रक्षा के लिए कोई भी समर्थ नहीं? (क्रोध से काँपकर लड़खड़ाता हुआ खड़ा होकर खड्ग निकालता है और उसे विस्मय से देखता है।) तो... तो आज मैं अपनी रक्षा स्वयं करूँगा। मैं आज स्वयं उस नागिन की हत्या करूँगा। (आवेश और उत्तेजना से द्वार की ओर बढ़ता है किन्तु अग्निवर्ण द्वार पर ही रोक लेता है)

अग्निवर्ण : (हाथ से खड्ग छीन लेता है) ये क्या कर रहे हो मित्र? क्या आज भरतवंश की सारी मर्यादा मिट्टी में मिला दोगे? (द्वार से पर्यंक पर खींच लाता है)

शांतनु : (विस्मृत-सा) ओह!...हाँ...मर्यादा... भरतवंश की मर्यादा... संभवतः देवी गंगा के हाथों की क्रीड़ाओं से अभी मर्यादाओं का कुछ कोश बचा रह गया हो... संभवतः बचा ही हो...(शांतनु की दृष्टि किसी शून्य में खो जाती है। अग्निवर्ण भी दर्शकों को फैले हुए नेत्रों से देखते हुए शून्य में खो जाता है।)

तीसरा अंक

(दृश्य–एक)

(राज्य न्यायाधिकरण कक्ष। पीठासीन न्यायाधिकारी का मुख्य आसन पीछे की दीवार के साथ मध्य स्थान में। मुख्य आसन से बाईं ओर अर्धचंद्राकार स्थिति में चार आसन जबकि दाईं ओर सेनापति का आसन। पीछे पीठासीन न्यायाधिकारी के मुख्य आसन के दाईं ओर पाँच सशस्त्र सैनिक सावधान मुद्रा में सतर्क खड़े हुए। दाईं ओर के मंच प्रवेश द्वार पर दो अन्य सशस्त्र सैनिक सावधान मुद्रा में। मुख्य आसन पर प्रधान वृद्ध अमात्य इन्द्र्सूत्र तथा दाईं ओर क्रमशः राजा शांतनु, अग्निवर्ण, सूत्रधार व्यास व प्रधान पुरोहित भार्गव। बाईं ओर के एकमात्र आसन पर सेनापति एवं सादे व श्वेत वस्त्रों में लिपटी शांत व दृढ़ गंगा खडी हुई। अँधेरे मंच पर प्रकाश धीरे-धीरे बढ़ता है।

इंद्रसूत्र : (चारों ओर गंभीर दृष्टि से देखकर) तो मैं हस्तिनापुर का महा अमात्य इन्द्र्सूत्र सम्राट शांतनु के आदेश से आज के अभियोग के लिए धर्मदंड की समस्त शक्ति स्वयं के अधीन करते हुए यह उद्घोषणा करता हूँ कि यहाँ उपस्थित प्रत्येक व्यक्ति मेरी दृष्टि में सर्वथा समान होगा तथा इस न्यायाधिकरण की पीठ से संपन्न आदेश अपनी पूरी शक्ति व क्षमता से बाध्यकारी होगा। प्रधान पुरोहित भार्गव सम्राट की ओर से देवी गंगा पर अभियोग का वर्णन करें।

भार्गव : यद्यपि मुझे देवी गंगा के कृत्यों का वर्णन करते हुए भी दुःख और विस्मय होता है, तथापि मैं महाराज और हस्तिनापुर की ओर से चिंतित होने के कारण ऐसा अवश्य करूँगा। देवी गंगा ने आज से एक सप्ताह पूर्व एक साथ सात पुत्रों को जन्म दिया था और फिर अज्ञात कारणों से सरिता के जल में डुबोकर उनकी क्रूर व निर्मम हत्या कर दी। देवी गंगा के इस कुकृत्य से हस्तिनापुर अपने उत्तराधिकारियों से वंचित हो गया। इस भाँति देवी गंगा ने राजपुत्रों की हत्या व राजद्रोह का अपराध किया है, जिसके लिए न्यायाधिकरण

द्वारा उनके प्रति कठोरतम दंड की व्यवस्था की जानी चाहिए। (बैठता है।)

इंद्रसूत्र : (महा अमात्य गंगा की ओर गंभीरता से देखता हुआ) देवी गंगा को इस अभियोग के प्रत्युत्तर में क्या कहना है?

गंगा : (आत्मविश्वास व स्पष्टता से) मात्र इतना ही कि मैंने राजपुत्रों की हत्या नहीं की और न ही कोई राजद्रोह किया है।

इंद्रसूत्र : (गंभीरता से) देवी आप न्यायाधिकरण के समक्ष कुछ कहने से पहले विचार कर लें, क्योंकि साक्ष्य न्यायाधिकरण में पूर्व उपस्थित हैं।

गंगा : गंगा ने अपने जीवन में अविचार और अन्याय को कभी कोई स्थान नहीं दिया।

अग्निवर्ण : तब फिर मुझे संदेह है कि उन्हें अविचार और अन्याय की परिभाषा मालूम है? मुझे यह जानने की उत्सुकता है कि शिशुओं को गहरे पानी में बहा देने को क्या वे हत्या नहीं समझतीं?

गंगा : मुझे ये जानकर संतोष हो रहा है कि इस न्यायाधिकरण में विराजमान समस्त गणों को हत्या व अन्याय की परिभाषा भली भाँति ज्ञात है, अन्यथा मुझे तो प्रतीत होने लगा था कि हस्तिनापुर में जीवन और मृत्यु में कोई अंतर ही नहीं है।

इंद्रसूत्र : आपकी बातें अस्पष्ट हैं।

गंगा : बातें इसलिए स्पष्ट नहीं है क्योंकि सत्ता की ज्ञानेंद्रियाँ बहुत सीमित होती हैं और उसे सिर्फ अपने ही कष्टों का पता चलता है। आज अपने तथाकथित राजपुत्रों को खोकर राजपक्ष के कष्टों की कोई सीमा नहीं है, लेकिन उसे उन स्त्रियों की पीड़ा का कभी भान नहीं होता जिन्हें आमोद-प्रमोद की वस्तु से अधिक कुछ भी नहीं समझा जाता। जिन्हें दासियों के रूप में जंतुओं से भी अधिक कष्टप्रद दुर्व्यवहार सहना पड़ता है। जिनके दाम्पत्य और मातृत्व का अधिकार उनसे उनकी इच्छा के विरुद्ध छीन लिया गया है। उनके कितने ही शिशु सरिता की गोद में बरसों बरस जलचरों की भूख मिटाते आए हैं ताकि राजपुरुषों की संप्रभुता बनी रहे। मैं न्यायाधिकरण से पूछती हूँ कि वे सहस्रों हत्याएँ अब तक विचार का प्रश्न क्यों नहीं बनीं? आर्य शांतनु, आर्य अग्निवर्ण, सेनापति और स्वयं आपके न जाने कितने अवांछित पुत्र पुत्रियाँ सरिता की गोद में भेंट चढ़ा दिए गए होंगे। मैं पूछती हूँ उन पुत्र-पुत्रियों का शोक और दुःख क्या इसी से नहीं होता कि उन्होंने देवी गंगा की कोख से जन्म न लेकर असहाय और अधिकारहीन दासियों, नर्तकियों या वेश्याओं की कोख से जन्म लिया?

शांतनु : (क्रोध से खड़े होकर) मैंने सच ही तुम्हारी प्रशंसा सुनी थी, देवी गंगा। जिसने तुम्हारी स्वेच्छारिता और स्वतंत्र आचरण के अपवाद सुनकर भी तुम्हारे शुष्क व्यक्तित्व पर अपने प्रेम और अपनत्व का वितान छाना चाहा, जो तुम्हारे दर्प और अभिमान के सामने सदा से मस्तक झुकाता आया आज तुम उसी मस्तक को कीच से नहलाकर उसका सारा आत्मसम्मान नष्ट कर देना चाहती हो? यह क्यों नहीं कहती कि ये सारा कर्मकांड तुमने अपने समक्ष इस शांतनु को तुच्छ और नीचा दिखाने भर के लिए किया है?

गंगा : मैंने आपको पहले ही स्पष्ट किया था कि मुझे अपने जीवन में पाकर आपको कष्ट का ही अनुभव होगा लेकिन उस समय शायद आपको मेरे शरीर के अतिरिक्त कुछ भी दिखाई नहीं दे रहा था। मैं भी प्रेम के भुलावेपन में आकर सोचने लगी कि जो व्यक्ति मेरे प्रेम के समक्ष सबकुछ ठुकराने को तैयार है संभवतः क्या पता वही मेरा एकमात्र मित्र बन सके, मेरी चेतना को जान सके, मेरे मस्तिष्क में काष्ठ की तरह जलती रहनेवाली ज्वाला को अपने कोमल स्पर्श से शांत कर सके। लेकिन आज देखती हूँ तो मेरे सामने सिर्फ एक पुरुष खड़ा है जिसके मस्तक पर आर्यावर्त के सम्राट का मुकुट शोभायमान है। देखती हूँ उसके मन-मस्तिष्क में मेरी चेतना के द्वंद्व के लिए कोई स्थान नहीं है, जो भी स्थान है वह देवी गंगा के इस शरीर का है और मैं स्वयं वह शैया हूँ जो इसे महाराज को उपलब्ध कराकर उनके लिए प्रामाणिक राजपुत्रों या उत्तराधिकारियों को जन्म देने का साधन भर बन सकती है। इस तरह देखती हूँ कि स्वयं मेरी स्थिति राज्य की दासियों एवं राजनर्तकियों से कहीं अधिक अच्छी नहीं है।

भार्गव : मैं क्षमा चाहता हूँ लेकिन देवी गंगा और दासियों-राजनर्तकियों की स्थिति में धर्म की दृष्टि से अधिकारों और कर्तव्यों का अंतर है। देवी गंगा के अधिकार कहीं अधिक हैं, इसी से उनके कर्तव्य भी अधिक हैं। इसलिए देवी गंगा अपनी तुलना दासियों व नर्तकियों से करते हुए अपने कर्तव्यों के प्रश्न से बिलकुल नहीं बच सकतीं। धर्म की दृष्टि से उन्होंने महाराज शांतनु के पुत्रों के रूप में राजपुत्रों की हत्या की है इसलिए वे इस पाप के दायित्व से कदापि नहीं बच सकतीं।

गंगा : तो मैं आपसे पूछती हूँ कि ये किस तरह महाराज शांतनु के पुत्र थे?

भार्गव : जिस पुरुष के माध्यम से स्त्री संतान को जन्म दे, वह उसका पिता है और इसी से उस पुरुष का पिता के रूप में अधिकार सिद्ध होता है।

गंगा : लेकिन महाराज के समागम से तो अब तक न जाने कितनी ही संतानों का जन्म हुआ होगा। महाराज उन्हीं स्त्रियों से जाकर अपने राजपुत्र क्यों नहीं माँग लेते? वे भी तो उनकी ही संतानें रही होंगी।

भार्गव : लेकिन वे हस्तिनापुर की रानियाँ नहीं रहीं। एक रानी से उत्पन्न पुत्र ही राजपुत्र व उत्तराधिकारी माना जाता है। और हस्तिनापुर में ये अधिकार सिर्फ आपके पास रहा।

गंगा : लेकिन मैंने तो महाराज से रानी होने का अधिकार कभी लिया ही नहीं।

भार्गव : किंतु उन्होंने तो आपको वे सभी अधिकार दिए।

गंगा : बिना मुझसे पूछे? फिर तो वे बिना पूछे किसी नर्तकी या दासी को ही ये अधिकार देकर अपने राजपुत्र क्यों नहीं पा लेते?

भार्गव : इसलिए क्योंकि महाराज ने उनसे विवाह नहीं किया है।

गंगा : तब विवाह तो मैंने भी नहीं किया है। मुझे यह तो समझ आता है कि एक वर्ष पूर्व मैंने इन्हें एक प्रेमी के रूप में वरण किया था, किंतु यह स्मरण नहीं आता कि एक पति के रूप में भी वरण किया हो। मैंने सदा उनकी प्रेमिका बनकर रहना चाहा, पत्नी बनकर नहीं।

इंद्रसूत्र : (आश्चर्य से) देवी गंगा! वाद-विवाद की इस धारा में बहते हुए क्या आपको तनिक भी सुध है कि आप कह क्या रही हैं! तो क्या आप कह रहीं हैं कि महाराज शांतनु आपके पति नहीं हैं?

गंगा : देवी गंगा की दृष्टि में महाराज शांतनु मित्र भले रहे हों, लेकिन पति कभी नहीं रहे। किंतु! आज मैं देख रही हूँ कि वह मित्र भी नहीं रहा जिसने एक दिन मेरा हाथ पकड़कर मुझे अपने समान सभी अधिकार व मित्रवत् व्यवहार का वचन दिया था। जिसने मुझे वचन दिया था कि वह मेरे विचारों का सम्मान करेगा। जो मेरे जीवन में अनाधिकार हस्तक्षेप न करते हुए मेरी निजता का सम्मान करेगा। जो एक 'पति' के रूप में बदलते हुए मुझसे प्रश्न नहीं पूछेगा।

इंद्रसूत्र : देवी गंगा! यहाँ हम आपके और महाराज के अधिकारों की चर्चा करने के लिए एकत्रित नहीं हुए। वह आपके निजी जीवन और विचारों का क्षेत्र है। न्यायाधिकरण सात शिशुओं की हत्या के बारे में आपका स्पष्टीकरण जानने को उत्सुक है।

गंगा : तो मैं आपके न्यायाधिकरण की न्यायिक भाषा में ही स्पष्ट करती हूँ कि महाराज शांतनु की मात्र प्रेमिका होने से ही ये स्पष्ट है कि न तो मैं महारानी हूँ और न ही मेरी कोख से जन्मी संतानें राजपुत्र थे। न ही मैंने महाराज को राजपुत्र देने का कोई वचन दिया था। रही बात शिशुओं की हत्या की तो राजभवनों में अनिच्छित जन्में शिशुओं की हत्या कोई नया विषय नहीं है। प्रतिमाह अनगिनत शिशु भय और आशंकाओं से नदियों की भेंट चढ़ा दिए जाते हैं जिस पर मेरे तमाम आग्रहों के बाद भी न्यायाधिकरण में आज तक कोई विचार तक नहीं उपस्थित हो सका। इसलिए उन्हीं के समान मेरा कृत्य भी अपराध की श्रेणी में नहीं आता। एक माँ के रूप में मुझे अपने शिशुओं के जीवन और भविष्य का निर्णय लेने का अधिकार है तथा ये मेरा स्वयं का निर्णय था कि अत्याचार, असमानता, घृणा, विद्वेष और अन्याय की इस धरती से वे मुक्त ही रहें। मैं चाहती हूँ कि मेरी संताने ऐसी उन्मुक्त धरती पर श्वास लें जहाँ मनुष्य दास और स्वामी, निर्बल व सशक्त, ब्राह्मण व शूद्र तथा स्त्री व पुरुष जैसे भयानक वर्गों में न बँटा हो। जहाँ स्त्री व पुरुष के संबंध काम, वासना, शरीर और अनधिकार असमानता के धरातल पर तय न होकर प्रेम और समानता के धरातल पर तय होते हों। जहाँ स्त्रियों को रंगशालाओं और कोमल निरीह पशुओं को राजउद्यानों में बंदी बनाकर रखने और भोगने की वस्तु न समझा जाता हो। जहाँ साम्राज्य विस्तार की युद्ध लिप्साएँ जीभ लपलपाती न फिरती हों। जहाँ धर्म की दुर्गंध न फैली हो और अश्वमेध व राजसूय यज्ञों में सहश्रों सहस्र पशु व नरबलियाँ न चढ़ाई जाती हों। जहाँ मेरी संतान की स्थित मनुष्य की हो, राजपुत्र या राजपुत्री की नहीं। मैं नहीं चाहती कि उनके शरीर से राज्य की दुर्गंध आए। मैं चाहती हूँ उनका मन, मस्तिष्क और शरीर मात्र मनुष्यता से निर्मित हो और उनके व्यक्तित्व में भी उसी की सहज व आत्मीय सुगंध बसी हो। गंगा कभी राजपुत्रों को जन्म नहीं दे सकती, वह सिर्फ मनुष्यता को ही जन्म दे सकती है—सिर्फ

मनुष्यता को।

शांतनु : देख रहा हूँ सुंदर व्याख्यान न्यायाधिकरण में कितने काम आते हैं।

इंद्रसूत्र : (गंगा से) न्यायाधिकरण आपके भाषण से संतुष्ट नहीं है। आपको कुछ और कहना शेष है?

गंगा : यदि न्यायधिकरण तर्क और सिद्धांत से नहीं बल्कि मूर्खता से ही संतुष्ट होने का आकांक्षी है तो मैं क्षमाप्रार्थी हूँ।

इंद्रसूत्र : और क्षमा माँगने से मिल ही जाए, ऐसा कोई सिद्धांत नहीं है। मैं आपको दोषी मानते हुए सेनापति को आपको बंदी किए जाने का आदेश देता हूँ।

गंगा : (आवेश से) और जैसे, गंगा आपकी तर्कशून्यता और क्षोभ से उपजे अंधनिर्णय से बड़ी सरलता से बंदी हो जाएगी?

(सैनिक आगे बढ़ते हैं)

सावधान! परशुराम की इस शिष्या को उसकी इच्छा के विरुद्ध बंदी कर लेने का सामर्थ्य अभी हस्तिनापुर में किसी के पास नहीं हैं। जिसे शर्मिंदा होना हो, वह ऐसा प्रयास करके देख ले। मैं न्यायाधिकरण से स्वयं जाती हूँ।

(द्वारपाल सहमकर द्वार से हट जाते हैं। अग्निवर्ण लंबी श्वास के साथ उठता हुआ द्वार की ओर बढ़ता है। बाकी सभी अपने आसनों पर वैसे ही हतप्रभ बैठे रहते हैं।)

अग्निवर्ण : (द्वार पर ठिठक कर पलटकर) मैंने पहले ही कहा था, सुखी जीवन के लिए मूर्ख स्त्री ही श्रेयस्कर है।)

(दृश्य–दो)

(व्यास की कुटी। वही परिवेश। सुबह झुटपुटे का अंधकारमय समय। व्यास कुटी के झरोखे से मूर्तिवत् अनमना सा बाहर झाँकता हुआ।)

सुनीति : (प्रवेश करते हुए, जैसे अपने आप से) सुबह हुई नहीं कि एक साथ न जाने कितने काम सर पर आ खड़े होते हैं। जब गाय नहीं थी, तब दुःख था और जब है तब भी दुःख है। अपनी अवस्था जो भी हो, लेकिन उसकी देखभाल तो छोड़ी नहीं जा सकती? गाय की गौढ़ी साफ करो, उसे नहलाओ, पेन्हियाओ और घास छीलकर लाने का उद्यम करो। एक बोझ घास उसके सामने धरो तब कहीं जाकर उसे दुहो।

(अचानक व्यास को देखकर) अरे आप! वहाँ उधर क्या देख रहे हैं?

व्यास : (पीछे मुड़कर सुनीति को देखता है) देख रहा हूँ हस्तिनापुर में रात भर कुछ छायाएँ सी दौड़ती रहती हैं।

सुनीति : छायाएँ? आपकी आधी से अधिक बातें तो मुझे समझ ही नहीं आतीं। किसकी छायाएँ दौड़ती रहती हैं?

व्यास : यही तो समझ नहीं आता कि ये कैसी छायाएँ हैं, बिना किसी शरीर की। मैं चाहता हूँ बाहर जाकर उन्हें पकड़ लूँ और उनसे पूछूँ कि वे हस्तिनापुर की रातों को स्वतंत्र छोड़कर कहीं अन्यत्र क्यों नहीं चली जातीं। हस्तिनापुर की रातों में उन्हें कौन-सा अभय और निष्कंटक सुख प्राप्त है कि वे जाने

को तैयार ही नहीं होती।

सुनीति : मैं समझ रही हूँ कि वे कौन सी छायाएँ हो सकती हैं। आर्य! हमारी स्थितियाँ पहले से ही बहुत जटिल है। मैं नहीं चाहती कि आप इन छायाओं का संधान करते हुए हम सब के जीवन की जटिलता को और गहरा बना दें।

व्यास : (कुटी में टहलते हुए) यदि मेरे वश में ऐसा होता तो कदाचित् मैं स्वयं को रोक ही लेता। या फिर कहीं दूर चला जाता। लेकिन देखता हूँ इन छायाओं ने मेरी चेतना पर अपना हर संधान ताना हुआ है। मैं बचना भी चाहूँ तो नहीं बच सकता। मेरी लेखनी ब्रह्मास्त्र की तरह मेरी आत्मा में धँसी रहती है जबकि मेरा पूरा शरीर भोज के वृक्षों में बदला हुआ महसूस होता है। मुझे अपने ही व्यक्तित्व से छीले, खरोंचे और उतारे हुए भोजपत्रों पर लेखनी उकेरनी है। जिस लेखनी को मैंने अपने मन व मस्तिष्क के रंजन के लिए, मन की कोमलतम अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए उठाया था, आज वह विडंबना बन चुकी है। मैं कितनी ही रातें लिखने के लिए बैठता हूँ और फिर बैठा ही रह जाता हूँ। फिर पाता हूँ कि सुबह हो गई है और रात भर घूमने वाली छायाएँ धीरे-धीरे कहीं गायब हो रही हैं।

सुनीति : आर्य! मुझे तो अब आपकी चिंता होने लगी है। आपका इस तरह अवसाद से ग्रस्त रहना मेरे लिए असहनीय-सा हो उठता है। सदैव आपको खो देने का भय लगा रहता है। आपकी वह सहज सरल अभिवृत्तियाँ न जाने कहाँ खो गई हैं। आज मुझे आप कोई अलग ही व्यक्ति अनुभव होते हैं। (कुछ पल रुककर, फिर जोर देते हुए) मैं कहती हूँ आप कुछ दिनों के लिए लिखने और सोचते रहने का उद्यम छोड़ क्यों नहीं देते?

व्यास : मैंने सब करके देख लिया लेकिन वह भी तो नहीं होता।

सुनीति : मैं आपकी तरह उतनी जटिलता से सोचना तो नहीं जानती, लेकिन इतना जरूर जानती हूँ कि देवी गंगा का हमारी इस साधारण कुटी में आए दिन आते-जाते रहने से कभी-कभी मैं भय और आशंका सी महसूस करने लगती हूँ।

व्यास : कैसी आशंका?

सुनीति : तो क्या आप सचमुच नहीं जानते।

व्यास : (अस्थिर भाव से) पता नहीं...आजकल मैं ये भी ठीक से नहीं समझ पाता कि मैं सचमुच क्या जानता हूँ और क्या नहीं जानता?

सुनीति : मैं बस इतना जानती हूँ कि हस्तिनापुर का राजपक्ष कभी आपसे प्रसन्न और संतुष्ट नहीं रहा। उसने हस्तिनापुर में आपकी उपस्थिति को सदैव एक शंका की दृष्टि से ही देखा है। इसलिए समय बीतने के साथ-साथ आज राजपक्ष में आपकी स्थिति शून्य हो चुकी है।

व्यास : संभवतः मैं इसके लिए राज्य को कोई मूल्य नहीं चुका पाया।

सुनीति : मैं मूल्य की बात तो नहीं लेकिन इतना जरूर समझ पाती हूँ कि देवी गंगा का हमारे यहाँ नित्य आगमन राजपक्ष से हमारे लिए खतरे का संकेत बन सकता है।

व्यास : (थोड़ी व्यग्रता से) तो कहो सुनीति! मैं क्या करूँ? क्या देवी गंगा को कठोर शब्दों में अपमानित करते हुए कह दिया करूँ कि व्यास की साधारण कुटी

में भी अब उसके अशांत चित्त और विचारों के लिए कोई स्थान नहीं है? क्या मैं उनसे कहूँ कि अपने तर्क, अपने प्रश्न, अपने विचार लेकर अन्यत्र किसी देश में चली जाएँ? क्या व्यास भी तर्क, विचार और चिंतन से रहित हस्तिनापुर के जीवित पशुओं के समान हो जाए? बोलो, ये व्यास क्या करे?

सुनीति : मुझे समझ नहीं आता कि अहं के नाम पर सीधे सरल जीवन को इतना टेढ़ा बना देने की क्या जरूरत है? क्या अब भी सबकुछ ठीक नहीं हो सकता?

व्यास : क्या ठीक हो सकता है? क्या देवी गंगा अपने विचारों, तर्कों, मूल्यों और सिद्धान्तों से दूर हट सकती हैं या कि महाराज अपनी हठधर्मिता छोड़ सकते हैं? मैंने स्वयं कितने प्रयास किए कि उनका जीवन एक संतुलित मार्ग पर पुनः वापस लौट आए, ताकि हस्तिनापुर की डगमगाती राजनीति इस अदृश्य तूफान की परिधि से बाहर निकल सके। कुछ दिन ऐसा लगा भी कि उनका जीवन एक संतुलन पुनः प्राप्त कर लेगा लेकिन अब यही अनुभव होता है कि वृक्ष से टूट कर लटकी हुई शाखा को तोड़कर अलग तो किया जा सकता है, लेकिन उसे पुनः जोड़कर जीवन नहीं पैदा किया जा सकता।

सुनीति : तो क्या देवी गंगा की आठवीं संतान के जन्म में ही हस्तिनापुर के संकेत शेष हैं?

व्यास : राजमहलों में छाई शांति से किसी तूफान के आने की शंका-सी होती है। इधर जैसे-जैसे ये घड़ी समीप आती जा रही है, हस्तिनापुर जैसे एक गर्त में डूबता सा नजर आ रहा है। लगता है यह गर्त हर किसी को लील लेगा।

सुनीति : (भय व शंका से) आर्य! क्या हम भी इसी गर्त में नष्ट हो जाएँगे?

व्यास : नष्ट हो जाएँगे या बच रहेंगे! इस प्रश्न का उत्तर तो देवता ही जानते होंगे।

(सहसा गंगा का प्रवेश। अस्त-व्यस्त स्थिति में। बाल खुले हुए। एक हाथ में रोता हुआ शिशु और दूसरे हाथ में खड्ग लिए हुए। सुनीति दौड़कर शिशु को अपने हाथों में संभाल लेती है।)

सुनीति : (जाते हुए) मैं इसे सुरक्षित स्थान की ओर ले जाती हूँ।

व्यास : देवी गंगा! आप यहाँ और इस स्थिति में?

देवी गंगा : संभवतः यही सत्य है कि एक स्वतंत्र स्त्री के लिए पूरे राष्ट्र में कहीं कोई शरण नहीं है, कहीं कोई स्थान नहीं है। लेकिन जब तक मेरे हाथ में शक्ति है, गंगा की चेतना और स्वतंत्रता को इस पूरे संसार में कोई बंदी नहीं बना सकता, चाहे वह आर्यसम्राट शांतनु ही क्यों न हों।

(सहसा पीछे से शांतनु का क्रोधित अवस्था में कई सैनिकों के साथ प्रवेश।)

शांतनु : (गंगा की बात को तुरंत काटते हुए) ओह! तो देवी गंगा को आज भी यह भ्राँति है कि शांतनु उसे दासियों की भाँति रंगशाला में बंदी बनाकर रखना चाहता है। लेकिन सत्य तो यह है कि शांतनु कब का उनसे अपनी सभी अपेक्षाएँ समाप्त कर चुका है।

गंगा : तो फिर आखेटकों की तरह मेरे पीछे लगने का प्रयोजन?

शांतनु : मुझे प्रयोजन देवी गंगा से नहीं, अपनी संतान से है। मैं उसे पिछली बार की तरह सरिता की भेंट चढ़ता नहीं देखना चाहता।

गंगा : तो आप मुझसे अपना पुत्र चाहते हैं?

शातनु : हाँ, केवल इतना ही!

गंगा : (मुख फेरकर) और यदि मैं यह कहूँ कि यह पुत्र आपका नहीं है तो क्या तब भी?

शांतनु : (म्यान से खड्ग खींचकर क्रोध से) देवी गंगा! प्रलाप की भी एक सीमा होती है।

गंगा : क्यों, रुक क्यों गए? वध करो। करो मेरा वध। कहो कि ऐसा सुन पाना भी आपके लिए स्वीकार्य नहीं है। (शांतनु घृणा से मुँह फेर लेता है) जानती हूँ यह आपके लिए सहज नहीं है। लेकिन संभवतः एक स्त्री के लिए सब सहज है। और यदि न भी हो, तो भी उसके लिए सब सहज होना ही चाहिए। उसके जीवन में मात्र एक ही केन्द्र होना चाहिए फिर भले ही पुरुष के केन्द्र अनेक हों।

शांतनु : (खीझकर) तो फिर रखो अपने सारे केन्द्र अपने पास। शांतनु इसे अपने जीवन की एक भूल मानकर संतुष्ट हो जाएगा। मैं जानता हूँ कि सम्राट के आदेश की भी एक सीमा है, लेकिन मैं आग्रह करता हूँ कि हस्तिनापुर के भविष्य के लिए संभवतः यही अच्छा होगा कि वह देवी गंगा की छाया से भी दूर रहे और उससे जुड़ी अन्य छायाओं से भी। आर्य व्यास से मैं इसके लिए क्षमा माँगता हूँ।

व्यास : (दुःख और शोक से) महाराज! किंतु हस्तिनापुर...

शांतनु : (बात काटकर जाने के लिए मुड़ जाता है) मैं आपसे पहले ही क्षमा माँग चुका हूँ।

गंगा : (दुःख के आवेग को संयत करते हुए) रुकिए महाराज शांतनु।

शांतनु : (ठहरकर) कहिए! मैं जानता हूँ मेरे अपमान से अभी आपका मन भरा नहीं होगा।

गंगा : मैं मात्र इतना ही कहना चाहती हूँ कि आपका पुत्र एक दिन आपके पास लौटकर हस्तिनापुर अवश्य आएगा। यदि इसके प्रारब्ध में युद्ध और राजनीति की चौसर का अभिशप्त पासा ही बनना लिखा है, तो यही सही। मैंने अपने जीवन में आज के दिन की कोई कल्पना नहीं की थी। लेकिन यदि आज ये दिन दुर्भाग्य से उपस्थिति है, तो भी मैं इसके स्वागत के लिए तैयार हूँ। आज मैं आपको मुक्त करते हुए सदा के लिए जा रही हूँ। हस्तिनापुर को मैंने कभी अपनी मातृभूमि से कम प्रेम नहीं किया, इसलिए मेरे कोश में उसके लिए शुभकामनाएँ ही हैं। (शांतनु कुछ क्षण गंगा की ओर दुःख से देखता है और फिर चला जाता है)

गंगा : मैं आपसे क्षमा चाहती हूँ।

व्यास : देवी गंगा! विचारशीलों को जीवन में प्रत्येक विडंबना के लिए सदैव प्रस्तुत रहना चाहिए।

गंगा : जाते हुए गंगा आपसे एक निवेदन करना चाहती है।

व्यास : निःसंकोच कहिए।

गंगा : मैं चाहती हूँ आप मेरे पुत्र के संरक्षक रहें और उसकी शिक्षा दीक्षा गुरु बृहस्पति और गुरु परशुराम के आश्रमों में संपन्न हो। वहीं इसे प्रत्येक प्रकार की

सुरक्षा व संरक्षण प्राप्त हो सकेगा। बिना शक्ति और क्षमता के इस संसार में स्वतंत्रता का कोई मूल्य नहीं। इसलिए मैं चाहती हूँ कि यह शारीरिक, मानसिक व बौद्धिक हर प्रकार से इतना शक्तिशाली बने कि समस्त विश्व भी चाहकर इसकी स्वतंत्रता व चेतना का हनन न कर सके।

व्यास : ऐसा ही होगा। आप निश्चिंत रहे।

गंगा : तो मैं चलती हूँ।

व्यास : आप इस समय अब हस्तिनापुर छोड़कर जाएँगी कहाँ?

गंगा : कहीं भी चली जाऊँगी। स्वतंत्र लोगों के लिए धरती विराट् है। आप मेरी चिंता न करें। जब मेरा पुत्र अपनी शिक्षा पूरी कर ले तो उसे हस्तिनापुर की सेवा में लौटा दीजिएगा। उसके आगे के जीवन की मेरे पास कोई परिकल्पना नहीं है और यदि होती भी तो मैं उसे उसके व्यक्तित्व पर कभी नहीं लादना चाहती। वह अपने भविष्य का स्वतंत्र नियंता बनेगा और अपने जीवन के पथ स्वयं प्रशस्त करेगा।

(गंगा खड्ग वहीं फेंक देती है और द्वार पर जाकर ठिठकती है)

गंगा : (संदेह और दुःख मिश्रित स्वर में) आर्य व्यास! मेरा पुत्र मुझसे रूष्ट होकर घृणा तो नहीं करेगा न?

व्यास : देवी गंगा! उसे निःसंदेह अपनी माता पर अपार गर्व होगा।

गंगा : आर्य व्यास! जब मेरा पुत्र बड़ा हो जाये तो उससे कहना... (कुछ पल मौन)

व्यास : क्या कहना है देवी?

गंगा : (एक लंबी उच्छ्वास छोड़ती हुई) कुछ नहीं...

(गंगा का प्रस्थान। उधर से सुनीति का पुत्र को हाथ में लिए प्रवेश)

सुनीति : (देवी गंगा को ढूँढ़ते हुए) देवी गंगा...?

व्यास : चली गईं।

सुनीति : और उनका यह पुत्र?

व्यास : अब तुम्हें ही इसकी माता के रूप में दायित्व संभालना होगा। (सुनीति व्यास को देखती रहती है। लंबा मौन)

सुनीति! हमें अब हस्तिनापुर छोड़ना होगा। आज ही।

सुनीति : (आश्चर्य से) आज ही?

व्यास : महाराज की यही इच्छा है।

(उदास सुनीति को देखकर उसके कंधे पर हाथ रखता है) लेकिन सुनीति! एक दिन हम अवश्य ही लौट आएँगे, हस्तिनापुर के भविष्य के साथ। हमारी मातृभूमि में हमारा स्थान सदा रिक्त नहीं रहेगा।

(दोनों उदास कदमों से मंच से बाहर जाते हैं। पर्दा गिरता है।)

वन्दे मातरम् व अन्य कविताएँ

अष्टभुजा शुक्ल

वंदे मातरम्

(1)

गेहूँ की कुशाग्र मूँछों पर गिरी वृष्टि की गाज
काली-काली भुड़ुली वाली बाली हुई अ-नाज़
हुए अन्नदाता ही दाने-दाने को मोहताज
भिड़े कुकुरझौंझौं में राजन महा ग़रीबनवाज़

(2)

पंगु पाँव, गूँगी जबान, लकवा से लूले हर कर
आँख आँख मोतियाबिन्द सूझे परिवार न घर वर
चौपट हुई रबी ऐसे कि प्राण-पखेरू तड़पें
बादल बरसे नहीं गगन से एसिड मूते छर छर

(3)

रबी गई सो गई खरीफ़ गई सूखे से
मुँह सूखे सूखे से पेट युगों भूखे से
गश खा-खा गिर गए खेत में ग्राम देवता
हरे भरे से रुख़ खड़े रूखे रूखे से

(4)

धान हुए कुश धरती में दरार की अनगिन रेखा
मुँह में जूठ नहीं लगने के आगम घर घर देखा
आँख, आँख की ओर ताक, मुँह लेती फेर, सिसककर
कागज-पत्तर में सूखा-सैलाब का लेखा-जोखा

(5)

आसमान का दिल पत्थर हो गया ऐन बसकाल
चमके गरजे तड़के भड़के फिर भी पड़ा अकाल
काँख-काँख रह गए न झलकीं जल की बूँदें
पकड़ा करक जलधरों को बेआब हुए तत्काल

(6)

बना भव्य कॉम्प्लेक्स काँच का नामक भूल भुलइया
बिक्री हुई अपार लक्ष्य के पार बाप रे दइया
बड़के कोविद बिके यसों दस बीस डिजिट डालर में
हुआ चित्रपट फिल्मी इल्मी सबसे बड़ा रूपइया

(7)

सूचकांक मत देखो टोपी नीचे गिरी दरोगा
मूत में रोहू खोज रहे पोंगा के पोंगा
अबकी ऐसी क़िस्मत-लेखक आए हैं कि
राष्ट्र कनक भूधराकार मिन्टों में होगा

(8)

सुजला रोज़ निर्जला होती वंदे मातरम्
विफला बनकर सुफला रोती वंदे मातरम्
धुधुआकर जल रही चतुर्दिक् शस्य-श्यामला भूमि
जाति-धर्म की होती खेती वंदे मातरम्

पुरुषसिंह और स्त्री

किसी रूपककार ने
कभी पुरुष को सिंह कह दिया

तो वह समझने लगा खुद को पुरुषसिंह

फिर खुद को समझा बब्बर शेर
पुरुषसिंह ने देखा स्त्री की ओर

सबसे पहले
सहमी सिकुड़ी चौकन्नी चंचल चितकबरी
गहरी काली आँखों वाली
हिरनी जैसी लगी उसे स्त्री तन्वंगी
उसे देखकर
जाने कितने लड्डू फूटे
पुरुषसिंह के मन में
लेकिन आखेटक सिंह भला
सौन्दर्य देखकर क्या करता
पूजा उसकी?

वह हिंस्र सिंह
उसको तो केवल नरम माँस की चाह
फिर निर्जन वन में हिरनी की चीखती कराह

फिर से देखा पुरुषसिंह ने—
स्त्री को।
सीधी सादी गाय
सींगें मात्र दिखाने भर को
या खुजलाने को अपनी देह
बँधी हुई खूँटे-पगहे से
विवश - दुधारू बिल्कुल शाकाहार
पुरुषसिंह ने बदल लिया फिर
अपना मूल स्वभाव
हो गया शाकाहारी
उसे भूख मिटाने से मतलब

फिर फिर देखा पुरुषसिंह ने—
उस स्त्री को।
अबकी लगी उसे वही
साक्षात् सिंहिनी, ठीक स्वकीया
कुलगोत्रीया, सन्तानवत्सला पर मादा
किन्तु दहाड़ती
लगभग उसके ही पौरुष से जैसे प्लुत
और खटकने लगे उसे रह-रह जब तब

तब स्त्री ने फिर फिर सोचा
अपने बारे में
पशुओं और जानवरों की उपमा
अपमान लगी उसको अपनी
पुरुष-दृष्टि को अनदेखा कर
बोली पहली बार
सधे स्वरों में–

''मैं मृगी नहीं, मैं गाय नहीं
मैं नहीं सिंहनी या पशुवत् मादा
मैं स्त्री हूँ
और रहूँगी स्त्री जैसी
और दिखूँगी स्त्री जैसी सांगोपांग
चाहे किसी की आँख फुटे
या फटे कलेजा
या सीने पर लोटे साँप
हम स्त्री हैं तो स्त्री हैं''

किन्तु सिंह का तमगा बाँधे पुरुषसिंह
आक्रामक ही बना रहा
उसके मुँह में ख़ून लगा था
धीरे-धीरे बन गया वह पूरा नरभक्षी
और कुछेक गोलियाँ खाकर
फिर पिंजरे में क़ैद हो गया
बस खोखली दहाड़ ही बची उसकी
आँखों का हिंस्र ख़ून
तब लगा बदलने पानी में

अब भी स्त्री
अपनी ही करुणा से उद्विग्न
भूखे-प्यासे पुरुषसिंह को
डाल आती कुछ घास-पात
उसके पिंजरे में
और लौटती भारी कदमों से
पोंछती हुई आँखें अपनी
इस प्रत्याशा में
कि यह शायद अब मनुष्य बन जाए बेचारा
अपने ही कर्मों का मारा

स्त्री अब केवल स्त्री है
वह नहीं किसी कमजोरी की अब पुत्तलिका
वह मनुष्य की मृदुल शक्ति है
—अनुपमेय।

चार साल का नाती

अच्छा खासा उत्पाती है
यह जो अपना
चार साल का नाती है
बेटी का बेटा—
पूरा प्रश्नोपनिषद्!

तोंद पर चढ़ जाता है
चढ़कर ताक धिनाधिन ताक धिनाधिन
तबला बजाता है
और पुरखों की तरह
छाँटता है कबोधन—

'अच्छा नाना, अच्छे नाना, इधर करो मुँह, सुनो जरा
मम्मा कहती है—
तुम मेरे बेटे हो
और मेरे पेट से पैदा हुए हो
तो मम्मी आपकी बेटी है
क्या वो भी आपके पेट से पैदा हुई है?'

मैं कहता हूँ—
मेरा पेट कुछ पैदा नहीं कर सकता
केवल खाता है
फिर वह छौना खूब खिलखिलाता है
और उसी रौ में
फिर थाप लगाता है

कहता हूँ मैं—
तुम्हें पीट दूँगा अब
डूब रहा दिन
भागो तुरत मच्छरदानी में
बच्चामार मच्छरों की अब है भरमार
तीस साल से धरे हाथ पर हाथ
बैठी है सरकार वाग्मी

और मंत्रिपरिषद् वाचाल
हेहर टुच्चे साहब सूबा ठगवा बिगवा
कई कई तो यह भी कहते हैं नालायक
अक्सर अगस्त में बच्चे मरते हैं
मुँह में उनके पड़ें घिनौने कीड़े
और जीभ गलकर गिर जाय
शेम शेम हाय हाय!!

कहता है वह—
नाना एक बात कहकर
फिर आप बड़बड़ाते हैं बहुत देर तक
इससे क्या पाते हैं?

कहता हूँ मैं—
तुम्हें पीट दूँगा अब निश्चित
भगो तुरत मच्छरदानी में
नानी भी अब नहीं तुम्हारी बचा पाएँगी तुम्हें
चलो उतरो छाती से मेरे
नहीं तो चटकना खाओगे

फिर कहता वह—
नानी तो कहती हैं
यदि आप हमें मारोगे
तो काँपेंगे हाथ आपके ऐसे ऐसे
चमकाता है
नहीं रोक पाता मैं अपनी हँसी
और हँसता जाता हूँ
भगो तुरत मच्छरदानी में
फिकिर नहीं अब
जीत चुके हो कई अगस्त
और जियो तुम लाख बरीस
लेकर मेरी उमर जियो
हँसते और खेलते जीयो
पढ़ते, लिखते और समझते
सावधान रहना परिसर से
और कमीने लोगों से
कौए के बच्चों जितना चतुर बनो
समय बहुत आतातायी है
भगो तुरत मच्छरदानी में
चलो उतरो छाती से मेरे।

अखीर* में जीना सीख रहा हूँ

ज्याँक देरिदा
(अनु. रामकीर्ति शुक्ल)

ज़्याँ बिर्नबॉम द्वारा लिया गया ज़्याँक देरिदा का यह साक्षात्कार फ्रेंच पत्रिका *ले माँद* के अगस्त 19, 2004 के अंक में प्रकाशित हुआ और 9 अक्तूबर 2004 को रात में 74 वर्षीय देरिदा का निधन हो गया। पत्रिका में यह साक्षात्कार ''मैं अपने साथ युद्धरत हूँ'' शीर्षक के अंतर्गत प्रकाशित हुआ था। इस साक्षात्कार का महत्त्व इसलिए तो है ही कि यह देरिदा का अंतिम साक्षात्कार है, जो अन्य चीजों के साथ ही उनका आत्म-साक्षात्कार भी है। लेकिन यह इसलिये भी महत्त्वपूर्ण कि यह एक अलग दृष्टिकोण से उनका इच्छा-पत्र (विल) भी है। इस बात-चीत के क्रम में देरिदा एक प्रकार से अपने पूरे जीवन के साथ ही उस विशिष्ट और प्रश्नाकुल बौद्धिक पर्यावरण का भी पुनरावलोकन करते हैं जिसने एक लंबे दौर में उनकी प्रतिभा को धार प्रदान की थी और जिससे वे आजीवन उलझते रहे थे।

1930 में फ्रेंच उपनिवेश अल्जीरिया में एक यहूदी परिवार में जन्में ज़्याँक देरिदा कॉस्मोपॉलिटन फ्रांस में आजीवन मग़रबी फ्रेंच अथवा अल्जीरियायी फ्रेंच ही बने रहे,बावजूद इसके कि फ्रेंच भाषा में जितना प्रभूत और वैविध्यपूर्ण अवदान उनका है उतना उनके समकालीन किसी भी मूल फ्रेंच लेखक का नहीं है। देरिदा अपनी औपनिवेशिक अवस्थिति को भलीभाँति जानते थे और द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान 1942 में अल्जीरिया के सरकारी स्कूल में यहूदी होने के कारण अपने निष्कासन को वे जीवन पर्यंत कभी नही भूल पाये। उनकी पहचान कभी भी स्थिर नही हो पायी और जिसे उन्होंने ''पहचान का बिखराव'' ('**disorder of identity**') कहा है, वह उनके साथ आजीवन बना रहा। योरोकेंद्रियता और साथ ही ''अन्य'' के प्रति योरोप के द्वेष-भाव तथा योरोप को एक ''आध्यात्मिक अभियान'' के रूप में अभिहित करने वाले एडमण्ड हुसर्ल जैसे दार्शनिक और पॉल वेलरी जैसे कवि को वे लगातार डिकंस्ट्रक्ट करते रहे। वे यह भी कहा करते थे कि मैं एक ही भाषा जानता हूँ लेकिन वह मेरी मातृभाषा नहीं है। देरिदा जैसा ही आदमी मौत की आँख में आँख डाल कर यह कह सकता है, ''मैं अपने पीछे काग़ज एक टुकड़ा छोड़ रहा हूँ, मैं चला जाऊँगा, मैं मर रहा हूँ, इस क्रम से बचा नही जा सकता, यह मेरे जीवन का सनातन रूप है। जब भी मैं किसी चीज को अपने से अलग होने देता हूँ, जब भी कोई चिन्ह मुझे छोड़ जाता है, मेरे भीतर से अन्यत्र 'चला' जाता है, और जिसे पुनर्विनियोजित नही किया जा सकता, ऐसे में मैं अपने लेखन में अपनी मृत्यु को जीता हूँ।'' इसी बात को देरिदा ने *मार्जिन्स ऑव फिलॉसफी* में संग्रहीत अपने प्रख्यात लेख ''सिग्नेचर, इवेंट कंटेक्स्ट'' में इस प्रकार व्यक्त किया है, ''कुछ समय के लिये अथवा हमेशा के लिए लेखक की अनुपस्थिति की स्थिति में भी लिखित शब्द

---

* अखीर हो गए गफलत में दिन जवानी के
बहारे उम्र हुई कब खिजाँ नहीं मालूम

को अपना काम करते रहना चाहिए और सदैव पठनीय बना रहना चाहिए।'' यहाँ पठनीय बने रहने से उनका आशय gSfyfi[kr 'kCn dk vkoR;dkjh; (iterable अथवा repeatable) बना रहना। आवृत्तीयता के अपने इसी विशिष्ट गुण के कारण लिखित शब्द वाचिक शब्द के ऊपर वरीय होता है। अपनी आवृत्तीयता के लिए लिखित शब्द को अपने पिता अर्थात लेखक की उपस्थिति की आवश्यकता नही होती। इसी को देरिदा ने 'चिह्न' ("trace") की उत्तरजीविता कहा है। मृत्यु की घटना की अद्वितीयता का क्षण 'चिह्न' की परीक्षा का क्षण होता है। चिह्न को अपनी आवृत्तीयता के लिए लेखक के जीवित अथवा मृत होने से कोई मतलब नही होता। देरिदा के ही शब्दों में ''यह आयटेरिबिलिटी अर्थात् आवृत्तीयता (देरिदा यहाँ संकेत करते हैं कि अंग्रेजी शब्द iterability में iter संस्कृत के 'इतर' से आया है जिसका अर्थ होता है भिन्न अथवा अन्य और इस प्रकार आवृत्तीयता किसी अन्य का संकेत देती है।) स्वयं लेखन के चिन्ह को संरचित करती है...। ऐसा लेखन जो संरचनात्मक स्तर पर सम्बोध्य की मृत्यु के परे आवृत्तीय नहीं होता, लेखन की संज्ञा के उपयुक्त ही नही माना जायेगा। ...सभी प्रकार के उत्तरदायित्व से, अंतिम विश्लेषण के प्राधिकार के रूप में चेतना से पूर्णरूपेण विच्छिन्न, एक आवृत्तीय संरचना के रूप में लेखन, अपने जनक की सहायता से वंचित, अनाथ लेखन वास्तव में वही है जिसकी भर्त्सना प्लेटो ने *'फेड्रस'* में की है।'' इस प्रकार अपनी उत्तरजीविता के लिये देरिदा इसी लेखन के प्रति पूरी आश्वस्ति के साथ कृतज्ञ हैं।

इस सब के साथ ही देरिदा उस लेखकीय ''पर्यावरण'' के प्रति भी कृतज्ञ हैं जो किसी भी प्रकार के प्रलोभन अथवा राजनीति, मीडिया, सम्पादकीय अथवा पाठक समूहों के प्रेतों से भयभीत नहीं हुआ और न ही अपने रास्ते से भटका। तमाम तरह के मतभेदों, असहमतियों, बहसों, अंतर्विरोधें और विवादों से लबरेज यह लेखकीय पर्यावरण देरिदा की पीढ़ी के एक विशाल लेखक-पाठक समूह को एकजुट किये रहा। शायद इसीलिये देरिदा ऐसे ''मीडिया बुद्धिजीवियों'' के खिलाफ अनवरत युद्ध का आह्वान करते हैं जो तथाकथित विरोधाभासों, जटिलताओं, संदेहात्मकताओं के सरलीकरण का आसान रास्ता चुन कर तालियाँ बटोरने में लगे रहते हैं ताकि वे उन राजनीतिक-आर्थिक, सम्पादकीय और अकादमिक समूहों के हित-साधन का काम करते रहें जिनकी वे देरिदा के शब्दों में कठपुतलियाँ हैं। देरिदा ने ''मृत्यु का उपहार'' शीर्षक से लिखी अपनी पुस्तक का भी जिक्र किया है जिसमें उन्होंने दर्शन को मृत्यु का पूर्वानुमान कहा है। यह पुस्तक लगभग पूरी तरह उत्तरजीविता से जुड़े सवालों जैसे विदा, अभ्यर्थना, उद्धार, शोक इत्यादि के विषय पर केंद्रित है, जैसे मानों मृत्यु और उत्तरजीविता के सवालों पर वे बहुत समय से सोचते रहे हों। यहाँ इस बात का भी उल्लेख कर देना समीचीन होगा कि जिस फ्रांस में वे दार्शनिक अथवा बुद्धिजीवी के रूप में लगभग अनाम ही रहे, उन्हीं देरिदा की मृत्यु के समाचार की आधिकारिक घोषणा राष्ट्रपति के कार्यालय की गयी जबकि देरिदा तत्कालीन राष्ट्रपति ज़्याँक शिराक की दक्षिणपंथी राजनीति के प्रखर विरोधियों में से थे।

आपकी जिन स्मृतियों से मैं प्यार करता हूँ, उनसे कट कर मैं मृत महसूस कर रहा हूँ और मैं उसी तरह रो रहा हूँ जैसे मेरे बच्चे (मेरी मृत्यु के बाद) मेरी कब्र के किनारे खड़े होकर रोयेंगे। ज्यॉक देरिदा और ज्योफ्री बेनिंग्टन, सर्कम्फेशन : अंग्रेजी अनुवाद–ज्योफ्री बेनिंग्टन (शिकागो 1993) पृ. 41।

ज़्याँ बिर्नबॉम : 2003 की गर्मियों से सार्वजनिक परिदृश्य में आपकी उपस्थिति में पहले की अपेक्षा एकाएक काफी अधिक विस्तार आया है। यही नहीं कि इस बीच आपने काफी कुछ नया प्रकाशित किया है बल्कि आपने यात्राएँ भी खूब की हैं। आपके लेखन पर केंद्रित इब्रा और पेरिस में होने वाली संगोष्ठियों में तो आपने भागीदारी की ही, अब ब्राजील की राजधानी रियो में इसी तरह की एक अन्य संगोष्ठी के सिलसिले में आप शीघ्र ही वहाँ भी जानेवाले हैं। सन् 2000 में सफा फैथी के निर्देशन में आप पर बनी एक बहुत ही सुन्दर फिल्म **देरिदा एल्सवैर** के बाद अभी हाल ही में अमी कॉफमन और किरबी डर्कमन की एक और फिल्म **देरिदा** तैयार हो गयी है और वह भी आप पर ही केंद्रित है। अनेक प्रतिष्ठित प्रकाशनों ने आपको लेकर अपनी पत्रिकाओं के विशेषांक निकाले हैं। इसी बीच अब तक आपके अप्रकाशित लेखों का संग्रह भी प्रकाशित हो चुका है। इस तरह बौद्धिक और अकादमिक दुनिया में आप को लेकर इतना कुछ किया जा रहा है फिर आपने किसी से भी यह बात बतायी नहीं...।

ज्यॉक देरिदा : कि मैं असाध्य रूप से बीमार हूँ, यही कहना चाह रहें हैं न आप, और

कि मैं बहुत ही तकलीफदेह इलाज के दौर से गुजर रहा हूँ। लेकिन छोड़िये इस बात को। हम कोई निजी अथवा सार्वजनिक मेडिकल रिपोर्ट जारी करने के लिये नहीं मिल रहे हैं।

बिर्नबॉम : आप बिलकुल ठीक कह रहे हैं। तो फिर बात-चीत शुरू करने के लिये हम 1993 में प्रकाशित आपकी पुस्तक **स्पेक्टर्स ऑव मार्क्स** की ओर लौटते हैं, एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण पुस्तक, भावी न्याय से जुड़ी पारिभाषिक पुस्तक जिसका प्रारंभ एक अत्यंत ही कठिन 'पुरोवाक्' के इस वाक्य से होता हैः ''कोई आदमी, आप अथवा मैं, आगे आता है और कहता हैः 'मैं जीना सीखना चाहूँगा अंततः' इन शब्दों को लिखे दस वर्षों से अधिक समय बीत चुका है, कैसे जिया जाय इसे जानने की इच्छा के संदर्भ में अपने को आप आज कहाँ पाते हैं?

देरिदा : जब यह लिखा गया था—और यह दस वर्ष पहले की बात है—तब मेरे सामने जो सवाल था, वह था एक ''**नये इण्टरनेशनल**'' का जो पुस्तक का एक उपशीर्षक तो है ही लेकिन साथ ही उसकी केंद्रीय चिंता भी है। '**वैश्विकतावाद**' से परे, '**विश्व नागरिक**' की अवधारणा से परे, राष्ट्र-राज्यों वाले विश्व से परे, अंतिम विश्लेषण में राजनीतिक ''दलों'' की तर्कपद्धति से भी परे, यह पुस्तक ''वैकल्पिक भूमण्डलवाद'' (alter globlism) की उन अनिवार्य शर्तों का भी पुर्वानुमान प्रस्तुत करती है जिनमें मेरी आस्था है और जिन्हें अब और अधिक आसानी से देखा जा सकता है (हालाँकि यह वैकल्पिक भूमण्डलवाद पर्याप्ततः स्पष्ट नहीं है और इसका स्वरूप अभी भी बिखरा-बिखरा और अव्यवस्थित है)। जब मैंने इसे इण्टरनेशनल कहा था, उसी समय यह भी कहा था कि इसे चरितार्थ करने के लिये **विश्व मुद्रा कोष, विश्व व्यापार संगठन, जी 8** और विशेष रूप से **संयुक्त राष्ट्र संघ** की सुरक्षा परिषद् जैसे विश्व व्यवस्था के कारकों में अनेक भारी बदलाव करने पड़ेंगे और साथ ही इनके घोषणापत्रों की भी नये सिरे छान-बीन करने और उनमें परिवर्तन करने की आवश्यकता है। आवश्यक यह भी है कि सैनिक अथवा अ-सैनिक अथवा अन्य प्रकार के हस्तक्षेपों के लिये संयुक्त राष्ट्र संघ की अपनी स्वायत्त सेनाओं और इनकी संरचना में भी आवश्यकतानुसार बदलाव किया जाता रहे। सबसे अधिक आवश्यक है संयुक्त राष्ट्र संघ का स्थानांतरण और वह भी न्यूयॉर्क से जितना ही अधिक दूर हो सके उतना ही अच्छा।

और जहाँ तक आप द्वारा उद्धृत वाक्यांश ''जीना सीखना अंततः'' का संबंध है तो यह मेरे मस्तिष्क में उस समय कौंधा, जब मैं **स्पेक्टर्स ऑव मार्क्स** (मूल फ्रेंच संस्करण 1993; अंग्रेजी अनुवाद 1994) पूरा कर चुका था। असल में मैंने इन शब्दों को उसी अर्थ में प्रयोग किया है जिस अर्थ में हम सामान्यतयः अपने दिन-प्रतिदिन के जीवन में करते हैं (हालाँकि पुस्तक में इसे किंचित् गंभीर अर्थ में प्रयोग किया गया है)। यहाँ जीने का अर्थ है परिपक्व होना, प्रौढ़ होना लेकिन साथ ही इसका अर्थ सिखाना, किसी और को सिखाना, खास तौर से अपने को सिखाना भी है। जब आप किसी और को सम्बोधित करते हुये कहते हैं ''मैं तुम्हें जीना सिखाउँगा'' तब आपके स्वर में किंचित् आदेशात्मकता अथवा भयाक्रांत करने की ध्वनि भी आ जाती है और ऐसा लगता है कि आप केवल यही नहीं कह रहे होते हैं कि ''मैं तुम्हें जीना सिखाने जा रहा हूँ'' बल्कि आप यह भी कह रहे होते हैं कि ''मैं तुम्हे ठीक रास्ते पर ला दूँगा, तुम्हे ठीक कर दूँगा'', इत्यादि। और यहीं से—और इन शब्दों की यह द्विअर्थात्मकता मुझे और अधिक महत्त्वपूर्ण लगती है—एक प्रकार की आह अथवा उसास हमें किसी अन्य और अपेक्षाकृत अधिक कठिन सवाल की ओर ढकेल देती है : क्या जीना कोई ऐसी चीज हैं जिसे *सीखा* जा सकता है अथवा जिसे *सिखाया* जा सकता है? क्या किसी अनुशासन के माध्यम से अथवा प्रशिक्षण के माध्यम से, अनुभव अथवा प्रयोग के माध्यम से कोई जीवन

को स्वीकार कर सकता है अथवा, किंचित् गंभीर शब्दों में कहें, जीवन को संपुष्ट अथवा प्रतिज्ञापित कर सकता है? रिक्त अथवा मृत्यु को लेकर यह चिंता पूरी पुस्तक में अनुस्यूत है और आद्यंत ध्वनित होती है। इसी की चिंता माता-पिता अथवा उनकी संततियों को भी मथती रहती है : ''आखिर तुम कब अपनी जिम्मेदारी समझना शुरू करोगे? अपने जीवन अथवा अपने आप को जवाब देने लायक कब बनोगे अथवा अपनी जिम्मेदारी कब लेना शुरू करोगे?''

इसलिये आपके सवाल का जवाब अंततः मैं यही दूँगा कि नहीं, मैं-जीना-कभी-नही-सीख-पाया। सचमुच, कभी नहीं। जीना सीखने का मतलब होना चाहिये मरना सीखना, पूर्ण नश्वरता को (मोक्ष, पुनर्जन्म अथवा उद्धार की किसी प्रत्याशा के बिना) अंगीकार करने के लिये उससे ताल-मेल बिठाना सीखना। मोक्ष, पुनर्जन्म, अथवा पुर्नउद्धार की प्रत्याशा न तो अपने लिये, न ही अन्य के लिये। प्लेटो से लेकर आज तक यही निषेधादेश रहा है : दार्शनिकीकरण का मतलब होता है मृत्यु को अंगीकार करना सीखना। इस सत्य को अस्वीकार करने में असमर्थ होने के बावजूद मैं इसमें विश्वास करता हूँ। मैं इसे, मृत्यु को, स्वीकार करना कभी नहीं सीख पाया। हम सभी ऐसे जीवित बचे लोग हैं जिन्हें मृत्यु-दण्ड से अल्पकालिक स्थगन आदेश का अनुग्रह प्राप्त हुआ है **स्पेक्टर्स ऑव मार्क्स** के भू-राजनैतिक परिप्रेक्ष्य से एक ऐसी दुनिया में इस बात का विशेष अर्थ है जो इसके भीतर निवास करने वाले लाखों-करोड़ों जीवों—मनुष्य ही नहीं—के लिये पहले से कहीं अधिक क्रूर रही है। इस क्रूर दुनिया ने उनके मूल अधिकारों से उन्हें वंचित कर दिया है, वे अधिकार जो पिछली कई शताब्दियों से उनके पास रहे हैं और जिनमें लगातार संशोधन-संवर्द्धन किये जाते रहे हैं और इनमें सर्वाधिक मूल्यवान अधिकार रहा है गरिमायुक्त जीवन जीने का अधिकार। लेकिन जब बात आती है कि मरना कैसे जाना जाय या फिर जिया कैसे जाय तो यह ज्ञान मुझे आज तक नहीं आ पाया। इसके बारे में मैं अभी तक कुछ नहीं सीख पाया, कुछ नहीं जान पाया। दण्ड-स्थगन का समय तेजी से सरकता जा रहा है। और महज इसीलिये नहीं कि अनेक लोगों के साथ मैं अनेक चीजों का सह-उत्तराधिकारी रहा हूँ, इनमें कुछ अच्छी और कुछ अत्यंत ही भयावह हैं, लेकिन क्योंकि वे तमाम चिंतक, दार्शनिक जिनके साथ काम करने का मुझे अवसर मिलता रहा है अब दिवंगत हो चुके हैं, इसलिये अधिकांश लोग मुझे उन दार्शनिकों, चिंतकों का उत्तरजीवी कहते हैं अर्थात् मैं उन चिंतकों, दार्शनिकों की पीढ़ी का अंतिम प्रतिनिधि हूँ। जिस पीढ़ी की बात मैं कर रहा हूँ वह उन्नीस सौ साठ के दशक की पीढ़ी है। एकदम सटीक न भी कहा जाय तो भी इससे यही नहीं कि मेरे मन में तमाम आपत्तियाँ उठती हैं, बल्कि इससे उदासी से उपजा एक प्रकार का विद्रोह भी उठता है। इसके अलावा इससे कुछ स्वास्थ्य संबंधी समस्यायें इतनी गंभीर हो उठती हैं कि जीवित बचे रहने अथवा दण्ड-स्थगन का सवाल, जो मेरे सामने अक्षरशः दिखाई पड़ रहा हैं तथा जो प्रत्येक क्षण मेरे मन-मस्तिष्क पर लगातार छाया रहता है, अब एक नई ध्वनि, एक नये रंग में पहुँच गया है। मैं इस सवाल से, जीवित बचे रहने के सवाल से हमेशा उलझता रहा हूँ लेकिन इस उलझाव के अर्थ को जीने अथवा मरने से *नहीं जोड़ा जाना चाहिये।* सामान्य अर्थ में जीवित बचे रहने का मतलब होता है जीते रहना लेकिन इसका मतलब मृत्यु के *बाद* भी जीते रहना होता है। जब इस तरह की धारणा को अनूदित करने की बात आती है तब वाल्टर बेंजामिन किसी लेखक की मृत्यु के बाद उसकी पुस्तक के जीवित रहने, अथवा माता-पिता की मृत्यु के बाद किसी बच्चे के जीवित रहने की तरह जीवित बचे रहने और निरंतरता के साथ जीवित बचे रहने के बीच भेद करते हैं। मेरे अपने लेखन में जो अवधारणाएँ मेरी सहायक रही हैं, और विशेष कर छाया-चिन्ह (Trace) और प्रेतीयता (Spectrality) की धारणाएँ, वे किसी संरचनात्मक

और शुद्ध रूप से उद्भवगत (Originary) आयाम के रूप में इस ''जीवित बचे रहने'' से जुड़ी रही हैं। इनका उत्स न तो जीवित बचे रहने में है, न ही मरने में। ठीक वेसे ही जैसे मैंने ''उद्भवगत शोक'' के विषय में कहा है अर्थात् वह शोक जो तथाकथित ''यथार्थ'' मृत्यु की प्रतीक्षा नहीं करता है।

बिर्नबॉम : आपने ''पीढ़ी'' शब्द का प्रयोग किया है। ''पीढ़ी'' की अवधारणा काफी उलझी हुई है लेकिन आपके लेखन में यह शब्द प्रायः दिखायी पड़ता रहता है। उसे कैसे संदर्भित किया जाय जो आपके नाम के साथ किसी पीढ़ी से आगे बढ़ता रहता है?

देरिदा : इस शब्द को मैं इस समय काफी ढीले-ढाले ढंग से इस्तेमाल कर रहा हूँ। कोई व्यक्ति किसी अतीत अथवा भावी पीढ़ी का ''कालदोषग्रस्त'' समकालीन हो सकता है। मेरी अपनी पीढ़ी के व्यक्तियों के प्रति मेरा वफादार बने रहना, किसी भेदीकृत पर समान रिक्त का संरक्षक होना, इसके दो अर्थ हो सकते हैं : प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक वस्तु से विरोध के बावजूद कुछ साझे अनुभवों से जुड़े रहना, और इस क्रम में कुछ नामों का उल्लेख करना चाहूँगा - लाकाँ से लेकर अल्थ्यूज़र तक जिसमें इमैनुयल लेविनास, मिशेल फुको, रोलाँ बार्थ, दॉल्यूज़, ब्लंशात, ल्योतार, सारा कॉफमन, इत्यादि का नाम शामिल है। इस फेहरिस्त में मैं अनेक कवियों, दार्शनिकों और मनोविश्लेषणवादियों का भी नाम शामिल करना चाहूँगा जिनमें से अनेक अभी हमारे बीच हैं और जिनसे मैं बहुत कुछ पाता रहा हूँ। इस क्रम में और भी नाम जोड़े जा सकते हैं और इसमें फ्रांस से इतर अन्य देशों के लोग भी हैं जिनका संकेत आपने अपने पहले ही प्रश्न में कर दिया है (यहाँ सभी का नाम न ले पाने के लिये मैं क्षमाप्रार्थी हूँ)। वास्तव में मैं यहाँ बात कर रहा हूँ लेखन और चिंतन के एक विशेष ''पर्यावरण'' या जिसे 'इथॉस' कहा जाता है उसकी, एक ऐसे दृढ़, अत्यंत ही आग्रही और निर्भ्रष्ट पर्यावरण (हेलेन सिक्सस ने हमारी पीढ़ी को भ्रष्ट न किये जा सकने वाले ("Incorruptibles") लेखकों, चिंतकों की पीढ़ी कहा है) की अर्थात् ऐसा लेखकीय पर्यावरण जिसने दर्शन को कोई छूट नहीं दी, और जो लोकमत, मीडिया और भयाक्रांत करने वाले पाठक-समूह के प्रेतों के सामने कभी भी डरा नहीं क्योंकि इन प्रेतों का उद्देश्य होता है लेखकीय अस्मिता का दमन कर चीजों का सरलीकरण करना। मेरी पीढ़ी के लेखकों-चिंतकों का समझौता न करने का साहस और उनकी दृढ़ संकल्प-शक्ति का ही परिणाम था शोधन-परिमार्जन, विरोधाभास और संदेहात्मकता (aporia) के प्रति एक गहरी अभिरुचि; और इस प्रकार की अभिरुचि के परिणामस्वरूप उत्तरदायित्व का एक गहरा बोध लगातार बना रहा। यह बोध केवल उन्हें ही एकजुट नहीं किये रहा जिनके नामों का उल्लेख मैंने कदाचित् असावधानीपूर्वक और साथ ही कुछ अन्य लोगों के प्रति किंचित् अन्याय करते हुये प्रस्तुत संदर्भ में किया है। वास्तव में यही बोध उस पूरे दौर को संबल देता रहा। हम यहाँ **अस्थायी रूप से तिरोहित हो चुके एक युग** की चर्चा कर रहे हैं न कि अमुक-अमुक व्यक्तियों की। इसीलिये किसी भी कीमत पर उस युग को बचाये अथवा उसे पुनर्जीवित रखना आवश्यक है। और आज इस उत्तरदायित्व को और अधिक तत्परता के साथ सम्पन्न करना अपरिहार्य लग रहा है; यह उत्तरदायित्व जड़ता के खिलाफ अनवरत युद्ध के लिये हमारा आह्वान कर रहा है, युद्ध उनके खिलाफ जिन्हें आज ''मीडिया इण्टलेक्चुअल'' कहा जाता है, युद्ध सामान्य हो चले उस विमर्श के खिलाफ जो मीडिया की उन ताकतों द्वारा निष्पन्न किया जा रहा है जो स्वयं ही किन्हीं राजनीतिक-आर्थिक, सम्पादकीय अथवा अकादमिक गिरोहों के हाथों में कठपुतली बनी हुयी हैं। यह युद्ध यूरोपीय और भूमण्डलीय एक साथ होगा। प्रतिरोध का अर्थ यह नहीं होता कि हम मीडिया से बचते रहें। जब भी और जहाँ भी संभव हो, हम मीडिया

को विकसित करते रहें, उसे सुधारते, सचेत करते रहें, अपने को विविध बनाने में मीडिया की सहायता करते रहें और उपर्युक्त दायित्व के प्रति उसे आगाह करते रहें।

साथ ही हम यह न भूलें कि 'कल' का वह सुहाना समय शायद ही शांति और समरसता का रहा हो। वास्तव में स्थिति इसके ठीक विपरीत थी। उस 'कल' के दौर में भी मतभेदों और असहमतियों की कमी नहीं थी क्योंकि वह 'कल' और जो कुछ भी रहा हो, समाँग सम्पूर्ण तो नहीं ही था जिसे हम ''68 की विचारधारा'' जैसे किसी निरर्थक मुहावरे में बाँध लें। दुर्भाग्य यह है कि चाहे एकजुटता के रूप में हो अथवा निंदा के रूप में, आज यही मुहावरा प्रेस और अकादमिक दुनिया पर छाया हुआ है।

इसीलिये चाहे यह वफादारी अभी भी एक गैर-वफादारी और किसी अलग रास्ते पर चलने के उपक्रम का रूप ही क्यों न हो, हमें इन मतभेदों में विश्वास बनाये रखना चाहिये अर्थात् हमें बहस को चालू रखे रहना चाहिये। जहाँ तक मेरा सवाल है तो मैं अभी भी बॉद्रियां, लाकाँ, दॉल्यूज़ और फुको से उलझता रहता हूँ क्योंकि यद्यपि ये सभी अब हमारे बीच नहीं रहे तो भी मैं इन दिवंगत लोगों को उन लोगों से कहीं अधिक स्फूर्तिदायक और प्रेरणास्पद मानता हूँ जो प्रेस और मीडिया के चहेते बने हुये हैं (इनमें अपवाद हैं, इसे मैं स्वीकार करता हूँ)। मेरी पीढ़ी के लेखकों-चिंतको द्वारा छेड़ी गयी बहसों को उनकी अनुपस्थिति में भी मैं जिंदा रखें हुये हूँ, उन्हे उपेक्षा, निंदा और भर्त्सना से अथवा पुराना पड़ जाने से बचाये हुये हूँ।

जो कुछ मैं अपनी पीढ़ी के बारे में कह रहा हूँ, वह अतीत के लेखकों-चिंतकों पर भी लागू होती है, फिर बात चाहे बाइबिल की हो अथवा प्लेटो, काण्ट, मार्क्स, फ्रायड, हायडेगर जैसे महारथियों की। और, जैसाकि हम सभी जानते हैं, इसका कारण यह है कि मैं किसी चीज को छोड़ना नहीं चाहता, वास्तव में मैं ऐसा कर ही नहीं सकता। जीना सीखना एक प्रकार का आत्म-मोह (Narcissism) होता है (आत्म-मोह की इस अवधारणा को मैंने अन्यत्र थोड़ा सा उलझाया है) : हम यथासंभव जीना, अपने को संरक्षित करना और उन सभी चीजों को उर्वरित करना चाहते रहे हैं जो, हमारी तुलना में कहीं अधिक महानतर और शक्तिशाली होने के बावजूद, अंततः इस लघु ''मैं'' का अंश हैं और जो चारों ओर इस ''मैं'' का ही अतिरेक अथवा विस्तार हैं। जिसने मुझे आकार दिया है, जिसे मैं इतना प्यार करता हूँ, जो मेरा नियम रहा है, उसे छोड़ने का मुझसे आग्रह करने का मतलब होता है मुझसे मरने का आग्रह करना। इस तरह की वफादारी एक प्रकार की मानवीय अंतःवृत्ति होती है। कुछ दुष्कर लगने वाले सूत्रीकरणों को इस आधार पर छोड़ देना क्योंकि उन्हें कोई समझ नहीं पायेगा, अथवा पढ़ने की कला न जानने वाला अथवा किसी पुस्तक का शीर्षक न समझ पाने वाला कोई पत्रकार अथवा कोई पाठक अथवा पाठक समूह इससे दिग्भ्रमित हो जायेगा और यह कि इसके कारण उसकी आजीविका अथवा प्रतिष्ठा पर आँच आ सकती है, मेरी दृष्टि में ऐसी अश्लीलता है जो मुझे स्वीकार्य नहीं है। इसे स्वीकार करने में ऐसा अनुभव होता है मानो मैं किसी के सामने घुटने टेक रहा हूँ या फिर किसी की गुलामी कबूल कर रहा हूँ अथवा अपनी मूर्खता के कारण मृत्यु का वरण कर रहा हूँ।

बिर्नबॉम : आपने लेखन की एक ऐसी विधा का आविष्कार किया है जिसे उत्तरजीविता (Survival) का लेखन कहा जा सकता है जो रिक्त के प्रति इस गहन प्रतिबद्धता के अनुकूल है; रिक्थ में मिली प्रतिश्रुति का लेखन, सुरक्षित कर लिये गये छाया-चिन्ह ("Trace") का लेखन, सौंपे गये उत्तरदायित्त्व का लेखन।

देरिदा : यदि मैंने अपने लेखन का आविष्कार किया होता तो ऐसा मैंने किसी अनवरत

क्रांति के रूप में किया होता क्योंकि प्रत्येक स्थिति में यह आवश्यक होता है कि स्पष्टता की उपर्युक्त विधि अथवा रूप रचा जाय, एकवाची घटना का नियम आविष्कृत किया जाय, कल्पित अथवा वांछित सम्बोध्य को ध्यान में रखा जाय; और साथ ही यह मान कर चला जाय कि मानो यह लेखन उस पाठक को सुनिश्चित करेगा जो (''जीने'' के लिये) पढ़ना सीखेगा अर्थात् किसी ऐसी चीज को पाने के लिये पढ़ने का उपक्रम करेगा जिसे वह अन्य किसी उपाय से पाना जानता ही नहीं। उम्मीद की जानी चाहिये कि इसके पणिामस्वरूप ऐसा पाठक अलग रूप में पैदा होगा, अन्यथा रूप से नियामित होगा। उदाहरणार्थः दर्शन के वृक्ष में लगायी गयी कविता की ये कलमें और जो भी हों, किसी भ्रम में नहीं रहेंगी, अथवा समध्वनि वाले शब्दों के प्रयोग की कुछ अलग विधियाँ, अनिर्णीयता, अथवा भाषा के छल जिन्हें तमाम लोग भ्रमवश इसलिये पढ़ते हैं क्योंकि वे उनकी उचित/तार्किक अनिवार्यता को नहीं समझ पाते। प्रत्येक पुस्तक पढ़ने का प्रशिक्षण देने वाली एक पूरी पाठशाला होती है जिसका उद्देश्य होता है पाठक तैयार करना। विशाल स्तर पर उत्पादन करने वाले प्रेस और प्रकाशन-संस्थान आज पुस्तकों-पत्रिकाओं से बाढ़ के पानी की तरह ऊभ-चूभ हैं लेकिन वे पाठक नहीं बना पा रहे हैं/नहीं बना सकते। वे किसी छायाभासी अवशेषी विधि से किसी ऐसे पाठक अथवा पाठक समूह की उपस्थिति को मान कर चल रहे हैं जिसे पहले ही तैयार मान लिया गया होता है और इस प्रक्रिया की परिणति होती है एक ऐसे मीडियाकर पाठक समूह को किसी प्रकार ठोंक-पीट कर काम चलाना जिसकी उन्होंने पहले से ही कल्पना कर रखी है।

फिर भी, जैसाकि आप कह रहे हैं, वफादारी के प्रति संवेदनशील होने के कारण कोई छाया-चिन्ह छोड़ने के क्षण में ही मैं इसे किसी को भी उपलब्ध करा सकता हूँ। मैं इसे किसी को भी *एकवाची रूप में* सम्बोधित भी नहीं कर सकता। किसी की कितना भी निष्ठावान बने रहने की इच्छा क्यों न हो, हर बार वह उस अन्य की अन्यता की गोपनीयता का रहस्य जाहिर कर देता है जिसे वह सम्बोधित कर रहा होता है और सुतरां यही होता है जब कोई किसी अपेक्षाकृत धुँधले, अस्पष्ट पाठक समूह को ध्यान में रख कर किसी पुस्तक का लेखन करता है, आप जानते ही नहीं कि आप किससे बात कर रहे हैं, आप छायाभासों का आविष्कार कर रहे होते हैं अथवा उनको गढ़ रहे होते हैं लेकिन अंततः ये सारे आविष्कार अथवा गढ़े गये रूप आपके हाथ से सरक जाते हैं। चाहे हम प्रत्यक्ष संवाद करे अथवा लेखन के माध्यम से, हमारा यह सारा उपक्रम हमारा साथ छोड़ देता है और हमसे स्वतंत्र होकर क्रियाशील हो जाता है, ठीक मशीनों अथवा कठपुतलियों जैसे (**पेपर मशीन** मैंने इस परिघटना पर विस्तार से विचार किया है।) जिस क्षण मैं अपनी ''पुस्तक'' को प्रकाशित होने के लिये, अपने से विदा कर देता हूँ—यह सही है कि इसके लिये कोई मुझे विवश नहीं करता—उसी क्षण मैं लुकते-छिपते, उसी छली प्रेत की तरह हो जाता हूँ जिसने यह कभी नहीं सीखा होगा कि कैसे जिया जाता है। मेरे पीछे मेरे द्वारा छोड़ा गया छाया-चिन्ह उसी समय मेरी आने वाली अथवा पहले ही आ चुकी मृत्यु का संकेत बन जाता है और साथ ही इस आशा का भी कि यह मेरा उत्तरजीवी भी है। लेकिन इस उत्तरजीविता को अमरत्व पाने के प्रयास के रूप में नहीं लिया जाना चाहिये। मैं अपने पीछे कागज का एक टुकड़ा छोड़ता हूँ और चला जाता हूँ, मैं मर जाता हूँ। इस संरचना से नहीं बचा जा सकता, यही मेरे जीवन का अपरिवर्ती रूप है। हर बार जब मैं किसी चीज को विदा करता हूँ, तब हर बार उस चीज का छाया-चिन्ह मुझे छोड़ जाता है, ''मेरे से ही आगे बढ़ जाता है'', और पुनर्विनियोजन की सीमा के परे हो जाता है, लेखन में मैं अपनी मृत्यु को जीता हूँ। अंततः यही परीक्षा होती है। स्वयं अपना स्वत्वहरण करते हुये, बिना यह

जाने कि जो पीछे छूट रहा होता है वह किसे सौंपा जायेगा अथवा सौंपा जाता है। विरासत में यह किसे मिलेगा और कैसे? विरासत लेने वाला कौन होगा?

यह सवाल पहले की अपेक्षा अब अधिक अर्थपूर्ण लगने लगा है और मेरे अंदर लगातार घुमड़ता रहता है, लेकिन इसके संदर्भ में हमारी तक्नो-संस्कृति का समय बहुत अधिक बदल गया है। मेरी ''पीढ़ी'' के लोग और उसी तरह पिछली पीढ़ियों के लोग एक प्रकार की ऐतिहासिकता के प्रति अभ्यस्त हो गये थे। वे यह सोचते थे कि उन्हें पता है कि उनकी कोई रचना अपने ही किसी गुण के कारण एक या दो, अथवा प्लेटो की भाँति, पच्चीस शताब्दियों तक जीवित रह पायेगी अथवा ऐसा नहीं भी हो सकता है। तिरोहित हो जाय और फिर उसका पुनर्जन्म हो जाय। लेकिन आज संरक्षण के रूपों में आयी तेजी और साथ ही उपयोग और नष्टप्राय होने में आयी तेजी विरासत की संरचना, उसकी कालिकता और जीवन-काल को रूपांतरित कर रही है। जब-जब यह विचार मन में कौंधता है, तब-तब जीवित बचे रहने का प्रश्न ऐसा रूप ले लेता है कि जिसका पहले कभी अनुमान ही नहीं लगाया जा सकता था। उम्र के जिस पड़ाव पर मैं हूँ, वहाँ मैं इस संबंध में अत्यंत ही अंतर्विरोधी अनुमानों पर सोचने के लिये तैयार हूँ। आप विश्वास करें, इस तरह की *दुहरी अनुभूति* मुझे हो रही है, एक ओर, थोड़ा हल्के-फुल्के ढंग से अथवा कुछ अभिमान के साथ कहूँ तो, किसी ने मेरे लेखन को अभी तक पढ़ना ही नहीं शुरू किया है, तमाम गंभीर पाठकों के बावजूद (और इनकी संख्या कुछ एक दर्जन होगी और इनमें अनेक लेखक-चिंतक और कवि भी शामिल हैं) यह सब बाद में ही संभव हो पायेगा और; दूसरी ओर, इसी के साथ यह भी अनुभूति होती है कि मेरे जाने के दो-एक सप्ताह अथवा दो-एक महीने बाद *कुछ भी शेष नहीं बचा रहेगा*। कुछ भी नहीं केवल उसे छोड़ कर जिसका कॉपीराइट हो चुका है और जिसे मैं पुस्तकालयों को सौंप चुका हूँ। मैं सच कह रहा हूँ, मैं एक ही साथ इन दोनो अनुमानों में बड़ी गहरायी से विश्वास कर रहा हूँ।

बिर्नबॉम : आशा के इस केंद्र में भाषा है और प्रथमतः फ्रेंच भाषा है। आपके लेखन को पढ़ते समय इसकी प्रत्येक पंक्ति में इस भाषा के प्रति आपके अत्यंत आत्मीय लगाव को कोई भी महसूस कर सकता है। **मोनोलिंग्वलिज़्म ऑफ द अदर** (मूल फ्रेंच संस्करण 1996, अंग्रेजी अनुवाद 1998) में आप अपने को बड़े व्यंग्यात्मक लहजे में फ्रेंच भाषा का ''अंतिम पक्षधर और चित्रकार'' कहने की सीमा तक चले जाते हैं।

देरिदा : लेकिन तब भी यह मेरी नहीं है हालाँकि यही एक भाषा है जिसे मैं ''अपनी'' कह सकता हूँ। भाषा का अनुभव सचमुच ही बहुत अनूठा और महत्त्वपूर्ण होता है और इसीलिये नाशवान होता है। यह कोई मौलिक बात नही। ''(अल्जीरियायी) स्वतंत्रता संघर्ष'' के पहले की पीढ़ी में जन्में होने के कारण मुझे अनेक संयोगों ने फ्रेंच यहूदी बना दिया। इन संयोगों में यहूदियों, अल्जीरियायी यहूदियों की कई अनूठी विशेषताएँ शामिल हैं। मैं अल्जीरिया में फ्रेंच यहूदीवाद में आये अनेक असाधारण रूपांतरणों का अंश हूँ। मेरे पूर्वज भाषा और रीति-रिवाज में अल्जीरियायी अरबों के बहुत निकट थे। 1870 की क्रेमे घोषणा के बाद के वर्षों में अगली पीढ़ी अपेक्षाकृत अधिक बुर्जुआ बन गयी। खून-खराबे के चलते यद्यपि मेरी नानी की शादी कमोबेश चुपके से अल्जियर्स के टाउनहॉल के पिछवाड़े एक छोटे से कमरे में सम्पन्न हुई (यह सब कुछ ड्रेफस कांड के दौर की घटना है), वे पहले ही अपनी बेटियों को पेरिस के बुर्जुआ समाज के अनुरूप पाल-पोश रही थीं। फिर मेरे माता-पिता की पीढ़ी शुरू हुई जिसमें थोड़े-बहुत पढ़े-लिखे लोग नौकरी पेशे में लग गये और बाकी छोटे-मोटे दुकानदार बन गये, कुछ थेड़े-बहुत सम्पन्न, शेष किसी तरह काम चलाने वाले, कुछ ऐसे भी थे जो नगरीय ब्रांडों के प्रतिनिधि

बन कर औपनिवेशिक स्थिति का लाभ उठा रहे थे। जैसे कोई एक छोटे से कमरे में किसी सहायक के बिना पेरिस में बने साबुन का उत्तरी अफ्रीका में एकमात्र विक्रेता बन जाता था। फिर मेरी पीढ़ी आयी जिसमें अधिकांश लोग पढ़े-लिखे थे और अध्यापन, चिकित्सा, कानून जैसे पेशों में लगे हुये थे। और 1960 आते-आते ऐसे लगभग सभी लोग फ्रांस आ गये। मैं स्वयं 1949 में आ गया। मेरे सहित मेरी पीढ़ी और उसके बाद की पीढ़ी में एक प्रकार से अर्द्ध-ट्रैजिक, क्रांतिकारी, दुर्लभ और खतरनाक और मिली-जुली शादियों का क्रम भी शुरू हो गया। और जैसे मैं जीवन से, अपने जीवन से प्यार करता हूँ, उसी तरह मैं उन चीजों को भी प्यार करता हूँ जिन्होंने मुझे बनाया है और इन चीजों में भाषा भी शामिल है अर्थात् यह फ्रेंच भाषा, एकमात्र भाषा जो मुझे पढ़ाई गयी और जिसे साधने का प्रशिक्षण मुझे दिया गया, एकमात्र भाषा जिसके लिये मैं कह सकता हूँ कि मैं कुछ न कुछ उत्तरदायी हूँ। यही कारण है कि अपने लेखन में मैंने इस भाषा के साथ उद्दण्ड तो नहीं लेकिन हिंसक व्यवहार किया है। लेकिन यह सारा कुछ प्यार की वजह से हुआ। सामान्यतः जिसे प्यार कहा जाता है वह भाषा से प्यार के बीच से ही गुजर कर जाता है जो न तो राष्ट्रवादी होता है, न ही रूढ़िवादी लेकिन जो प्रमाण की अपेक्षा अवश्य रखता है और साथ ही परीक्षा लेने की भी। ऐसा नहीं होता कि आप भाषा के साथ जो चाहें कर सकते हैं, भाषा हमारी पूर्ववर्ती होती है लेकिन साथ ही हमारी उत्तरवर्ती भी। जब भाषा में आप किसी नई चीज का प्रवेश कराते हैं तब आपको यह बड़े करीने से करना होता है, बड़े आदर से इसके गुप्त नियमों का अनादर करते हुये ऐसा करना होता है। चाहें तो आप इस प्रक्रिया को निष्ठा के बिना निष्ठा कह सकते हैं; जब मैं फ्रेंच भाषा के साथ किसी प्रकार की हिंसा करता हूँ तब मैं जिसे इस भाषा के विकास और जीवन में इस भाषा का निषेधादेश कहता हूँ उसका सम्मान करते हुये करता हूँ। जब मैं ऐसे लेखकों को पढ़ता हूँ जो यह सोचते हैं कि वे फ्रेंच भाषा की वर्तनी अथवा वाक्यविन्यास का अतिक्रमण फ्रेंच भाषा को प्यार किये बिना कर सकते हैं तब मुझे उन लेखकों से घृणा होती है और वह घृणा हँसी के रूप में व्यक्त होती है। ऐसे लेखक मुझे उन लड़कों जैसे लगते हैं जो असमय कृत्रिम विधि से अपना वीर्य क्षय करते हैं और फिर, पहले से कहीं अधिक अश्पृश्य, फ्रेंच भाषा लेखकों की अगली पीढ़ी का इंतजार करने लगते है। इस दृश्य को मैंने अपनी पुस्तक **द पोस्ट कार्ड** (मूल फ्रेंच संस्करण, 1980, अंग्रेजी अनुवाद 1987) में किंचित् क्रूरता के साथ चित्रित किया है।

फ्रेंच भाषा के इतिहास में अपनी छाप छोड़ जाना इसका आकर्षण मुझे अवश्य है। मैं इस भाव को जीता हूँ अर्थात् यदि फ्रांस के लिये नहीं तो कम से कम फ्रेंच भाषा के लिये जिसने शताब्दियों तक कुछ चीजों को अपने भीतर समावेशित किये रखा है। मैं सोचता हूँ कि अगर मैं इस भाषा से प्यार करता हूँ जैसाकि मैं अपने जीवन से करता हूँ, और कभी-कभी तो मूल फ्रेंचभाषियों की तुलना में अधिक करता हूँ तो इस कारण कि मैं किसी ऐसे विदेशी के रूप में इसे प्यार करता हूँ जिसको इस भाषा ने अंगीकार कर लिया है और जिसने इस भाषा को अपनी एकमात्र भाषा के रूप में विनियोजित कर लिया है। भावनात्मकता और अतिशयोक्तिकरण दोनो। मेरे साथ अल्जीरिया के सभी फ्रेंच नागरिक इस भाषा में सहभागी हैं, चाहे वे यहूदी हों अथवा महानगरीय फ्रांस में बसे वे लोग जो सबके बावजूद विदेशी थे —दमनकारी तथा स्तरीकरण करने वाले, सामान्यकारक और उपदेशक। उन्होंने भाषा का एक मॉडल, एक विशिष्ट रूप, एक प्रकार की एकरूपता, एक सुनिश्चित रूप प्रस्तुत किया जिसे सभी को स्वीकार करना होता है। लेकिन साथ ही हम फ्रांस में बोली जाने वाली फ्रेंच का

मजाक भी उड़ाते थे। जब फ्रांस से पारंपरिक फ्रेंच उच्चारण करनेवाला एक महानगरीय फ्रेंच अध्यापक हमे पढ़ाने आया तो वह अपने उच्चारण के चलते किसी अजूबे जैसा लगता था। और ऐसे ही बिन्दु पर अतिशयोक्तिकरण का जन्म होता है। मेरी एक ही भाषा है लेकिन बिलकुल ही अनूठे और विशिष्ट रूप में में यह भाषा मेरी नहीं है। **मोनोलिंगवलिज़्म ऑफ द अदर** में मैंने इसकी विस्तृत व्याख्या की है। एक प्रकार के एकवाची इतिहास ने मेरे भीतर इस सार्वभौमिक नियम को अधिक तीव्र कर दिया है। भाषा कोई ऐसी चीज नहीं होती जो किसी की अपनी होती हो। न तो नैसर्गिक रूप में और न ही अपने अंतःतत्व में और इसी लिये सम्पत्ति, विनियोजन, और औपनिवेशिक उपस्थापन की बात की जाती है।

बिर्नबॉम : सामान्यतः आपको ''हम'', जैसे ''हम दार्शनिक'' अथवा ''हम यहूदी'' कहने में परेशानी होती है। लेकिन जिस क्रम और गति से विश्व-दुर्व्यवस्था अपने पंख फैला रही है, उसी क्रम में ''हम यूरोपीय'' कहने में आपका संकोच लगातार कम होता गया है। प्रथम खाड़ी युद्ध के दौरान लिखी गयी आप की पुस्तक **दि अदर हेडिंग** (मूल फ्रेंच संस्करण 1991; अंग्रेजी अनुवाद 1992) में आप ने पहले ही अपने को ''पुराना योरोपीय'', ''एक प्रकार का योरोपीय मिश्रण'' कहा है।

देरिदा : इस संदर्भ में दो सावधानियों को ध्यान में रखना होगा। यह सच है कि मुझे ''हम'' कहने में कठिनाई होती है लेकिन ऐसे अवसर भी आते हैं जब मैं ''हम'' कहता हूँ। इस संबंध में मुझे परेशान करने वाली तमाम बातों के बावजूद (और इसमें इज़रायल की विपत्तिकारी और आत्मघाती राजनीति के साथ ही एक प्रकार के यहूदीवाद की राजनीति प्रमुख है क्योंकि प्रारंभ से ही यहूदीवाद के अनेक रूप रहे हैं और मेरी निगाह में इज़रायल यहूदीवाद का उतना ही प्रतिनिधि रहा है जितना कि विश्व डायस्पोरा अथवा विश्व यहूदीवाद अथवा मूल यहूदीवाद जो बहुल और अंतर्विरोधयुक्त रहा है; संयुक्त राज्य अमरीका में ऐसे कट्टरपंथी ईसाई हैं जो अपने को वास्तविक यहूदी मानते हैं और बुश प्रशासन में इन ईसाइयों की लॉबी अमरीकी यहूदीवादी यहूदियों की तुलना में कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है और साथ ही अमरीकी-इज़रायली संयुक्त राजनीति की दिशा तय करने में सऊदियों की तो इससे भी बड़ी भूमिका है)। खैर, इन सबके बावजूद, और मेरे अपने ''यहूदीपन'' के संबंध में मेरी अपनी तमाम समस्याओं के बावजूद, मैं इससे इंकार भी नहीं कर सकता। कुछ स्थितियों में मैं ''हम यहूदी'' अभी भी कहूँगा। यह अत्यधिक समस्याग्रस्त ''हम'' मेरी सबसे बड़ी चिंता के केंद्र में है, अर्थात् वह चिंता जिसे मैंने कभी हँसी में ''यहूदियों में अंतिम'' यहूदी की चिंता कहा था। मेरे विचार में ऐसा कहना कुछ वैसे ही है जैसे अरस्तू ने ''प्रार्थना'' के विषय में कहा था ('ओ मेरे मित्रों, यहाँ कोई मित्र नहीं है।'' (उद्धृत, ज़्याक देरिदा **द पालिटिक्स ऑव फ्रेण्डशिप** (मूल फ्रेंच संस्करण 1994; अंग्रेजी अनुवाद 1997) पृ. 1) यह न तो सच होता है, न झूठ। वास्तव में यह शब्दशः प्रार्थना ही है; कुछ स्थितियों में मैं ''हम यहूदी'' वैसे ही कहता हूँ जैसेकि ''हम फ्रेंच''।

और फिर इसके बाद, अपने लेखन में प्रारंभ से ही—आप कह सकते हैं, डिकंस्ट्रक्शन के साथ ही—मैं लगातार ''योरोपवाद'' अथवा ''यूरोकेंद्रवाद'' को लेकर बहुत ही चौकन्ना और आलोचक रहा हूँ, विशेषरूप से इस परिघटना के कुछ आधुनिक सूत्रकरणों—विशेषकर पॉल वेलरी, हुर्सर्ल, और हाइडेगर के द्वारा प्रस्तुत ''योरोपीय'' और ''योरोकेंद्रियता'' के सूत्रकरणों—पर मैंने बहुत ही सख्त टिप्पणियाँ की हैं। इस मुद्दे पर मैंने काफी लिखा भी है और इस दिशा में मेरी पुस्तक **दि अदर हेडिंग** प्रमुख है। सामान्यतः डिकंस्ट्रक्शन एक ऐसा उपक्रम है जिसे अनेक विद्वानों ने उचित ही यूरोकेंद्रियता की आलोचना (क्रिटीक) के रूप में देखा है। हाल

के कुछ वर्षों में जब भी मुझे ''हम योरोपीय'' कहने के अवसर आये हैं तो मैंने इसे बिल्कुल ही अलग किस्म से कहा है और कुछ विशेष परिस्थितियों के संदर्भ में कहा है। योरोपीय परम्परा में जो कुछ भी डिकंस्ट्रक्ट किया जा सकता है वह इस संभावना को नकारने के रूप में नहीं जो आज योरोप, अन्य योरोप और हमारी वर्तमान भू-राजनीतिक की साझी स्मृति के तहत ज्ञानोदय से और भविष्य की राजनीति से रिक्त अमरीकी वर्चस्व (डिक चेनी, वोल्सवित्ज़ और रम्सफील्ड की राजनीतिक व्यूह रचना) और अब इस्लामी कट्टर धर्मवाद के खिलाफ हम सभी को एकजुट कर सकती है (हालाँकि इन दोनो गुटों में अंदर ही अंदर क्रियाशील अंतर्विरोधों, प्रक्रियाओं और विषंगताओं की उपेक्षा भी नहीं की जानी चाहिये और साथ ही हमें उन लोगों के साथ एकजुट हो जाना चाहिये जो भीतर ही भीतर इन दोनो पाखंडों का प्रतिरोध कर रहे हैं)।

ऐसी स्थितियों में एक नई भूमिका स्वीकार करना योरोप की नैतिक जिम्मेदारी है। मैं उस ''योरोपीय समुदाय'' की बात नहीं कर रहा हूँ जो आज अस्तित्व में है और नये (नव-उदारवादी) बहुमत के साथ आकार ग्रहण कर रहा है तथा जिसके ऊपर तमाम नये युद्धों का खतरा मंडरा रहा है (इस संदर्भ में मैं बहुत ही निराशावादी हूँ) अपितु एक भावी योरोप की, अपनी खोज में लगे हुये योरोप की बात कर रहा हूँ। अर्थात् (भौगोलिक) योरोप। जिसे हम एक तरह से बीजगणितीय संक्षिप्तता के तहत ''योरोप'' कहते हैं, उसे मानवता के भविष्य के लिये और अंतर्राष्ट्रीय विधि के भविष्य के लिये कुछ जिम्मेदारियों को लेना है - मेरे लिये यह एक प्रकार की आस्था, एक प्रकार के विश्वास का प्रश्न है और ऐसे संदर्भ में मुझे ''हम योरोपीय'' कहने में संकोच नहीं होता। ऐसा कहने का मतलब किसी ऐसे योरोप के सृजन की बात करना नहीं होता जो एक दूसरी महा सैन्य-शक्ति के रूप में उभरेगा, जो अपने बाजार की रक्षा करने में लगा रहेगा और दूसरे शक्ति-प्रखण्डों के रास्ते में अवरोध बन जायेगा। मेरी संकल्पना एक ऐसे योरोप की है जो वैकल्पिक भूमण्डलवादी राजनीति की आधारशिला रखेगा। मेरे लिये ऐसा योरोप एकमात्र संभव बहिर्मुख मार्ग होगा।

शक्तियाँ भीतर ही भीतर सक्रिय हैं; हो सकता है कि मनःस्थितियाँ अभी बहुत स्पष्ट न हों लेकिन मैं यह नहीं सोचता कि अब उन्हें कोई रोक सकता है। जब मैं योरोप कहता हूँ तब मेरी संकल्पना एक वैकल्पिक भूमण्डलवादी योरोप, सम्प्रभुता और अंतर्राष्ट्रीय विधि की अवधारणाओं को आमूल-चूल बदलने के लिये सकल्पबद्ध योरोप की होती है जिसके पास नाटो तथा अमरीकी सैन्य शक्ति से पूर्णतया स्वतंत्र सैन्य बल होगा, एक ऐसा सैन्य बल जो न आक्रामक होगा, न ही सुरक्षात्मक, यहाँ तक कि अवरोधी भी नहीं लेकिन जो एक नये संयुक्त राष्ट्र संघ के संकेत पर तत्काल हस्तक्षेप करने में समर्थ होगा, एक ऐसा संयुक्त राष्ट्र संघ जिसके प्रस्तावों का सम्मान किया जायेगा (क्योंकि इजरायल और अन्य स्थानों पर ऐसा किया जाना अनिवार्य है)। संयुक्त राष्ट्र संघ ही वह स्थान है जहाँ हम धर्मनिरपेक्षता के कुछ रूपों जैसे सामाजिक न्याय सहित अनेक योरोपीय विरासतों के बारे में सर्वोत्तम ढंग से सोच सकते हैं।

(मैंने अभी-अभी धर्मनिरपेक्षता की बात की है, कृपया मुझे कुछ बातें कोष्ठक में कहने की इजाजत दीजिये। मेरी बात का स्कूलों में हिजाब पहनने या न पहनने से कोई संबंध नहीं हैं। मैंने निस्संकोच भाव से अपने हस्ताक्षर सहित नोएल की स्वागतयोग्य और साहसिक पहल का समर्थन किया है हालाँकि समलैंगिक विवाह उदाहरण है उन्नीसवीं सदी में अमरीकियों द्वारा चलाये गये *सविनय अवज्ञा* की महान परंपरा का जिसके अंतर्गत विधिक प्रावधानों की अवहेलना करने की बजाय उत्तम और उच्चतर विधि के नाम पर कुछेक विधायी प्रावधानों का उल्लंघन

करने की बात कही जाती थी—चाहे ये प्रावधान भविष्य में बनने वाले रहे हों अथवा संविधान में स्पष्ट शब्दों में अथवा भावनात्मक ध्वनियों के रूप में व्यक्त किये गये हों। और इस प्रकार उस समय प्रचलित विधायी संदर्भ में मैंने ''हस्ताक्षर'' किया क्योंकि मेरे हिसाब से इस विधायी कदम के अंतर्गत समलैंगिकों के अधिकारों का हनन हो रहा था और साथ ही विधि की भाषा और भावना में पाखण्ड और बहुलार्थकता का आभास हो रहा था। यदि उस समय मैं विधायी सभा का सदस्य रहा होता तो मैंने अपनी नागरिक और धर्मनिरपेक्ष संहिता में प्रजनन, एक दूसरे के प्रति वफादार बने रहने की प्रतिज्ञा तथा अन्य चीजों सहित एक धार्मिक, पवित्र तथा विषमाँग योनिक मूल्य के रूप में ''विवाह'' शब्द और इसकी अवधारणा को समाप्त करने का प्रस्ताव किया होता। वास्तव में विवाह किसी भी धर्मनिरपेक्ष राज्य द्वारा धार्मिक संस्थानों को दी गयी छूट होता है और इसमें मुख्य होता है एकल विवाह जो कोई यहूदी आदेश नहीं है—यहूदी समुदाय के ऊपर यह प्रतिबंध योरोपीय लोगो द्वारा उन्नीसवीं सदी में थोपा गया था और कुछ पीढ़ियों के पहले इसे आदेश के रूप में नहीं माना जाता था—और सभी जानते हैं कि मुसलमानों के ऊपर यह आदेश नहीं लागू होता था। विवाह की अवधारणा से मुक्ति के द्वारा और इस प्रकार धार्मिकता और पवित्रता से छुटकारा पाने के द्वारा—किसी भी धर्मनिरपेक्ष संविधान में इनके लिये कोई जगह नहीं होनी चाहिये—कोई भी व्यक्ति इसके लिये एक नागरिक समझौते पर हस्ताक्षर कर सकता है, एक ऐसा समझौता जिसमें पर्याप्त सुधार कर लिया गया हो, जिसे अच्छी तरह सुव्यस्थित कर लिया गया हो तथा जो समझौता करने वाले दोनो पक्षों के लिये पर्याप्ततः नमनीय हो और जिसका आसानी से अनुपालन किया जा सकता हो लेकिन जिसमें लिंग अथवा संख्या का बंधन न हो। स्पष्ट रूप से ''विवाह'' के आधार पर एक दूसरे से जुड़ने के इच्छुक लोगों के लिये अपनी इच्छानुसार किसी धार्मिक प्रक्रिया अथवा संस्थान का सहारा लेने की सुविधा होनी चाहिये। ऐसे तमाम देश हैं जहाँ ऐसी सुविधा मौजूद है तथा जहाँ समान लिंग वाले दो लोगों को विवाह करने की छूट मौजूद है। इस प्रकार दो व्यक्ति किसी भी एक विधि से साथ-साथ रह सकते हैं। विवाह के बारे में मैं इतना ही कहना चाहूँगा।)

जिसे मैं ''डिकंस्ट्रक्शन'' कहता हूँ, उसका मूल ''योरोपीय'' है, भले ही उसके निशाने पर योरोपीय ही हों; ''डिकंस्ट्रक्शन'' एक योरोपीय उत्पाद है, एक क्रांतिकारी विकल्पता के अनुभव के रूप में योरोप का स्वयं से संबंध। ज्ञानोदय (Enlightenment) के समय से ही योरोप लगातार अपना आत्मालोचन अथवा आत्म-मीमांसा करता रहा है और इस परिष्कारक तथा पूर्णकारक रिक्त में भविष्य के लिये एक अवसर है। कम से कम मैं ऐसी आशा करना चाहूँगा और यही है जो मेरी कल्पना को तब खाद-पानी देता है जब मैं लोगों को योरोप की आलोचना इस बात के लिये करते हुये सुनता हूँ जैसेकि मानो योरोप और कुछ न होकर महज अपराधों का केंद्र हो।

बिर्नबॉम : बात योरोप की चल ही पड़ी है तो मैं आपसे यह जानना चाहूँगा कि क्या इस बात को लेकर आप अपने से युद्धरत नहीं हैं? एक ओर आप यह देखते हैं कि **9/11** के बाद की घटनाएँ पुराने भू-राजनीतिक व्याकरण को ध्वस्त कर रही हैं और इस क्रम में राजनीति की एक विशेष अवधारणा के संकट का संकेत दे रही हैं, अर्थात् वह अवधारणा जिसे आप समुचित रूप से योरोपीय के रूप में परिभाषित करते हैं। दूसरी ओर, आप इस योरोपीय चेतना से, और प्रथमतः उस अंतर्राष्ट्रीय विधि की वैश्विक-राजनीतिक (कॉस्मोपॉलिटिकल) आदर्श से भी लगाव महसूस करते हैं जिसके पतन को आप आलेखित भी करते हैं और जिसके बचे रहने को...।

देरिदा : वैश्विक-राजनीतिक को ''एक नये स्तर तक उठाया जाना है''(इसके लिये देखें ''ऑन कॉस्मोपॉलिटैनिज़्म'' (इस पाठ के हिन्दी अनुवाद के लिये देखें **साखी** 25, अप्रैल-जून 2015, पृ. 236-249)। जब हम राजनीतिक (पॉलिटिकल) की चर्चा कर रहे होते हैं, तब हम एक ग्रीक शब्द, एक योरोपीय अवधारणा की बात कर रहे होते हैं जिसने राज्य, इस राज्य की राजनीति और इसकी देशीयता अर्थात् इसकी स्वस्थानीयता की कल्पना पहले ही कर ली थी। इस इतिहास के भीतर जो कुछ भी टूटन हो सकती है, उसके बावजूद पॉलिटिकल की यह अवधारणा आज भी महत्त्वपूर्ण बनी हुयी है जब तमाम ताकतें इसे ध्वस्त करने में लगी हुयी हैं। किसी राज्य की सम्प्रभुता अब इसके परिक्षेत्र से नहीं जुड़ी रह गयी है और न ही आज की संचार प्रौद्योगिकी अथवा सैन्य राजनीति से, और इस क्रमभंग से निश्चित ही पॉलिटिकल की पुरानी योरोपीय अवधारणा समस्याग्रस्त हो गयी है। और यही बात युद्ध की अवधारणा के संदर्भ में भी कही जा सकती है और साथ ही नागरिक और सैन्य अथवा राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय आतंक के विषय में भी। इसे मैंने अन्यत्र (**रोग्सः टू एसेज़ ऑन रीज़न** (मूल फ्रेंच संस्करण 2003; अंग्रेजी अनुवाद 2005) और विश्व व्यापार संगठन (डब्ल्यु टी ओ) पर आतंकी हमले के बाद दिये गये एक साक्षत्कार में विस्तार से विवेचित किया है (यह साक्षत्कार जियोवानी बोरादरी द्वारा सम्पादित **फिलॉसफी इन द टाइम ऑफ टेरर** में संग्रहीत है। हिन्दी अनुवाद के लिये देखिये **पक्षधर**)। लेकिन मैं यह नहीं सोचता कि यह सारा कुछ हम पॉलिटिकल पर भी लागू कर सकते हैं। और यही बात मैं सम्प्रभुता के भी बारे में कहूँगा, जो मेरे हिसाब से कुछ स्थितियों में आवश्यक होती है जैसे कुछ भूमण्डलीय बाजार ताकतों के विरुद्ध लड़ने में। यहाँ भी हम एक योरोपीय विरासत की बात कर रहे हैं जिसकी निरंतरता बनाये रखने और साथ ही जिसे रूपांतरित करने की जरूरत है। **रोग्स** में मैंने कुछ इसी तरह की बातें लोकतंत्र के बारे में कही हैं। लोकमंत्र को मैं योरोपीय विरासत मानता हूँ लेकिन यह लोकतंत्र कभी संतोषजनक स्थिति में अभी तक नहीं रहा है और अब भी अपने असली स्वरूप के लिये प्रतीक्षारत है। इस तरह के संकेत आपको प्रायः मिल जायेंगे लेकिन इनका कोई औचित्य बता पाना मेरे लिये मुश्किल है अलावा इसके कि मैं नहीं कह सकता कि मैं यही हूँ। यह सच है कि मैं अपने से युद्धरत हूँ और आप नहीं जान सकते कि किस सीमा तक, आपके अनुमान से कहीं अधिक और मैं ऐसी अंतर्विरोधी बातें कर रहा हूँ जिनके बारे में हम कह सकते हैं कि वे सचमुच के तनाव में फँसी हुई हैं, ऐसी चीजें हैं जिन्होंने मुझे रचा है, जो मुझे जिंदा रखे रही हैं ओर जो मेरी मृत्यु का कारण भी होंगी। कभी-कभी मैं इस युद्ध की भयावहता को इतना अधिक गहन पाता हूँ कि इसे सहना मुश्किल हो जाता है लेकिन साथ ही मैं यह भी जानता हूँ कि जीवन यही है। मैं शाश्वत विराम में ही चैन पाऊँगा। इस तरह मैं सचमुच नहीं कह सकता कि मैं इस अंतर्विरोध की कल्पना करता हूँ लेकिन मैं यह भी जानता हूँ कि यही मुझे जीवित रखे हुये है और मुझे भी वही सवाल पूछने को विवश कर रहा है जिसकी आपने पहले ही याद दिलाई है, ''कोई जीना कैसे सीखता है?''

बिर्नबॉम : आपके लेखन के केंद्र में एक बहुत ही पुरानी चिंता है ज्ञान और सत्ता, शोध संस्थानों और राज्य के बीच संबंधों को लेकर। और साथ ही यह चिंता भी किसी योरोपीय प्रतिश्रुति से जुड़ी है अर्थात् ''भविष्य की मानवीकियों'' (''किसी शर्त के बिना विश्वविद्यालय'' की अवधारणा) में आपके विश्वास का पुनर्नवीनीकरण हुआ है।

देरिदा : जिसे मैंने ''कल का विश्वविद्यालय'' कहा है उसे कोई संरक्षण-स्थल नहीं होना चाहिये, वह मान कर चलता है कि अध्यापन उस अभियान को आगे बढ़ाये जो विश्वविद्यालय

की अवधारणा में अंतर्भूत है। इस संदर्भ में एक योरोपीय और सापेक्षिक रूप से नई अवधारणा भी इस बीच आयी है जिसके अनुसार विश्वविद्यालयों को किसी शर्त अथवा बंधन के बिना सत्य के अनुसंधान-अन्वेषण के उद्देश्य के लिये अपने को तत्पर रखना प्रमुख हो गया है, अर्थात् ज्ञान-अनुसंधान, आलोचना, सवाल पूछने के क्रम में किसी भी राजनीतिक अथवा धार्मिक संस्था अथवा संस्थान के संभावी हस्तक्षेप के प्रति सजग प्रतिरोधी दृष्टिकोण बनाये रखना। इस अवधारणा का पारिभाषिक क्षण इमैनुअल काण्ट के लेखन में देखा जा सकता है। हस्तक्षेप की संभावना की दृष्टि से विभिन्न अनुशासनों का श्रेणीक्रम बनाते समय काण्ट दर्शन को विधि, धर्मशास्त्र, औषधिविज्ञान आदि के बाद रखते हैं क्योंकि दर्शन सत्ता की पहुँच से सबसे अधिक दूर होता है; इसीलिये अन्य अनुशासनों की तुलना में वे दर्शन को इसलिये भी किंचित् श्रेष्ठ मानते हैं क्योंकि उनके अनुसार इसे वह सारा कुछ कहने का अधिकार होता है जो इसकी निगाह में सत्य है, बशर्ते कि यह उस सत्य को विश्वविद्याालय की सीमा के भीतर, न कि उसके बाहर कहे - और यहीं मैंने काण्ट के विरुद्ध आपत्ति उठायी है। विश्वविद्यालय की जन्मगत अवधारणा में सोचने, बोलने और क्रिटीक करने की निर्बंध स्वतंत्रता का निरपेक्ष अधिकार अंतर्निहित होता हैं।

बिनबॉम : लेकिन ऐसे में हम फॉरिसन जैसे उन लोगों का क्या करें जो अपने को होलोकास्ट-संशोधनवादी कहते हैं (और जो नात्सी मृत्यु शिविरों में निर्दोष बच्चों, वृद्धों सहित लाखो-लाख यहूदी तथा अन्य गैर-जर्मनों की नृशंस सामूहिक हत्याओं को झूठ अथवा अतिरंजित बताते हैं) और गैस चैम्बरों के अस्तित्व को ही चुनौती देते हैं?

देरिदा : वैसे तो किसी को भी सवाल उठाने का अधिकार है लेकिन जब कोई सवालों के जवाब के लिये झूठ का सहारा लेता है और प्रति-सत्यों को औजार बनाता है, अर्थात् ऐसी चीजों का सहारा लेता है जो ईमानदार शोध और आलोचक विचार से अछूते होते हैं तब स्थिति दूसरी होती है। ऐसा आचरण या तो अक्षमता के कारण होता है अथवा अनुचित उपकरणवाद के कारण और इसका प्रतिकार अथवा प्रतिवाद होना ही चाहिये, ठीक वेसे ही जैसा किसी लापरवाह विद्यार्थी के साथ किया जाता है। ऐसा नहीं है कि अगर कोई विश्वविद्यालय में प्रोफेसर हो गया तो वह जो चाहे बोल सकता है, बावजूद इसके कि हम विश्वविद्यालय के लिये प्रश्न करने और चीजों की पुनर्परीक्षा करने की संभावना सुरक्षित रखते हैं। अगर फॉरिसन ने केवल इतना ही कहा होता कि मुझे इतिहास में स्वतंत्र शोध करने दीजिये और कुछ साक्षियों द्वारा दिये गये साक्ष्य को मानने के लिये मजबूर मत कीजिये तो मैं उनके साथ होता। लेकिन अकाट्य और प्रमाणित किये जा चुके विशाल साक्ष्यों के बावजूद जब वे क्रिटिकल सवालों से आगे जाकर ऐसी प्रामाणिकताओं की ओर जाना चाहते हैं जो प्रमाणित और सिद्ध किये जा चुके तथ्यों की दृष्टि से स्वीकारयोग्य नहीं हैं, तब वे स्पष्टतः अक्षम होने के साथ ही हानिकारक लेकिन प्रथमतः अक्षम ही ठहरते हैं और इस प्रकार अपने को विश्वविद्यालय के प्रोफेसर के रूप में प्रस्तुत करने के लिये अयोग्य ठहरते हैं। इस मामले में बहस असंभव है। लेकिन सिद्धांततः विश्वविद्यालय अभी भी ऐसा स्थान बना हुआ है जहाँ किसी शर्त के बिना क्रिटिकल बहसों के लिये खुली छूट होती है और होनी चाहिये। यह विरासत मुझे बहुत प्रिय है बावजूद इस बात के भी कि विश्वविद्यालय से मेरा संबंध बहुत उलझा हुआ रहा है और आज भी बहुत जटिल बना हुआ है। इस विरासत का उत्स ग्रीक दर्शन और योरोप में मौजूद है और उन तमाम डिकंस्ट्रक्टिव सवालों के बावजूद जो मैंने ग्रीक दर्शन को आत्मसात् करने के क्रम में उठाये हैं, मैं इसके समक्ष कोई एक हाँ कहता रहा हूँ और इसे दरकिनार करने की बात कभी

नहीं करूँगा। मैंने दर्शन और योरोप की ओर से कभी भी मुँह नहीं मोड़ा है। मैं यह कभी नहीं कह सकता कि योरोप को भूल जाओ अथवा कि दर्शन को राम-राम कह दो ठीक वेसे ही जैसे मैं यह नहीं कह सकता कि विवाह समाज के लिये बुनियादी अधिकार है।

बिनबॉम: अपने हाल के प्रकाशनों में आप विदा, अभ्यर्थना और उद्धार, असंभव शोक, संक्षेप में, उत्तरजीविता जैसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न की ओर लौटे हैं। अगर दर्शन को ''मृत्यु का सजग पूर्वानुमान'' (*द गिफ्ट ऑफ डेथ*) के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, तब क्या डिकंस्ट्रक्शन को उत्तरजीवी के सतत क्रियाशील रहने वाले नीतिशास्त्र का नाम नहीं दिया जा सकता?

देरिदा : **द गिफ्ट ऑफ डेथ** (मृत्यु का उपहार) (मूल फ्रेंच संस्करण 1999; अंग्रेजी अनुवाद लंदन 2008) अन्य चीजों (जैसे मूलतः योरोपीय-ईसाई मान्यता के रूप में उत्तरदायित्व की एक नई क्रिटिकल पुर्नमीमांसा) के अलावा किर्केगार्द के अब्राहम का एक नया पाठ प्रस्तुत करने का प्रयास है। इस चिंतक के प्रति अपने प्रशंसात्मक रुख के बावजूद मैंने यह दर्शाने की कोशिश की है कि उन्होंने आइज़क को बाँधने की कथा का ईसाईकरण किया है। मुझे इस बात का खेद है कि मैंने उसी बिन्दु पर ईसाई विवाह के प्रश्न पर विचार क्यों नहीं किया, हालाँकि इस मुद्दे पर मैंने अभी हाल ही में प्रकाशित एक पुस्तक में किया है।

जैसाकि मैंने पहले ही उल्लेख किया है, प्रारंभ से ही और उत्तरजीविता के अपने वर्तमान अनुभव के भी पहले से ही, मैं यही मानता था कि उत्तरजीविता एक उद्भवगत अवधारणा है जो उस अवधारणा को संरचित करती है जिसे हम अस्तित्व कहते हैं। आप चाहें तो इसे ''डाजायन'' [हायडेगर द्वारा ''जीवन'' के लिये प्रयुक्त पद] भी कह सकते हैं। हम संरचनात्मक रूप से ही उत्तरजीवी हैं, छायाचिन्ह [Trace] और इच्छापत्र [Testament] से युक्त। लेकिन यह सारा कुछ कहने के पश्चात् मैं किसी को भी ऐसी किसी मीमांसा के लिये उत्साहित नहीं करता हूँ जो उत्तरजीविता को मृत्यु और अतीत के पार्श्व में स्थित करती है, न कि जीवन और स्वीकृति के पार्श्व में। **पार्गेस** [मूल फ्रेंच संस्करण 1986; अंग्रेजी अनुवाद 2011 (स्टैनफोर्ड, कैलिफ)] से लेकर अब तक मैं जीवन/मृत्यु के उलझाव के रूप में उत्तरजीविता के विषय में जो कुछ कहता रहा हूँ, वह मेरे अंतःमन में जीवन की निर्बंध स्वीकृति में मूलस्थ है। यह उत्तरजीविता जीवन से परे जीवन है, जीवन से अधिक जीवन और मेरा विमर्श मृत्यु का विमर्श नहीं है बल्कि, इसके विपरीत, एक ऐसे जीवित मनुष्य की स्वीकारोक्ति है जो जीवित रहने, और इस प्रकार मृत्यु तक जीवित रहने को वरेण्य मानता है क्योंकि उत्तरजीविता सीधे-सीधे वही नहीं है जो शेष रहता है अपितु इसका अर्थ होता है अत्यंत गहन जीवन। मैं मरने की अनिवार्यता से इतना अधिक ग्रस्त कभी नहीं होता जितना आनंद और उल्लास से। उल्लास का अनुभावन करना और प्रतीक्षित मृत्यु से शोकाकुल होना दोनो मेरे विचार से एक ही हैं। जब मैं अपने जीवन पर दृष्टिपात करता हूँ तब मैं यह सोचने लगता हूँ कि मैं इस अर्थ में सौभाग्यशाली रहा हूँ कि मुझे अपने जीवन में आने वाले दुःखद क्षणों को प्यार करने और साथ ही उन्हें आशीषित भी करने का सौभाग्य मिला है। केवल एक अपवाद को छोड़ कर लगभग सभी ऐसे क्षणों को। जब मैं सुखद क्षणों का स्मरण करता हूँ तब उन्हें आशीषित करता हूँ और ऐसे क्षणों में आशीषित करता हूँ जब वे मुझे मृत्योन्मुख विचार की ओर, मृत्यु की ओर उन्मुख करते हैं, क्योकि वह सारा कुछ अतीत हो चुका होता है, सारा कुछ अपने अंत तक पहुँच चुका होता हैं...।

भवानी प्रसाद मिश्र : सादगी के पर्दे में आत्मा का इस्पात

अवधेश प्रधान

यह संयोग की बात है कि आजादी की लड़ाई के दौरान जेल में होने के कारण भवानी प्रसाद मिश्र अपनी कविताएँ अज्ञेय जी के पास समय पर नहीं भेज पाए इसीलिए 'तार सप्तक' में शामिल होने से रह गए और उनकी कविताएँ अंततः 'दूसरा सप्तक' में शामिल हो पाईं। वे शमशेर और केदारनाथ अग्रवाल के समकालीन कवि हैं। जिन गिने चुने युवा कवियों ने छायावादी काव्य भाषा की सुनहरी रूढ़ियों से हिंदी कविता को छुटकारा दिलाने में सबसे पहले सफलता प्राप्त की, भवानी प्रसाद मिश्र उनकी अगली कतार में हैं। 'रेती पर ही पाँव पसारे, बैठा हूँ इस केन किनारे'– केदारनाथ अग्रवाल की ये पंक्तियाँ 1935 की हैं। इससे काफी पहले भवानी प्रसाद मिश्र अपनी भाषा पा चुके थे और अपनी भाषा में ही उन्होंने अपने काव्यादर्श की भी घोषणा की थी–

कलम अपनी साध
और मन की बात बिलकुल ठीक कह एकाध...
जिस तरह हम बोलते हैं
उस तरह तू लिख
और उसके बाद भी हमसे बड़ा तू दिख (कवि, 1930)

कवि भवानी प्रसाद मिश्र के लिए यह शब्द नहीं, संकल्प और व्रत था जिसे उन्होंने अपने काव्याचरण में 1930 से शुरू करके 1985 में अपनी मृत्यु तक निभाया। बोलचाल की भाषा को कविता में बरतने और उसे निखारते रहने का उनका संघर्ष व्यर्थ नहीं गया। उस संघर्ष से जो काव्य-सिद्धि उन्होंने अर्जित की वह पुराने और नए सभी काव्य समीक्षकों की आँख से अनदेखी नहीं रह गई। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'कवि' (1957) के लिए उन पर जो छंदोबद्ध टिप्पणी लिखी थी उसमें कहा था, ''बोल उनके हैं कि धरती से सटे ही सरकते हैं.....।'' यह बिलकुल अकारण नहीं है कि किसी को वे नजीर अकबरावादी का स्वाभाविक विकास मालूम पड़ते हैं तो किसी को नागार्जुन और केदार का सगोतिया लग सकते हैं।

भवानी प्रसाद मिश्र को अपनी स्व-अर्जित बोलचाल की भाषा या काव्यभाषा का एहसास तो था ही; उस पर आत्म विश्वास और कुछ नाज भी था इसीलिए बहुत महीन कातने वाले नए कवि को चुनौती देते हुए उन्होंने कहा था—

मेरा और तुम्हारा/ सारा फर्क/ इतने में है/ कि तुम लिखते हो/ मैं बोलता हूँ।
और कितना फर्क हो जाता है इससे/ तुम ढाँकते हो और मैं खोलता हूँ।

यह बात तो सही है कि वे कविताओं में बोलते हैं और बात को खोलते भी हैं और बहुत अधिक बोलने और खोलने के चक्कर में प्रायः उनकी भाषा बहुत फैल भी जाती है।

जिस प्रकार उनकी काव्यभाषा उनके अपने समय के साथ संगत करती है उसी प्रकार उसकी अन्तर्वस्तु और भावसंपदा भी अपने समय को प्रतिध्वनित या प्रतिबिंबित करती है या उससे संवाद करती है। साहित्य के शाश्वत तत्त्व और समकालीनता में कोई अन्तर्विरोध जैसी चीज वे नहीं मानते। वेदकालीन कविता अपनी सारी गरिमा के बावजूद अपने काल से बँधी हुई कविता है, इसलिए उन्होंने साफ-साफ कहा, ''जो आज की कविता नहीं है वह कभी की कविता नहीं है।'' गाँधी जी के प्रति भक्ति भवानी प्रसाद मिश्र में मैथिलीशरण गुप्त से अधिक ही थी, कम नहीं लेकिन उन्होंने गुप्त जी की तरह पौराणिक आख्यानों का पैंड़ा नहीं पकड़ा और शुष्क नैतिक उपदेशों के प्रचार की ओर तो उनका रुझान कभी रहा ही नहीं! हालाँकि व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और विश्व के जीवन की समस्याओं को जाँचने-परखने के लिये गाँधी-विचार हमेशा उनकी दृष्टि में एक विश्वसनीय कसौटी बना रहा। शायद इसीलिये उदय प्रकाश ने उन्हें 'कविता का गाँधी' कहा है। यह एक अच्छा रूपक है और इसे दुहराने का मन करता है लेकिन इस बात को ध्यान में रखना जरूरी है कि वे कविता में गाँधी जी की अविचल प्रतिरोध-शक्ति के प्रतिनिधि हैं, यानी उनके वीरत्व और विवेक दोनों के। गाँधी जी की अहिंसा पर उनकी ऐसी श्रद्धा है कि कुछ विशेष संवेदनशील ऐतिहासिक क्षणों में जब हमारा राष्ट्रवाद अंध राष्ट्रवाद से होड़ करने लगता है तब भी भवानी प्रसाद मिश्र यह कहने का साहस करते हैं—

मैं तो कहता हूँ कि आज भी
अगर देश गाँधी का कह दे हम न लड़ेंगे
हमने अपनी सेना तोड़ी खत्म कर दिया लश्कर अपना
तो दुनिया के शस्त्रवादियों का दिमाग चकरा जाएगा।

अहिंसा का यह अति-आदर्शवाद कविता में तो ठीक लेकिन राजनीति में भेड़ियों के आगे निहत्थे लोगों को मेमनों की तरह छोड़ देना है। स्वामी विवेकानंद कहते थे, अप्रतिकार का आदर्श संन्यासी के लिए है, गृहस्थ के लिए नहीं।

रवीन्द्रनाथ ने कहा था—'दुःख आमार घरेर जिनिस (दुःख मेरे घर की चीज है)।' भवानी प्रसाद मिश्र ने वसंत और बरसात की उल्लासमयी छटा का उत्सव भी मनाया और अपना और जनता का दुःख भी गाया लेकिन उनके दुःख के इस गान में आत्मदया नहीं है। 'घर की याद' में जब वे सावन के मेघ से कहते हैं ''तुम बरस लो, वे न बरसें, पाँचवें को वे न तरसें'' तो उसमें करुणा अपने प्रति नहीं, पिता के दुःख के प्रति है। आत्मदया के बजाय गाकर दुःख पर छा जाने का भाव उन्होंने अपने गाँव के चरवाहों से सीखा था, ''ढोर छूटे हैं कि जंगल को चले है, साथ में दो चार चरवाहे भले हैं/ भले हैं यानी तनिक गा-से रहे हैं, और अपने दुःख पर छा-से रहे हैं।''

वर्धा (सेवाग्राम) में गाँधी जी की छाया में रहते हुए उन्होंने अपने जीवन को गाँधीवादी भावादर्शों के साँचे में ढालने की जो साधना की उससे उनकी वाणी में एक नया तेज आ गया।

मन, वचन और कर्म की एकता ने उनके व्यक्तित्व को निखारा। स्वाधीनता-संग्राम में उनकी प्रत्यक्ष भागीदारी, कारावास का कष्ट-भोग, शासन-सत्ता के आगे न झुकने की उनकी दृढ़ता ने उनके कवि-व्यक्तित्व को प्रामाणिकता और विश्वसनीयता दी। इसीलिए गाँधी जी के खरे भावादर्श जब अपने खास बुंदेलखंडी अंदाज में उन्होंने सुनाए तो जनता ने उस पर कान दिया। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपनी उस प्रसिद्ध टिप्पणी में उनकी फक्कड़ाना मस्ती का भी उल्लेख किया है और नामवर जी ने कबीर से लेकर निराला, हजारी प्रसाद द्विवेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', भगवती चरण वर्मा, बच्चन और भवानी प्रसाद मिश्र तक मस्ती की एक लंबी परंपरा को एक सौन्दर्य मूल्य का ही दर्जा दे दिया है। सवाल उठता है कि क्या भवानी प्रसाद मिश्र और बच्चन की मस्ती एक ही है! इनमें से प्रत्येक के विशिष्ट जीवनादर्श, जीवन-संघर्ष और विचार-बोध ने उसकी मस्ती को विशिष्ट रूप दिया है। इसी प्रकार भवानी प्रसाद मिश्र की लोकप्रियता का भी एक विशिष्ट रूप है। ''छाँटी माटी की परिपाटी ढेला बन गया उजेला है'' ऐसी पंक्तियाँ हों या फिर कविता की शुरुआत ही एक नाटकीय अनौपचारिकता से- ''तो पहले अपना नाम बता दूँ तुमको'' या ''जी हाँ, हुजूर, मैं गीत बेचता हूँ'' जैसा लहजा बिलकुल भवानी छाप का लहजा है जो नया होने के बावजूद हिंदी श्रोता या पाठक का चिरपरिचित हो गया। बोलचाल की भाषा, भाव-बोध और विचार-बोध की सरलता के साथ-साथ मुक्त छंद के भीतर भी छंदों के प्रवाह की सरल भंगिमा ने उनकी कविता को एक ऐसा श्रव्यगुण प्रदान किया जिससे वे सैकड़ों-हजारों श्रोताओं के बीच भी उसी चाव और अपनाव से सुने गए जिस चाव और अपनाव से दिनकर या बच्चन। लेकिन दिनकर या बच्चन ने उनकी तरह अपनी विचार निष्ठा की कीमत नहीं चुकाई। उनके कवि-व्यक्तित्व का यह गुण बताता है कि उनकी सादगी के पर्दे में उनकी उज्ज्वल आत्मा का इस्पात मौजूद है जो सात-सात बार दिल का दौरा पड़ने के बावजूद कभी टूटा नहीं, जिसकी अटूट दृढ़ता देखकर दुःख भी चकित रह गया। उनकी आत्मा का यहीं इस्पात आपातकाल के ताप में गलकर 'त्रिकाल संध्या' की कविताओं में ढल गया है।

ग्राम्य और वन्य प्रकृति का सहज और स्वस्थ सौन्दर्य जनपदीय लोकजीवन और मानव-संबंधों, विशेष रूप से घरेलू स्नेह संबंधों की धीमी आँच में देर तक पकते रहने वाला प्रगाढ़ राग-रस उनकी शुरुआती कविता में भी खुलकर व्यक्त हुआ, साथ ही बोलचाल की भाषा में बातचीत की नाटकीयता ने उसमें विशेष अनौपचारिकता और अंतरंगता पैदा की। बाद की कविताओं में उनका रोमांटिक भावावेग कम होता गया है और वे अधिक अन्तर्मुख होते गए हैं। उनका जनता से बातचीत करना कभी बंद नहीं हुआ लेकिन अपने आप से बात करना बढ़ता गया है। सामाजिक समीक्षा का व्यंग्य-कटु स्वर एकदम बंद तो नहीं हुआ लेकिन आत्म-समीक्षा का एक नया चैनल भी खुल गया। यह भी कहा जा सकता है कि उनकी सभ्यता-समीक्षा में उनकी आत्मसमीक्षा और आत्मसमीक्षा में सभ्यता की समीक्षा शामिल होती गई है। निराला, दिनकर और भवानी प्रसाद मिश्र—तीनों की अंतिम चरण की प्रार्थनापरक कविताओं का तुलनात्मक अध्ययन करने से भी तीनों की विशिष्टता स्पष्ट होती है। वे दुःख और निराशा में भी लोगों के बीच बने रहना चाहते हैं; सादगी, कर्मठता, जनजीवन और प्रकृति का संग-साथ उनके कवि स्वभाव का अभिन्न अंग है इसीलिए उन्होंने कहा, ''मुझको यह लौकिकता/ महज पारलौकिकता से अच्छी लगती है/ सार्वभौम कोई विराट् जीवन निश्चित है/ हम हैं उसके अंश...।'' दरअसल, भवानी प्रसाद मिश्र के कवि व्यक्तित्व के निर्माण में जनपदीय लोकजीवन, स्वाधीनता संग्राम और गाँधी-विचार के साथ-साथ रवीन्द्रनाथ का भी भारी योगदान

है। उनके प्रकृति प्रेम, विश्वबोध और मानव प्रेम पर रवीन्द्रनाथ की उस रोमांटिक सौन्दर्य-दृष्टि की गहरी छाप है जिसमें उपनिषदों की सर्वात्मवादी समग्र दृष्टि की उदात्त गूँज सुनाई देती है। उन्होंने एक साक्षात्कार में कहा था, ''आदमी का रोल, उसका कर्तव्य समस्त ब्रह्माण्ड के प्रति है...उसका रोल एक संतुलन बैठाने का है। इस चर और अचर में, जड़ और जंगम में, चेतन और अचेतन में। आत्मा को पकड़कर बैठ जाने में और जो अनात्म है उसकी उपेक्षा करने में या भौतिक को अनुक्षण याद रखकर अध्यात्म की अवज्ञा करने में कौन सी बात किससे ज्यादा खतरनाक है, यह तय कर सकना संभव नहीं है। दोनों एक से बढ़कर एक खतरनाक है। हमें लौकिक और अलौकिक, भौतिक और आध्यात्मिक दोनों को पूरी तरह जीना है और इसे समझकर समझ यह पैदा करनी है कि दोनों महत्त्वपूर्ण हैं। महत्त्वपूर्ण से भी ज्यादा जरूरी बात कि अनिवार्य हैं।''

मैंने ऊपर जो कवि भवानी प्रसाद मिश्र की अनन्यतंत्रता या विशिष्टता पर अधिक जोर दिया है, उसका मतलब यह नहीं कि उनका स्वर हिंदी की समूची काव्य परंपरा से बिलकुल अछूता है बल्कि इसके उलट, उनकी कविता भाषा और अभिव्यक्ति-शैली में कबीर, तुलसीदास और रहीम की सच्ची उत्तराधिकारी है जिसमें जीवन की मार्मिक अनुभूति सघन होकर सूक्ति बन जाती है और लोगों की जबान से होती उनके दिल में उतर जाती है; जैसे—

कुछ लिख के सो, कुछ पढ़ के सो
तू जिस जगह जागा सवेरे, उस जगह से बढ़ के सो।

× × ×

निरापद कोई नहीं है
ठीक आदम कद कोई नहीं है
न मैं न तुम न वे
न तुम न मैं न वे।

× × ×

आसक्ति के आनंद का छंद ही ऐसा है
कि इसकी दुम पर पैसा है।

हिंदी कविता का यह वही गुर है जो बाद में धूमिल के हाथों का जादू बन गया था।

दिल्ली में बहुत दिनों तक रहने के बावजूद उनको गर्व हमेशा गरीबों की वाणी पर रहा; गरीब जनता के प्रति असीम करुणा ही उनकी शक्ति का आधार है—

मेरी बोली का गर्व सदा ही से गरीब की वाणी है।
मेरी स्याही का रूप सदा ही से आँखों का पानी है।।

समग्र विश्व जीवन के प्रति अनुराग, पीड़ित जनता के प्रति करुणा और सहानुभूति; पूँजी, शासन और सत्ता के प्रति अविचल प्रतिरोध और हाँ, गाँधी-विचार के प्रति उनकी सच्ची निष्ठा साम्राज्यवाद के ध्वंसोन्माद और व्यापक मूल्यहीनता के दौर में आज भी हमारे लिए प्रेरणा का स्रोत है और बोलचाल की भाषा के जरिये जनता की जबान पर चढ़ जाने और उसके दिल में उतर जाने की उनकी कला से तो नया से नया कवि भी बहुत कुछ सीख सकता है।

प्रभाकर माचवे : लेखनी की सहस्र-धारा

रणजीत साहा

डॉ. प्रभाकर माचवे। हँसमुख और सुदर्शन व्यक्तित्व वाले। क़द काठी में ख़ासे लंबे-चौड़े। ऊँचाई लगभग पाँच फुट साढ़े दस इंच। वज़न एक सौ अस्सी पौंड। साहित्य के अपराजेय हैवीवेट चैंपियन। खादी का कुरता-पायजामा। कुरती ज़्यादातर सफेद या फिर भूरा या गेरुआ। सर्दी में खादी की बण्डी, पाँव में चप्पल, काँधे पर भूदानी थैला। उसमें कुछ नई पत्र-पत्रिकाएँ, मराठी दैनिक की प्रति। बाङ्ला का कोई साप्ताहिक, दक्षिण हिंदी प्रचार सभा का बुलेटिन, हिंदी साहित्य सम्मेलन का बुलावा, बाल गंधर्व शताब्दी समारोह का आमंत्रण, स्केच पैन, छोटा-सा राइटिंग पैड और चश्माबंद। वे दूर से ही पहचाने जा सकते थे—अपनी झूमती चाल से और फक्कड़ाना अंदाज़ से। चेहरे पर एक तरह की बालसुलभ सरलता, मुस्कान में पारदर्शिता और सौम्य व्यक्तित्व में तरलता। आँखों-आँखों में सब कुछ एक साथ पूछ लेने और बता देनेवाली अंतरंगता। आप जब तक उन्हें अपना नमस्कार करें तब तक उनका दायाँ हाथ आपके कंधे पर होता, ''और भाई, सब आनंद में है न...!''

अगर आप उन्हें जँच गए तो वे कब आपके पास, आपके पीछे और आपके आगे या आपके साथ खड़े नहीं ? अचानक और औचक किसी संस्था में, पुस्तकालय में, संग्रहालय में, संगोष्ठी, पुस्तक-मेले या साहित्यिक आयोजनों में, वे दूर से ही पहचाने जा सकते थे। यहाँ तक कि शोक सभाओं और निगम बोध घाट पर अभी-अभी दिवंगत अपने परिचित और सहयात्री साहित्यकार को विदा देने आए माचवे जी सबमें सम्मिलित और सबसे अलग दीख पड़ते थे। याद आता है उनका वही तपाक से आगे बढ़कर मिलना और अपनी आत्मीय उपस्थिति से माहौल में जीवंतता भर देना। कहीं किसी पुस्तक विमोचन (अब लोकार्पण—यह शब्द उन्होंने ही हिंदी में चलवाया है) में बड़ी गर्मजोशी से मिलते, आपसे हँसकर बोलते-बतियाते और अगर कोई ऐसा प्रसंग, जिसकी अनदेखी नहीं की जा सकती तो वे न केवल विस्तार से बल्कि इतर प्रसंगों से भी हरा-भरा कर देते थे। उन्हें तब होश नहीं रहता या कि यह भूल जाते घड़ी क्या बजा रही है या उन्हें कितना बुख़ार है और अमुक समय पर दवा या पथ्य लेने की ज़रूरत

भी है। बातों-बातों में पता चलता अभी-अभी वे गुवाहाटी से आ रहे हैं और फिर शाम की उड़ान से पुणे जाना है, वहाँ से साँगली और फिर शोलापुर और फिर...। माचवे जी, वैसे भी दवा-ख़ोरी से ज़्यादा हवा-ख़ोरी पर ज़ोर देते रहे। लेकिन तमाम व्यस्तताओं के बावजूद, उनकी रचना-धर्मिता कभी बाधित नहीं हुई बल्कि उसमें नये आयाम और संदर्भ जुड़ते रहते चले गए।

विपुल रचनात्मक कार्यों में लिप्त, नई से नई कार्य योजनाओं के प्रति उनकी प्रलुब्ध साहित्य-दृष्टि, और तमाम विघ्न-बाधा, व्यस्तता और अस्वस्थता के बावजूद उनका मन और मानस किसी तरह के तनाव कुंठा या दुविधा में नहीं रहता था। उनकी सृजनरत मनीषा निरंतर लेखनरत रहती और जब भी, जहाँ भी तनिक अवकाश मिला, 'काग़ज़ और क़लम' का नदी-नाव संयोग घटित हुआ नहीं कि उनकी लेखनी काग़ज़ को, पोस्टकार्ड को, अंतर्देशीय पत्र को या किसी पुर्जे को धन्य करती चली जा रही होती। सृजन का यह उपक्रम उतनी ही त्वरा से सीधे मुद्रित भी होता चला जाता और साहित्य की संज्ञा पाकर धन्य हो रहा होता। इस तरह पचास-साठ वर्षों तक उनकी 'वन-मैन राइटिंग फ़ैक्टरी' निरंतर सक्रिय रही। 'सरस्वती, व्यास और गणेश' को अपनी इस अनोखी संतान पर अवश्य ही गर्व होता होगा।

माचवे जी साहित्य और जीवन को उसकी संपूर्णता और विविधता में जीते रहे। साहित्य (शास्त्रज्ञान, साधना एवं सर्जना के तीनों प्रमुख अधिकाय), संस्कृति, दर्शन, इतिहास, पुरातत्त्व, धर्म एवं अध्यात्म, ललित कला, पत्रकारिता और विभिन्न भाषाओं से ढेर सारे रचना-अनुवाद उनकी सक्रियता के साक्षी हैं। साहित्य की लगभग सभी विधाओं—कविता, कथा-साहित्य, व्यंग्य, निबंध, समीक्षा, संस्मरण, रिपोर्ताज, यात्रा-वृत्तांत, बाल-साहित्य, साहित्य-इतिहास, कोश निर्माण और मूल्यांकन—(शोध ग्रंथ, शोध प्रबंध या विभिन्न सरकारी योजनाएँ एवं प्रायोजन संबंधी) उनकी बहुज्ञता और रंगारंग रचना-धर्मिता के प्रचुर और स्पृहणीय उदाहरण हैं, जो आज भी सगर्व रखे जा सकते हैं।

हम-जैसे आलसी और निठल्लों को अगर थोड़ा-बहुत लिखने की प्रेरणा मिली तो वह माचवे जी-जैसे लोगों की अजस्र लेखनी और स्नेहपूर्ण झिड़की से ही। वे जब किसी प्रस्तावित विषय का प्रवर्तन करते, उस पर लिखते या बोलते तो उसके बाद किसी का बोलना या लिखना, कई मौक़ों पर, ले-देकर 'परिशिष्ट' या 'पुनश्च' से ज़्यादा प्रतीत नहीं होता। आकस्मिक तौर पर कभी किसी आयोजित विषय पर बोलने को आमंत्रित किया जाता तो वे पूर्ववर्ती वक्ता या व्याख्याता के प्रति पूरा सम्मान रखते हुए अविरल भाव से जो कुछ जोड़ते चले जाते तो उससे यही प्रतीत होता था कि माचवे जी भोजन बाद में करते हैं, प्रसाद या जूठन पहले ही निकालकर हमें और आयोजनकर्ता को अनुगृहीत कर देते थे।

माचवे जी की लेखनी की धार और खनखनाते सिक्के का जादू उन पर भी तारी हो जाता, जो उन्हें किंवदंतियों, विवादों, प्रवादों, अफ़वाहों, लतीफ़ों और फ़तवों से मंडित कर अन्यथा गौरवान्वित किया करते। वैसे इन युक्तियों, चोंचलों या टोटकों का उन पर कोई असर होता ही नहीं था। तमाम अनचाही और अप्रिय परिस्थितियों से वे असंपृक्त और दूर रहते। आए दिन साहित्य सृजन के बहाने तमाम साहित्येतर और विवादास्पद मुद्दों के बीच कोई इतना तटस्थ, निस्पृह और निर्भय रहे—अखाड़ेबाज़ पहलवानों की टिप्पणियाँ झेले, उनके वारों से हँस-हँस कर खेले, अपनी प्रसन्न और निश्छल मुस्कान के साथ सबके लिए समान रूप से प्रिय और श्रद्धेय बना रहे—यह डॉ. माचवे के व्यक्तित्व की अज़ीबोग़रीब और अपरिभाषित पहचान रही।

माचवे जी से मैं उन्हें पहली बार 2 अगस्त, 1980 को कलकत्ता में मिला था, जब वे भारतीय भाषा परिषद् के निदेशक थे। मैं तब एक सार्वजनिक उपक्रम (हिन्दुस्तान कॉपर लि.)

में वरिष्ठ राजभाषा पदाधिकारी था। भारतीय भाषा परिषद् की अतिथिशाला में कुछ दिनों के लिए टिकने के उद्देश्य से मैं उनके पास गया था। उन्हें मेरे कलकत्ता आने की सूचना मिल चुकी थी। कैसे? यह पूछे जाने पर उन्होंने बताया, ''मेरे कंधे पर दो चिड़ियाँ रहती हैं। इन्हें तोता-मैना कुछ भी कह लीजिए। ये इधर से उधर उड़ती रहती हैं और मेरे कानों में बहुत-सी बातें बता कर फुर्र हो जाती हैं।... द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया...''

उन्होंने मेरी इधर हाल की छपी रचनाओं का हवाला भी दिया। साथ ही, उनके एक उपन्यास *किसलिये* की मेरे द्वारा की गई समीक्षा की याद भी दिला दी। बाद में सिद्ध साहित्य विषय पर मेरे शोध-प्रबंध, शांतिनिकेतन और दिल्ली के हवाले से बातों का जो सिलसिला शुरू हुआ—वह उनके जीवन काल तक बना रहा। बतौर 'पुनश्च' जब मैंने उनसे मिलने का अपना मंतव्य बताया तो बोले, ''आपकी परिषद् है। अभी आ जाओ भाई... कल एक लाइन का अनुरोध पत्र दे देना !''

इस मुलाक़ात के दरम्यान माचवे जी परिषद् के दूसरे काम भी निपटा रहे थे—ज़रूरी काग़ज़ात पर दस्तख़त, फ़ोन पर बातें, अख़बारी कतरनों पर टीप। अचानक दिल्ली स्थित एक दक्षिण भारतीय उपसंपादक की मृत्यु की ख़बर पढ़कर मर्माहत हो गए और तत्काल अपनी मेज़ की दराज खोलकर अंतर्देशीय पत्र निकाला और स्वर्गीय मित्र की पत्नी को संवेदना वाक्य लिखा और मुझे परिषद् के द्वार तक बाहर छोड़ने के बहाने उसे पत्र-पेटी में भी डाल आए। एक साथ, इतनी तेज़ी और सफ़ाई से सारा काम निबटाने की सराहना सिर्फ़ मैं ही नहीं, जो भी उनके संपर्क में आया, किए बिना नहीं रह सकता।

कलकत्ता में ही, जिन थोड़े-बहुत हिंदी, बाङ्ला या अंग्रेज़ी के लेखकों, पत्रकारों, फ़िल्मकारों या रंगकर्मियों से मेरा परिचय हुआ, वे सभी कमोबेश डॉ. माचवे जी की हरफ़नमौला शख़्सियत और योगदान से परिचित थे। परिषद् की नियमित साहित्य-सभा 'मंगल गोष्ठी' में लगभग सभी भाषाओं के नये-पुराने रचनाकार अपनी-अपनी रचनाओं का पाठ किया करते थे। रचनाओं पर पर्चे पढ़े जाते और चर्चा होती। इन सारे साहित्यिक आयोजनों और परिकल्पनाओं के केन्द्र में माचवे जी रहा करते थे। यही नहीं, उनकी उपस्थिति से वहाँ के हिंदी लेखकों, हिंदी अधिकारियों, आकाशवाणी और दूरदर्शन में कार्यरत हिंदी कर्मियों का मनोबल ऊँचा हुआ था। डॉ. माचवे उनके लिए प्रकाश-स्तंभ तो थे ही, उनके रचना-संकल्प को नई दिशा और प्रस्थान देनेवाले पुरोधा भी थे। इस उपक्रम में रहते हुए मैंने अधिकारियों की सम्मति से उनकी अध्यक्षता में एक कवि सम्मेलन भी आयोजित किया था। बाद में, उन्होंने इस आयोजन का सचित्र विवरण साप्ताहिक हिन्दुस्तान में प्रकाशित करते हुए मेरे प्रयास की सराहना भी की थी।

पारिवारिक दायित्व, कलकत्ता प्रवास की कठिनाइयाँ, साहित्यिक आयोजनों की भरमार, परिषद् पत्रिका 'संदर्भ भारती' का संपादन, साहित्य सेवियों का विराट सैन्य-संचालन और परिषद् में आए दिन अतिथियों और अभ्यागतों की सेवा भी उनके कार्य-दायित्व में सम्मिलित थी। इन दायित्वों के चलते वे स्वयं बहुत व्यवस्थित नहीं रख पाते थे। लेकिन दूसरे को किसी प्रकार की असुविधा न हो, इसका वे बराबर ख़्याल रखते थे। कभी-कभी कार्यालय सेवक या 'केयर-टेकर' की अनुपस्थिति में या आकस्मिक तौर पर भी, वे ख़ुद अतिथियों के बिछावन ठीक कर जाते, सामान सहेज देते, चादर बदल देते और निदेशक आवास (जोकि अतिथि-तल से लगा हुआ है) से गरम चाय की प्यालियाँ तक उठाकर ले आते। ऐसा उन्होंने मुझ जैसे अकिंचन तक के लिए किया और कभी उनकी पेशानी पर बल नहीं दीख पड़ा। मना किए जाने पर कहते, ''सेवाग्राम, वर्धा में रहा हूँ भाई, टट्टी तक साफ़ की है।''

यह पता चलने पर कि मैंने बाङ्ला के विशिष्ट लेखक समरेश बसु के चर्चित और महाकाव्यात्मक उपन्यास 'कहाँ पाऊँ उसे' का मूल बाङ्ला (*कोशाय पाबो तारे*) का हिंदी अनुवाद भारतीय ज्ञानपीठ के लिए किया है तो वे बहुत ख़ुश हुए और अपने मिलने-जुलनेवालों को इस बारे में अक्सर बताते हुए कहते ''यह हैं, 'समरेश' के हिंदी रूपांतर 'रणजीत'।'' समरेश बसु 'कालकूट' भी भारतीय भाषा परिषद् के विभिन्न कार्यक्रमों में भाग लेते थे। बाङ्ला साहित्य को उनके विशिष्ट योगदान के लिए भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार की निर्णायक समिति में उनका नाम कई बार रखा भी गया, लेकिन अपने आकस्मिक निधन (12 मार्च, 1988) के चलते उनके लिए उक्त पुरस्कार पाना संभव नहीं हो पाया। उनकी मृत्यु की ख़बर से माचवे जी बहुत विचलित हुए। उन पर जल्दी-जल्दी कुछ लिखा भी। मैंने समरेश बसु के बारे में जहाँ-जहाँ लिखा था, उसे भी वे देखते रहे। माचवे जी समरेश के चले जाने से उतने दुःखी नहीं थे, जितने कि शांतिनिकेतन के महान कलाकार रामकिंकर बैज के जीवन के ज्ञात, अज्ञात और अल्पज्ञात तथ्यों और संदर्भों को लेकर बड़े विस्तार और मनोयोग से 'देश' पत्रिका में लिखी जा रही उनकी महान धारावाहिक रचना *देखि नाई फिरे* (मुड़कर देखा नहीं) के अधूरे रह जाने से आहत थे। रामकिंकर के फक्कड़ व्यक्तित्व से माचवे जी के जुड़ने का एक कारण उनका अपना भटकाव, आत्म-संघर्ष, रचना-व्रत और चित्रकला के प्रति उनकी समर्पित कमज़ोरी थी। इसलिए रामकिंकर पर लिखित मेरे एक आलेख 'रामकिंकर : एक मिथक-चक्र' ('गगनांचल' में प्रकाशित) की वे बराबर चर्चा करते थे, जिसके साथ मेरा एक रेखाचित्र भी छपा था।

डॉ. माचवे भारतीय साहित्य, कला और संस्कृति की विरासत को भाषा, विधा, विमर्श, वर्ग, वाद, विचार की संकीर्ण दीवारों से जकड़कर नहीं बल्कि इस अक्षय धरोहर को विराट् सांस्कृतिक वटवृक्ष के रूप में देखते थे। उनकी छोटी-बड़ी रचनाओं का सम्यक् मूल्यांकन उनकी इसी व्यापक साहित्य दृष्टि को केन्द्र में रखकर ही किया जा सकता है। हालाँकि उन्होंने विपुल मात्रा में तात्कालिक या 'आपद्लेखन' किया लेकिन वह सतही, आरोपित या बैठे-ठाले क़िस्म का नहीं है। हमलोग अप्रासंगिक जान पड़नेवाली जिस महत्त्वपूर्ण बातों को प्रायः भूल जाते हैं या जिनसे पल्ला झाड़कर अन्यथा निश्चिन्त पड़े रहते हैं—उन्हें श्रमपूर्वक लिखकर उन्होंने न केवल अपने लेखकीय दायित्व या सरोकार का पालन किया बल्कि उन विषयों के सम्यक् विवेचन द्वारा उन्हें गौरवान्वित भी किया। साथ टहलते, यात्रा करते, अख़बार पढ़ते और स्वाध्याय-क्रम में यदि कोई बात उनके दिमाग़ में आ जाती या मन को बेचैन करती, मर्म को बेध रही होती तो वे इसे, जैसे भी हो, लिपिबद्ध कर मुक्त हो जाना चाहते। ऐसे असंख्य फुटकर लेख, असंबद्ध आलेख, रेखाचित्र, व्यक्ति-व्यंजक निबंध, कविताएँ (गीत, ग़ज़ल और मुक्तक—बच्चों के लिए भी) 'सरेराह चलते-चलते' लिखी गई हैं और ये आबाल-वृद्ध सबके द्वारा पढ़ी एवं सराही जाती रहीं। प्रबुद्ध पाठकों की दो पीढ़ियाँ तो उन्हें पढ़ती ही रही हैं और अब तीसरी पीढ़ी का पाठक वर्ग भी उनके लेखन से समृद्ध हो रहा है।

गंभीर से गंभीर विषय को रोचक बनाकर प्रस्तुत करते हुए, वे अपने कथ्य या वक्तव्य में, साहित्यिक विदग्धता या रसिकता की कभी अनदेखी नहीं करते थे। साहित्य और जीवन में 'रस' ही नहीं तो फिर क्या रहा? उनके लेखन में यह रस कई मनोहारी रूपों में ढलता-छलकता और नित्य नूतन आकार ग्रहण करता हुआ—उनके सर्जक को संवेदनशील और मानवीय बनाए रखा। सर्जक की यही करुणा—सार्वजनीय महाकरुणा में रूपांतरित होती रही और जो भारतीय साहित्य की सबसे बड़ी ताक़त और पहचान बनी हुई है। उन्हें यह चिंता अवश्य तंग करती थी कि अतीत की वह आत्मीयता और सहानुभूति उनकी परवर्ती पीढ़ी से धीरे-धीरे ग़ायब हो रही है।

डॉ. माचवे साहित्य को आत्म-गौरव और आत्म-संकल्प की साधना मानते रहे। इस दृष्टि से जब किसी ख़ास विषय या विमर्श पर पहली बार उनके द्वारा लेखनी उठाई गई हो, तो आलोचक वर्ग द्वारा उसकी अनदेखी किया जाना, बहुत उचित नहीं जान पड़ता। उनके द्वारा कई क्षेत्रों में किए गए आरंभिक योगदान की अनदेखी की गई और उन्हें श्रेय से वंचित किए जाने का षड्यंत्र किया गया। उनके साहित्यिक योगदान के लिए उनका यथोचित सम्मान भी नहीं किया गया। अपनी सहजता और सर्वजन सुलभता के नाते डॉ. माचवे किसी तरह के गोपन, दुराव, छल-छंद, ठकुरसुहाती या गठजोड़ में शामिल नहीं हुए, जिनकी बदौलत कुछ लोग चर्चित और केन्द्र में स्थित रहते हैं। बहुत-सी संस्थाओं और साहित्य अकादेमी के सचिव पद (1954-1975) पर रहते हुए भी, उनके रचनात्मक उत्कर्ष की मूल पूँजी उनकी नियमित साहित्य-साधना और निरंतर पुस्तक-चर्या रही।

साहित्य, दर्शन या अन्य गंभीर विषयों पर विस्तार से लिखते हुए, माचवे जी यह नहीं भूलते कि इन रचनाओं का एक समाजाश्रित और संदर्भगत मूल्य है। तभी वे अपने विषय को देश-विदेश के तमाम तथ्यों और संदर्भों से पुष्ट कर सारी सामग्री को अद्यतन किया करते और उन्हें संयोजित करते हुए प्रभावी ढंग से प्रस्तुत करते। मध्यकाल में विद्यमान विभिन्न संतों और साहित्य मनीषियों का जैसा व्यवस्थित आकलन उन्होंने किया, वह अन्यत्र दुर्लभ है। कबीर, नामदेव, ज्ञानेश्वर, गुरुनानक, तुलसी, रैदास, मीराँबाई, हब्बा खातून, तुकाराम, बाबा फ़रीद, सूरदास, केशवसुत और शाह लतीफ़—सब पर उन्होंने लेखनी चलाई है। भारतीय साहित्य के विशिष्ट हस्ताक्षरों पर लिखते हुए उन्होंने अपनी रचनात्मक उपस्थिति को—सर्जक और चिंतक—दोनों ही रूपों में साबित किया और उनके योगदान का सम्यक् मूल्यांकन किया। लेकिन उनकी लेखनी यहीं नहीं थम गई। वे वैदिक, औपनिषदिक, ब्राह्मण, बौद्ध, जैन, मध्यकालीन बोध, आधुनिकता, अस्तित्व-बोध (और अस्तित्व का संकट) उन्नीसवीं सदी और पुनर्जागरण : भारतीय संदर्भ में, बीसवीं सदी के तमाम वाद-विवाद, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी से लेकर एलेन गिन्सबर्ग तक, राहुल सांकृत्यायन, प्रेमचंद, मैथिलीशरण और अज्ञेय के *तार-सप्तक* से मुक्तिबोध, नागार्जुन, राजकमल चौधरी... सुविमल बसाक और मलयराय चौधुरी तक; दलित कविता, भूखी पीढ़ी और दिगम्बर आंदोलन से लेकर सेडोर सेंघोर और ब्राड्स्की तक धाराप्रवाह और पूरे अधिकार के साथ बोल सकते थे और लेखन के स्तर पर उनका यह चक्र अघोषित 'ऑपरेशन रेड-डेलाइट' निरंतर चलता रहा।

डॉ. माचवे के ही हाथों साहित्य के कई आंदोलनों और वादों की 'छठी' पूजी गई और कई साहित्यिक और साहित्येतर आंदोलनों को वे छठी के दूध की याद दिला देते थे। उन्होंने 'ज्ञेय' या 'अज्ञेय'—किसी भी सीमांत को स्वीकार नहीं किया। उन्हें अनुगृहीत और आंदोलित ही किया। वे दोनों ध्रुवांतों पर तनी रस्सी पर अविचल चलते रहे हैं और 'चरैवेति' ही उनके जीवन और लेखन की मूल प्रेरणा थी, जो अपनी प्रकृति में मस्त, अपने सृजन में व्यस्त और प्रस्तुति में सहज बनी रही। कृति के मर्म या आशय को अनावश्यक जटिल, गझिन या बोझिल बनाए बिना पाठक को अभिप्रेत विषय के बारे में बताना, उसे सत्य और तथ्य से परिचित कराना ही उनका उद्देश्य होता था न कि उसे आतंकित करना और ज्ञान के अंधे कुएँ में धकेलना। वे ऐसे तमाम संकेत अवश्य देते जाते, जिनसे पाठक को अपनी दिशा चुनने और समझ बनाने में यथासंभव सहायता मिल सके।

साहित्य अकादेमी, दिल्ली में उपसचिव पद का कार्य दायित्व निभाने के दौरान मेरी प्रभाकर माचवे जी से साहित्यिक आयोजनों में निरंतर मुलाकात होती रहती थी। उन्होंने सर्वपल्ली एस.

गोपाल द्वारा लिखित *जवाहरलाल नेहरू—ए बायोग्राफ़ी* का अनुवाद हिंदी में किया था। उस अनुवाद की पांडुलिपि पढ़कर ऐसा लगा कि कोई तेज़ गति की रेलगाड़ी अनुवाद की पटरी पर दौड़ रही है। अपनी वाक्य-संरचना—मुख्य-वाक्य, सह-वाक्य और उप-वाक्य आदि का ध्यान रखते हुए, उन्होंने अंग्रेज़ी भाषा की संश्लिष्टता को बहुत ही सुगम और ललित भाषा में अनूदित किया था। अनुवाद विधा में ऐसी प्रतिभा दुर्लभ है और डॉ. माचवे इसके प्रतिमान थे। हालाँकि यह पुस्तक (1999 में प्रकाशित) मुद्रित रूप में वे नहीं देख पाए। लेकिन अनुवाद का मानदेय जल्द प्राप्त हो सके, इसके लिए उन्होंने मुझे बताया था कि उन्हें रुपयों की ज़रूरत है। उन्हें यह राशि जल्द ही प्राप्त हो गई थी लेकिन दो महीने बाद ही उनका निधन हो गया।

भारतीय मूल्यों के हामी और आस्थावादी साहित्य-सर्जक डॉ. माचवे की दृष्टि अत्यंत सतर्क थी। यहाँ तक कि जो भी निरर्थक या अनर्गल लिखा या छापा जाता वह भी उनकी दृष्टि से ओझल नहीं हो पाता था। मौलिकता का दावा करनेवाले और बड़बोले साहित्यकारों को वे अपनी विशिष्ट सूचनाओं से उपकृत और व्याख्याओं से चमत्कृत करते रहे। जो साहित्यकार समाज में रातों-रात परिवर्तन ले आने का दावा करते रहे, वे माचवे जी की दृष्टि में दयनीय थे। उनका मानना था कि समाज जब तक स्वयं निर्णायक बदलाव के लिए प्रस्तुत नहीं होता तब तक यथास्थिति बनी रहेगी। साहित्यकार की भूमिका एक घटक या कारक-जैसी होती है—न तो ज्यादा और न कम। साहित्य की अविरल और अविचल धारा सभी घाटों-पाटों से होती हुई, निरंतर बहती रहे, इसी में उसकी सार्थकता और पवित्रता निहित है।

प्रभाकर माचवे जी पर चाहे जितना लिखा जाए, कम ही होगा। उनकी 'विविधा भारती' प्रतिभा और 'बहुविधा विधाता' छवि के सभी कायल रहे। वे अपने जीवनकाल में किसी एक और अंतिम ध्येय को पाने के कभी आग्रही नहीं रहे। वे सृजनकर्म में भी निरंतर प्रयोगशील बने रहे। उनके इसी बहुरंगी व्यक्तित्व के बारे में भारतभूषण अग्रवाल जी रचित एक मुक्तक बहुत प्रसिद्ध हुआ था—जिसकी दो पंक्तियाँ ये रहीं—'इनसे मिलिए, ये हैं प्रभाकर माचवे... हर टेढ़े आँगन में सकते हैं नाच वे...'।

रंगभूमि में प्रादेशिकता और वैश्विकता का द्वन्द्व

प्रेम सिंह

''बस-बस, अब मुझे क्यों मारते हो? तुम जीते, मैं हारा। यह बाजी तुम्हारे हाथ रही, मुझसे खेलते नहीं बना। तुम मंजे हुए खिलाड़ी हो दम नहीं उखड़ता, खिलाड़ियों को मिला कर खेलते हो और तुम्हारा उत्साह भी खूब है। हमारा दम उखड़ जाता है, हाँफने लगते हैं और खिलाड़ियों को मिला कर नहीं खेलते, आपस में झगड़ते हैं, गाली-गलौज, मारपीट करते हैं, कोई किसी की नहीं मानता। तुम खेलने में निपुण हो, हम अनाड़ी हैं। बस, इतना ही फरक है। तालियाँ क्यों बजाते हो, यह तो जीतने वालों का धरम नहीं? तुम्हारा धरम तो है हमारी पीठ ठोकना। हम हारे तो क्या, मैदान से भागे तो नहीं, धाँधली तो नहीं की। फिर खेलेंगे, जरा दम ले लेने दो, हार-हार कर तुम्हीं से खेलना सीखेंगे और एक न एक दिन हमारी जीत होगी, जरूर होगी।'' (रंगभूमि)

प्रत्येक भाषा के महान साहित्य की एक प्रमुख विशेषता यह मानी जाती है कि उसकी सार्थकता और प्रासंगिकता देशाकालातीत होती है : उस समाज और भाषा के लिए भी जिसकी साहित्यिक परम्परा का यह अंग होता है, साथ ही दुनिया के अन्य समाजों और भाषाओं के पाठकों के लिए भी। इसके साथ यह भी माना जाता है कि साहित्य की यह खूबी तभी चरितार्थ होती है जब वह अपने युगीन यथार्थ में गहराई से स्थित होता है। यानी स्थानीय युगीन यथार्थ की आधार भूमि पर स्थित साहित्य ही देश-कालजयी होता है। देशकाल बद्धता साहित्य की प्रादेशिकता कहलाती है। प्रादेशिकता की अवधारणा के लिए देशीयता, स्थानीयता, (भारतीय साहित्य के सन्दर्भ में) भारतीयता आदि पद प्रयुक्त किए जाते हैं। हालाँकि भारत जैसे बहुभाषी देश में अलग-अलग भाषाओं में रचित साहित्य के साथ भी प्रादेशिकता का अर्थ जुड़ा हुआ है। प्रादेशिक विविधताओं अथवा विविध प्रादेशिकताओं में एकसूत्रता निहित मानी जाती है। इस एकसूत्रता से भारतीयता का स्वरूप निर्मित होता है। यानी भारतीयता विविध प्रादेशिकताओं का समावेशी विन्यास है। यहाँ हम इस अर्थ में, अर्थात् भारतीयता के अन्तर्गत प्रेमचंद के साहित्य में प्रादेशिकता का विवेचन नहीं कर रहे हैं।

देशकाल में निबद्धता के बावजूद उसके परे जाने की खूबी को साहित्य की वैश्विकता कहा जाता है। वैश्विकता की अवधारणा के लिए सार्वदेशिकता, सार्वभौमिकता, सर्वमानवता आदि पद भी प्रचलित हैं। विश्व के हर बड़े साहित्यकार की तरह प्रेमचंद के साहित्य में भी प्रादेशिकता और वैश्विकता के गुण एक साथ विद्यमान हैं। उन्होंने अपने साहित्य में सम्पूर्ण संलग्नता के साथ भारत 'स्फेसिफिक' स्थितियों और अनुभवों का चित्रण किया है। उन स्थितियों और अनुभवों से ऐसे अनेक मानव-मूल्यों की सृष्टि होती है जो पूरे विश्व की मानवता की थाती हैं। साथ ही उनका साहित्य अनेकानेक ऐसी सूक्तियों का विश्वकोश है जो हर स्थान और काल के मनुष्य के लिए मौजूँ ठहरती है। प्रेमचंद ने उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र कहा है। उनका कथा-साहित्य सम्पूर्णतः मानव-चरित्र की महागाथा कहा जा सकता है। उनकी चरित्र-सृष्टि भी हर देश और काल के किसी समाज के पाठक की सौन्दर्याभिरुचि को तृप्त करने की क्षमता रखती है। यानी उनकी चरित्र-सृष्टि में भारतीय विशिष्टताओं के साथ मनुष्य-मात्र की सामान्य प्रकृति का भी चित्रण मिलता है।

'प्रेमचंद की भारतीयता' पर विचार करते हुए उनके जीवनी लेखक अमृतराय ने लिखा है : ''हम प्रेमचंद की 'भारतीयता' की पड़ताल शून्य में नहीं बल्कि उनकी रचनाओं के सन्दर्भ में करेंगे, जीवन के सुन्दर मूल्यों की उसकी खोज के सन्दर्भ में, क्योंकि समस्त श्रेष्ठ साहित्य का यही सारतत्व हैं हमारी सांस्कृतिक परम्परा में इसको सूत्र रूप में सत्य, शिव और सुन्दर की या फिर सत्, चित्, और आनन्द की संज्ञा दी गयी है लेकिन मूलतः सारे संसार में मूल्यों की यह खोज एक ही है। होमर, व्यास, वाल्मीकि, दाँते, गेटे, शेक्सपीयर, कबीर, सूर, तुलसी, सर्वांतीज, बाल्जाक, ह्यूगो, बायरन, शेली, डिकेंस, टॉल्सटाय, दोस्तोवेस्की, चेखोव, गोर्की, नेक्सो, लू शुन, ह्विटमैन, स्टाइनबेक, रोमाँ रोलाँ, रवीन्द्रनाथ, शरत् चट्टोपाध्याय, प्रेमचंद या दूसरे महान लेखक जिन्हें आप प्यार से याद करते हों, जिन्होंने आपके मन को गहरे पैठ कर छुआ हो, उन सभी मानवतावादी साहित्यकारों की परम्परा समान रूप से उन्हीं महत् जीवन-मूल्यों की, सामाजिक आचरण के सभ्यतर मानकों की, सत्य और न्याय की खोज करती मिलेगी। बात करने का उनका ढंग अलग हो, अपने विशिष्ट परिवेश के आग्रहानुसार कहीं किसी ने एक बात पर और किसी ने किसी दूसरी बात पर विशेष बल दिया हो, पर उनकी सबकी नैतिक और सामाजिक चिन्ता और सरोकार उन्हीं जीवन-मूल्यों पर केन्द्रित दिखाई देगी।'' (प्रेमचन्द की प्रासंगिकता', पृ. 94-95) इस तरह प्रत्येक साहित्यकार की प्रादेशिकता अनिवार्यतः वैश्विकता से जुड़ी होती है और प्रेमचंद के साहित्य में भी यह खूबी विद्यमान है।

साहित्य में प्रादेशिकता और वैश्विकता के उपर्युक्त सामान्य अर्थ के अलावा औपनिवेशिक गुलामी में रहे देशों के साहित्य के सन्दर्भ में एक विशिष्ट अर्थ भी है। देशों पर औपनिवेशिक वर्चस्व कायम करने का प्रमुख तर्क यह दिया गया कि उपनिवेशवादी विचारधारा/व्यवस्था वैश्विक है; उसका दुनिया के हर देश और क्षेत्र में पहुँचना और काबिज होना आधुनिकता तथा प्रगति के लिए अनिवार्य ऐतिहासिक सत्य है। सभी देशों और समाजों की अपनी विशिष्ट पहचान, यानी प्रादेशिकता को इस वैश्विकता के सामने घुटने टेकने चाहिए, क्योंकि प्रादेशिकता पुरातनपंथी और प्रतिक्रियावादी होती है। उपनिवेशवादी वैश्विकता की आधुनिकता और प्रगतिशीलता का यह सिक्का इस कदर जमा कि उसके वर्चस्व में आये दुनिया के प्रत्येक समाज और सभ्यता को समस्त आयामों में नाकारा मान लिया गया; और नाकारा का नष्ट होना ऐतिहासिक नियति। यहाँ तक कि उपनिवेशवादी विचारधारा के शिकार समाजों के कितने ही बुद्धिजीवियों ने खुद प्रादेशिकता को धिक्कार की नजर से देखा। वैश्विकता के अभिनन्दन में वे यहाँ तक चले गये कि अपनी आजादी खोने का अफसोस भी जाता रहा। उन्होंने यह माना कि सौदा महँगा नहीं

रहा : आजादी खोई तो बदले में आधुनिकता और प्रगतिशीलता जैसे वैश्विक मूल्य हासिल हुए। उपनिवेशवादी वैश्विकता पूँजीवादी विचारधारा पर आधारित थी और पूँजीवाद को दुनिया के सभी देशों के लिए क्रान्तिकारी घटना स्वीकार किया गया।

हालाँकि भारत सहित सभी उपनिवेशित देशों में औपनिवेशिक गुलामी से आजादी के पहले तक प्रादेशिकता का तिरस्कार मुकम्मल नहीं था। ऐसा होता तो उन देशों में औपनिवेशिक गुलामी के बरक्स राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन नहीं होता। सफल तो वह होता ही नहीं। भारत में भी उपनिवेशवादी वैश्विकता के बरक्स प्रादेशिकता की अनुक्रिया एकरूप और एकमुश्त नहीं थी। बहुत से लोग उपनिवेशवादी वैश्विकता को वरदान मानने के लिए तैयार नहीं थे। खुद बुद्धिजीवियों में प्रादेशिकता और वैश्विकता को लेकर दुचित्तापन बना हुआ था। साहित्यकारों से लेकर विचारकों तक यह दुचित्तापन देखने को मिलता है। देश की आम जनता अपनी प्रादेशिक सत्ता में उपनिवेशवादी वैश्विकता का सतत् प्रतिपक्ष बनी हुई थी। गाँधी ने प्रादेशिकता अर्थात् भारत की जनता की उस मजबूत ताकत के साथ जुड़ कर उपनिवेशवादी वैश्विकता अर्थात् पूँजीवादी औद्योगिक सभ्यता को निर्णायक चुनौती दी। प्रादेशिक सेना के बल पर आजादी के संघर्ष में जीत हासिल हुई। कहने की जरूरत नहीं कि गाँधी का संघर्ष केवल राजनैतिक नहीं था। उनका लक्ष्य प्रादेशिकता को उपनिवेशवादी वैश्विकता के वर्चस्व और दमन से मुकम्मल मुक्ति दिलाना था।

जो आधुनिक और प्रगतिशील दिमाग यह मानता है कि अंग्रेज युद्धोत्तर वैश्विक कारणों के चलते भारत छोड़ कर चले गये, वह उपनिवेशवादी वैश्विकता का भी कायल रहा है। वह मानता है कि वैश्विकता वैश्विक कारणों से ही कहीं आती जाती है। प्रादेशिकता अगर वैश्विकता को परास्त कर देगी तो इतिहास का अटल नियम गलत सिद्ध हो जायेगा। लिहाजा, उस दिमाग ने आजादी और गाँधी की हत्या के बाद उनके द्वारा सुझाए उपनिवेशवादी वैश्विकता के प्रादेशिक विकल्प को तुरत-फुरत खारिज कर दिया। उसने उस दुचित्तेपन से भी जल्दी ही मुक्ति पा ली, जिसके चलते चेतना में प्रादेशिकता की एक फाँक हमेशा बनी रह जाती थी। गाँधी के हवाले से अथवा स्वतन्त्र चिन्तन के स्तर पर प्रादेशिकता का विचार या प्रयास करने वाले चिन्तकों को 'सीज' कर देने की कड़ी बौद्धिक कार्रवाई की गयी। नतीजा स्पष्ट और समाने है : आज भारत में प्रादेशिकता के नाम पर ज्यादातर संकीर्ण और साम्प्रदायिक दिमाग का विलाप बचा हुआ है। इस नतीजे का नतीजा भी स्पष्ट और सामने है : वैश्विकता के भगीरथ अब उसके नवीन अवतार वैश्वीकरण की गंगा को पूरे वेग से भारत भूमि पर उतार लाये हैं। ताकि प्रादेशिकता के दफन अवशेष हमेशा के लिए मुक्ति पाकर स्वर्ग जा सकें! बदले में धरती के स्वर्ग की पूरी व्यवस्था उन्होंने अपने कब्जे में कर ली है। प्रेमचन्द-युग में 'व्यापार का राज्य' (सन्दर्भ : 'रंगभूमि') कायम करने निकली उपनिवेशवादी वैश्विकता वर्तमान दौर में नवउदारवादी वैश्विकता के रूप में 'बाजार का राज्य' कायम करने में जुटी है। अपने पथ पर उत्तरोत्तर आगे बढ़ते हुए उसने प्रादेशिकता—नवउदारवादी विचारधारा से इतर किसी भी इतिहास, दर्शन, विचारधारा आदि के अन्त की घोषणा कर दी है।

स्वतंत्रता पूर्व के सभी साहित्यकार तीव्रता से यह अनुभव करते हैं कि वैश्विकता के वर्चस्व तले प्रादेशिकता की शक्ति और स्वतंत्रता पराभूत हो गयी है। लिहाजा, वैश्विकता की समीक्षा उनकी साहित्य रचना के केन्द्र में आ जाती है। यह समीक्षा प्रादेशिकता के आधार अथवा कसौटी पर की गयी है। इस असंगति से निपटने के लिए कि पराभूत प्रादेशिकता विजयी वैश्विकता की कसौटी कैसे बनाई जा सकती है, ज्यादातर साहित्यकारों ने प्रादेशिकता को स्वर्णिम अतीत की धूनी दे कर महान और गौरवशाली बनाया है। इस तरह से निर्मित की गयी महान

और गौरवशाली प्रादेशिकता उपनिवेशवादी वैश्विकता पर विजय हासिल करती है। प्रेमचंद के साहित्य में भी प्रादेशिकता और वैश्विकता का संघर्ष मिलता है। हालाँकि उनकी प्रादेशिकता की धारणा अतीतोन्मुखी साहित्यकारों जैसी नहीं है। वह सीधे युगीन यथार्थ से जुड़ी है। प्रेमचंद के साहित्य में प्रादेशिकता की खूबियाँ और कमजोरियाँ दोनों मिलती है। वे प्रादेशिकता पर वैश्विकता के वर्चस्व स्थापन में खुद भारतीयों की भूमिका को भी सामने लाते हैं। खासकर सामन्तों, बुद्धिजीवियों और पूँजीपति व्यवसायियों की भूमिका प्रादेशिकता विरोधी है। प्रेमचंद की वैश्विकता की धारणा भी कई अन्य साहित्यकारों से अलग है। उनके साहित्य में वैश्विकता के दमनकारी और मनुष्य विरोधी चरित्र की पहचान के साथ उसके वैसा होने के मूलभूत कारण की पहचान की गयी है। अन्य ज्यादातर साहित्यकारों की तरह वे अपने साहित्य में प्रादेशिक अध्यात्मिकता के बरक्स वैश्विकता के भौतिकतावादी होने का इकहरा तर्क नहीं देते। हालाँकि रचनात्मक के अलावा प्रेमचन्द के विचारात्मक लेखन से पता चलता है कि वे दार्शनिक अर्थ में भौतिकवादी नहीं है। उनकी वैश्विकता के साथ असहमति का मूल कारण उसका धर्म रहित होना है। यानी वैश्विकता के दमनकारी और मनुष्य विरोधी होने का मूल कारण वे उसका धर्म रहित होना मानते हैं।

धर्म से प्रेमचन्द की मुराद मनुष्यता के धर्म से है : मुनष्य का अंतर्निहित नैतिक विवेक जीवन की विषम और जटिल परिस्थितियों में जिसकी परीक्षा होती चलती है। यानी मनुष्यता का धर्म एक जीवनपर्यंत चलने वाली सतत् प्रक्रिया है। जीवन की परिस्थितियाँ, उन परिस्थितियों को निर्मित करने वाली व्यवस्था का दबाव मनुष्य के ऊपर जीवनपर्यंत बना रहता है। ऐसे में जरूरी नहीं है कि मनुष्य हमेशा धर्म का पालन कर पाता हो। वह अपने धर्म से गिरता भी है और फिर उठ भी सकता है। इस तरह न केवल मनुष्यता के धर्म और परिस्थितियों के बीच द्वन्द्वात्मकता बनी रहती है, प्रत्येक मनुष्य के जीवन में भी धर्म-अधर्म का द्वन्द्व जारी रहता है। इस द्वन्द्वात्मकता से निजात पाने के लिए संस्थानीकृत धर्म बीच के कई रास्ते निकालता है। जरूरी नहीं है कि वे सभी मनुष्यता के धर्म के विपरीत पड़ते हों। लेकिन वे मनुष्यता के धर्म का स्थान नहीं ले सकते। मनुष्यता का धर्म यदि नहीं रहेगा तो मनुष्यता ही नहीं रहेगी। यहाँ विवेच्य उपन्यास 'रंगभूमि' (1925) के नायक सूरदास की प्रबल इच्छा जीवन में एक बार तीर्थ करने की है। उसे विश्वास है कि उसका अंधापन पूर्व-जन्म के कर्मों का फल है। रुपयों की थैली चोरी चले जाने को भी वह पिछले जन्म के किसी कर्म का दण्ड मानता है। वह अपने पुरखों की जमीन पर बनारस आने वाले यात्रियों के लिए कुँआ और धर्मशाला बनवाना चाहता है। अदालत से बरी होने के अवसर पर वह पाँच ब्राह्मणों को भोजन कराता है। मृत्यु शैया पर पड़े सूरदास की एकल कामना यही है कि उसका भतीजा मिठुआ उसका अन्तिम संस्कार और पिण्डदान करे ताकि उसकी सद्गति हो सके। मरने के बाद वह बैकुंठ जाने की कामना करता है। बल्कि, गोली लगने के बाद मृत्यु से पहले उसे विश्वास है कि वह 'बैंकुंठ' जाएगा। सूरदास का महत्त्व यह सब करने या मानने के कारण नहीं है। यह सब सभी लोग करते हैं। उसका महत्त्व इसमें है कि वह जीवन की रंगभूमि में अपनी पारी खेलते हुए मनुष्यता के धर्म से नहीं डिगता। हारे चाहे जीते। उसके जीवन-दर्शन में हार-जीत एक असमाप्त द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया है : ''...हम तो खाली मैदान में खेलने के लिए बनाए गये हैं। सभी खिलाड़ी मन लगा कर खेलते हैं, सभी चाहते हैं कि हमारी जीत हो; लेकिन जीत एक ही की होती है, तो क्या इससे हारने वाले हिम्मत हार जाते हैं? वे फिर खेलते हैं; फिर हार जाते हैं, तो फिर खेलते हैं। कभी न कभी तो उनकी जीत होती ही है।''

'रंगभूमि' प्रेमचंद की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रचना है। 'रंगभूमि' की कथावस्तु प्रादेशिकता और वैश्विकता के द्वन्द्व से विकसित होती है। प्रादेशिकता के पाले में उपन्यास का नायक सूरदास और उसके सहयोगी हैं। वे बनारस की जड़ में बसी बस्ती पांडेपुर के निवासी हैं। वैश्विकता का पाला ज्यादा बड़ा है। शहर के हिसाब से ही नहीं, उस पाले में लोग भी बड़े हैं : उपनिवेशवादी शासक और उनके सहयोगी बुद्धिजीवी और सामंत। वे सब बनारस में रहते हैं। ऐसा नहीं है कि प्रादेशिकता और वैश्विकता की पक्षधर शक्तियों के बीच शुरू में ही लकीर खींच दी गयी है। पूरा उपन्यास पढ़ कर ऐसा लगता भी नहीं कि लेखक किसी भी पक्ष में पेशबंदी करके चला है सारा द्वन्द्व और संघर्ष रचनात्मक अनुशासन में चित्रित हुआ है। जैसा कि हर महत्त्वपूर्ण रचना में होता है, 'रंगभूमि' में भी मनुष्य और परिस्थिति (नियति भी) का जटिल संघात है। संघात के भीतर से लेखक के जीवन-दर्शन अथवा 'विजन' की सृष्टि होती है। प्रादेशिकता के पाले का खिलाड़ी अंधा भिखारी सूरदास है और वैश्विकता के पाले का सबसे बड़ा खिलाड़ी व्यवसायी जॉन सेवक। सूरदास के पास बाप-दादों की दस बीघा जमीन है जिसे वह अपने निर्वाह के लिए उपयोग नहीं करता। उस खाली जमीन में पूरे मोहल्ले के पशु चरते हैं। पशुओं में भी सूरदास की गउओं पर ज्यादा ममता है। सूरदास इसे धर्म का काम मानता है। दरअसल, वह जमीन पर अपना हक नहीं मानता, क्योंकि वह उसकी अपनी कमाई न होकर पुरखों की विरासत है। उस जमीन से कोई भी लाभ लेना वह धर्म के विरुद्ध मानता है। उसी तर्क से वह अपने भतीजे मिठुआ का भी जमीन पर हक नहीं मानता। (उसके धर्मात्मापन पर क्षुब्ध मिठुआ मृत्यु शैया पर पड़े सूरदास का घोर तिरस्कार करता है।) जॉन सेवक चमड़े का छोटा व्यवसायी है लेकिन उसकी महत्त्वाकांक्षा बड़ा व्यवसायी बनने की है। उसने अपेन बेटे प्रभु सेवक को इंग्लैण्ड में व्यवसाय की शिक्षा दिलवाई है। सूरदास की जमीन उसे सिगरेट का कारखाना लगाने के लिए मौके की जान पड़ती है। किसी भी तरह वह जमीन खरीदने पर तुल जाता है। सूरदास किसी कीमत पर अपनी जमीन नहीं बेचना चाहता। लेकिन लड़ाई में वह अकेला पड़ जाता है। जॉन सेवक, कुँवर भरत सिंह, राजा महेन्द्र सिंह, क्लार्क और कारखाने के शेयरधारियों को अपने साथ मिला कर प्रशासन से वह जमीन अपने नाम करा लेता है। मुआवजा मात्र एक हजार रुपये तय होता है। सूरदास मुआवजे की रकम सेवा समिति के सदस्य इन्द्रदत्त को सौंप देता है। कारखाना चालू होने पर मोहल्ले में वे सारी बुराइयाँ फैलने लगती हैं जिनका जिक्र सूरदास ने बार-बार किया था। मजदूरों के घर बनाने के लिए जॉन सेवक प्रशासन से मिल कर पूरे मोहल्ले की जमीन लेने का आदेश भी पारित करा लेता है। सूरदास, जिसकी प्रादेशिकता संस्कार और स्थान दोनों में गहरे धँसी है, अपनी झोंपड़ी छोड़ने के लिए तैयार नहीं होता। भैरो से कहता है : ''जहाँ जन्म लिया है, वहीं मरूँगा।... बाप-दादों की जमीन खो दी, अब इतनी निशानी रह गयी है, इसे न छोड़ूँगा इसके साथ ही आप भी मर जाऊँगा''। पुलिस जबरन लोगों के घरों में घुस कर उन्हें सामान के साथ बाहर फेंक देती है। सेवा समिति के कार्यकर्ता और अन्य काफी लोग सूरदास और मोहल्ले के उजाड़े गये लोगों के समर्थन में इकट्ठा होते हैं। पुलिस गोली चलाती है जिसमें कई युवक मारे जाते हैं। क्लार्क की गोली सूरदास के कंधे में लगती है। बाद में अस्पताल में सूरदास की मौत हो जाती है।

प्रेमचंद के बाकी कथा-साहित्य की तरह 'रंगभूमि' में भी सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक सांस्कृतिक-धार्मिक संरचनाओं, संस्थाओं यानी प्रादेशिकता के सम्पूर्ण परिदृश्य पर उपनिवेशवादी वैश्विकता की चोट के निशान मिलते हैं। लेकिन इस कारण से 'रंगभूमि' का महत्त्व नहीं है। उस कारण से तो कतई नहीं, जो आमतौर पर बताया जाता है कि गाँधीवादी प्रभाव की रचना

होने के नाते उसमें औद्योगीकरण की बुराइयाँ दिखाते हुए उसका विरोध किया गया है। 'रंगभूमि' की महाकाव्यात्मक महत्ता इसमें है कि इस उपन्यास में प्रेमचंद ने पहली बार वैश्विकता के धर्म रहित चरित्र पर गहरी चोट मारी है। मुनाफे को जीवन का एकमात्र ध्येय मानने वाली उपनिवेशवादी वैश्विकता के मारे लोगों की आत्मा इस कदर मर जाती है कि सूरदास जैसी सच्ची आत्मा को मार डालने के बावजूद उनका चरित्र जरा भी नहीं बदलता। वहाँ भैरो जैसे लोग ही हैं जिनकी आत्मा धूमिल होने के बाद स्वच्छ भी हो जाती है। उसे वहाँ भर्ती सूरदास से नहीं मिलना था, अपनी बेटी सोफी से मिलकर ''संवेदना प्रकट करने का शिष्टाचार'' निभाना था, जिसका होने वाला पति विनय सिंह आत्महत्या कर लेता है। शहर में इतना बड़ा कांड हो जाने के बावजूद वह सारा दिन अपने कारखाने में ही उलझा रहा था। उसे वह कारखाना खोलने पर अफसोस तो होता है लेकिन उस अफसोस में मरणासन्न सूरदास, पांडेपुर के उजाड़े गये लोग और उनके समर्थन में पुलिस की गोली से मारे गये इन्द्रदत्त जैसे युवकों की कोई चिन्ता नहीं है। उसे चिन्ता है अपने मुनाफे की : ''उन्हें बार-बार यह कारखाना खोलने पर अफसोस होता था, जो असाध्य रोग की भाँति उनके गले पड़ गया था। इसके कारण पारिवारिक शान्ति में विघ्न पड़ा, सारा कुनबा तीन-तेरह हो गया, शहर में बदनामी हुई, सारा सम्मान मिट्टी में मिल गया, घर के हजारों रुपये खर्च हो गये और अभी तक नफे की कोई आशा नहीं।''

वह सोफी के आग्रह पर हिचकते हुए सूरदास से भी उसकी तबीयत का हाल पूछता है। सूरदास प्रसन्नतापूर्वक उसका स्वागत करता है और उसके आने पर अपने को धन्य और दुनिया का बड़ा आदमी मानता है। शायद उसकी विनम्रता और सहृदयता से प्रभावित जॉन सेवक उसका अहित करने के लिए खेद प्रकट करता है। कुटिलता और छल-कपट के लिए आत्म-भर्त्सना भी। वह उसके तत्त्वज्ञान का भी कायल होता है और उसके समक्ष अपने को बालक कहता है। सूरदास न केवल उससे कोई द्वेष नहीं दिखाता, मिठुआ की तरफ से उसे सावधान भी करता है, जो कुछ देर पहले जमीन का मुआवजा न मिलने की स्थिति में कारखाने में आग लगा देने की धमकी देकर गया था। जॉन सेवक इसके लिए उसका कृतज्ञ होता है और एक बार फिर अपनी सिद्धान्तनिष्ठता का हवाला देकर ठुकरा देता है। वह कहता है : ''किसी नीयत के बुरे आदमी को आश्रय देना मेरे नियम के विरुद्ध है।'' जॉन सेवक को सूरदास और पांडेपुर के निवासियों के खिलाफ इतना कुछ कर गुजरने के बावजूद अपनी नीयत का खोट नजर नहीं आता। वह वैसा ही है—स्वार्थ के बाहर बिल्कुल अंधा। उपन्यास के अंत में उसकी स्थिति इस प्रकार है : 'वह निराशामय धैर्य के साथ प्रातःकाल से संध्या तक अपने व्यावसायिक धंधों में रत रहते हैं। उन्हें अब संसार में कोई अभिलाषा नहीं है, कोई इच्छा नहीं है, धन से उन्हें निस्वार्थ प्रेम है, कुछ वही, अनुराग, जो भक्तों को अपने उपास्य से होता है। धन उनके लिए किसी लक्ष्य का साधन नहीं है, स्वयं लक्ष्य है।...उनकी धनकामना विद्या-व्यसन की भाँति तृप्त नहीं होती।'' राजा महेन्द्र कुमार सिंह भी सूरदास से मिलकर अपनी भूलों के लिए क्षमा माँगता है। वह कहता है : ''अगर मेरे वश की बात होती, तो मैं आज अपने जीवन को तुम्हारे जीवन से बदल लेता।'' वही राजा मरणोपरांत सूरदास की स्मृति में स्थापित मूर्ति को तोड़ने के प्रयास में उसके नीचे दब कर मर जाता है। क्लार्क की गोली से तो सूरदास मारा ही जाता है। सूरदास की मृत्यु के बाद वह राजा से कहता है : ''मुझे इसका अफसोस है कि मेरे हाथों से ऐसे अच्छे आदमी की हत्या हुई।'' राजा कहता है : ''सौभाग्य कहिये, दुर्भाग्य क्यों?'' वह जवाब देता है : ''नहीं राजा साहब, दुर्भाग्य ही है।...यह राज्य करने का प्रायश्चित है कि इस देश में हम ऐसे आदमियों का वध करते हैं, जिन्हें इंग्लैण्ड में हम देव-तुल्य समझते

हैं।'' सोफी जब कहती है : ''काश, ये शब्द आपके अंतःकरण से निकले होते!'' तो वह तुरन्त बौखला कर कहता : ''यह तुम्हारे उस अन्याय का फल है जो तुमने मेरे साथ किया है।''

गाँधी के 'चेंज ऑफ हार्ट' में घोषित विश्वास करने वाले प्रेमचन्द की रचना 'रंगभूमि' में उपनिवेशवादी वैश्विकता के कर्ताओं का चरित्र नहीं बदलता। वे कभी-कभार सूरदास से प्रभावित होते हैं। लेकिन उनका 'धर्म' सूरदास के धर्म से अलग है। जॉन सेवक अपने कारिंदे ताहिर अली से कहता है : ''धर्म और व्यापार को एक तराजू पर तौलना मूर्खता है। धर्म धर्म है, व्यापार व्यापार, परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं। संसार में जीवित रहने के लिए किसी व्यापार की जरूरत है, धर्म की नहीं।'' धर्म को व्यापार और धनाधीशों का शृंगार बताते हुए वह कहता है : ''खाली पेट खुदा का नाम लेना पाप है।'' धर्म को मनुष्यता से जोड़कर देखने वाली सोफी और वैसी ही उन्मुखता वाले प्रभु सेवक को वह नासमझ मानता है। प्रभु सेवक जब आवेश में कहता है कि उसने एक अँधे असहाय भिखारी की जमीन लेकर अधर्म किया है तो जॉन सेवक स्पष्ट करता है कि चर्च जाने जैसा रूढ़ धार्मिक व्यवहार भी वह पारिवारिक सौहार्द और व्यापार के लाभ के लिए करता है। अन्यथा धर्म से उसका कोई लेना-देना नहीं है। सूरदास से उसका कहना है : ''धर्मयुद्ध के दिन अब नहीं रहे।'' उसकी यह मान्यता उपनिवेशवादी वैश्विकता की संगति में है। यानी उपनिवेशवादी वैश्विकता में ढला चरित्र मनुष्यता के धर्म से प्रसूत मानवीय विवेक अथवा नैतिकता से रहित होता है। ऐसे में उसकी बदलाव की संभावना भी समाप्त हो जाती है। उसके लिए सूरदास को मारना और पांडेपुर की बस्ती और लोगों को उजाड़ना अनिवार्य हो जाता है। यानी ऐसी वैश्विकता प्रादेशिकता का शिकार करेगी ही करेगी। लिहाजा, उसे प्रादेशिकता से 'रिप्लेस' करना अनिवार्य है। वही वास्तविक विकल्प है। ऐसा विकल्प जिसमें प्रादेशिकता और वैश्विकता परस्पर विरोधी अथवा विभिन्न सत्ताएँ नहीं रह जाएँगी। मानव मूल्य और नैतिकता दोनों की समान आधारभित्ति होगी। 'रंगभूमि' में वैश्विकता और प्रादेशिकता के संघर्ष का यही निचोड़ निकलता है।

'रंगभूमि' में प्रेमचंद प्रादेशिकता और वैश्विकता के पूरी तरह गड़बड़ा चुके सम्बन्ध को सही कीली पर बिठाने का गम्भीर साभ्यतिक उद्यम करते हैं। लेकिन उपन्यास में प्रादेशिकता की पराजय होती है। वैश्विकतावादियों के यह कहने में कोई राहत नहीं है कि सूरदास हार कर भी जीत गया; हमेशा के लिए अमर हो गया; वह देवात्मा था, देवलोक को चला गया। राहत इसमें है कि आगे के संघर्ष की आशा और विजय की संभावना का सूत्र टूटता नहीं है। लेख के शुरू में उद्धृत मरणासन्न सूरदास की अस्फुट वाणी में आगे के संघर्ष और जीत का विश्वास दर्ज हुआ है। मृत्यु के क्षण भर पहले वह कहता है : ''मेरे सिर पर हाथ रखकर आसीस दो; माता, अब मेरी जीत होगी।'' इस अडिग विश्वास के कारण है कि सूरदास धर्म की लड़ाई ही नहीं लड़ता, लड़ाई के धर्म में भी उसकी वैसी ही आस्था है। भैरो से वह कहता है : ''हमारी बड़ी भूल यही है कि खेल को खेल की तरह नहीं खेलते। खेल में धाँधली करके कोई जीत ही जाये, तो क्या हाथ आयेगा? खेलना तो इस तरह चाहिए कि निगाह जीत पर रहे; पर हार में घबराए नहीं, ईमान को न छोड़े। जीत पर इतना न इतराए कि अब कभी हार होगी ही नहीं। यह हार-जीत तो जिन्दगानी के साथ है।'' साध्य और साधन की पवित्रता और मानव-प्रयास की निरंतरता में उसकी इस अटूट आस्था को चाहे तो गाँधी से जोड़ सकते हैं। 'रंगभूमि' के प्रकाशन के सन् 2024 में सौ साल पूरे हो जाएँगे। प्रकाशन की तीन-चौथाई सदी से ज्यादा समय गुजर गया है। वैश्विकता के नवसाम्राज्यवादी संस्करण के खिलाफ भारत सहित पूरी दुनिया के स्तर पर प्रादेशिकता (ओं) का संघर्ष चल रहा है। 'रंगभूमि' की प्रासंगिकता और सार्थकता आज भी बनी हुई है।

कच्ची कविताओं का गुच्छा

जय गोस्वामी
अनु. रामशंकर द्विवेदी

दुर्बल

इस समय कमजोर रचना लिखने की इच्छा होती है।
जिसमें कुछ नहीं होता ना प्रतीक, ना संकेत, ना कोई रहस्य।
सिर्फ रहता है मन
अच्छा बताओ, मन किसे कहतें हैं? बताओ ना!
तुम्हारे बैठने की भंगिमा, तुम्हारा ताकना, एकाएक हँस पड़ना,
अथवा उठकर चले जाना, इस कमरे से उस कमरे में–
एक हाथ में पानी का ग्लास, होंठों से लगा ग्लास का किनारा–

सिर्फ इतने को ही मन कहते हैं, जो हैं मूर्ख लोग
मैं भी हूँ उन मूर्खों में एकजन–
यही तो काफी है इससे अधिक
और मैं क्या समझाऊँगा!
तुम्हारी तुच्छाति तुच्छ, भंगिमाएँ, एक दुर्बल कविता में
उठा-उठाकर रख दूँगा, ओ! अविस्मरणीया!

कच्ची

कच्ची हो! भले कच्ची हो मेरी रचना
मैंने शक्ति, उत्पल को नहीं पढ़ा

पढ़े नहीं जीवनानन्द, रमेन्द्रमुमार।
विनय मजूमदार, भास्कर दत्त भी नहीं पढ़े।
कच्ची हो! भले कच्ची हो रचना। इस बार मुँह उठाकर
कह सकता हूँ, इतने दिन कुछ भी नहीं पढ़ा...
पढ़ता रहा हूँ सिर्फ तुम्हें—
जिसने सारे जीवन एक लाइन भी कविता नहीं लिखी।

'को' के द्वारा कविता

'को' के द्वारा क्या कुछ लिखा जा सकता है?
इस युग में? अभी?
यही लो जैसे लालटेन—
कहा जा सकता है, लालटेन के पास क्या तुम बैठी नहीं हो?
पूर्ण गोल-गोल चन्द्रमा के नीचे
क्या देख नहीं रही हो झाऊ की गाछ कतार-दर-कतार?
मेरे यहाँ आकर कुर्सी पर बैठते ही
क्या नहीं कहा, किसे आज जल्दी-जल्दी
घर जाना होगा?
इस तरह से 'को' के द्वारा अगर बातचीत करते हैं इस शून्य दशक के बच्चे—बच्चियाँ,
तुम कितनी हँसी उड़ाओगे? उड़ाओ, उड़ाओ, हँसी उड़ाओ ना!
उनसे तो मैं नहीं कहूँगा
'को' के द्वारा तुम्हारे लिए कविता लिखकर
कितने आनन्द से मर गया उजबक!

पुष्कर की इस आशा का अन्त नहीं

काँख में कलश दबाए तुम्हें तो कभी देखा नहीं
देखा नहीं जल भरकर आ रही हो
पुकुर घाट से ऊपर निकलकर...
× × × ×
सुनकर निश्चय ही हँसी से लोटपोट हो जाएँगे
इस जमाने में, यह सब क्या हो रहा है?
× × × ×
असल में पुकुर हूँ मैं,
कलश है मेरा प्रणय
हजार छेदों वाला
जल लेकर घर तक नहीं पहुँच पाएगा

गिर जाएगा सारा जल रास्ते में
× × × ×
तो भी सरोवर उसके दूसरे दिन भी
छलछल कर बहता रहेगा
तुम जल भरने आओगी
भर भी लोगी वह कलश
काँख में दबाओगी, दबाओगी ही
पुष्कर की इस आशा का कोई अन्त नहीं
सचमुच में कोई अन्त नहीं।

लोगी तुम?

तुम्हें दूँ ऐसा कुछ भी तो नहीं
अगर एक नया नाम दूँ
तुम लोगी? वह नाम कोई विजय-तिलक
लगाएगा नहीं तुम्हारे ललाट पर।
एक वृद्ध कविता लेखक
पाएगा शान्ति उस नामकरण से
एक दिन बिजली चली गयी थी भर संध्या बेला
मोमबत्ती जलाकर तुमने
ऊँची कर पकड़ ली थी उसकी शिखा
उस समय था अगहन मास, उसी दिन से मन-ही-मन
तुम्हें पुकारने लगा हेमन्तिका!

दोष से या गुण से

दैववश इतने दिन बाद भेंट हुई
उसके बाद आज भी किसके दोष से
कायम रही वही मिला-भेंटी?
तुम्हारे अथवा मेरे, किसके गुण से।
इतना आनन्द विद्यमान है तुम्हारे अक्षय आग में?

इतना

इतनी याद है तुम्हें मेरी?
स्मृति का बोझ
ढोती आई हो आनन्द से इतनी दूर पथ पर।

तेज धूप पर हाथ रखकर
तुम्हीं को कहता हूँ शरत्—
तुम्हीं तो मेरी आश्विन हो।
तुम्हारे मुख से छोटी-सी बात सुन
आज मेरा सर्वस्व हो गया है रंगीन—
फिर भी सोच नहीं पा रहा हूँ, कैसे
तुम मुझे इतना याद किये हुए हो? इतने दिन तक?

रूपहली लटें

उम्र तो कुछ हो ही गयी है, फिर भी कभी-कभी
लगता है आज भी तुम बालिका हो।
खोजा जाए तो बाद में मिल जाएगी केशों में रूपहली धार
खोजने का भार दिया था कभी-कभी तुमने मुझे
मैं तो बालक नहीं हूँ, इसीलिए आज स्तब्ध होकर रह गये हैं
रूपहली लटें खोजने वाले हाथ।
तुम तो अब उठोगी? घर जाओगी?
बरामदे में उतरने लगी है रात।

जानना

कमरे में घुस आयी तुम सफेद रंग की सलवार कमीज में
मेरी नयी पुस्तक हाथ में लेकर उलट डाले दो पन्ने
घर में आज और कोई नहीं है, इसीलिए स्वयं
दो कप चाय बना लाया दोनों जनों के चेहरे पर
जंगले की ग्रिल की फाँक से आ रही है अस्ताभ की लालिमा,
यह बात वह बात होने लगी, वही बात मैं कह रहा हूँ
तुम्हारी खिलखिलाहट के शब्द ने खोल दिए हैं पूरे कमरे में पंख
जिस उम्र में मैं पहुँच गया हूँ, वहाँ पर क्या मन नाम की कोई चीज रह जाती है?
यदि रह जाती है तो बताओ,
मेरे मन की बात क्या तुम्हारी जानी हुई है?

निरामय

कुटिल भ्रूक्षेप कितने कुटिल भ्रक्षेप!
कितना विशृंखल मन मेरे भीतर से निकलकर धरती
पर पड़ा हुआ है कितने सन्देह, कितने अनादर

कितने दावे–
बैठी हो तुम मेरी आँखों के सामने, सिर्फ बैठने मात्र से ही
किस तरह से सारे घावों को तुमने नीरोग कर दिया है, मैं यही सोच रहा हूँ।

पुराना, नया

कभी मुझे कोई कष्ट नहीं दिया।
कभी नहीं की कोई कठोर बात।
फिर भी क्यों
तुम्हारी खिड़की के खूब पास
मेरे पुराने यह प्राण
नयी कविता लिए कितनी देर से खड़े हुए हैं?
लो, हाथ बढ़ाकर ले लो!

बन्दी

पन्ना उलटकर गाना देखना, खोजते फिरना गीत
बिना जाने तैरते जाना लता-पत्तों से घिरे सरोवर में
सरोवर भूल वश कहा गया है,
असल में हर पृष्ठ पर निहित है एक कवि का
अतल समुद्र गामी मन
समझो या न समझो एक सांध्य घर में
गीत-वितान के हाथों बन्दी बने हुए हैं दो प्राणी

तरु

तरु छाया शब्द क्या तुम पुराना मानती हो!
हालाँकि तुम्हें देखते ही
याद आता है–
गाछ नहीं, तरु की छाया में
स्निग्ध होकर बैठा हूँ।
तुम जब तक रहती हो, समझ जाता हूँ, जीवन एक बार पुनः
नये प्रेम के दोष से दोषी हो गया है।

जलांजलि

तुम हो स्वच्छ जल,
जल तल पर

शाम की रोशनी पड़ने से स्पष्ट हो उठते हैं पत्थर के टुकड़े
देखते ही प्रतीत होता है, ये तो नहीं हैं प्रस्तर खण्ड
पत्थर में ढ़ोकों की तरह
एक कवि तुम्हें दे गया है जलांजलि के रूप में मन, शाम को
तुम आयीं तुम्हारे आ जाने पर
पाने का आनन्द भरा हुआ है
वृक्ष वनस्पति रंगीन विकाल में

आएँगे

सब कुछ याद रखे हूँ। कब जो चिबुक के पास तर्जनी रखकर
अवाक् होकर ताकी हो गमलों के पुष्पगाछ की तरफ;
अरी माँ! कितने सुन्दर हैं?
इतनी कलियाँ आ गयीं हैं?
वे खिलेंगी कब?
आज ही खिल गयी हैं यदि तुम घूम कर देख सकती हो
तो सारे फूलों के साथ तुम्हारी भेंट हो जाएगी।
फूल आएँगे, एक बार जरूर आएँगे,
गमले के गाछ के पास मोढ़ा डालकर बैठा रहूँगा मैं।

कहाँ जाऊँ

तीन दिन पहले ही तो तुम आयी थी।
सोच रहा हूँ, जैसे कितना समय हो गया है तुम्हें आए?
ऐसा पागलपन लिए इस उम्र में
बोलो, कहाँ जाऊँ?

जानता हूँ, फिर भी

समुद्र के किनारे बालू पर
अपनी अँगुली से लिखता हूँ तुम्हारा नाम बड़े जतन से
थोड़ी देर बाद लहर आएगी धुल जाएगा ठीक है।
पता है फिर भी लिखता हूँ, लिखता रहता हूँ बार-बार तुम्हारा नाम—

सांध्य घर

आयी हो शाम को
चली जाओगी कुछ क्षण बाद
उसका यह बैठे रहना शान्त होकर
मानो है प्रकाश का फैलना
जिस प्रकाश से भर गया है कमरा

सहज

याद आना कितना सहज है—
और भूलना कितना कठिन!
× × × ×
ऐसा क्यों कह रहा हूँ? मेरे भीतर जो
बार बार नये रूप में जीवित हो उठती है रोज
उसे साथ-साथ बने रहना प्रतिदिन?
असम्भव रूप से है कठिन, सचमुच में कठिन...

बातचीत

बात करने के प्रयास में आकाश ने
खिला दिया है एक तारा
और दूसरा तारा
तुम्हारे उत्तर ने :
हाँ, मैं कल आ रही हूँ, दोपहर के बाद

एक अँजुरी जल

स्रोत यही है
यही हो तुम
यद्यपि खड़ी रहती हो
बैठ जाती हो
घर से चली जाती हो बरामदे में
फिर भी स्रोत तो यही है
कितने शान्त प्रवाह में
बहता आ रहा सारा क्षण
मैं तो दोनों हाथों से

भर लेता हूँ एक अँजुरी जल
उसी जल में छाया फेंकती हो तुम
अरे ओ! जयश्री जीवन!

चला गया दिन

तीन दिन, चार दिन, पाँच दिन
बीत गए, तुम्हें नहीं देखा;
लगा जैसे बीत गया है दिन
भूतों से भिक्षा में माँग लाया
ढ़ेला
उसी से बना रहा हूँ माटी का घर
इस उम्र में और
कुछ भी हो नहीं रहा खोने को
छठवें दिन तुम आकर बैठोगी उस घर में
कह उठोगी : कहाँ, देखूँ जरा? पढ़ रही हूँ
तुम्हारी नयी कविता।

वयस्क

कितनी सहज है एक टुकड़ा हँसी!
देखूँगा वह हँसी इसीलिए आता हूँ
सभी समझते हैं इसे
वयस्क व्यक्ति की एक कमजोरी
उनकी उस सब समझ की ओर पीठ फेर कर मैं
टकटकी लगाकर देखता रहता हूँ सिर्फ तुम्हारी ओर
देखता हूँ कि किस तरह
नवधारा जल में उतर आती है
कथा और हँसी, हँसी और कथा।

करक

एक ने कहा आकाश
दूसरा प्रत्याशित रूप से पाताल कहेगा ही
आँधी से उड़कर गिर पड़ा हूँ
तुम्हारी गोरी-गोरी गोद में

पता है उस गोद में निहित है पूरा जगत
मुझे आश्रय दो, अपने पास रखो। आँधी से पीड़ित काक समझकर
लौटा मत देना आँधी में।

एक ही तो

तुम इस बरामदे के किनारे
खड़ी होकर साँस लो एक ही बरामदे में
मैं भी तो साँस लेता हूँ एक ही वातास तो
दोनों लोगों की छाती भर देती है
एक ही तो, एक ही तो, बताओ—
तो फिर क्यों दो जने अलग-अलग रहेंगे
लोगों के भय से डरकर?

तिरेसठवें वर्ष में

पहले वर्ष का छात्र जैसे लिखता है, वैसे ही
सहज भंगिमा में आवेगों को लिखो।
बताओ कि आज भी तेज धूप, वर्षा याद आती है...
अब भी क्या क्षत-विक्षत होते हो प्रेम के दंश से।

विरह-मधुर

मेरे शरीर में जो धूप लग रही है दस बजे
दस किलोमीटर दूर, तुम्हारे ऑफिस बरामदे में
एक ही धूप तुम्हारी देह का भी तो स्पर्श कर रही है
सांध्य रात में पूर्णिमा का जो आलोक
वृक्ष वनस्पतियों की फाँक को पार करता हुआ मैं चलता जा रहा हूँ
शान्ति रूपी फार्मेसी में
उसी ज्योत्सना को अपने शरीर में लेकर तुम
अपने घर की खुली छत पर
खड़ी रहती हो उस समय
किसकी सामर्थ्य है जो हमें दूर-दूर रख सके!

अचरज

कितना अचरज घटता चला गया इस जीवन में!
वे सभी, सब लोग, जन सभी
कतार बाँधे खड़े हुए हैं पहाड़ के वन में
दूसरी ओर तुम आ गयी टीले पर बैठी हुई हो।
देख रहा हूँ चकित हैं मेरे प्राण
अब भी जीवन कहने को जो कुछ बाकी है, उसका
सामान्य सा सब कुछ बिना कातर हुए ढाल देना चाहता है
तुम्हारे सामने
इस समाप्तप्राय उम्र में

भोर

तुम्हें तो मैं पहचानता हूँ सूर्यास्त में
जब गोधूलि आकर
रंगीन कर देती है मेघों को, तुम आओ
रंगीन कर दो मेरे जीवन को
सन्ध्या नहीं, तुम्हारे आते ही हो जाता है सब कुछ भोर,
जितने समय तुम रहती हो मेरे पास,
वही समय हो जाता है मेरे लिए अछोर

और एकबार

प्रमाणित करने को है क्या?
तुमसे कहने को मेरे पास
नया कुछ नहीं है
वही पुरानी बात
और एक बार तुमसे मिलना चाहता हूँ।

लाल

किसे कहूँ लाल?
तुम्हें!
मेरा लाल रंग तो तुम हो!
आज समझ पाया हूँ

सूर्य डूबते-डूबते कैसे रंगीन कर जाता है
नदी तट से घिरी वनभूमि को।

राख और भस्म

इस समय अपने से प्रश्न कर पूछता हूँ :
विचार कर देखो
लोग क्या कहेंगे क्या नहीं कहेंगे
सिर्फ यही बात सोचते-सोचते
जीवन के अवशिष्ट दिनों को
क्या राख और भस्म में मिल जाने दोगे?

बुझाए रखना

इस समय तुम्हारी चर्चा चलाता नहीं हूँ, जहाँ तक हो सके
चुप ही बना रहता हूँ
मेरे लिखने का कोई मूल्य नहीं, सच कह रहा हूँ, जीवन में मेरे
आलोक कहने को एकमात्र बाकी तुम हो
हालाँकि उस आलोक को रोज ही फूल और गंगा जल से
बुझाए ही रखता हूँ बड़े जतन से।

फूल गाछ

वह आएगी, आएगी ही आज वह
यही बात कह रहा है गन्धराज
यही बात खिली हुई है स्थल पद्म गाछ में
ढलती हुई धूप से आँखें हटाते ही
देखता हूँ, यह क्या! धूप तो नहीं है
स्वयं ही फूलगाछ होकर बरामदे के पास
हँसते हुए वह खड़ी हुई है!

मन ही मन

मन-ही-मन करता हूँ संसार
मन ही मन
कॉफी बनाकर लाता हूँ दो कप
मन ही मन एक टेबिल पर खाने बैठे हाथ से

भात परोस देता हूँ तुम्हारी थाली में...
सब कुछ मन ही मन, इसीलिए
कर रहा हूँ सिर्फ संसार
दग्ध नहीं होता हूँ संसार की ज्वाला से

डी एल राय का एक गाना

इस जीवन में पूरी नहीं हुई साध–
अपने को प्रस्तुत करता हूँ रोज
केवल तुम्हारे लिए। अपने को प्रस्तुत करता हूँ रोज
पर, पूरी नहीं हुई साध
इस जीवन में
प्रस्तुति है बहुत कठिन। सचमुच में कठिन।
यद्यपि तुम्हारा आना, ताकना और हँस पड़ना यकायक
कितना नहीं है सहज!
देखते-देखते बीत गयी शाम
शेष हो गया दिन
तुम्हें आगे लेकर शाम को जाता हूँ बाहर
बस पर चढ़ाकर
लौटते रास्ते में देखता हूँ कि
मेरे साथ है और एक जन तृतीया का क्षीण
बाँका चाँद
इस जीवन में पूरी नहीं हुई साध...इस जीवन में...

सूर्यास्त में

झर पड़ा हो मेरे ऊपर
मानो स्नान-जल।
बालक की देह हाथ से पोंछकर
फिर उसे सजाओ! लगाओ काजल
फिर छोड़ दो शिशु को बागान में
इस जीवन को पवित्र करो सूर्यास्त के स्नान से

(17 जून, 2017 'देश' से साभार)

अन्याय का प्रतिवाद करना कवि का काम है, प्रतिशोध लेना नहीं

(कवि जयगोस्वामी से एक साक्षात्कार)

पायेल सेन गुप्त
अनु. रामशंकर द्विवेदी

जीवन के इस पड़ाव पर आकर, पीछे छोड़ आये जीवन को आप किस दृष्टि से देखते हैं? उसमें किसी तरह के संशोधन, एडिटिंग की आपको जरूरत महसूस होती है? अथवा आपके काव्य-प्रवाह की तरह आपका जीवन भी बहता रहा है अपनी महिमा! से प्रेरित होकर! कहीं किसी तरह के बाँध बनाने की आवश्यकता आपको महसूस नहीं हुई?

एडिटिंग की निश्चित ही दरकार थी। किन्तु, इसे मैं बहुत बाद में समझ सका। अब अर्थात् छप जाने के बाद देख रहा हूँ कविताओं की एडिटिंग करने की जरूरत थी। कुछ चीजें निकाल देने की जरूरत थी। मेरा पीछे छोड़ आया जीवन, मेरे सामने एक छपी हुई पत्रिका के समान पड़ा हुआ है। उसमें सिर्फ छापे की भूले ही भूले हैं। सिर्फ कवि की ही भूले नहीं इसके साथ एडिटिंग, वह भी कई जगह नहीं है। एडिटिंग योग्य अंश को कई बार मैं अपने साथ ढोता रहा हूँ। इसके अलावा काम-काज के जगत् के साथ अपने व्यक्तिगत आवेगों को भी मैं मिला देता था। इससे भी मेरी काफी क्षति हुई है। और आपने जिस बाँध बनाने की बात कही है? मेरी सबसे बड़ी दुर्बलता थी प्राण खोलकर बात कहना। कोई बात कहाँ कहना चाहिए, इस पर विचार किये बिना, जब जैसा लगा मैं वह कह डालता था। यह काम ठीक नहीं हुआ।

चूँकि मन की बात अथवा कोई महत्त्वपूर्ण अनुभूति एक मूल्यवान वस्तु होती है। मान लीजिए आपकी दादी या नानी अगर आपको कोई मूल्यवान गहना दे जाए, तो क्या आप उसे घर के सामने रास्ते के किनारे खुले चूबतरे पर यों ही पड़ा रहने देंगी? जो व्यक्ति इस तरह उसे पड़ा रहने देता है, उसका रत्न तो खो ही जाता है, उसका फल भी उसे भुगतना पड़ता है। मैं इसी तरह का फल भोग रहा हूँ। फिर भी, मुझे इतने दिनों में जो सीख मिली है, वह शायद न मिल पाती। अब सोच रहा हूँ, चूँकि मन की बात बहुत मूल्यवान वस्तु है, इसलिए उसे अन्तराल में रखने की जरूरत है, जिससे सिर्फ लिखते समय वह संचय आपको शक्ति दे सके।

कविता कर्म में आप कब से समर्पित हो गये?

जहाँ तक याद आता है, सम्भवतः 1967 ई. से मैं कविता के नशे से ग्रस्त हो गया। पहले छः-सात बरसों तक खूब लिखता रहा किन्तु छपाने की बात नहीं सोची। अपनी 19-20 वर्ष की उम्र में मुझे अपनी पहली कविता छपाने का सुअवसर मिला।

यह सुअवसर कैसे मिला था?

मैं प्रायः सभी पत्रिकाओं, विशेषकर लघु पत्रिकाओं में डाक से अपनी कविताएँ भेजा करता था। रचना के साथ अपना पता लिखा एक लिफाफा भी साथ में रख देता था। कुछ रचनाएँ छप जाती थीं, फिर कुछ वापस भी आ जाती थीं। 'देश' पत्रिका में मेरी पहली कविता छपी 1975 ईस्वी में। उस समय ही मैं यह नहीं जानता था कि यह पत्रिका ही एक दिन मेरा कर्मस्थल होगी। इसके ठीक दस वर्ष बाद अर्थात् 1985 ईस्वी में मैं पहली बार 'देश' पत्रिका के ऑफिस में गया। किन्तु, जीवन के पहले बीस वर्षों में मेरी कविताएँ लघु पत्रिकाओं में ही छपती रही थीं', जैसे 'परमा' जिसके सम्पादक थे मणीन्द्र गुप्त अथवा पवित्र मुखोपाध्याय के सम्पादन में निकले वाली पत्रिका 'कविपत्र', 'अभिमान' पत्रिका के सम्पादक थे गौतम चौधरी 'अलिन्द' और 'कविता दर्पण' जिनके सम्पादक थे क्रमशः प्रणवेन्दु दास गुप्त एवं तुषार चौधरी इसके अलावा 'जिज्ञासा' पत्रिका के संपादक स्वर्गीय शिवनारायण राय ने मेरी दो-तीन कविताएँ शृंखलाएँ प्रकाशित की थीं एवं मेरे सम्बन्ध में अपने सम्पादकीय में एक टिप्पणी लिखकर मुझे उत्साहित भी किया था। अपने पहले दो कविता संग्रह—'क्रिसमस ओर शीतेर' (सॉनेट) तथा 'प्रत्नजीव' मैंने अपने खर्चे से प्रकाशित की थीं', अपनी माँ से पैसा लेकर। प्रकाशक द्वारा मेरी पहली प्रकाशित पुस्तक थी, 'उन्मादेर पाठक्रम', इसे पेपिरस ने प्रकाशित किया था। इसके प्रकाशन की व्यवस्था शंख घोष ने की थी। मैं उन दिनों राणाघाट में रहता था। किसी प्रकाशक को नहीं पहचानता था। शंख घोष ने ही मेरी पुस्तक छापने की बात उससे कह दी थी।

आपकी आजकल की कविताओं में शैशव लौट आया है। कैसे थे वे सब दिन, यह जानने की इच्छा होती है।

बचपन की कथा कई बार लिखी है। तो भी बता रहा हूँ, मेरा बचपन कलकत्ता से बहुत दूर बीता है—एक छोटे-से टाउन में। किन्तु उस समय वहाँ अधिक घर नहीं थे। खुले मकान, तालाब, अरुई का वन, राख के ढ़ेर, टूटे-फूटे घर इधर-उधर पड़े हुए थे। झुलसे घर के सामने नागफनी के पीले-पीले फूल धूप में ऐसे लगते थे जैसे जल रहे हों। वक्र (बगुले) गति से साथ चलते रहते थे। गिरगिट सर-सर ध्वनि करते हुए उछलते रहते थे। पढ़ाई-लिखाई बिना किये ही एक या दो पीरियड बाद स्कूल से निकल पड़ता था। पास में ही नदी थी—चूर्णि नदी। तीन पैसा देकर उस पार जाया जा सकता था। चार आना लेकर स्कूल जाया करता था। किसी किसी दिन आठ आना। बारह पैसे में भुने चना मुरमुरा के साढ़े चार पैकेट खरीद कर खाते-खाते खेवा नाव से नदी के उस पार चला जाता था। उस पार एक के बाद एक कई गाँव थे। इसके बाद पूरे दिन पैदल ही घूमघाम कर शाम होते ही पुल से नदी पार कर घर लौट आता था। थका हुआ मुँह देखकर माँ सोचती थी कि बेटे ने पूरे दिन खूब पढ़ाई की है इसीलिए थककर लौटा है। और जब बाबा जीवित थे, तब मैं और भी छोटा था—आठ बरस का। बाबा ने घर के सामने की ऊबड़-खाबड़ जमीन को साफ करके उसमें फूल के पौधे लगाए थे। पूरे दिन मन से विभोर होकर गाना गाते रहते थे। आजकल एक अद्‌भुत बात याद आती है, मेरा जन्म कलकत्ते में हुआ था, पाँच वर्ष की उम्र में 1960 ईस्वी की पहली जनवरी को हम लोग सपरिवार रास्ता घाट चले गये। माँ को वहाँ के स्कूल में काम मिल गया था। हम लोगों के रास्ता घाट

जाने के बाद 1963 ईस्वी में अप्रैल में मेरे बाबा की मृत्यु हो गयी। अर्थात् वहाँ बाबा जीवित रहे थे केवल तीन वर्ष चार महीने। मैंने कलकत्ते में 21 वर्ष बिताये हैं किन्तु कैसी अचरज की बात है, वे तीन वर्ष चार मास गत 21 बरसों की तुलना में मुझे लम्बे लगते हैं। बाबा के साथ बिताये गये दिनों को जब याद करता हूँ तो ऐसा लगता है जैसे वे कभी शेष नहीं होंगे। कितनी कहानियाँ हैं, उस समय की। ऐसा होता है शैशव का स्वभाव! शैशव तो रहता है खूब थोड़े दिन जबकि उसकी तुलना में मनुष्य का बाकी जीवन तो बहुत लम्बा होता है। हालाँकि जैसे-जैसे उम्र बढ़ती जाती है शैशव के वे अल्प दिन ही मन में बहुत लम्बे दिखायी देते रहते हैं। हाँ सभी के साथ होता है या नहीं, यह मुझे पता नहीं है। लेकिन मेरे साथ ऐसा ही होता है।

बचपन में आपने क्या बनने का सपना देखा था? बड़ा कवि बनने का क्या सपना देखा था? कैसे आपने अपनी प्रतिभा और अपने व्यवसाय को मिलाया?

निश्चय ही तुम्हें इस बात पर विश्वास नहीं होगा किन्तु, बचपन में मैंने कवि होने का सपना देखा ही नहीं था। मैं बचपन से सोचता था भिखुदा जैसा बनूँगा। अब ये भिखुदा कौन है? इनका असली नाम है भृगु बनर्जी। यह भृगु शब्द बच्चों की जुबान पर चढ़ते-चढ़ते मिखुदा हो गया था। यह थे 'नवांकुर' नाम के एक क्लब के संस्थापक। मूलतः क्रिकेट के खिलाड़ी। बाद में ये क्रिकेट के प्रशिक्षक हो गये थे। उनकी मैं मन ही मन पूजा किया करता था। भिखुदा की तरह मैं गेंद फेकूँगा, बैटिंग करूँगा और अपने बड़े बाजार की चूर्णि नदी के किनारे 'हैपीक्लब' के मैदान में रास्ता घाट लीग मैच में खेलूँगा... यही थी मेरा महत्त्वाकांक्षा उस मैदान में खूब हवा बहती रहती है। एक ब्लैक बोर्ड पर चॉक से स्कोर लिखा जाता है। भिखुदा ने एक दिन विश्वास न हो ऐसा काम किया, उन्होंने तीन-चार ओवर में ही 34 रन बना लिये। माँ ने ले जाकर मुझे भिखुदा के क्लब में भर्ती करा दिया। इसका परिणाम बड़ा आघातकारी हुआ। पहले दिन नेट पर पैड ग्लब्स पहनकर जाते ही क्या देखता हूँ कि मेरा एक पैर हिल ही नहीं पा रहा है, वह इतना भारी हो गया था। बैट भी बहुत भारी था। मेरे पैर और सिर इसीलिए जीवन में कभी बॉलिंग का लाइन में गये ही नहीं। मैदान के अन्तिम छोर पर खड़े बेल वृक्ष के पास जाकर फील्डिंग किया करता था। सिर्फ मैदान को पार कर जाने वाली गेदों के वापस भेजने के लिए। स्लिप पर जीवन में कभी खड़ा नहीं हुआ। भय के कारण। हालाँकि भृगु दा मुझे बहुत स्नेह करते थे उनका क्रिकेट विषयक पुस्तकों का संग्रह ईर्ष्या करने योग्य था। मुझे पढ़ने के लिए दिया करते थे। उन्हें यह पता नहीं था, मैं उन्हें मन ही मन डगलस जार्डिन समझता था। वैसे ही खड़ी नाक, तीक्ष्ण आँखें थीं उनकी। सुतराम् मैं जो होने की सोच रहा था, वह तो मैं नहीं हो सका। रास्ता घाट 'हैपीक्लब' के मैदान में भय के कारण कभी फील्डिंग करने भी नहीं उतरा। कहीं गेंद लग गयी तो? यह हुई मेरी बचपन की महत्त्वाकांक्षा की कहानी। फिर मैं भिखुदा कभी नहीं बन सका। खेलने की भूख मैं खेल की पुस्तकें पढ़कर ही मिटा लेता था। इसी तरह पुस्तकें पढ़ते-पढ़ते ही साहित्य की दिशा में कब मुड़ गया, पता ही नहीं चला। नशा और पेशा ये दोनों मेरे जीवन में मिल सके, उसके पीछे है ईश्वर की करुणा।

मैं जीवन भर ईश्वर पर निर्भर रहा हूँ। उसकी मुझे दया चाहिए। उसकी दया विभिन्न रूप धारण कर मेरे पास आती है। उसकी दया के कारण ही बिना लिखना-पढ़ना सीखे ही मैं दोनों समय दो कौर खा पाता हूँ। मेरे प्रतिदिन के भोजन की व्यवस्था आज तक वही करते आ रहे हैं, मैं ऐसा मानता हूँ। यह जो बिल्ली का बच्चा मेरे लिखते समय मेरी गोद में आकर सो जाता है, यह अवसर भी उसी का दिया हुआ है। यह मेरे लिए एक बहुत बड़ा संयोग

है। कारण, सभी मनुष्यों की तरह अनेक विषयों में मेरे मन पर भी आघात होते हैं बाहरी दुनिया की तरफ से। मेरा मन भी उन पर प्रत्याघात करना चाहता है। और जब मैं लिखने बैठता हूँ, तब रचनाओं के माध्यम से वे सब प्रत्याघत फूट कर व्यक्त होना चाहते हैं, किन्तु, जब देखता हूँ कि मेरी गोद में वह सो रहा है या मेरे अंगों से चिपट कर मुझे छू रहा है, उसी समय मेरा मन कोमल हो जाता है। किसी को प्रत्युत्तर देने की इच्छा ही गायब हो जाती है। सोचता हूँ मेरी आयु ही कितने थोड़े दिनों की है। उसमें बहुत-सा समय दखल किये रहते हैं। उन सबसे मुक्ति पाने के लिए ईश्वर ने मेरे पास इन बलहीन, अवश प्राणियों को भेज दिया है। इसी तरह से एक समय उन्होंने पेशा और नशा दोनों को एक साथ मिला देने का सुयोग भी मेरे पास भेज दिया था। जो सुयोग मुझे बचाये हुए है। नहीं तो लिखने के अलावा और कोई काम तो मैंने सीखा नहीं है। खा पहनकर मैं कैसे जीवित रहता? प्रतिस्पर्धा मूलक शिक्षा-पद्धति के माध्यम से मैं आगे नहीं बढ़ा, इसलिए जीवन में लगने वाले धक्के और पड़ोसियों के दबाव से सम्हलने का उपाय तो मैंने सीखा नहीं। कहा जा सकता है यह मैंने बहुत देरी से सीखा। साधारणतः अपने सहपाठियों से ही इस तरह के प्रतिस्पर्धा मूलक मनोभाव से टकराते-टकराते ही मनुष्य चलना सीखता है।

प्रतिस्पर्धामूलक शिक्षा पद्धति से आप आगे नहीं बढ़े, इसका कोई अफसोस है आपको?

लिखना-पढ़ना नहीं सीखा, इसका अफसोस तो है ही। सभी के साथ प्रतिस्पर्धा की यह धक्का-मुक्की अगर बचपन में ही समाप्त कर देता तो अच्छा रहता। मेरे जीवन में यह धक्का-मुक्की प्रौढ़ अवस्था तक चलती रही।

नौकरी का जीवन कैसे शुरू हुआ?

वह एक शुक्रवार का दिन था। 'देश' पत्रिका के तत्कालीन सम्पादक सागरमय घोष ने अपने कमरे में बुलाकर मुझसे कहा था, अगले सोमवार से तुम 'देश' पत्रिका के काम में योग देना शुरू करो। उसी सोमवार से ही उस पत्रिका में मैंने काम करना शुरू कर दिया।

आपकी कवि ख्याति का मूल कारण आपकी लीक से हटकर उपमाएँ थीं, और कुछ कुछ आपकी कविताओं की दुर्बोध्यता भी। ऐसा कहा जा सकता है, जिस प्रकार रक्तमाँस के जीवन को कविता का विषय बनाकर कल्लोल गोष्ठी के कवि रवीन्द्रनाथ से अलवा हटकर निकल पाये थे। कुछ-कुछ इसी दुर्बोध्यता को साथ लेकर आप भी 'कृत्तिवास' पत्रिका से स्वतन्त्र होकर निकल पाये थे। आपको क्या यह बात सत्य लगती है?

कविता लिखते समय मेरे मन में हरदम एक ताड़ना होती रहती थी। कैसी ताड़ना? मन में जो काव्य-पंक्तियाँ उत्पन्न हो रही हैं, उन्हें कागज पर उतारना पड़ता था। लिखते-लिखते और भी लाइनें जन्म तो ले रही हैं यह विचार आता था। समस्या यह खड़ी होती थी कि इन पंक्तियों में से किसे, कहाँ रखूँगा। यह एक प्रकार की समस्या होती थी। फिर लिखते-लिखते कोई कोई शब्द मन के अनुकूल नहीं होता था—उसे काली स्याही से घेरकर छोड़ देता था, यह सोचकर कि इसे बाद में देखूँगा तेरह नम्बर की जो लाइन लिखी है—इसे क्या और बाद में ले जाने की जरूरत है, तो फिर बीच की दो लाइनों का क्या होगा? इधर जब रचना चार लाइनों के मुकाम पर थी, तब मन जिस गति से काम कर रहा था, सोलह लाइन के मुकाम पर पहुँचते-पहुँचते उस की गति चार गुना बढ़ जाती है। रचना जितनी आगे बढ़ती जाती है, उतनी ही उसकी स्पीड बढ़ती जाती है। मन उसके साथ ताल मिलाकर चल नहीं पाता है। एक के बाद एक लाइन मन में उठती जा रही है और चेतना की गहरायी में डूबती भी जा रही है। हाँ, ऐसा भी होता है कि लिखते-लिखते लाइन मन से उतर भी जाती है। आखिर

रचना की लम्बाई कितनी बड़ी होगी? अट्ठारह लाइनों में समाप्त होगी अथवा इकत्तीस लाइनों में? सूचना के बीच में जब मैं पहुँचता हूँ, तब मुझे इस बात का पता नहीं रहता है। इसी को मैं ताड़ना कह रहा हूँ। इस ताड़ना से मुक्त होने का मुख्य दबाव ही उस समय काम करता रहता है। परिणाम यह होता है कि उस समय किसी कवि गोष्ठी से अपने को अलग करूँ अथवा कविता का कोई भिन्न प्रकार का मतवाद प्रतिष्ठित करूँ इन सब बातों पर विचार करने का मुझे अवसर ही नहीं मिलता था। मन में जो पंक्तियाँ तैयार हो गयी हैं, उन्हें किसी तरह से छुटकारा दूँ, उस समय मेरे लिए यही मार्ग बच रहता था। आज भी इतनी उम्र पर पहुँचने के बाद भी मैं इसी तरह लिखता हूँ। इसी वजह से एक झोंक में एक साथ कई कविताएँ जल्दी-जल्दी लिख जाती हैं। अपने शुरुआती जीवन से ही मैं इसी तरह लिखता जा रहा हूँ। हो सकता है यह पद्धति ठीक न हो। काफी सोच-विचार के बाद लिखना उचित है और उसी के साथ आपके आसपास, कहाँ, क्या लिखा जा रहा है उससे अपने को सचेत भाव से अलग करने का प्रयास करते रहना ही उचित है। किन्तु, मेरा स्वभाव दूसरे प्रकार का है।

'कृत्तिवास' पत्रिका में अनेक कवि एक साथ अपने जीवन की श्रेष्ठ रचनाओं का उपहार दे गये हैं। अनेक कवि शंख, शक्ति, उत्पल, विनय, तारापद, शरत् कुमार, कविता सिंह; कुछ दूर रहते हुए भी आलोक सरकार, अलोक रंजन, प्रणवेन्दु आदि। इन जैसे और इतने विचित्रपथगामी कवि व्यक्तित्वों को एक ही छाते के नीचे इकट्ठे करने की क्षमता से युक्त सुनील गंगोपाध्याय की अपनी खुद की रचनाएँ तो थीं हीं। 'कृत्तिवास ने आगे चलकर अर्थात् जब मैंने उसमें एक लाइन भी नहीं लिखी थी तब उपहार दिया है भास्कर चक्रवर्ती, देवारति मित्र, शमशेर अनवर और तुषार राय जैसे शक्तिमान कवियों का। सुतराम्, 'कृत्तिवास' शब्द कहने से किसी विशेष प्रकार की कविता का बोध नहीं होता है। अनेक तरह का सौन्दर्य वहाँ बिखरा हुआ है। मैं अपनी किशोरा अवस्था से ही इन सब कवियों की रचनाएँ पढ़ता आ रहा था। मुग्ध और विस्मित हो जाता था इन्हें पढ़कर। प्रायः इन सभी कवियों की कविताओं को लेकर कविता सम्बन्धी अपने धारावाहिक कॉलम 'गोसाईं बागान' में मैंने अपनी मुग्धता का इजहार किया है। फिर भी अपनी कविता लिखते समय अन्य किसी कवि की रचना पद्धति का विरोध करूँगा अथवा अपने को उससे अलग कर लूँगा, ऐसा विचार करने का मुझे अवसर ही नहीं मिला क्योंकि उस समय मैं जो कविता लिख रहा था, उसकी क्षिप्र गति ने ही मेरे ऊपर अधिकार कर रखा था।

कई लोगों का कहना है, उस समय आप फरमाइसी कविता ही अधिकतर लिख रहे थे। आपने अभी कहा कि कविता आपके लिए एक ताड़ना की तरह है। तो फिर, फरमाइसी कविता आप किस तरह लिख रहे थे? क्या आपको उससे असुविधा नहीं होती थी?

यह बात सच है कि सम्पादक लोग मुझे कोई विषय देते थे, उसके बाद मैंने उसी विषय के आधार पर कई कविताएँ लिखी हैं। लम्बी कविताएँ भी लिखी है। 'देश' पत्रिका के काम में योग देने के पहले और भी कई लोगों के मुँह से सुनते-सुनते मेरी भी धारणा थी कि कोई एक विषय बताने पर उस पर कविता नहीं लिखी जा सकती या लिखना उचित नहीं है। 'देश' के सम्पादक मुझे विषय बता देते थे, तब उस विषय पर लिखने के बाद मुझे नया अनुभव हुआ। पिकासो ने एक बार कहा था, जब मैं एक सादे कैनवास के सामने खड़ा होता हूँ, तूलिका हाथ में लेकर, तब मुझे ऐसा लगता है जैसे मैं एक शून्य में अपने को विलीन किये दे रहा हूँ। कौन-सा विषय दिमाग में आ जाएगा इसे बिना जाने। मैं भी कविता लिखने के पहले अपने आपको एक शून्य में विलीन कर देता हूँ फिर मुझे यह पता नहीं रहता है कि मेरे दिमाग में

क्या उठ आएगा। कोई विषय निश्चित कर देने के बाद जब लिखने जाता हूँ, तब पिकासो द्वारा बताया गया अनुभव मेरे क्षेत्र में उलट जाता है। मुझे ऐसा लगता है कि जैसे शून्य के भीतर से अपने को खींचकर किसी विषय के कठोर चट्टान पर अपने को पटक रहा हूँ। उस चट्टान पर गिरने से जो आघात लगता है उसी के धक्के से मैं नयी रचना प्रक्रिया के सामने पहुँच जाता हूँ। जैसे मेरी 'मृत्यु रचना करि' शीर्षक मृत्यु विषयक कविता 'मा निषाद' नामक पोखरण विस्फोट (परमाणु विस्फोट) विषय पर लिखी कविता, जीवनानन्द अथवा विभूतिभूषण के विषय में लिखी कविता, 'हरिणेर जन्य एकक' शीर्षक कविता। निबन्धकार सुधीर चक्रवर्ती 'ध्रुपपद' नामक एक असामान्य वार्षिक पत्रिका प्रकाशित करते थे। सुधीर बाबू ने मुझे एक विचार दिया कि मैं बाउल फकीरों को लेकर एक लम्बी कविता लिखूँ। 'आमार दो तारा' नामक एक लम्बी कविता लिखी। इस कविता में मेरे बिना जाने ही मेरा आधार हुआ द्विपदी छन्द। ऐसी कविता लिखते समय मेरे रचनाशील मन ने एक विशेष शृंखला में होकर चलना सीख लिया। वह शृंखला कोई छन्द की शृंखला नहीं है। उस विषय के साथ हुई टकराहट से उत्पन्न अनुभूति के विन्यास से सम्बन्धित शृंखला है। मनुष्य जब सॉनेट लिखता है, तब वह अपने मन को एक शृंखला से होकर गुजारता है। कविता रचने का अनुशीलन और शृंखला में कितना वैचित्र्य होता है, इसे मैं इन फरमाइसी कविताओं को लिखते समय जान सका। हर रचना ने मुझे कुछ न कुछ शिक्षा जरूर दी है। रचना अगर असफल हुई तो भी उसने मुझे जो शिक्षा दी उससे उसने मुझे समृद्ध किया है। अच्छी कविता ऐसी होती है जैसे दूर खिड़की पर एक लड़की खड़ी है, और उसके चेहरे पर रास्ते की रोशनी पड़ रही है। उसकी आँखों की पलकें काँपीं या नहीं, उसने मेरी ओर नजर उठायी या नहीं, यही जानने के लिए मैं रास्ते के किनारे खड़ा रहा जीवन भर। उसे क्या फिर कभी देखा जा सका? फिर भी उसे देखने की चेष्टा चल रही है। यही चेष्टा मैं अनेक प्रकार से पूरे जीवन करता आ रहा हूँ। कविता लिखना एक तरह से अनपहचानी वस्तु है। अनेक कविताएँ लिखने के बाद भी यह अन्ततः अनपहचानी ही रहती है।

कविता के क्षेत्र में आपकी दृष्टि में छन्द कितना जरूरी है? कवि को क्या छन्द की जानकारी होनी ही चाहिए?

छोटी उम्र में मुझे ऐसा लगता था कि छन्द का कला कौशल सभी को जानता बहुत आवश्यक है। एक या दो मात्रा के हेरफेर तक अमार्जनीय लगता था। मन में गलत लगता था। आज मेरी दृष्टि में भाव ही सब कुछ है। जैसे, 'तोमार जन्म दिने', 'की आर देव एई कथा टुकु छाड़ा आवार आमादेर देखा हबे कखनो' अथवा 'आवार फिर आसे एरकम निजे मध्ये भरे उठा दुपुर यखन माथार ऊपर निकष कालो मेघ आर अशाधपाट खेतेरे किनार घिरे आमादेर निःशब्द चला।' अथवा उदाहरण के लिए लीजिए, 'आमि एत वयसे गाछके कलछि तोवार माँगा डाले सूर्यके बसाओ हा हा आमि गाछके बलछि।' यह भी कहा जा सकता है, 'रास्तार छोटो छोटो गर्ते जमिये राखा होयछे आमादेर चोखरे जल' पुनः अगर मैं यह कहूँ—'एवें जे खेतेषाय ना तुमि ताके पाठिये दिउ प्लेटभर्ती खावार।' अगर अन्त में मैं यह कहूँ।, 'एल मानुष धरार दल, नख यावेर तीक्ष्ण तोमार नेकडेर चेये'—यह तो मैंने इतने द्रष्टान्त उद्धृत किये—कहीं भी पंक्ति का विभाजन नहीं दिखलाया, फिर भी इन सभी पंक्तियों में एक प्रकार की छन्दगति सुनने को मिलती है। एक-एक व्यक्ति के क्षेत्र में गति एक-एक तरह की है। यहाँ पर पहले दो उदाहरण शंख घोष के हैं और बाद की तीन अरुण मित्र, सुभाष मुखोपाध्याय और भास्कर चक्रवर्ती के हैं। शेष दृष्टान्त रवीन्द्र नाथ का है। ओह, अगर शक्ति चट्टोपाध्याय

की एक लाइन उद्धृत न करूँ तो काम चलेगा नहीं; 'काल सारा रात अतिशय स्वप्ने स्वप्ने विद्युच्चमके जागिये ये रेखेछिल आमाय पूरनों चाँद'—इन सभी लाइनों का नियंत्रण कर रही है कवियों की निजी प्रकृति। फिर भी किसी बँधे-बँधाए छन्द में न अटने पर भी प्रत्येक कवि के सन्दर्भ में अलग-अलग स्रोत के स्वभाव का अनुभव किया जा रहा है।

यद्यपि मैं स्वयं नृत्य के बाद छन्द मय कविता पढ़ना खूब पसन्द करता हूँ। छंदनिल और अलंकार की शोभा भी मुझे आनन्दित करती है। दोनों के प्रति मेरा एक सा पक्षपात है। क्योंकि एक ही कवि का मन भिन्न-भिन्न स्थितियों में कभी नृत्य करता हुआ छन्द प्रयोग करता है और कभी शान्त छन्द की रचना करता है।

आपको बहुत से पुरस्कार मिले हैं। पुरस्कार प्राप्ति के साथ सृजनशीलता का सम्बन्ध आपको कैसा लगता है? पुरस्कार प्राप्ति क्या किसी स्थिति में जाकर सृजन क्षमता को सीमाबद्ध कर देती है? एलियट जिस तरह मानता था, जल्दी-जल्दी पुरस्कार पाने का अर्थ है कि सृजन के बारह बज गये हैं।

पुरस्कार लेखक को थोड़ी देर के लिए ऊँचा उठा देता है। लेखक के चेहरे पर अनेक तरह के प्रकाश पड़ने लगते हैं। आकर पड़ती रहती हैं अभिनन्दन की लहरें। इससे अपने को गलत समझने की संभावना बनी रहती है। क्योंकि, प्रकाश तो जल्दी हट भी जाता है। कारण, वह ठहरा क्षणिक। जब लहरें आ रही हों, तब लहरों के साथ पत्थर के ढोके जैसा व्यवहार करना चाहिए। ऐसा करना अच्छा रहता है। फिर भी देह में तो समुद्र का खारा जल और रेत तो लगेगी ही। बल्कि लगी ही रहेगी। इसलिए लिखने बैठने के पहले और एक बार स्नान तो करना ही होगा। कारण, कविता की लाइनें जब पुनः आएँगी, तो आँधी की तरह ही आएँगी, तो वही ताड़ना फिर आ जाएगी, लाइनें जाग उठेंगी, कुछ खो भी जाएँगी, उस समय सब कुछ खुद ही, सम्हालना पड़ेगा। खोई हुई पंक्तियों को ढूँढ कर पुनः लाने में आपको कोई पुरस्कार मदद नहीं करेगा, न कोई अभिनन्दन ही। लिखने का काम तो अकेले का काम है। लेखक यदि सचेत रहे तो पुरस्कार उसे कोई क्षति नहीं पहुँचा पायेगा।

पहला पुरस्कार पाने पर आपको कैसा लगा था?

1990 ईस्वी में मुझे 'आनन्द' पुरस्कार मिला। उस पुरस्कार की खबर जब पत्रिका में मेरे चित्र के साथ छपी तो मुझे पता चला कि पुरस्कार नाम की चीज क्या होती है। मैं, क्योंकि उस समय एक छोटे-से टाउन में रहा था, वहाँ पर मैं अपनी मौज में रास्ते-रास्ते घूमा करता था, वहाँ के लोगों को यह पता ही नहीं था कि मैं कविता भी लिखता हूँ। एक दिन सवेरे-सवेरे पूरा मामला जाहिर हो गया। जिस दुकान में दवा खरीदने जाता था, जिस पसरट की दुकान घुसता था, रास्ता घाट पर जिन पड़ोसियों के साथ आमना-सामना होता था, वे सभी पूछने लगे, तू अब तक क्या करता रहता था? यह क्या है रे? तू सिर्फ लिखता है? यहाँ मैंने पहली बार समझा कि बाहरी दुनिया के सामने अपने मन का भेद खुल जाने पर कैसा महसूस होता है। मेरे लघु पत्रिकाओं के मित्रगण उस समय वहाँ थे, अब मेरा वैसा मित्र कोई नहीं है। किन्तु, उन दिनों वही मित्र मेरे लिए मरुधान की तरह थे। मुझे थोड़े लोग ही जानते थे। अब क्या हो गया हूँ, घर से निकलते ही सभी जानते हैं कि मैं कविता लिखता हूँ। इसने उस 90 ईस्वी में मुझे बहुत झंझट में डाल दिया था। उस समय लहरों के साथ पत्थर के ढोकों जैसा आचरण मैं नहीं कर पाया था। इसके बाद मैंने एक कविता लिखी जिसका शीर्षक है : 'यदि आज आमाके जिज्ञासा करो' (जरा आज मुझसे तुम पूछो)।

कवि, उपन्यासकार, निबन्ध लेखक ये क्या आपकी भिन्न-भिन्न सत्ताएँ हैं या आपकी

विकसित कवि सत्ता के ही ये अंश विशेष हैं?

मान लीजिए जिस समय मेरी उम्र 36/37 वर्ष की थी, तब भी मैं यही सोचता रहता था कि कविता ही लिखता चला जाऊँगा। गद्य कुछ भी नहीं लिखूँगा। 'देश' पत्रिका में योग देने के बाद काम के तकाजे से मुझे गद्य लिखना शुरू करना पड़ा—संपादक के निर्देश से। तब मैं खूब हताश हो गया था भीतर से। इच्छा नहीं हो रही थी, फिर भी बैठे-बैठे जैसे ही गद्य लिखता तो देखता कि हू-हू करते हुए गद्य के बजाय कविता की लाइनें चली आ रही हैं; और एक बज्र मूर्ख की तरह इस संकट की चर्चा दुनिया भर में करता हुआ घूमता रहता था। एक व्यक्ति भी मेरी बात पर विश्वास नहीं करता था। बाद में अपना यह गद्य लिखकर मुझे बहुत बड़ा लाभ हुआ। मैंने यह महसूस किया जैसे बहुत-सी बातें सिर्फ कविता में ही कहीं जा सकती हैं, वैसे ही कुछ मन की बातें सिर्फ गद्य में ही कही जा सकती है। गद्य लिखने के प्रयास से अपने मन की बात व्यक्त करने का मेरा दायरा थोड़ा बढ़ गया। जैसे खेलों पर लिखना। क्रिकेट पर मैंने थोड़ा लिखा है, किन्तु अपने उस सच्चे अनुभव और स्मृतियों को मैं गद्य के अलावा और किसी भी तरह किसी अन्य विधा में मैं व्यक्त ही नहीं कर सकता था। जैसे विलायत खाँ साहब की जब मृत्यु हुई, तो उनके बारे में मेरा जो अनुभव था, वही जो मैंने देखा था कि किशन, महाराज के साथ विलायत खाँ सितार बजा रहे हैं—दोनों लोग सिर्फ दोनों लोगों के लिए ही बजा रहे हैं—और सामने समुद्र के तट की बालुका वेला की तरह पड़े रहते हैं हॉल भर के स्तब्ध दर्शक—वे लोग उस संगीत के समुद्र में बहे जा रहे हैं। यह बात मेरे मन से निकलकर सिर्फ गद्य में ही व्यक्त हो सकती थी। रवीन्द्रनाथ के साथ मेरा व्यक्ति सम्बन्ध कहाँ था? उनके बारे में लिखते समय मुझे गद्य की ही दरकार हुई। 'निजेर रवीन्द्रनाथ' और 'पागल तुई' ये दोनों लेख 'देश' पत्रिका में ही निकले थे। दबाव में पड़कर गद्य लिखते हुए मैंने एक बहुत बड़ी बात सीख ली थी। कौन-सी बात? मन की कुछ बातें तो कविता में ही कहनी पड़ती हैं और कुछ बातें कहने के लिए जरूरत पड़ती है गद्य की। जो बड़े लेखक होते हैं, वे यह बात शुरू से ही सीख लेते हैं। मुझे यह बात सीखने में देरी हुई थी। बीच में जब मैं लगातार तीन वर्ष एक भी कविता नहीं लिख सका था, तब भी मैं कविता के साथ ही था, कवियों के साहचर्य में था। प्रत्यक्ष साहचर्य में नहीं, उनकी रचनाएँ पढ़कर उनका सान्निध्य लाभ कर रहा था। और अपने 'गोसाईं बागान' स्तम्भ में मैंने कविता पढ़ने से मुझे क्या अनुभव हुआ उसे लिखा है। हाँ, गद्य में ही।

अपनी पसन्द की कविताओं के सम्बन्ध में पहली आलोचना करने का सुयोग मुझे 1994 ईस्वी में मिला था। 'देश' की पुस्तक मेला शृंखला में। एक चिट्ठी संपादक महोदय ने लिखा था, एक वर्ष के भीतर पढ़ी अच्छी लगी पुस्तकों में से किसी एक पुस्तक पर प्रशंसात्मक आलोचना लिखनी होगी। यह 'तारीफी आलेचाना' (प्रशंसात्मक समीक्षा) शब्द सम्पादक की चिट्ठी से ही आगे चलकर मेरे जीवन में आया। तभी से मैंने यह निश्चय कर लिया था कि जितनी कविताएँ मुझे अच्छी लगी हैं, उन अच्छी लगी कविताओं को लेकर मैं अपने मन की बात लिखूँगा। पहले 'देश' प्रत्रिका में वर्ष में एक बार लिखता था। अब एक दूसरी पत्रिका में लिखता हूँ, पखवारे में एक बार। इस पत्रिका ने मेरी पठित कविताओं के विषय में मेरी यह इच्छा जानकर मुझे यह सुअवसर दे दिया है। तारीफ परक आलोचना शब्द का शायद अर्थ है क्रिटीकल एप्रीशियेशन (आलोचनात्मक प्रशंसा) तो क्रिटीकल तो मैं बना नहीं, मेरा काम था एक रस भोक्ता का।

कृति, प्रेम और जीवन इन तीन चीजों पर चिरकाल से ही चर्चा होती आ रही है प्रेम

ने किस तरह आपके जीवन में प्रवेश किया है? आपने उसे किस तरह ग्रहण किया है?

यदि कभी मैंने अपनी आत्मकथा लिखी तो इन सब बातों को उसमें उठाऊँगा।

कविता लिखने के बाहर भी आप सामाजिक पृष्ठभूमि से जुड़े अनेक कार्यकलापों में संलग्न रहते हैं। कुछ क्षेत्रों में तो उनके साथ समकालीन राजनीति का भी एक परिप्रेक्ष्य रहता है। जीवन की इस विशेष दिशा पर अगर थोड़ा प्रकाश डालें।

मेरा जीवन अपने ही खिंचाव से मुझे एक बार एक एक तरह के काम में खींचता रहता है। एक-एक घटना, कभी-कभी बड़े प्रबल भाव से मुझे हिला देती है। तब कविता लिखने के साथ-साथ अन्यान्य बाहर के प्रत्यक्ष, सामाजिक कार्यकलापों के साथ अपने को जोड़ लेता हूँ। इसमें जीवन के ही व्यापक रूप से फैले हुए हाथों की भूमिका जिम्मेदार रहती है। उस क्षण ऐसा लगता है, यह काम भी जरूरी था। इसीलिए कब उसमें लग जाता हूँ पता ही नहीं चलता।

पाठकों के साथ स्रष्टा का दूरत्व रहना उचित है या नहीं? आपको कैसा लगता है? व्यक्तिगत जीवन की अभिव्यक्ति रचना को सफल बनाती है या सफलता को आहत करती है? किसी व्यक्ति को अगर पाठक जानते हैं, उसके जीवन की किसी विशेष घटना के सम्बन्ध में जानते हैं और उसका प्रतिफलन उसकी कविता में देखकर पाठकों को क्या अच्छा लगता है?

मैं अपने को एक दिन के लिए भी स्रष्टा नहीं मानता। कविता की लाइनें दिमाग में चली आती हैं, फिर उन्हें लिखने के लिए विवश हो जाता हूँ। यही मेरा स्वभाव है। भिन्न-भिन्न लोगों का स्वभाव भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। मैं तो अपनी कविता लिखने की इच्छा को लेकर मग्न रहता हूँ। यहाँ तक कि मुझे अपने को एक कवि कहने में भी संकोच होता है। मेरे मित्र ऋतुपर्ण ने एक दिन गपशप के ब्याज से कहा था, अरण्य को जो आग जलाती है, उसका नाम है दावानल, गृहस्थ के घर में यज्ञ-अनुष्ठान में जो अग्नि ले जायी जाती है, उसका नाम है होमाग्नि, कन्या पिता के घर से जिस अग्नि को हाथ में लेकर ससुराल में प्रवेश करती है, क्या उसका भी कोई नाम होता है, ऋतु ने बताया था, मुझे याद नहीं आ रहा है और आत्मा को दहन करती हुई जो अग्नि प्रज्वलित रहती है, उसका नाम है कवि। सुतराम् मैं इतना बड़ा नहीं हूँ। कवि एक तरह की आग का नाम है। फिर फ्रांसीसी कवि बोदलेअर का कहना था, कवि इस संसार के किसी अन्याय का प्रतिकार नहीं कर सकता है। वह सिर्फ दूसरे के दुःख में स्वयं दुःख भोग कर सकता है। दूसरे के ताप से स्वयं अनुताप अनुभव कर सकता है। वह संसार में कुछ भी बदलाव घटित नहीं कर सकता है। प्रचण्ड शीत की रात में दो कम्बल ओढ़े हुए किट-किट करते हुए काँप रहे थे प्रभुपाद विजयकृष्ण गोस्वामी। शिष्य लोग उनकी कँपकपाहट को रोक नहीं पा रहे थे। खोज करने पर देखा गया कि बाहर शीत के एक ही कपड़े बिना पहने एक कंगाल पेड़ के पत्ते की तरह काँपता हुआ मरा जा रहा था। जो दूसरे के दुःख में दुःख का अनुभव करता है, उसकी दशा तो ऐसी ही होती है। मैं तो एक मामूली मध्य वित्त परिवार में पला-पुसा व्यक्ति हूँ। मेरे नाम पर क्या किसी अग्नि का नाम हो सकता है? मैं कवि नहीं हूँ, मैं तो एक कविता लेखक हूँ। कारण, मैं किसी आत्मविश्वास से लिखता गया हूँ, ऐसा नहीं है, इसलिए लिखता गया हूँ कि मेरे पास न लिखने का कोई उपाय नहीं था।

कवि के व्यक्तिगत जीवन की घटनाओं को जानकर, उनके साथ कविताओं को मिलाकर पढ़ने का अभ्यास पढ़ने की एक तरह की आदत हैं, एक तरह का अभ्यास है। इससे जिसे तृप्ति मिलती है, उसे मिले। मैं तो सिर्फ कवि के लिखे हुए शब्दों को ही देखता हूँ। शब्दों के द्वारा ही मेरा कवि के साथ सम्पर्क है यही शब्द सम्पर्क, शिल्प सम्पर्क ही मेरे लिए सबसे

बड़ी वस्तु है, व्यक्ति सम्पर्क नहीं। शब्दों के माध्यम से वह मेरे पास जो रहा है उस वार्ता को ही मैं अपने जीवन की अभिज्ञता के साथ मिला लेना चाहता हूँ। जो जो मैं नहीं जानता हूँ, उस अजानी अभिज्ञता को भी मैंने कई बार कवियों के पास से ही उपहार रूप में पाया है। किसी के भी साथ व्यक्तिगत स्तर पर मेरा मिलना-जुलना रह भी सकता है, और नहीं भी रह सकता है। किन्तु, जब मैं शब्दों को देख रहा हूँ तो शब्द ही मुझे जो जानने योग्य है, उसकी जानकारी देंगे। मैं तो कवि का मन जानना चाहता हूँ और कुछ नहीं।

कई रचनाकारों की परिवार के साथ कई बार दूरी निर्मित हो जाती है, कई लोग पारिवारिक जीवन के प्रति उदासीन हो जाते हैं, फिर कई रचनाकारों को उस जीवन से प्रेरणा भी मिलती है। इस प्रसंग में आपके जीवन में क्या घटित हुआ?

मैंने घर-गृहस्थी का कोई काम करना ही नहीं सीखा है। मैं भोजन बनाना भी नहीं जानता हूँ। ये काम मुझे सीख लेना चाहिए था। बचपन में माँ और भाई, अब कावेरी, बुकून और मेरे घर में जो रहता है—ओलू—ये लोग अगर सब समय मेरी सहायता न करते आये होते तो मैं क्या कर पाता इसे भगवान ही जानता है। जब थोड़ा समय मिलता है तो बुकून के साथ गाना सुनता हूँ। बुकून और उसकी मित्र मोजो ने कम्प्यूटर और सीडी प्लेयर पर मुझे अनेक तरह के गाने सुनाये हैं। बुकून खुद भी कभी-कभी गाना सुनाती है। पहले हर रविवार नियम बनाकर बुकून के साथ बैठता था। अब वैसा नहीं हो पता है। मेरे परिवार के लोग किसी बहुत वस्तु की माँग नहीं करते हैं, इसलिए मेरा घर मेरे लिए एक बड़ी चैन की जगह है।

बाङ्ला साहित्य में आखिर आपका प्रदेय क्या है, अगर यह बात आपसे ही पूछी जाये तो आप क्या उत्तर देंगे?

मुझसे बहुत-बहुत बड़े शक्ति और योग्यता सम्पन्न कवियों के साथ एक ही समय में मैं कुछ चल सका, यही मेरा बहुत बड़ा भाग्य है। बाङ्ला साहित्य में मेरा अवदान कुछ नगण्य है।

अनेक उतार-चढ़ाव के बीच से आप गुजरे हैं। बाहर अनेक लोग अनेक तरह की बातें करते हैं। किन्तु जीवन के इस उतार-चढ़ाव को लेकर आपके क्या विचार हैं?

जनसमाज मे तो हवा में बातें बहती रहती हैं। जनश्रुतियाँ ऐसी ही चीजें होती हैं। उनकी सच्चाई के लिए किसी प्रमाण की जरूरत ही नहीं होती है। एक से दूसरी जुबान पर चलते-चलते एक दो लोगों में फैलती बातों पर फिर सभी लोग बिना किसी सन्देह के उस पर विश्वास कर लेते हैं। फिर भी एक शर्त जरूर रहती है। बात को बुरी बात होना चाहिए। अनेक लोग जब एक ही बात को एक साथ कहते रहते हैं, फिर वही बात बड़े रूप में सामने खड़ी हो जाती है। कवि उस क्षण क्या लिख रहा है उसके महत्त्व पर विचार कर सके ऐसा मन तब पंगु हो जाता है उन बातों के प्रभाव से। अपनी आँखों के सामने यही घटना हम लोगों ने कवि सुभाष मुखोपाध्याय के साथ घटित होते देखी है। सुभाष मुखोपाध्याय ने बाङ्ला कविता में नया युग ला दिया था। उन्होंने बार-बार अपने को बदला है। साहित्य की कितनी तरह की विधाओं में उनका आना-जाना था। अपने जीवन के अन्तिम छोर में आकर वे हो गये थे। ऐसी घटना रूस के बोरिस पास्तरनाक के साथ भी घटी थी। उनके जीवन में भी। स्टालिन के शासन काल में। स्टालिन जैसा व्यक्ति सिर्फ राजनीति के क्षेत्र में ही दिखायी देता हो ऐसा तो नहीं है। हममें से हरेक के हृदय में एक स्टालिन अथवा अधिनायक निवास करता है। अपने-अपने सीमित दायरे में हम उसके प्रभाव का प्रयोग करते हैं। किन्तु सुभाषदा अथवा पास्तरनाक ये दोनों युगन्धर लेखक हैं। 'स्रष्टा' शब्द इन्हीं पर फबता है। ये पूरे जीवन हमें शिक्षा देते हैं। कहते हैं कि 'तुम छोटे हो छोटे की तरह रहो।' छोटे का काम क्या है? दूसरो

की कविता में मन लगाना। इसीलिए मैं ऐसा करता हूँ। यह इण्टरव्यू जैसे ही खत्म होगा वैसे ही मैं दूसरे की कविता के पास जाकर बैठ जाऊँगा।

सम्प्रति एक साक्षात्कार में क्रिकेटर नवजोत सिंह सिद्धू ने एक बात बतायी थी, कैंसर से बड़ी व्याधि है लोग तुम्हारे बारे में क्या कह रहे हैं उससे डरना। मुझे तो वैसे ही कई शारीरिक व्याधियों लगी रहती है। इस नयी व्याधि को इसीलिए अपने साथ जोड़ने का अधिकार मैं नहीं देना चाहता। मैं अपने की एक सामान्य मनुष्य और भूल करते-करते सीखने वाले व्यक्ति के रूप में ही मानता हूँ। दूसरे की बात अगर मैं सुनता चलूँ। तो अपनी कथा लिखने का समय मुझे फिर कहाँ मिलेगा। दिन तो मेरे सामने अधिक बाकी हैं नहीं।

क्रिकेट और भारतीय शास्त्रीय संगीत के प्रति आपका प्रेम क्या कहीं आपकी कवि सत्ता के नीचे दब गया है? इन सब विषयों पर आगे चलकर क्या कोई बड़ा काम करने की आपकी इच्छा है?

क्रिकेट अनेक बार जीवन को विविध प्रकार की शिक्षा देती है। खेल से उसी अंश को लेकर कभी-कभी मैं अपनी रचनाओं में उपयोग करता हूँ। जैसे नाटक से जीवन की सीख मिलती है। जब मैं एक दर्शक के रूप में नाटक देखता हूँ तब मैं जीवन की ही शिक्षा ग्रहण करता हूँ। और संगीत तो अपने आप में ही एक जीवन है। रचनाओं में अपने आप ही यह सब घुलमिल जाता है। अलग से इन पर लिखने की बात मैंने कभी सोची नहीं है। कारण, ये सब तो मेरे साथ ही बने हुए हैं। यद्यपि पचास वर्ष पार करने के बाद से रवीन्द्रनाथ के गानों के विषय में मेरे मन में नये-नये अनुभव उत्पन्न हो रहे हैं। अगर सुयोग मिला तो इन सब के बारे में दो एक बातें लिखूँगा।

एक पाठक के रूप में मुझे लगता है आपके शुरू के दौर की कविताओं के साथ साम्प्रतिक कविताओं की भाषा और शिल्प की अगर तुलना की जाये तो दोनों में काफी अन्तर मिलेगा। यह अन्तर क्या आपने सचेत भाव से तैयार किया है या स्वतःस्फूर्त भाव से ही हुआ है?

कोई भी जीवित वस्तु हो वह उम्र के साथ-साथ बदलती रहती है। एक ही जगह पर खड़े रहने वाले वृक्ष के भी, हवा चलने पर पत्ते हिलने लगते हैं। आँधी चलने पर उसकी डालें टूट जाती है। अर्थात् भिन्न-भिन्न हवा के कारण उसका अनुभव भी भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। कोमल, मन्द समीर से उसे जो अनुभव होगा, अंधड़ चलने पर वैसा अनुभव नहीं होगा। मनुष्य का भी मन जीवनानुभव के साथ बदल जाता है। कविता तो एक जीवन्त वस्तु होती है, वह तो बदलेगी ही।

सुना जाता है कि कविता-जगत में प्रतिद्वन्द्विता अथवा प्रतिस्पर्धा बहुत होती है। एक कवि के रूप में, कविता के इस क्षेत्र से प्रत्यक्ष रूप में जुड़े होने के कारण आपकी अभिसत्ता किस प्रकार की है।

मैं तो सिर्फ यही कह सकता हूँ कि अपमान के बिना तो जीवन पूर्ण होता नहीं है। असफलता और अपमान का अनुभव जीवन को जानने के लिए आवश्यक है इसलिए अपमानित तो होना ही पड़ता है। अपमान का प्रत्युत्तर देना मेरा लक्ष्य नहीं है। अन्याय का प्रतिवाद करना कवि का काम है किन्तु, प्रतिशोध लेना किसी कवि का काम नहीं है। प्रतिहिंसा से मुक्त होने के लिए ही मनुष्य दो एक लाइन लिखने का प्रयास करता है।

नये कवियों के दबाव को आप किस प्रकार सम्हालते हैं?

तरुण कवियों के साथ मेरा जो योगायोग घटित हुआ था, वह सिर्फ कर्मसूत्र के कारण ही था। 'देश' पत्रिका 'कविता स्तम्भ' देखरेख करने के काम से जब जुड़ गया तब 93'-94' से यह योगायोग अच्छी तरह से शुरू हो गया। मेरे कार्यस्थल का एक प्रमुख दायित्व था, नये

शक्तिशाली कवियों की रचनाएँ खोजकर उन्हें प्रकाशित करना। एक ख्यातनाम प्रकाशन संस्था से अल्पवयस्क कवियों की कौन कौन-सी पुस्तकें प्रकाशित होंगी, इसके चुनाव का भार भी मेरे ऊपर था। प्रवाद प्रतिम पत्रिका 'कृत्तिवास' ने जब नये कवियों को पुरस्कार देना शुरू किया 1997 ईस्वी से, तब सुनील गंगोपाध्याय ने उस पुरस्कार के तीन निर्णायकों में से एक निर्णायक के रूप में मुझे भी नियुक्त किया था। कविता की चर्चा, कवियों की रचना शक्ति के सम्बन्ध में अवहित होना, कविता पृष्ठ की देखरेख करना, इन सब कामों में सुनील गंगोपाध्याय का साथ काम करने का अर्थ सीखने का एक बहुत बड़ा अवसर पाना। क्योंकि मेरे जन्म से भी पहले 1953 ईस्वी से सुनील गंगोपाध्याय 'कृत्तिवास' पत्रिका का सम्पादन कर रहे थे। सुतराम उनके पास से ही तो सीखूँगा।

मैंने इस निर्वाचिक मण्डली में लगातार छः बरस काम किया। दूसरों की कविताएँ पत्रिका में प्रकाशित करना, अथवा पुस्तक प्रकाशित करना—इस तरह के काम से जुड़े रहने के कारण अपने आप ही कविता लेखकों के साथ योगायोग होता ही रहता है। मेरा भी हुआ था उस समय। आजकल मेरा जो कार्य स्थल है, वहाँ पर मुझे किसी 'कविता स्तम्भ' की देखरेख नहीं करनी पड़ती है और किसी प्रकाशन का ग्रन्थ निर्वाचक भी आजकल मैं नहीं हूँ। फल यह हुआ कि स्वाभाविक रूप से शेष कई बरसों से मेरे साथ तरुण कवियों का मिलना जुलना एक बार भी नहीं होता है। सम्भव होने पर 'गोसाईं बागान' में इन नवीन कवियों के बारे में लिखता हूँ। नब्बे के दशक में जिस प्रकार पूरी तरह अपरिचित चेहरों वाले जिन सब कवियों के साथ मेरी भेंट 'देश' पत्रिका के ऑफिस में होती थी, उनमें से कई कवियों को आज सुप्रतिष्ठित देखकर खूब आनन्द होता है। उनमें से किसी की नयी पुस्तक निकलते ही मैं उसकी एक प्रति खरीद लाता हूँ।

भविष्य में क्या काम करने की योजना अथवा इच्छा है?

मैंने पूरे जीवन अपनी प्रकृति के अनुसार ही लिखने की चेष्टा की है। वह प्रकृति यह है जब जो वस्तु सामने पड़ गयी, जो विषय दिमाग में आ गया, उसी पर लिखते जाना। यदि यह बात कविता की लाइन का रूप धारण कर आती है तो उसे कविता में कहने की चेष्टा करता हूँ और यदि विषय गद्य का आकार लेकर आता है, तो फिर गद्य लिखता हूँ। फिर भी यह बात बता देना जरूरी है कि दूसरों की तरह मैंने भी गद्य काफी लिखा है सम्पादकों के कहने से। पहले से ही योजना बनाकर आज तक कुछ लिखा नहीं है। ईश्वर से मेरी यही प्रार्थना है कि जब तक जिऊँ तब तक मन की बात लिखता रहूँ, मेरे सभी आत्मीय जन स्वस्थ रहें और मेरी मृत्यु यंत्रणा लम्बी न हो, यही तीन महत्त्वाकांक्षाएँ आजकल मेरी जीवन संगिनी हैं।

(वोइयेर देश, जनवरी-मार्च 2013 से साभार।)

नाजायज़ संतान और वेश्या

नवल अल सदवी
(अनु. सुबोध शुक्ल)

[अरब समाज में स्त्रियों की दशा और दिशा को अत्यंत ही संजीदगी के साथ पेश करने वाली अरबी लेखिका और पेशे से डॉक्टर नवल अल सदवी की मानीखेज किताब 'The Hidden Face of Eve : Women in the Arab World (1977)' का हिंदी अनुवाद। गतांक से आगे...]

अपने बुनियादी रूप में सच्चा सम्मान, सभी तरह की गुलामी, आधिपत्य और आरोपण के विरोध में खड़ा होता है, साथ ही मनुष्य के व्यापारीकरण एवं बाजारीकरण की हर किस्म के खिलाफ भी चाहे वह गुलाम हों, स्त्रियाँ हों या बच्चे। सच्चा सम्मान मनुष्य को उपकरण, वस्तु अथवा विक्रय के सामान में बदलने के खिलाफ होता है। शादियों के रिवाज और कानून हमारे पितृसत्तात्मक एवं वर्ग समाज में वास्तविक सम्मान के खिलाफ खड़े होते हैं, क्योंकि उन्होंने औरत को असबाब में बदल दिया है जो कि दहेज के बदले खरीदी जा सकती है और गुजारे-भत्ते की कीमत पर बेची जा सकती है। कभी तो वह बिना किसी कीमत के भी बिक सकती है। यहाँ विवाह का सामान्य कानून के अनुच्छेद 67 की इबारत पढने पर पता चलता है कि अंतिम कही गयी बात कोई बढ़ा चढ़ाकर नहीं कही गयी है :

पत्नी अगर अपने पति के सामने झुकने को तैयार नहीं होती है अथवा किसी ऐसी वजह से जो पति से संबंधित भी नहीं है किसी प्रकार का इंकार करती है तो उसे गुजारे-भत्ते से वंचित होना पड़ेगा। यदि वह जेल चली जाती है, बंदी शिविर में रहती है या फिर उसका बलात्कार होता है या वह धर्म बदल लेती है या अपने माता-पिता के द्वारा अपने पति के साथ रहने से रोक दी जाती है या फिर वह किसी भी ऐसी स्थिति से गुजर रही हो जहाँ एक पत्नी के रूप में पति द्वारा उसका इस्तेमाल नहीं हो पा रहा हो तब भी वह गुजारे-भत्ते की अधिकारी नहीं है।

यह पद 'पत्नी के रूप में इस्तेमाल' शादी के बाद स्त्री और पुरुष के मध्य मौजूद रिश्ते की नग्न सच्चाई सामने रखता है। यह एक पुरुष द्वारा स्त्री को इस्तेमाल किये जाने से बना सम्बन्ध है, पुरुष के द्वारा उसे शोषित किये जाने पर आधारित है। ऐसे तरीके से जो किसी भू-स्वामी के अपने मजदूरों अथवा मालिक के अपने गुलाम के प्रति रवैये से भी अधिक अमानवीय

है। गुलाम के बीमार पड़ने पर मालिक उसका इलाज कराता था पर पत्नी के पास ऐसा कोई अधिकार नहीं है और उसके साथ गुलाम और मजदूरों की तुलना में कहीं अधिक बदतर सुलूक किया जाता है। जबकि बिना किसी तनख्वाह के वह अपने पति के घर काम करती है और उसके बच्चों को पालती है। अगर वह गंभीर रूप से बीमार पड़ जाय तो पति विवाह कानून के आधार पर उसे उसके माता-पिता के घर वापस भेज सकता है क्योंकि वह कानूनी रूप से उसकी आवश्यक देखभाल करने के लिए जिम्मेदार नहीं है। अवैध संततियों की समस्या इतिहास में पितृसत्तात्मक वर्ग संरचना द्वारा पैदा किये गए अपराधों में से एक है। कुछ उन्नत पूँजीवादी देशों ने इस समस्या के समाधान के लिए गोद लेने की परम्परा शुरू की जो कुछ पश्चिम देशों में आज बड़ी आम सी बात हो गयी है। ऐसे परिवर्तन सक्रिय श्रम-शक्ति के रूप में स्त्रियों की बढ़ती भागीदारी का अनुसरण करते हैं या उनके समानांतर चलते हैं। साथ ही घर से अधिक से अधिक संख्या में बाहर निकलने की प्रवृत्ति और वैतनिक काम को हाथ में लेने की प्रकृति को बढ़ावा देते हैं। इन कुछेक देशों में इसीलिए स्त्रियों को अपने बच्चों को अपना नाम देने का अधिकार भी दिया गया है और ऐसा करके उन बच्चों को उस दयनीय हालत से बचा लिया गया है जैसी नाजायज संतानें पहले भोगती रही हैं। आर्थिक आधारों ने औरतों की स्थिति को बदलने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है और उन्हें पुरुषों के बराबर खड़ा कर दिया है, जिसकी वजह से उनका नाम भी पुरुषों के समान हैसियत रखता है जो कि अपने बच्चों के कानूनी अधिकारों, उनकी सामाजिक स्वीकृति और सम्मान बोध को बनाए रखने में मददगार साबित होता है।

इस्लामी समाज गोद लेने की अनुमति नहीं देता और एक गोद ली हुई संतति कभी भी अपने अभिभावकत्व को सिद्ध नहीं कर सकती। इस्लाम का आग्रह है कि सिर्फ पिता के मुँह से कह देने पर कोई संतति उसकी औलाद नहीं हो सकती। अपितु संतान के अस्तित्व के लिए एक पिता का होना आवश्यक है। 'अल्लाह सच बोलता है और तुम्हें सही रास्ता दिखाता है...उन्हें (संतानों को) अपने पिता से संबंधित करो क्योंकि अल्लाह को वही ज्यादा स्वीकार्य है। यदि ऐसी संततियों के पिता की पहचान न हो पाए तो मजहब के आधार पर उन्हें भाई मान लिया जाय।'[1]

ट्यूनीशिया ने हालाँकि गोद लेने की पद्धति को अंगीकार करके इस दिशा में अग्रणी कदम उठाया है जबकि अन्य अरब देशों के कानून अभी भी इसे वर्जित मानते हैं। उदाहरण के तौर पर, मोरक्को में परिवार कानून ने निर्णयात्मक ढंग से यह घोषित किया है कि 'गोद लेने की कोई वैधानिक मूल्यवत्ता नहीं है और ताल्लुकातों के निर्धारण में इसकी कोई भूमिका नहीं है (पुत्र और पुत्री)।'[2]

बहुतेरी अवैध संततियाँ, इस्लामी समाजों में यौन आजादी के परिणामस्वरूप पैदा होती थीं। यही कारण है कि जहाँ वंशानुगत संबंधों के नियमन के विधान बने वहाँ अधिकांश ऐसे पीड़ितों को वैधता के दायरे में खींच कर लाया गया। विवाह कानूनों के तत्त्व और शब्द और उनके तार्किक तथा वैधानिक आधारों की खुलेआम अवहेलना होती है। इस्लामी कानून के अनुसार, बच्चे का पिता के साथ सम्बन्ध-निर्धारण, निम्नलिखित में से एक के जरिये किया जा सकता था—

1. स्त्री के साथ यौन-सम्बन्ध स्थापित कर जो उसकी वैधानिक पत्नी हो।
2. किसी भी स्त्री के साथ सिद्ध अथवा संदिग्ध यौन-समागम करके।
3. पुरुष की स्वीकारोक्ति अथवा स्वीकृति के साथ।

4. किसी विश्वसनीय व्यक्ति की गवाही पर जो यह सुनिश्चित करे कि अमुक संतति संबंधित पुरुष की है।

वैधानिक रूप से दुरुस्त विवाह करारनामा

यदि एक पुरुष अपनी पत्नी के साथ यौन-सम्बन्ध बनाता है और उसका स्खलन इस तरह हुआ कि वीर्य उसके गर्भ तक पहुँच सकता हो (अथवा वह अपनी पत्नी के साथ अकेले ऐसी स्थिति में रहा हो जो सुन्नत के नियमों की शर्त को पूरा करता हो), और अगर यौन-सम्बन्ध बनाने की तिथि से छः महीने का न्यूनतम गर्भावस्था वाला समय बीत चुका हो, और यदि स्त्री ने गर्भावस्था के अधिकतम समय को पार कर लिया हो जोकि यौन सम्बन्ध बनाने की तिथि से एक वर्ष माना जाता है (हनफी धार्मिक सम्प्रदाय में यह दो वर्ष और शफी तथा मलिकी में यह चार वर्ष है) तो वह बच्चा पुरुष का माना जाता है।[3]

ऐसे नियमों को निर्धारित करके, इस्लामी समाज जितना संभव हो सके नाजायज संतानों की संख्या को घटाने का प्रयास करता था। इस प्रवृत्ति को बढ़ावा देने वाला एक और विचार है जिसे कि 'सुप्त शिशु' कहा जाता है जोकि एक इस्लामी जुमले से बना है कि एक संतान यौनाचार का पुत्र है जोकि पैगम्बर की उस घोषणा के साथ सहमति रखता है : संतान समागम की पैदाइश है। इस जुमले के सम्बन्ध में दो व्याख्याएँ सामने आती थीं। पहली बताती थी कि जहाँ पहले के रिवाजों के आधार पर वंश परम्परा माँ के आधार पर सुनिश्चित होती थी वहीं अब संतति को पिता के साथ जोड़ने की नई रीति का चलन शुरू हुआ। और दूसरी उस पूर्वधारणा के आधार पर बनी कि विवाहिता स्त्री से पैदा कोई भी संतति स्वयमेव उसके पति की संतति मान ली जायेगी। इमाम अबू हनीफ ने तय किया कि विवाह करारनामा अकेले ही, कालावधि का ध्यान दिए बिना, यह संकेत करने के लिए पर्याप्त है कि स्त्री से पैदा हुई कोई भी संतान उसके पति से पैदा मानी जायेगी चाहे किसी विवाहिता स्त्री के उसके पति की गैर-मौजूदगी में संतान हो गयी हो। यह गैर मौजूदगी की अवधि चार साल तक लम्बी हो सकती थी वह पति वैधानिक रूप से उसका पिता ही माना जाता था। इसी तरह से, अगर पत्नी शादी के तीन-चार महीनों में संतान को जन्म देती थी तब भी पति ही उसका पिता कहलाता था। ऐसे बच्चों को सुप्त शिशु कहा जाता था।

हालाँकि, गर्भावस्था की सामान्य लम्बाई और महीनों की संख्या जिसमें माँ के गर्भ में एक भ्रूण जीवित हो सकता है के बारे में आधुनिक वैज्ञानिक ज्ञान और साथ ही साथ वैध और अवैध संतानों की बड़ी संख्या की वजह से इस्लामी अरब समाज ने सुप्त शिशु की अवधारणा को बंद कर दिया।

1929 तक मिस्री समाज अबू हनीफ की शिक्षा के आधार पर काम करता रहा जिसके आधार पर विवाहिता स्त्री से पैदा कोई भी संतति उसके पति की मानी जायेगी और विवाह करारनामा ही केवल पितृत्व और संतान के अभिभावकत्व के लिए पर्याप्त था। यह बाद में बदला गया और तीन इमामों अहमद इब्न हनबल, अल शफी और मलिक ने, बच्चे के अभिभावकत्व के लिए पति और पत्नी के बीच तयशुदा यौन सम्बन्ध अथवा संभावित यौन सम्बन्ध को जरूरी बना दिया।

ट्यूनीशिया और मोरक्को ने भी अपने आधुनिक कानून में, सुप्त शिशु की अवधारणा को खारिज कर दिया। मोरोक्को के परिवार कानून के एक अधिनियम में यह अनुबंध है—

गर्भावस्था की अधिकतम मियाद एक वर्ष है जोकि पति से तलाक या मृत्यु की तारीख

से जोड़ी जायेगी। यदि एक साल की अवधि के अंत तक भी गर्भावस्था को लेकर शक बना रहता है तो संबंधित पक्ष द्वारा मामला विद्वान् न्यायाधीश के संज्ञान में लाया जाएगा। न्यायाधीश तब चिकित्सकीय व्यवसाय से जुड़े विशेषज्ञों से सलाह लेंगे।[4]

वैधानिक जारकर्म द्वारा पितृ-निर्धारण

यदि एक पुरुष एक स्त्री के साथ सम्बन्ध स्थापित करता है जिसके साथ उसकी शादी हुई है बिना यह जाने कि वह असल में उसकी बीवी नहीं है, अथवा किसी दूसरी स्त्री के साथ जहाँ वह यह जानता है कि वह उसकी बीवी है अथवा उस स्त्री के साथ जिसके साथ करार द्वारा उसकी शादी हुई है बिना यह जाने कि वैधानिक रूप से वह उसकी बीवी नहीं हो सकती है और यदि इन रिश्तों में से किसी एक के आधार पर स्त्री को गर्भ ठहर जाता है तो किसी भी किस्म का व्यभिचार जोड़े द्वारा नहीं माना जाएगा क्योंकि सम्बन्ध बनाते वक्त वे इस बात से अनजान थे कि वे असल में विवाहित नहीं हैं। संतान वैधानिक रूप से पुरुष की मानी जायेगी और वह उसका वैधानिक पिता माना जाएगा।[5] [इस मामले में यह ध्वनित है कि पिता स्त्री के साथ अपने विवाह द्वारा पहचाना जाता है और संतान इस शादी से पैदा होने के द्वारा]

ऊपरी अनुबंध यह दिखलाता है कि बहुतेरे इस्लामी कानून पुरुषों की यौन स्वतन्त्रता को लेकर कितने ढीले-ढाले हैं। एक पुरुष किसी भी स्त्री के साथ बिना यह जाने कि वह उसकी बीवी है सम्बन्ध बना सकता है और उस पर व्यभिचार का आरोप भी नहीं लगेगा और इस सम्बन्ध से पैदा संतान का वह वैधानिक पिता भी कहलायेगा क्योंकि किसी स्थिति में उसने ऐसा समझा कि वह उसकी बीवी थी! क्या यह स्थिति संभव है? यह भी सत्य है कि संभव कुछ भी है पर कम से कम यह तो कहा ही जा सकता है कि ऐसे मामले बड़ी मुश्किल से देखने में आते हैं। क्या किसी पुरुष के लिए स्त्री के साथ सम्बन्ध बनाने में यह संभव है कि वह यह जान ही न सके कि वह उसकी बीवी है या नहीं? शायद शराब के नशे में। पर इस्लाम में शराब को हराम माना गया है।

यदि एक पुरुष इस स्थिति में हो सकता है कि वह अपनी बीवी और दूसरे की बीवी में फर्क न कर सके तो क्या स्त्री के सम्बन्ध में भी यह सोचना संभव नहीं कि वह भी अपने पति के भ्रम में दूसरे पुरुष के साथ संपर्क में आ गयी। क्या विशेष रूप से ऐसी स्थितियाँ महिलाओं के लिए आम नहीं हो सकतीं क्योंकि धार्मिक शिक्षा में तो उसे बुद्धि से कमतर और धार्मिक निष्ठा में हीन माना गया है जबकि पुरुषों को तर्क और बुद्धि के श्रेष्ठ सोपानों में रखा गया है तो इसलिए अपने मार्ग से च्युत होने पर स्त्री की कम से कम जवाबदेह होनी चाहिये।

यदि इस विचार को तार्किक परिणति तक ले जाया जाय तो इसका अर्थ है कि कोई भी मर्द अपनी पत्नी के अलावा किसी दूसरी स्त्री से सम्बन्ध बना लेता है तो वह व्यभिचार के आरोप से मात्र इस आधार पर बच सकता है कि वह नहीं समझ सका कि सम्बन्ध बनाने के वक्त वह किस स्त्री के साथ था। अगर ऐसा है तो व्यभिचार का कानून किस पर लागू होगा?

पुरुष की स्वीकारोक्ति अथवा स्वीकार

यदि पुरुष यह घोषित कर दे कि वही संतान का पिता है और कोई दूसरा उस दावे को चुनौती न दे तो अपने माँ-बाप से संतानों का सम्बन्ध निर्धारण इस तरह से संभव हो सकता है।

संतान यदि वह अब भी छोटा/ छोटी है को इस पितृत्व को सहमति देने की कोई आवश्यकता नहीं होती पर उनके बड़े होने पर यह सहमति आवश्यक है।

इस प्रकार से, एक अविवाहित पुरुष बिना पत्नी के भी वैधानिक संतानों को रख सकता है। एक महिला के पास, समान स्थिति में इस तरह के कोई विशेषाधिकार नहीं हैं। अपने पति के अलावा किसी और पुरुष से पैदा संतति अवैध मानी जायगी जब तक वह पिता होने की स्वीकारोक्ति न कर ले अथवा कोई दूसरा पुरुष बच्चे अथवा बच्चों के लिए अपना दावा पेश न कर दे।

विश्वसनीय गवाह

सामान्य तौर पर वंश परम्परा और विशेष रूप से संतति का अभिभावकत्व किसी विश्वसनीय गवाह द्वारा प्रमाण पत्र देकर भी निश्चित किया जा सकता है। ऐसे गवाहों की संख्या आमतौर पर दो होती है। अतः अगर दो भाई यह प्रमाणित करते हैं कि संतति उनके मरे भाई का पुत्र है तो यह पर्याप्त सबूत है। ऐसे मामलों में दो भरोसेमंद गवाह परिवार के पुरुष सदस्य होते हैं। दूसरी ओर, उस महिला का प्रमाण जिसने बच्चे को जन्म दिया है प्रामाणिक नहीं माना जाता।

यदि पुरुष को अपने पितृत्व की जाँच का अधिकार है तो साथ ही उसे संतान के अभिभावकत्व से मुकर जाने का भी विशेषाधिकार दिया जाता है चाहे मामला शक के दायरे में भी हो। एक पुरुष यदि उसे निश्चित है कि वह अमुक संतान का पिता नहीं है तो धार्मिक कानून के आधार पर उसे पितृत्व से मुकर जाने के लिए मजबूर किया जाता है। यह उसके लिए सख्त मना है कि वह ऐसे बच्चे के पिता होने का दावा करे जिसके बारे में उसे निश्चित तौर पर पता है कि वह दूसरे पिता द्वारा पैदा है।

एक पति अपने पितृत्व को खारिज कर सकता है अगर संतान स्त्री के साथ सम्बन्ध बनाने के छः महीने पहले जन्म ले ले या फिर पूर्ण गर्भावस्था वाले समय की अधिकतम कालावधि के बाद जन्म ले (आमतौर पर इसे एक वर्ष का माना जाता है) यदि संतान न्यूनतम अवधि के पहले या अधिकतम अवधि के बाद पैदा नहीं हुई है, और स्त्री के साथ विवाह करारनामा स्थायी है तो पितृत्व को खारिज करने का रास्ता नकार की प्रक्रिया के द्वारा होता है जिसे लान [La'an], (लान [Lan], शब्द से बना है जिसका अर्थ अभिशाप होता है) कहा जाता है।[6] इस प्रक्रिया में पिता अपने क्षेत्र के वैधानिक शासक (धार्मिक-राजनीतिक नेता) के पास अपने पितृत्व को नकारने वाला शिकायतनामा भेजता है, जिस पर शासक उसे अपने सामने खड़ा होने के लिए और तथ्य को प्रमाणित करने के लिए कहता है। उसे चार बार यह दुहराना होता है : मैं अल्लाह के सामने यह कबूल करता हूँ कि मैं सच बोल रहा हूँ कि यह औलाद मेरी नहीं है (मुझसे पैदा नहीं है)। इन शब्दों को दुहराने के बाद ही उसे उतनी ही बार यह बोलना भी जरूरी है कि अल्लाह मुझे लानत भेजे यदि मैं झूठ बोल रहा हूँ, और अपनी बीवी पर यह कहते हुए आरोप लगा रहा हूँ कि यह बच्चा मेरा नहीं है।' पति की गवाही के बाद, अब पत्नी की बारी है। शासक के निर्देशों के अनुसार उसे भी यह चार बार कहना होता है : 'मैं अल्लाह की कसम खाती हूँ कि मुझ पर व्यभिचार का आरोप लगा मेरा पति झूठ बोल रहा है।' अपने बयान को पूरा करने के बाद उसे यह कहना होता है : 'अगर मेरा पति सच बोल रहा है तो अल्लाह का कहर मुझ पर बरसे।'

फैसला तब लान के परिणाम के रूप में सामने आता है। ऐसे फैसले में पुरुष का संतान

के पिता के रूप में इंकार और संबंधित स्त्री और पुरुष के बीच स्थायी अलगाव शामिल हो सकता है।[7]

इन इस्लामी कानूनी प्रावधानों के अनुसार न केवल एक अविवाहित मर्द बल्कि एक पति भी अपने पुत्र को सिर्फ लान की चार पंक्तियों के शब्द-क्रम से दुहरा कर त्याग सकता है जो उसकी पत्नी से पैदा है। वह भी तब जब विवाह करारनामा बिलकुल सही है, गर्भावस्था की न्यूनतम और अधिकतम अवधि भी कानून के द्वारा तय प्रावधानों के अनुरूप है, और चाहे पत्नी यह कसम भी खा ले कि बच्चा उसी का है किसी और का नहीं। शासक जो इस फैसले को सुनाता है वह पुरुष होता है न कि स्त्री और जिस समाज के अंतर्गत वह काम कर रहा है वह पुरुष प्रधान और घनघोर रूप से पितृसत्तात्मक है। कौन महिला की बातों पर यकीन करेगा और पुरुष को झूठा कहेगा? एक मर्द कानून और धार्मिक रिवाजों की नजर में सच और तर्क के बेहद करीब होता है और जानता है कि ठीक क्या है और स्त्री झूठ और धोखे की ओर अधिक प्रवृत्त होती है और उसमें समझदारी और होश की कमी होती है। और फिर, जैसा कि हमने पहले देखा, कि यह पुरुष है जिसकी समझदारी जाने कहाँ गायब हो जाती है जब सवाल अपनी पत्नी के अलावा दूसरी स्त्री के साथ सम्बन्ध बनाने के अधिकार का होता है, और शादी के ढाँचे के अंतर्गत या बाहर यौन सम्बन्ध के नतीजे के तौर पर पैदा संतान के पितृत्व को स्वीकार अथवा खारिज करने के अधिकार का होता है।

लान की प्रक्रिया एक पुरुष को बड़े आराम से एक संतान के पितृत्व से इंकार का अधिकार देती है क्योंकि उसे अपनी पत्नी की वफादारी पर शक हो जाता है और अभिभावकत्व के कानून पुरुष को आत्यंतिक अधिकार देते हैं कि वह संतान को अपना नाम देने से इंकार कर दे क्योंकि उसने माँ के साथ विवाह करारनामे पर दस्तखत नहीं किये।

कानून एक स्त्री को व्यभिचार से जुड़े मामले में पुरुष से कहीं ज्यादा भयावह ढंग से दण्डित करता है। मिस्र में उसकी सजा अधिकतम दो साल की जेल हो सकती है। एक पुरुष को व्यभिचार के लिए दण्डित नहीं किया जाता है अगर वह इसे उस घर के बाहर अंजाम देता है जिसमें उसकी पत्नी उसके साथ रहती है। चाहे वह उसी घर में दूसरी औरत के साथ यौन-सम्बन्ध बनाते पकड़ा जाय तो भी उसकी सजा छः महीने की जेल से अधिक नहीं हो सकती है। आमतौर पर मात्र औरत ही दंड की भागी होती है क्योंकि एक औरत की अपने पति के साथ बेवफाई को, कानून, रिवाजों और धार्मिक ज्ञान के द्वारा अक्षम्य अपराध माना गया है। पति की अपनी पत्नी के प्रति की गयी बेवफाई को बड़े सामान्य ढंग से लिया जाता है और यहाँ तक कि कानून, रिवाजों और धार्मिक ज्ञान के द्वारा इसे मौन स्वीकृति भी प्राप्त हो जाती है। स्थापित व्यवस्था के लिए स्त्री का व्यभिचार, भयावह परिणाम देने वाला माना जाता है। यह वंश परम्परा और उत्तराधिकार के बीच भ्रम पैदा करने वाला हो सकता है। और यह दोनों ही मिलकर पितृसत्तात्मकता के आधार स्तम्भ बनाते हैं।

मिस्री कानून के अनुसार, अगर एक पुरुष वेश्या के साथ यौन-सम्बन्ध बनाते पकड़ा जाता है तो वह जेल में नहीं डाला जाता बल्कि उसे उस वेश्या के खिलाफ गवाह बना दिया जाता है जहाँ उसे कारावास का दंड दे दिया जाता है। जहाँ इस तरह की असमानता होती है वहाँ कोई भी कानून न्यायोचित नहीं हो सकता है। इसलिए सारे कानून जो कि स्त्री और पुरुष के बीच रिश्तों को निर्धारित करने के उद्देश्य के साथ पितृसत्तात्मकता के ढाँचे के अंतर्गत प्रचारित होते हैं वे बलात अन्यायपूर्ण हैं।

वेश्यावृत्ति का अर्थ है स्त्री और पुरुष के बीच यौन-सम्बन्ध जिसका उद्देश्य पुरुष की

यौन और स्त्री की आर्थिक जरूरत पूरी करना है। यह जाहिर है कि यौन जरूरतें, पुरुष प्रधान तंत्र में भी, आर्थिक जरूरतों से ज्यादा आवश्यक और महत्त्वपूर्ण नहीं होतीं क्योंकि अगर उन्हें संतुष्ट न किया जाय तो वे बीमारी और मौत की ओर ले जाती हैं। फिर भी समाज स्त्री की आर्थिक जरूरत को पुरुष की यौन जरूरत से कम मूल्य वाला मानता है। ऐसी परिस्थिति वहीं पैदा होती है जहाँ असमानता मौजूद होती है। शासकों की जरूरतें अथवा संपत्ति के मालिकों की जरूरतें हमेशा उन लोगों से अधिक महत्त्व की मानी जायेंगी जो शासित हैं और दो जून की रोटी कमाने में व्यस्त हैं। मालिक के मनोरंजन और सुख की आवश्यकता, नौकर अथवा गुलाम की भोजन या नींद की आवश्यकता से कहीं मूल्य की होती है। शासक वर्गों के लिए रंगीन टी.वी. की जरूरत कस्बाई आम जनता के शुद्ध पानी की जरूरत से कहीं बड़ी होती है। एक पुरुष के यौन सुख की जरूरत, उसकी पत्नी की भोजन और चिकित्सा देखभाल से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण और वेश्या के लिए पावरोटी और शरीर को ढँकने वाले कपड़े से कहीं अधिक मूल्य की होती है। इसीलिए वह जेल में डाल दी जाती है और वह आजाद घूमता रहता है दूसरी औरतों की तलाश में।

ऐतिहासिक रूप से, वेश्यावृत्ति पितृसत्तात्मक व्यवस्था के साथ शुरू हुई, जहाँ समाज जमींदार और गुलामों के बीच बँटा था। इसी वक्त विवाह के आदिम स्वरूप के जरिये यौन रिश्तों का प्रारम्भिक स्वरूप तय हुआ। वेश्यावृत्ति वास्तव में विवाह के सिक्के का दूसरा पहलू है। पुरुषों को विवाह की जरूरत संतान और वंश के लिए थी और साथ ही वे अपनी यौन इच्छाओं के लिए भी मुक्त अवकाश चाहते थे। इसीलिये चेस्टिटी बेल्ट और वैवाहिक निष्ठा को सिर्फ स्त्रियों पर थोपा गया। इसे जानना वास्तव में बड़ा दिलचस्प है कि कैसे पुरुष अपनी पत्नी के अलावा दूसरी स्त्री के पास जाने को अनदेखा कर देता था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह अपनी इच्छाओं को धर्म के नकाब में छिपाता था और वेश्या के साथ यौनाचार को एक धार्मिक कृत्य या शुचिता के आचरण से जोड़ता था।

कालान्तर में, शासक या राजा धरती पर ईश्वर का नुमाइंदा कहलाने लगा और कुछ देशों में तो हर कुँवारी स्त्री के साथ, जिसकी शादी हो रही थी, पहली रात बिताना उसके अधिकार **ea'lkfey PkA**[9] इस खास दिन के लिए शेख शासित किसी एक अरब देश में हर महीने की एक रात उसे कुँवारी लड़की मुहैया कराई जाती है जिसके बाद वह उसे फिर ताउम्र नहीं देखता है। इसके बाद आभिजात्य वर्ग के परिवारों के पुरुष सदस्य उस स्त्री का हाथ माँगने के लिए आपस में होड़ लगाते हैं क्योंकि उसे शेख के साथ सोने का उत्कृष्ट सम्मान प्राप्त है और इसीलिये वह बड़े उन्नत किस्म के मुआवजे की हकदार है।

यूरोप में, मध्यकाल के दौर में, सामंती शासकों को यह अधिकार था कि वह उस जवान लडकी के साथ, अगर उसका परिवार उनकी दया पर जी रहा था या फिर जिस पुरुष के साथ उसकी शादी हो रही थी वह उनका दास था, पहली रात बिताते थे जिसकी शादी हो रही होती थी। सामंत के इस अधिकार को राजा, शासक अथवा युवराज की अनुमति प्राप्त होती थी। पहली रात वाली इस व्यवस्था को लैटिन में Jus Prunae Noctus (पहली रात का अधिकार) के नाम से जाना जाता था।[10]

किन्हीं-किन्हीं कबीलों में यह पिता का काम होता था कि वह लडकी को उसकी सुहाग रात के दिन कुँवारेपन से मुक्त करे। इसके जरिये वह धार्मिक रस्मों और समारोहों की आड़ में एक जवान लडकी के साथ अपनी यौनवासना को संतुष्ट कर सकने में सक्षम होता था। बेबीलोनिया वासी मानते थे कि धर्मनिष्ठ स्त्रियों के पास देवता रात में आते हैं और सुनश्चित

करते हैं कि वे पुत्रों को जन्म दें।[11] पवित्र अथवा धार्मिक वेश्यावृत्ति का चलन चौथी शताब्दी तक चलता रहा। पर सन 325 में, सम्राट कॉन्स्टेनटीन ने एक शासनादेश के जरिये इसे समाप्त कर दिया।

प्राचीन मिस्र में, भद्र और संभ्रांत परिवार अपनी बेटियों में सबसे खूबसूरत को चुनते थे और थेब्स के मंदिर के देवता एमॉन को उपहार स्वरूप सौंपते थे। साल गुजरते थे और जवान लड़की उम्रदराज हो जाती थी और पुजारियों को संतुष्ट करने में असमर्थ हो जाती थी तो वह सम्मान के महान चिन्हों और अनुष्ठानिक रस्मों के साथ मंदिर से मुक्त कर दी जाती थी, बिरादरी के पुरुष से उसकी शादी हो जाती थी और उसका घर और परिवारों में बड़े ऊँचे सम्मान के साथ स्वागत होता था। ये पवित्र वेश्याएँ ऊँचे दर्जे की पुजारिनों के रूप में जानी जाती थीं और देवता एमॉन के हरम (या स्त्री) के तौर पर जानी जाती थीं।[12]

मंदिर वेश्यावृत्ति भारत और जापान जैसे देशों में हमें आज भी देखने को मिल जाते हैं। भारत के कुछ इलाकों के मंदिर ऐसी लड़कियों को स्वीकार करते हैं जो अपना समूचा जीवन भगवान की सेवा में अर्पित करने के लिए तैयार होती हैं और उन्हें मंदिर क्षेत्र में रहने की तथा विभिन्न किस्म के आयोजनों को करने की सहमति मिली होती है। इनमें से कुछ लड़कियाँ पुजारियों की यौन आवश्यकताओं को छुपकर संतुष्ट करने के उद्देश्य से चुनी जाती थीं और बाकी कुछ प्रभावशाली अतिथियों और तीर्थयात्रियों की सेवा-टहल के लिए काम में लाई जाती थीं। प्राचीन फोनेशिया में पिता अतिथि के स्वागत की निशानी के तौर पर अपनी बेटियाँ भेंट स्वरूप देते थे। इस किस्म की वेश्यावृत्ति यूरोप में मध्य काल तक फली फूली। सरकारें वेश्याओं की विशेष श्रेणी महत्त्वपूर्ण अतिथियों के लिए रखती थीं जिसके लिए 14 वीं शताब्दी में कुछ नगर परिषदों और नगरपालिकाओं द्वारा विशेष घरों का बंदोबस्त किया जाता था। यहाँ तक कि आज भी, अरब देशों की ही तरह पूर्व और पश्चिम के बहुत से देशों में राज्य द्वारा संचालित विभिन्न संस्थाएँ हैं जैसे गुप्तचर संस्थाएँ, विशेष पुलिस सेवाएँ (खुफिया पुलिस, राजनीतिक पुलिस इत्यादि) और दूतावास जो वेश्यावृत्ति को जानकारी हासिल करने, लोगों को प्रभावित करने, किसी खास दृष्टिकोण पर उनको परास्त करने और ब्लैकमेल करने के लिए इस्तेमाल करते हैं।[13] स्त्रियाँ, विशेष अतिथियों, राजनीतिक व्यक्तित्वों और अन्य को मुहैया कराई जाती हैं। और कुछ एशियाई देशों में तो उदाहरण के तौर पर यह कभी-कभी लगभग एक दस्तूर की तरह काम करता है।

वेश्यावृत्ति के अड्डे बड़े लम्बे समय से पितृसत्तात्मक समाज के हितों को साधने के लिए बड़ी मूल्यवान भूमिका निभाते रहे हैं और इतिहास में इनका स्थान हमेशा रहा है। बड़े शुरुआती काल में, जब ईसाइयत पूरे यूरोप में थी तब भी वेश्यावृत्ति और चर्च के बीच के धार्मिक रिश्तों के अवशेष मौजूद थे।[14]

वेश्यावृत्ति के इतिहास का अध्ययन और उससे होने वाले बदलाव जिन्होंने नैतिक और धार्मिक मान्यताओं पर सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से प्रभाव डाला, उन कारकों के प्रति हमारी समझ को विकसित करते हैं जो स्त्रियों की परतंत्रता और सामाजिक तथा आर्थिक शोषण के लिए जिम्मेदार हैं जिससे कि समाज के कुछ खास वर्गों का पर्दाफाश होता है और ये कारक लिंगों के बीच संबंधों को आकार देने में प्रोत्साहनकारी शक्ति के तौर पर मौजूद होते हैं।

उदाहरण के तौर पर, भारत में स्त्रियों का शोषण इतना सख्त और बेरहम था कि अभी कुछ समय पहले तक पति की मौत के बाद विधवा को जिंदा जला डालने का रिवाज था। यहाँ तक कि आज भी, कुछ छुट-पुट मामले देखने को मिल जाते हैं जिसमें सामाजिक दबावों

के सामने घुटने टेकते हुए एक विधवा अपने पति की मौत पर स्वयं को आग लगा लेती है। पुजारी ऐसा करने को सही ठहराते हुए इस बात के लिए जोर डाला करते थे। विशेष तौर पर तब जब विधवा धनी होती थी क्योंकि उसकी मौत के बाद कानूनन सारी दौलत मंदिर को मिल जाती थी।

हर दौर में, लोगों के लिए, नैतिक मानदंडों अथवा मूल्यों के सवाल के बारे में बिना किसी पछतावे के, आर्थिक जरूरतों के हिसाब से विवाह की व्यवस्था को और लैंगिक रिश्तों को बदलना संभव होता रहा है। व्यापक तौर पर फैली मुफलिसी और तंगी के दिनों में माँ बाप छुटकारा पाने के लिए अपने बच्चों को मार डालते हैं, गर्भपात बहुत संख्या में होते हैं, विवाह के अलावा यौन सम्बन्ध कठोरता के साथ प्रतिबंधित होते रहे हैं। लोगों को विवाह न करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है अथवा शादी कर गर्भ निरोध को अमल में लाने की बात होती है। समाज हमेशा से धर्म से उन मूल्यों का चुनाव करने में समर्थ रहा है जो उसके लिए अनुकूलित और आर्थिक हितों को सिद्ध करने वाला होता है। जब सापेक्षिक सम्पन्नता और श्रम का दौर दुर्लभ हो जाता है तो चीजें फिर बदलती हैं और लोगों को शादी या शादी से बाहर अधिक से अधिक बच्चे पैदा करने पर जोर दिया जाने लगता है।

दक्षिण भारत के कुछ हिस्सों में, मैंने गरीब जनजातीय बिरादरियों को देखा जो बहुविवाह का निषेध करते हैं और बहुपति प्रथा को अपनाते हैं जिसमें एक औरत एक से अधिक पुरुष के साथ हो सकती थी लेकिन पुरुष को मात्र एक ही स्त्री के साथ संतुष्ट होना पड़ता था। इसलिए पुरुषों की एक संख्या, जो आमतौर पर भाई होते थे, एक औरत के पति हो जाते थे। यह दो प्रयोजनों को हल करता था : यह खर्चों को कम करता था और बच्चों की संख्या कम होती थी। बहुपति प्रथा इतिहास में आपेक्षिक रूप से लम्बे समय तक फैली मिलती है पर इसके प्रचलन के आर्थिक कारण परिस्थितियों के आधार पर अलग-अलग हुआ करते थे। इस्लाम के पहले अरब क्षेत्र में, और प्राचीन यूनान के स्पार्टा गणतंत्र में, कानून एक स्त्री को कई पति रखने की इजाजत देता था इस शर्त पर कि उसके सिर्फ एक ही बच्चा होगा। स्पार्टा में अधिक बच्चे राज्य द्वारा मरवा दिए जाते थे, शमशान में जिंदा जला दिए जाते थे जिन्हें Taigitos कहा जाता था।

प्राचीन यूनान के निवासियों को विवाहेतर संबंधों के सभी कल्पनीय प्रकारों को अमल में लाने की इजाजत थी इस शर्त पर कि वे पति की संपत्ति पर कोई हानिकारक प्रभाव नहीं डालते थे और उसके उत्तराधिकार को समाज के निचले तबके के लोगों में जाने से बचाते थे अथवा उसकी संतानों के दूसरे पुरुष के हाथों में जाने से।

रोमन समाज में, यह पुरुष का अधिकार था कि वह जिसकी माँ का पता नहीं है उसे पुत्र के रूप में गोद ले ले। फिर वह लड़का उसका वैधानिक पुत्र हो जाता था। हालाँकि, स्त्री, किसी ऐसे लड़के को पुत्र के तौर पर गोद नहीं ले सकती थी जिसका पिता अज्ञात हो। इस भेद का कारण पूरी तरह से आर्थिक होता था और समाप्ति तथा उतराधिकार के सवालों से जुड़ा था।

जब एथेंस और स्पार्टा की लम्बी लड़ाई पाँच शताब्दी ईसा पूर्व खत्म हुई। इसने बड़ी संख्या में पुरुषों को निगल लिया जो लम्बे समय से अपने घर से गायब थे और जो अपने पीछे घर में अकेली स्त्री को अपनी किस्मत पर छोड़ गए थे। इसके बाद वे पुरुष जो जंग में नहीं गए थे और पीछे छूट गए थे उन्होंने ऐसी स्त्रियों के साथ यौन सम्बन्ध बनाने के रास्ते खोजने शुरू कर दिए। बहुत थोड़े से सापेक्षिक समय के अंतराल के भीतर, स्त्री के लिए

यौन आजादी का नया विचार प्रचारित किया गया और समय के श्रेष्ठ दिमागों ने इस नए अभियान के समर्थन में मुमकिन तर्कों को सक्रिय रूप से खोजना शुरू किया। उनमें प्राचीन यूनान का प्रसिद्ध चिकित्सक हिपोक्रीटीज था, जिसे चिकित्सा का पिता कहा जाता है जिसने बड़ी आसानी से यह खोज लिया कि गर्भ को, पुरुष के रखरखाव की निरंतर आवश्यकता होती है (तब तक किसी भी पुरुष ने गर्भाशय के भविष्य को लेकर कोई भी विशेष रुचि प्रदर्शित नहीं की थी।) और यदि इस अपरिहार्य रख रखाव से उसे वंचित किया गया तो स्त्री स्नायविक रूप से बीमार हो सकती है जिसे हिस्टीरिया (यह शब्द यूनानी से लिया गया है जिसका अर्थ गर्भ होता है) कहा जाने लगा। इस समय तक स्त्री लगातार यौन क्षय की हालत का शिकार होती चली आई थी पर अब तक किसी ने भी उन्हें संतुष्ट करने की आवश्यकता नहीं समझी। तब फिर, इस नई भयंकर बीमारी हिस्टीरिया के परिणामस्वरूप, लड़ाई में हिस्सा न लेने वालों ने, जो पीछे छूट गए थे या जिन्होंने राज्य के ज्यादा महत्त्व के कामों में अपना योगदान देना चुना था, उन्होंने एक बार फिर स्वयं का महान कार्य के लिए बलिदान करने का फैसला लिया और उन हतभागी स्त्रियों के साथ यौनसम्बन्ध में प्रेरित हो गए जो अपनी किस्मत के सहारे जी रही थीं और जिनकी सेहत भयावह खतरे में होती अगर वक्त पर उनकी यौन जरूरतों को पूरा करने का कोई रास्ता न मिलता और पुरुषों की यौन जरूरतों का मामला तो निश्चित ही कोई ध्यान में लाने वाली बात नहीं थी!

एक वक्त जब चेस्टीटी बेल्ट महिलाओं के लिए प्रचलन में थी, विशेषकर मध्ययुग में, तो उसी के साथ दूसरी ओर यौन स्वेच्छाचार और वेश्यावृत्ति फूस में आग की तरह फैल गयी थी। बहुतेरे पति अक्सर ही उन दिनों दूर तक घूमते थे क्योंकि व्यापार एक लाभदायक व्यवसाय हुआ करता था और ज्यादा से ज्यादा संख्या में परिवार व्यापार की ओर मुड़ रहे थे। व्यापारिक मुसाफिर और सौदागरों को मजबूरन अपनी बीवियों को अकेले छोड़कर जाना पड़ता था ऐसे में पुरुष की मक्कारी ने चेस्टिटी बेल्ट को जन्म दिया जो लोहे की बनी होती थी। इसे स्त्री के बाहिरी जननांगों पर पहनाया जाता था और पति के प्यार भरे हाथों से इसमें ताला जड़ा जाता था और जिसकी चाबी वह अपने पास रखता था। इसमें कोई शक नहीं कि अपनी उँगलियों के बीच चाबी का होना उसे बड़ी दिमागी शान्ति देता था और उसे पैसा कमाने के दुष्कर कामों में केन्द्रित होने का अवसर देता था। क्योंकि अब पीछे छूटी हुई संपत्ति पूरी तरह से महफूज थी।

हालाँकि, इन व्यावसायिक यात्राओं का एक नजदीकी सर्वेक्षण यह दिखला देगा कि पति द्वारा इन यात्राओं के दौरान वेश्याओं और रखैलों के साथ यौन मनोरंजन पर खर्च किया जाने वाला समय और सामर्थ्य उनके अपने व्यापारिक गतिविधियों पर खर्च किये जाने वाले समय और सामर्थ्य से कहीं अधिक था। पर यह सब उसके लिए बेचैनी का सबब नहीं होता था, क्योंकि इन संबंधों से पैदा होने वाली सन्ततियाँ उसके उत्तराधिकार में अपने हिस्से का दावा नहीं कर सकती थीं।

धार्मिक पुरुष और पुजारी भी जहाँ तक यौन मामलों का सवाल था कम सक्रिय नहीं थे। अनैतिकता चारों ओर फैली हुई थी। वेश्याओं की संख्या सर घुमा देने वाली दर से बढ़ गयी थी और नाजायज बच्चों की तो बिलकुल फौज खड़ी हो गयी थी। महंत और सन्यासियों का चोगा पहने हुए अथवा पुजारी वाला चिकना लबादा पहने, इसके बावजूद कि उन्होंने आजीवन ब्रह्मचारी और भौतिक सुख का परित्याग करने की शपथ ली है, यौन व्यभिचारों में विशेष योगदान देते थे जोकि मध्य या अंधकार काल के चरित्र के रूप में सामने आता है। समय आ गया

था कि वेश्याएँ जीवन और समाज का अविभाज्य हिस्सा हो गयी थीं। एक जरूरत जिन्हें त्यागा नहीं जा सकता था चाहे शान्ति हो या युद्ध।

राजनेताओं और शासकों को यह जल्द महसूस हो गया था कि किसी भी सेना को एकजुट करना, उनका दुश्मन से पूरी ताकत के साथ लड़ने को सुनिश्चित करना और सैनिकों के स्वास्थ्य को बनाए रखना, यदि उनकी यौन आवश्यकता का सही मात्रा में ख्याल न रखा गया, तो असम्भव होगा। इसलिए न केवल हथियार, युद्ध सामग्री, खाना और पोशाक मुहैया कराना बल्कि सैंकड़ों और हजारों की संख्या में वेश्याओं का बंदोबस्त करना भी, जिन पर युद्ध के पहले अथवा उसके खत्म होने पर वे अपना पागलपन झोंक सकें, उनका दायित्व हो जाता था जो इन सेनाओं को पालते थे और आदेशित करते थे। इसीलिये यह कहा जाता है कि एक व्यवसाय के तौर पर वेश्यावृत्ति, क्रम से घटित हो रहे धर्मयुद्धों के दौरान समृद्ध हुई और फूली फली। यह सोचना वास्तव में बड़ा संतोषजनक था कि महिलाएँ बड़े प्रभावशाली ढंग से इन युद्धों में जो बड़े पवित्र उद्देश्य के लिए लड़े गए (धर्मयुद्ध) जिसे कि यूरोप के व्यापारियों के लिए अरब द्वारा बंद रखे गए रास्तों को खोलना कहा जाता है, अपना योगदान दे सकने में सक्षम हुईं। सिर्फ एक ही साल में, धर्मयुद्धों को तेरह हजार से ज्यादा वेश्याओं के खाने और रहने की व्यवस्था करनी पड़ी। जब युद्ध खत्म हो गया तो यूरोपीय समाज को एक नई समस्या का सामना करना पड़ा जोकि इन महिलाओं की फौज के खाने और रहने की व्यवस्था करने की थी।

यूरोप के इतिहास में इस काल के दौरान बहुतेरे पुजारी, वेश्यालयों के संचालन में लगे हुए थे। उनमें से एक का नाम मेनेज था जिसके बारे में कहा जाता था कि 'उसके वेश्यालयों में उतनी ही वेश्याएँ है जितनी उसके पुस्तकालय में किताबें हैं'।[15]

यह भी स्वाभाविक ही था कि ऐसी स्थिति में यौन रोगों को बहुत तेजी से फैलना था और उसने महामारी का रूप ले लिया जिसने लगभग सभी बिरादरियों के स्वास्थ्य को जिन्दगी और मौत के खतरे में फेंक दिया था। उस समय के किसी यूरोपीय बादशाह ने यह घोषणा करवाई जिसमें कहा गया कि ये बीमारियाँ लोगों के खिलाफ ईश्वर के गुस्से का परिणाम हैं जिन्होंने धर्म को त्याग कर व्यभिचार के देवता के सम्मुख समर्पण कर दिया है।

इस बीमारी का कारण अज्ञात होने के कारण इसे स्त्री से ही जोड़ दिया गया और माकूल नाम ही दिया गया 'वीनस की बीमारी' (वीनस के नाम पर जो प्रेम की यूनानी देवी हैं) बाद में यही शब्दावली हर यौन बीमारी के लिए प्रयुक्त होने लगी गोनेरिया और सिफलिस के लिए भी जिसे आज यूरोप में यौन बीमारी के रूप में जाना जाता है। (Venere–वीनस)।

अतएव, एक बार फिर कहना ठीक रहेगा कि जैसे यौनाचार और पाप हव्वा के साथ जोड़े जाते थे वैसे ही बीमारियाँ जो यौन संबंधों के नतीजे के रूप में फैलती हैं उन्हें वीनस के साथ जोड़ा दिया जाता था। पुरुष शुद्ध और निर्दोष रहता था जबकि स्त्रियाँ दुष्टता, पाप और बीमारियों का स्रोत मानी जाती रहीं।

पूरे मध्यकाल के दौरान वेश्यावृत्ति सामाजिक जीवन का आधारभूत हिस्सा बन कर रही। सन् 1414 में जब बादशाह सिगिस्मंड, अपनी सेना का प्रधान, स्विट्जरलैंड के बर्न शहर पहुँचा तो वेश्यालयों के दरवाजे उसके और उसकी सेना के स्वागत के लिए पूरे खोल दिए गए। ऐसे गुंजायमान कर देने वाले स्वागत के बदले में बादशाह जलसे के बीच में खड़ा हुआ और सम्माननीय ऊँचे प्राधिकारी वर्ग को उनके इस गर्मजोशी से भरे सम्मान के लिए साधुवाद दिया।[16]

अठारहवीं शताब्दी में, जब वह व्यवस्था बननी शुरू हुई जिसे आज पुलिस के रूप में

जाना जाता है, वेश्यालयों को इस नए राज्य उपकरण के अंतर्गत ले आया गया। यह किसी नैसर्गिक गतिविधि से कहीं ज्यादा था क्योंकि शासक वर्ग अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए बनाई गयी संस्था पर प्रभावशाली निगरानी की इच्छा रखता था क्योंकि यह विशेष तौर पर संवेदनशील क्षेत्र था और इसे नियंत्रण के बाहर नहीं जाने देना था। अगला चरण वेश्यावृत्ति के व्यवसाय को बहुत सारे कानूनों द्वारा नियमित करने का था और आवश्यक चिकित्सकीय निगरानी को सुनिश्चित करना था ताकि यौन बीमारियाँ वेश्याओं के साथ रात बिताने वाले पुरुषों को न लगें। साथ ही, इसका भी कोई कारण नहीं बनता था कि वेश्याएँ राज्य के संरक्षण के बदले में भुगतान न करें जोकि उनके हितों की देखभाल करता है तो इसीलिये समय के साथ, इस व्यवसाय को भी टैक्स चुकाने पड़ने लगे। सरकार पूरी तरह से सहमत थी कि वेश्यावृत्ति एक लाभकारी व्यवसाय था और सर्वोच्च सत्ता के रूप में अपनी ताकत और प्रभाव का इस्तेमाल शासक वर्ग के रूप में करते हुए ऐसा कोई भी कारण मौजूद नहीं था कि क्यों ऐसे ऊँचे लाभकारी व्यवसाय से अपना हिस्सा नहीं लेना चाहिये चाहे वह व्यवसाय पाप और अधोगति का ही कारण क्यों न हो। राज्य को वेश्याओं के बटुए में हाथ डालने में तनिक भी शर्म महसूस नहीं हुई। यह वैसा ही था जैसा आज के दलाल करते हैं। कोई भी जो अपनी देनदारी से भागती थी उसे जेल में डाल दिया जाता था वह भी वेश्यावृती के आरोप में।

पतियों की विवाहेतर यौन संबंधों के लिए असीमित इच्छा के परिणामस्वरूप, स्त्रियों के बीच यह अहसास कि उनका मूल्य वेश्यावृत्ति के बाजार में शादी के बाजार से ऊँचा है और उनकी कीमत बड़ी है और बढ़ती हुई गरीबी के कारण जो ज्यादा गहन और संगठित वर्ग शोषण से जुड़ चुकी थी, वेश्याओं की संख्या गुणात्मक रूप से बढ़ गयी थी। वेश्यावृत्ति का फैलाव यौन रोगों से जुड़कर खौफनाक अनुपात को जन्म दे रहा था और समाज की अर्थव्यवस्था तथा उसके सदस्यों के स्वास्थ्य के लिए खतरा बन चुका था। नतीजे के तौर पर, सरकार ने आदेश जारी किये जिससे वेश्यावृत्ति अवैध घोषित कर दी गयी।

मिस्र में, सन् 1951 तक, वेश्यावृत्ति को राज्य द्वारा वैधानिक दर्जा मिला हुआ था और वह उसकी निगरानी करता था जब सरकार ने इसे बंद करने का निर्णय लिया। आज वेश्यावृत्ति बहुत सारे अरब देशों में गैरकानूनी है यद्यपि यह गुप्त रूप से या कभी-कभी खुले तौर पर भी चलाई जाती है। एक वेश्या सुरक्षित होती है अगर वह पुलिस या किसी प्रभावशाली आदमी की सुरक्षा में हो। वह जेल तभी जाती है जब वह गरीब हो या पुलिस तथा प्रभावशाली आदमी की इच्छा के खिलाफ हो गई हो तो।

ये सभी शिकार, चाहे वे वेश्याएँ हों, परित्यक्तायें हों या नाजायज संतानें इन सबको, चाहे पूर्व हो या पश्चिम एक ऐसी सभ्यता में जहाँ मर्द देवता है और अपने हित, इच्छाओं और सनकों को निर्णीत करने वाला है, पुरुष प्रभावी पितृसत्तात्मक सभ्यता की बलिवेदी पर आहुति देनी होती है। इससे अधिक और बेचैन करने वाला तथ्य और क्या होगा कि पिकासो जैसा प्रबुद्ध व्यक्ति, जो वर्तमान समाज के सामान्य जन-समुदाय में शीर्ष पर था, 14 करोड़ स्टर्लिंग की संपत्ति संपत्ति छोड़कर मरा हो और अपनी वसीयत में अपनी रखैल फ्रांस्वा गिलोट और उससे पैदा दोनों बच्चों बेटी पलोमा और और बेटा क्लौड को अपनी वसीयत में हिस्सा न दिया हो।[17]

गर्भपात और प्रजनन क्षमता

संतानों का प्रजनन, समाज में उत्पादन के किसी भी दूसरे रूप की तरह, आर्थिक तंत्र द्वारा

प्रभावित होता है साथ ही साथ पोषण और भौतिक संसाधनों द्वारा भी। अगर ये संसाधन बाशिंदों की संख्या की तुलना में दुष्प्राप्य हो जाएँ, तो समाज भूख और मौत के डर से मजबूर होकर, भौतिक उत्पादन और मानवीय प्रजनन के बीच संतुलन बनाए रखने के लिए, उन चीजों को भी स्वीकृति दे देगा जो कठोरता से वर्जित मानी जाती हैं यहाँ तक कि अपवित्र भी। इसे इन दो तरीकों में से एक को लागू करके किया जाता है : या तो भौतिक और पोषणगत संसाधनों के उत्पादन के स्तर को बढ़ाकर या जन्म दर को घटाकर।

पुराने जमाने में, विज्ञान और तकनीक इस हद तक विकसित नहीं हुए थे कि जब आवश्यकता हो तो मजबूती से पोषणगत संसाधनों को बढाया जा सकता हो न ही लोग गर्भ-निरोध और गर्भपात के बारे में अधिक जानते थे। सिर्फ एक ही हल था लोगों के पास कि बच्चों के जन्म लेने के बाद उनको मार दें। यह प्रक्रिया उन दिनों आपराधिक क्या यहाँ तक कि अनैतिक भी नहीं मानी जाते थी बल्कि यह करना बड़ा वांछनीय और सराहनीय माना जाता था। मातृ और पितृ भावनाएँ इस काम को करने में आड़े नहीं आती थीं जिसे आज हम बड़ा क्रूर और नृशंस कह सकते हैं क्योंकि आवश्यकता ही व्यवहार की पोषक मानी जाती है। भावनाएँ, नैतिक मूल्यों की ही तरह, अपने आपको आर्थिक और सामाजिक आवश्यकताओं के अनुसार बदल भी लेती हैं और अनुकूलित भी कर लेती हैं। लोग जब तक अपनी बुनियादी जरूरतों को पूरा नहीं करते और शारीरिक तथा मानसिक रूप से सुकून में नहीं आ जाते वे नैतिकताओं और धर्म जैसे मामलों को लेकर असल समझदारी विकसित नहीं कर सकते। एक भूखा आदमी सबसे पहले खाने के लिए पावरोटी तलाशता है अपनी पत्नी के चेहरे को ढँकने के लिए नकाब नहीं खरीदता। औरत की समस्या का केंद्र-बिंदु यह है कि उसका शरीर, ज्यादा स्पष्ट रूप से कहें, तो उसका गर्भाशय मात्र एक पात्र है जिसमें मनुष्य की जिन्दगी पनप सकती है। राज्य, मानवीय प्रजनन के साधनों को नियंत्रित और इन साधनों को आर्थिक व्यवस्था के हितों के सन्दर्भ में प्रस्तुत करने के उद्देश्य से, जिन्हें एक वक्त पर बलपूर्वक संभव बनाया जाता है, अपने नियंत्रण और आधिपत्य को स्त्री के शरीर तक व्यापक बना लेता है। और ऐसे स्त्री अपने शरीर का मालिकाना हक खो देती है और राज्य द्वारा इसका अधिग्रहण हो जाता है जो आधुनिक समय में सत्ता और कार्यपद्धति में लगभग वैसा ही है जैसा आदिम पितृसत्तात्मक व्यवस्था में पिताओं द्वारा होता था।

चूँकि वर्तमान इतिहास में बहुत सारे राज्य पूँजीवादी अथवा सामान्तवादी रहे हैं, स्त्री का शरीर, कठोर विधायी नियमों के अमल द्वारा, समाज पर शासन करने वाले पूँजीपतियों अथवा सामंती वर्गों की संपत्ति बन जाता है। ये कानून, हालाँकि, समय-समय पर राज्य की जरूरतों के हिसाब से अधिक श्रम के लिए, अथवा इसके विपरीत जनसंख्या की तीव्र वृद्धि से पैदा होने वाले डर का प्रतिकार करने वाली नीतियों को अमल में लाकर बदले जाते हैं।

यौन आजादी के नतीजे के तौर पर पैदा हुए बच्चे, आज स्वीडन के समाज में, चाहे वह विवाह के अंतर्गत हो या विवाह से बाहर, अविवाहित या विवाहित माँओं के लिए समान रूप से स्वीकृत और अभीष्ट माने जाते हैं। क्योंकि स्वीडन आज गंभीर रूप से जनसंख्या की कमी और इसीलिये श्रम की कमी से भी जूझ रहा है।

हालाँकि वे देश जो अति जनसंख्या की समस्या से जूझ रहे हैं, जैसे भारत और मिस्र, एक विवाहिता औरत (यहाँ अविवाहिता होने का तो सवाल ही कल्पना के परे है) को शायद ही दो या तीन बच्चों से अधिक बच्चे पैदा करने पर कोई सजा मिलती हो। मिस्र में एक कामकाजी औरत को तीसरी संतान के बाद उसके मातृत्व हितों से वंचित कर दिया जाता है

और ज्यादा से ज्यादा आवाजें इस पक्ष में उठ रही हैं कि उन्हें और तमाम लाभों जैसे तरक्की, समय समय पर बढ़ने वाले वेतन इत्यादि से भी वंचित किया जाय यदि वह दो से अधिक संतानों को जन्म देती है। ट्यूनीशिया और सोमालिया में, बावजूद इसके कि वे इस्लामी देश हैं, बढ़ती हुई जनसंख्या से लड़ने के साधन के तौर पर गर्भपात को वैधानिक बना दिया गया है। जबकि बहुत सारे इस्लामी देशों में गर्भपात आज भी अवैधानिक है क्योंकि यह मुसलमानी मान्यताओं के खिलाफ है।

अगर हम मानव इतिहास के भिन्न चरणों और समाज के विभिन्न प्रकारों के आधार पर धर्म और राज्य के रिश्तों की तुलना करें तो पायेंगे कि एक अकेले धर्म के लिए भी यह सदैव संभव रहा है कि पूरी तरह से निर्णायक और संकटकालीन मुद्दों पर भी विपरीत सिद्धांतों और अवस्था का अनुमोदन करे। सिद्धांत और परिस्थितियाँ अधिक से अधिक राज्य के सामाजिक-आर्थिक संरचना के आधार पर अपने को बदलती है और धर्म उन्हें जबरिया आरोपित करता है। इस बात का प्रमाण मौजूद है जिसमें ईसाई चर्च ने अपनी मुद्रा बार-बार बहुत सारे मुद्दों पर बुनियादी तौर पर बदली ताकि वह सामंवाद से पूँजीवाद के संक्रमण के अनुकूल हो जाय। इस बात का भी मजबूती से उल्लेख होना चाहिये कि मुस्लिम धार्मिक सत्ताओं ने पूरे हुनर के साथ, जब व्यवस्था गुलामी से सामंतशाही, सामंतशाही से पूँजीवाद और पूँजीवाद से समाजवाद की ओर बढ़ी, अलग-अलग समयों पर अरबी सरकारों की जरूरत के हिसाब से अपने विचारों और मुद्राओं में परिवर्तन किया।

इस्लामी धार्मिक सत्ताओं ने गर्भ निरोध और परिवार नियोजन के सन्दर्भ में अपने कभी न खत्म होने वाले रवैये में एक और विरोधाभासी मुद्रा को अख्तियार किया है। उनमें से कुछ यह मानते हैं कि इस्लाम ने परिवार नियोजन और यहाँ तक कि गर्भपात की भी सहमति दी है जबकि दूसरे मजबूती से अपने इस पक्ष पर अडिग हैं कि इस्लाम ने न केवल गर्भपात का विरोध किया है बल्कि गर्भनिरोधक के इस्तेमाल का भी विरोध किया है। गमाल अब्दुल नसीर **us1962 dsus'kuy pkVZj esa ifjokj fu;kstu** (Tanzeem El Osra) की आवश्यकता पर जोर देते हुए एक हिस्सा जोड़ा था 'उत्पादन के स्तर में बढाव और इसीलिये आदर्श जीवन शैली के मार्ग में मिस्रियों के लिए सबसे बड़े रोड़ों में से एक जनसंख्या वृद्धि है।' 1965 में परिवार नियोजनके लिए सर्वोच्च परिषद् का गठन धार्मिक सत्ताओं की सुनवाई के लिए किया गया और उनमें से एक ने भी ऐसे सर्वोच्च आदेश (नेशनल चार्टर 1962) का विरोध करने के लिए आवाज नहीं उठाई, उलटे कुछ लोग उत्साह में प्रतिस्पर्धा करते हुए इस बहस में इस सबूत के साथ शामिल हुए कि इस्लाम में ऐसी बहुतेरी दलीलें हैं जो परिवार नियोजन के समर्थन में हैं। अखबार, रेडियो और टेलीवीजन, भाषणों और कुरान की आयातों के जरिये, पूरी मेहनत से इन दलीलों का प्रसार करते रहे और परिवार नियोजन का सरकारी तंत्र दस साल तक लगातार काम करता रहा। गमाल अब्दुल नसीर सितम्बर 1970 में नहीं रहे। सिर्फ पाँच साल ही बीते थे और एकाएक बिना किसी चेतावनी के विश्व इस्लामी संगठन की संविधान सभा ने एक प्रस्ताव पेश कर दिया जिसमें परिवार नियोजन को हराम बता दिया गया। यह प्रस्ताव[18] निम्नलिखित बातों के साथ सामने आया :

चिकित्सकीय पद्धति द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि गर्भ को रोकने वाली दवाइयों का इस्तेमाल माँ को खतरनाक हानि पहुँचाने का कारण हो सकता है और उन बच्चों को भी जो इन दवाइयों का इस्तेमाल करने के बावजूद पैदा हो गए। बहुत सारी सतही दलीलें गर्भ निरोध के समर्थन में सामने रखी गयी हैं जैसे अति जनसंख्या, पर्याप्त पोषण उपलब्ध करा पाने की

कठिनाई, और शिक्षा का निम्न स्तर। ये सारी बातें किसी मतलब की नहीं हैं क्योंकि पवित्र कुरआन की आयत में इसका उत्तर मौजूद है—विधर्मी के डर के कारण अपने बच्चों को न मारो। वह (अल्लाह) तुम्हारे और तुम्हारे बच्चों के लिए सब कुछ देगा। तुम्हारी जरूरतें अल्लाह पर निर्भर हैं और वह उन्हें पूरा करेगा। जो अल्लाह के गुस्से से बच जाता है अल्लाह उसके लिए कोई दूसरा रास्ता निकालता है और उसकी जरूरतें ऐसे पूरी करता है कि वह उम्मीद भी नहीं कर सकता।[19]

फिर भी परिवार नियोजन परिषद् मिस्र में जारी रही है। कुछ धार्मिक सत्ताओं ने उपर्युक्त वक्तव्य का विरोध किया और दूसरे इस्लामी देशों ने गर्भ निरोध को इजाजत दी जैसे—मोरक्को, ट्यूनीशिया, ईरान, टर्की और इनमें से कुछ ने और आगे पहलकदमी करते हुए गर्भपात की इजाजत भी दी।

जहाँ तक इस्लाम के मूल तत्त्व का सम्बन्ध है, ऐसा कुछ भी कुरआन में नहीं है जो गर्भ निरोध का समर्थन अथवा विरोध करता है। कुरआन इस्लामी विधिशास्त्र और धर्मशास्त्रीय अनुशीलन का प्रारम्भिक स्रोत माना जाता है। इसके बाद पैगम्बर के उपदेश और शिक्षाएँ आती हैं और फिर इन शिक्षाओं से सामंजस्य बिठाती हुए धार्मिक दार्शनिकों और नेताओं के उपदेश और सबसे अंत में अनुमान, निष्कर्ष और समतुल्यताएँ। ये वे तीन वैध स्रोत हैं जो कुरआन के पूरक के तौर पर प्रयोग में तब लाए जाते हैं जब किसी समस्या का कोई हल निकालने की आवश्यकता आन पड़े। अपने कुछ उपदेशों में मुहम्मद (Ahadith) लोगों से प्रजनन करने और वृद्धि करने का आवाहन करते हैं वहीं दूसरी ओर किसी और मौके पर बच्चों की संख्या में कमी और उसके सीमांकन की बात करते है। यही इस्लाम के दार्शनिकों और विधि-विद्वानों पर भी लागू होता है। जो अंतर्विरोध और सम्मतियों में अंतर मुहम्मद की शिक्षाओं में प्रत्यक्षतः दिखाई पड़ता है वह इसलिए है कि वे सारी शिक्षाएँ अलग-अलग परिस्थितियों का सामना करने के लिए दी गई थीं और अलग-अलग सन्दर्भों में अलग अलग वक्त पर कही गईं थीं। कुरआन की आयतें भी बहुत दफा भिन्न तरह की और परस्पर विरोधी सम्मतियाँ अभिव्यक्त करती हैं क्योंकि यहाँ भी समय और स्थान की भिन्नता है जब उनका जन्नत से अल्लाह की प्रेरणा के रूप में मुहम्मद पर इलहाम हुआ। धर्म को ईश्वर द्वारा भेजे गए अलग-थलग सिद्धांतों, शिक्षाओं और निर्देशों के आधार पर ठीक से तब तक नहीं समझा जा सकता है जब तक विशेष परिस्थितियों के साथ उनके आपसी अंतर्संबंधों को नहीं देखा जाएगा जिसमें से हर एक अपने सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक विन्यास के द्वारा पहचाना जाता है। यह हमेशा बहुत जरूरी है कि बड़े ध्यानपूर्वक उन सन्दर्भों को देखा पढ़ा जाय जिनमें ईश्वर अपने लोगों से बात करता है और समझाता है कि उन्हें क्या करना चाहिये।

इस्लाम की शुरुआत में, मुहम्मद का एकमात्र सबसे बड़ा काम मुसलमानी राज्य की स्थापना और मुस्लिम राष्ट्र को मजबूत करना था। इसीलिये उन्होंने अपनी संख्या को बढ़ाने का लोगों से आवाहन किया क्योंकि उस वक्त संख्या में श्रेष्ठ होना ताकत का आधार था और एक मजबूत सेना के निर्माण के लिए आवश्यक भी। मुहम्मद ने इस दौर में अपनी शिक्षा में लोगों को आदेश दिया कि 'शादी करो और प्रजनन करो। क्योंकि फैसले के दिन तमाम कौमों के बीच मुझे तुम पर गर्व होना चाहिये।' उन्होंने पुरुषों से कहा 'उससे शादी करो जो प्रिय और प्रजनन में सक्षम हो।'[20]

कुछ मुस्लिम धर्मशास्त्री और विधिज्ञ कुरआन की आयतों से गर्भ निरोध के विरोध के लिए समर्थन लेते हैं। आयतें जैसे, 'ऊँट अपने साथ अपने जीवन के साधन लेकर नहीं चलता,

अल्लाह उसके और तुम्हारे लिए मौजूद करता है'[21] अथवा 'अल्लाह खुले दिल से अपने उन यकीन करने वालों को जिनको वह चुनाव के लिए दुरुस्त मानता है सब बख्शाता है।'[22] यह भी कि 'तुम्हारा अल्लाह खुले दिल से उसको सब बख्शाता है जिसे वह मानता है क्योंकि वह सबसे शक्तिशाली है।'[23]

इन विचारों के समर्थन में, यह बात अक्सर कही जाती है कि मुहम्मद ने पूरे यकीन से यह बात कही कि माँ के गर्भ में भ्रूण के विकास के चौथे महीने में, मतलब एक सौ बीस दिन बाद 'अल्लाह एक फरिश्ते को भेजता है जो चार अत्यंत कठिन मामलों में संतान के भविष्य का फैसला लेता है : उसके जीवन जीने के साधन, इसका जीवन चक्र, और सुखी अथवा दुःखी जीवन।'[24]

हालाँकि मुहम्मद इस बात को लेकर सतर्क थे कि संख्या की बढ़ोत्तरी अच्छे स्वास्थ्य और ताकत के साथ जुड़ी हुई हो और वह कमजोरी, भेदभाव और स्वयं की परेशानियों में मुब्तिला न हो क्योंकि फिर वह सिर्फ एक आँकड़ा भर होकर रह जायेगी और जो सिर्फ एक अनावश्यक इजाफा ही होगा। यह एक राष्ट्र नेता की बड़ी स्वाभाविक सोच है जो अपने लोगों की मदद करना चाहता है और उन्हें ताकतवर बनाना चाहता है ताकि वे किसी भी तरह की बाधा और शत्रुओं का सामना कर सकें।

अपनी एक प्रसिद्ध शिक्षा में जो बहुत उद्धृत की जाती है मुहम्मद कहते हैं : बहुत संतानें होना और अत्यल्प जीविका होना ही सबसे बड़ी तबाही है। यह जुमला मिस्र में परिवार नियोजन परिषद् के द्वारा अपने नारे की तरह इस्तेमाल किया गया था। पैगम्बर ने एक दूसरे मौके पर एक और प्रसिद्ध उपदेश दिया : कौमें तुम पर ऐसे टूट रही हैं जैसे भूखे बर्तन पर टूटते हैं। तो उस समय उपस्थित एक व्यक्ति ने उनसे पूछ रूलेकिन क्या हम वास्तव में इतने कम हैं? और फिर मुहम्मद ने उत्तर दिया : नहीं तुम बहुत हो, पर बिखरे हुए हो जैसे लहर का झाग।[25] अभिप्राय यह था कि बड़ी संख्या अपने आप में झाग की तरह होती है जो पानी की लहर द्वारा बाहर फेंक दी जाती है—बिना काम की, बिना ताकत की।

मुहम्मद के समय में मुस्लिम गर्भ निरोधक युक्तियों के तौर पर बाहरी जननांगों पर स्खलन या स्खलन के ठीक पहले लिंग को बाहर खींच लेने (अब यहाँ से आगे इस प्रक्रिया के लिए लिंग प्रत्यावर्तन शब्द का प्रयोग किया जाएगा) के तरीके को इस्तेमाल करते थे। अल सहीहैन किताब में गबर को यह कहते हुए उद्धृत किया गया है : जिस समय जन्नत से अल्लाह के पैगम्बर पर कुरआन का इलहाम हुआ हम लिंग प्रत्यावर्तन का तरीका ही अपनाते थे।[26] शही मोसल्लम में उन्होंने कहा : हम पैगम्बर के समय में लिंग प्रत्यावर्तन की आदत को अमल में लाते थे। जब उन्होंने इसके बारे में सुना तो उन्होंने ऐसा करने से मना नहीं किया।[27] धर्मगुरु इमाम अल गजाली यह कहते हुए उद्धृत किये गए—यही ठीक बात कि लिंग प्रत्यावर्तन की इजाजत है।[28]

इस्लाम के मलिकी स्कूल के धर्मशास्त्री और विधिग्ज्ञ सहमत हैं कि गर्भधारण से बचने के लिए लिंग प्रत्यावर्तन की प्रक्रिया जायज है पर इसमें पत्नी की रजामंदी पर जोर डाला गया भले ही वह किसी भी उम्र की हो।[29]

इमाम जैद इब्न अली जैन अल आबेदीन के बताये अनुसार यमन का सबसे ताकतवर इस्लामी स्कूल, लिंग प्रत्यावर्तन को जायज ठहराता है यदि पत्नी को कोई ऐतराज न हो तो। साथ ही इमाम ने लिंग प्रत्यावर्तन को बिना किसी अपवाद के समर्थन दिया यदि लक्ष्य गर्भाधान से बचना हो तो।[30]

अल शिया अल गाफरेय ईराक, पाकिस्तान, अफगानिस्तान और सीरिया का प्रसिद्ध इस्लामी धर्मशास्त्र का स्कूल है। अपनी शिक्षाओं में उनका कहना है कि लिंग प्रत्यावर्तन गर्भाधान से बचने के लिए, अगर विवाह के समय पत्नी के साथ ऐसा करारनामा किया गया है तो माफ है।[31]

मुहम्मद के अनुसार लिंग प्रत्यावर्तन की क्रिया को 'मुक्त स्त्री' के साथ नहीं किया जाना चाहिये जब तक वह इसके लिए राजी न हो। अब्दुल्लाह इब्न अल तमीमी के शिष्य (जो आबदेया के नाम से जाने जाते हैं) जो अरबी प्रायद्वीप के पूर्वी हिस्से में ओमान क्षेत्र में और उत्तरी अफ्रीका के कुछ क्षेत्रों में बसे उन्होंने इस क्रिया को अनुमति इस शर्त पर दी कि यदि स्त्री को आपत्ति न हो तो।[32] उन्होंने निश्चित किया कि 'प्रत्यावर्तन संतान के जन्म से बचाव के लिए है अगर संतान ज्यादा हो गयी हैं और संतान के जीवन को खतरा है।'

इस्लाम के कुछ विधिज्ञों और दार्शनिकों ने प्रत्यावर्तन के अलावा कुछ और साधनों की भी अनुमति गर्भनिरोध के लिए दी है। उनमें से एक स्त्री के लिए है कि वह गर्भाशय का द्वार 'पानी' (वीर्य) से बचने के लिए बंद कर ले इससे गर्भाधान टाला जा सकता है। कहा जाता है कि यह साहब अल बह्र की सलाह पर इब्न अब्दीन द्वारा व्याख्यायित है जो इस्लामी सिद्धांत के अल हनीफी स्कूल के विधायकों में से एक थे। इसमें पुनः स्त्री की पहले इजाजत लेनी जरूरी कही गई है।[33]

अल जरकाशी ने विशेष औषधि के इस्तेमाल से भ्रूणों के पनपने से पहले ही उसे खत्म करने की बात कही है। स्खलन के बाद औषधि के इस्तेमाल पर वे कहते हैं : कुछ क्रियाओं द्वारा गर्भाधान को रोकने के साधन उदाहरण के तौर पर यौन सम्बन्ध के दौरान स्खलन के पहले यदि वह लिए जा रहे हों तो उसमें कोई आपत्ति नहीं है।[34]

अल अजहर विश्वविद्यालय में फतवा (धार्मिक सैद्धांतिक दिशा निर्देश अथवा व्याख्याएँ) पर समिति ने घोषणा की :

इस्लामी सिद्धांत के अल हनीफी स्कूल के कहे अनुसार कुछ वक्त के लिए गर्भ निरोध से बचने के लिए औषधि का इस्तेमाल वर्जित नहीं है। इस कारण के लिए समिति इस नजरिए का समर्थन करती है। क्योंकि यह लोगों के लिए चीजों को आसान बनाता है, और शर्मिंदगी से भरी किसी भी भावना से बचाता है, विशेषतः यदि स्त्री के अतिशय गर्भाधानों का डर हो या गर्भाधानों की बारंबारता से पैदा कमजोरी वजह हो। सर्वशक्तिमान अल्लाह ने फरमाया है : अल्लाह तुम्हारे बोझ को कम करना चाहता है चीजों को और जटिल नहीं बनाना चाहता है।[35]

पूरे मध्यकाल के दौरान, मुस्लिम चिकित्सक, गर्भ निरोध के साधनों के बारे में लोगों को बताने का काम करते थे। उनमें से एक प्रसिद्ध चिकित्सक अबू बक्र अल राजी, एक पर्शियन मुस्लिम, जो नौवीं शताब्दी के मध्य तेहरान के नजदीक पैदा हुआ। वह इस्लाम में महानतम चिकित्सक माना जाता है और मध्यकाल का भी सबसे बड़ा चिकित्सक कहलाया। अपनी किताब अल हावी (जो सब समेटे है और जिसमें सारी व्याख्याएँ हैं) में उसने गर्भ निरोध के विभिन्न साधनों का वर्णन किया है :

कभी कभार गर्भाशय में वीर्य का प्रवेश रोकना जरूरी हो जाता है जब गर्भाधान स्त्री के लिए खतरनाक सिद्ध हो। कुछ ऐसे उपाय उपलब्ध हैं जो वीर्य को गर्भाशय में जाने से रोकते हैं। पहला है लिंग प्रत्यावर्तन दूसरा है स्खलन को पूरी तरह से रोक लेना यह कुछ लोगों द्वारा अमल में लाया जाता है। तीसरा तरीका है कि कोई औषधि गर्भाशय के द्वार पर यौन सम्बन्ध बनाने के पहले रख दी जाय। ये औषधियाँ या तो द्वार को बंद करने वाली होती हैं या वीर्य को बाहर रखती हैं इसलिए गर्भाधान से बचाव हो जाता है। उदाहरण के तौर पर

बंदगोभी के पत्ते, हंजल के वृक्ष, बैल के पित्त की टिकिया और गोलियाँ, जानवरों के कान से निकलने वाला मोम या मैल, हाथी की लीद, चूने का पानी ऐसी ही औषधियाँ हैं। ये औषधियाँ अलग अलग प्रयोग में लाई जा सकती हैं या फिर भिन्न किस्म के संयोजन के साथ।[36]

अबासिद खलीफा के बगदाद में अली इब्न अल अब्बास अल मेगौसी नाम का एक और महान चिकित्सक था जिसने गर्भ निरोध के समर्थन में दसवीं शताब्दी के मध्य में लिखा :

औषधियाँ जो गर्भाधान का निरोध करती हैं, यद्यपि उनका प्रयोग बदनाम औरतों की रक्षा के उद्देश्य से नहीं किया जाना चाहिये फिर भी उन औरतों को इसका इस्तेमाल करने से बचाया नहीं जा सकता जिनके पास छोटा गर्भ है या फिर जो इस तरह की बीमारी से जूझ रही हैं जो गर्भाधान को उनके लिए जोखिम बना देती हैं यहाँ तक कि प्रसव के समय उनकी जिन्दगी को भी खतरे में डाल सकती हैं।[37]

अली इब्न अब्बासी को चिकित्सा की उत्कृष्ट जानकारी होने के बावजूद, उनकी समाज, पितृसत्तात्मक परिवार और अवैध संतानों के बारे में जानकारी बड़ी सतही थी। नहीं तो उन्हें यह पता होना चाहिये था जिन औरतों को वे बदनाम औरतें (वेश्या) कह रहे हैं उन्हें ही किसी से भी ज्यादा गर्भ निरोधक साधनों की आवश्यकता थी। इससे वे अपने बच्चों को आवारागर्दी, शर्म और यहाँ तक कि मौत से भी बचा सकती थीं और अवैध संतान के बोझ से अपने स्वास्थ्य तथा सम्मान की रक्षा कर सकती थीं, जोकि पुरुषों के साथ यौन सम्बन्ध बनाने से पैदा होता था। एक यौन सम्बन्ध, जिसे एक परिस्थिति के परिणाम के रूप में स्वीकार करने के लिए मजबूर होना पड़ा, जिसमें वर्ग- समाज की अमानवीय संरचना जो पितृसत्तात्मक परिवार इकाई पर आधारित थी के कारण वे हाशिये पर ढकेल दी गई थीं।

दूसरा सुपरिचित दार्शनिक इस्लाम में, इब्न सीना था जो सन 1037 में मरा। इब्न सीना ने अपनी किताब अल कानून फिल तिब (चिकित्सा के नियम), उस समय जब वैज्ञानिक प्रगति अपनी प्रारम्भिक स्थित में थी, में बीस अलग अलग तरह के गर्भ निरोधक साधनों का जिक्र किया जो कि उल्लेखनीय रूप से अचूक और अपनी प्रविधि में विस्तार से वर्णित किये गए थे।[38] ये साधन सैंकड़ों सालों से अमल में आते रहे थे और बहुत बार इब्न सीना के बाद आये चिकित्सकों द्वारा बताये साधनों से भी ज्यादा अचूक थे। हालाँकि, सब नहीं तो ज्यादातर चिकित्सकों को वह (इब्न सीना) इन गर्भ निरोध साधनों को सिर्फ चिकित्सा कारणों के लिए ही बताता था। वह किसी भी तरह से गर्भ निरोध को अमल में लाने के सामाजिक और आर्थिक कारणों से कोई सम्बन्ध नहीं रखता था यहाँ तक कि व्यक्तिगत अथवा परिवार के स्तर भी नहीं।

यूरोपीय चिकित्सा ने इस्लाम में अरब चिकित्सकों के द्वारा खोजे और अनुसरण किये गए ज्ञान और तकनीक से बहुत कुछ विरासत में लिया। वे, जैसे इब्न गामी की अल इरशाद, ताजकरात दाऊद अल अन्ताकी (एंटीयोक के दाऊद के नुस्खे), इस्माइल अल गिर्गानी और किताब अल मालकी जैसे स्रोतों तक भी गहन अध्ययन के बाद पहुँचे।

बहुत सारे लोग इस बात को लेकर भ्रम में हैं और सोचते हैं कि गर्भ निरोधक साधनों और जन्म निरोध के विचारों के आविष्कारक पश्चिमी विज्ञान और विचार थे। दूसरे इस बात को लेकर सुनिश्चित हैं कि रबर का कॉन्डम जो यौन समागम में पुरुष द्वारा पहना जाता है वह पश्चिम की पैदाइश थी। जबकि इमाम अल गजाली ने अपने लेखन में बहुत पहले 'पुरुष का चर्म थैला' अथवा 'निवारक अनुचर' का जिक्र कर दिया था जो आँत की झिल्ली से बनाया जाता था।

अरब देशों द्वारा गर्भनिरोध के सवाल पर लिया गया पक्ष, जनसंख्या के आकार और वृद्धि दर तथा उत्पादन से उनके सम्बन्ध और देश के आर्थिक तथा भौतिक संसाधनों के आधार पर बदलता रहता है। कुवैत और सऊदी अरब में गर्भ निरोधक मात्र चिकित्सकीय वजहों से इस्तेमाल में लाने के लिए कहा जाता है। हालाँकि दूसरे देशो जैसे मिस्र और ट्यूनीशिया में सरकार परिवार नियोजन कार्यक्रम चला रही है। यही हाल अन्य मुस्लिम देशों जैसे पाकिस्तान, ईरान और टर्की में है। सवाल का मूल बिंदु और वह कारण जिसकी वजह से एक या दूसरा पक्ष मौजूद है वह असल में धर्म से संबंधित नहीं है बल्कि आर्थिक कारकों से जुड़ा है।

परिवार नियोजन और जन्म निरोध के मुद्दे सबसे पहले मिस्री प्रेस द्वारा लगभग चालीस साल पहले उठाये गए थे 29 जनवरी 1937 में। जब मुफ्ती अल दियार अल मसरिया (मिस्र के धार्मिक सर्वोच्च गुरु जो सिद्धांतों के व्याख्याता थे) से जन्म निरोध और गर्भपात के चिकित्सकीय और सामाजिक पहलुओं पर इस्लाम की स्थिति स्पष्ट करने के लिए कहा गया।[39] मुफ्ती के उत्तर कुछ इस तरह से थे :

1. यह विवाहित जोड़े का अधिकार है कि वे जन्म निरोध के लिए व्यक्तिगत उपायों को चिकित्सकीय या सामाजिक कारणों से इस्तेमाल कर सकते हैं। दोनों सहयोगियों की सहमति आवश्यक नहीं है।
2. गर्भावस्था शुरू होने के सोलह हफ्ते खत्म होने के पहले, बिना माँ के जीवन को खतरे में डाले समुचित और पर्याप्त निर्देशन में ऐसे साधन और औषधियाँ ली जा सकती हैं जो गर्भपात के लिए सहयोगी हों।
3. सभी धार्मिक इमाम सहमत हैं कि इस अवधि के खत्म हो जाने पर किसी भी सूरत में गर्भपात नहीं किया जाना चाहिये।

अतः यह स्पष्ट है कि गर्भ निरोधक और गर्भपात गर्भावस्था के पहले सोलह हफ्तों के भीतर 1937 में मिस्र की धार्मिक सत्ताओं द्वारा मान्य था, ऐसे वक्त में जब बहुत से यूरोपीय देशों में वे कानून द्वारा प्रतिबंधित थे। इसी साल मिस्री मेडिकल एसोसियेशन ने एक सेमिनार आयोजित किया जिसका उद्देश्य इन सवालों के सभी पहलुओं का अध्ययन करना था चाहे वह चिकित्सकीय, सामाजिक, विधिक, धार्मिक अथवा सांख्यिकीय हो।

जबकि मिस्री विधि ने सुनिश्चित तरीकों द्वारा गर्भनिरोधक को अमल में लाने की इजाजत दे दी है पर आज तक गर्भपात अवैध ही है। कुछ अरब देशों जैसे ट्यूनीशिया और सोमालिया ने गर्भपात को कानूनी कर दिया है पर उनमें से बहुतों में अभी भी वैधानिक गर्भपात की मनाही है जबकि धार्मिक रूप से स्वीकृत साधनों के रूप में सोलह हफ्ते की समाप्ति के पहले के बिलकुल साफ सुथरे नजरिये का समर्थन बहुत सारे देशों में इस्लामी सत्ताएँ करती रही हैं और आवाजें उठाती रही हैं जैसा कि हमने मिस्र में देखा है।

इमाम अल गजाली (अल शफी सिद्धांत के स्कूल के) और इब्न गाजी (मालिकी सिद्धांत के स्कूल के) दो धारणाएँ प्रस्तुत करते हैं जिनमें गर्भावस्था के किसी भी दौर में गर्भपात का कठोरता से विरोध किया गया है।

इस्लाम के भीतर कुछ धार्मिक सत्ताएँ मानती है कि गर्भावस्था के एक सौ बीस दिन के अन्दर गर्भपात की मनाही धर्म के द्वारा नहीं है जैसाकि हनाफी स्कूल की शिक्षाओं में मिलता है जिसे अल कमाल इब्न अल हमाम द्वारा उद्धृत किया गया।[40]

धार्मिक सत्ताएँ जो गर्भपात को चौथे महीने के अंत के पहले करने की इजाजत देती हैं उनका कहना इस तर्क पर आधारित है इस समय तक भ्रूण इंसानी जिन्दगी में तब्दील नहीं

होता। पैगम्बर ने अपनी शिक्षा में इसे स्पष्ट कर दिया कि अल रूह (जीवन) एक सौ बीस दिन के पहले भ्रूण में नहीं जागता।[41] इब्न वहाबन अल हनफी ने अपनी शिक्षाओं में इस निर्देश का जिक्र किया : यह निश्चित तौर बड़ा संकट का वक्त होता है यदि गर्भ धारण के बाद के बाद माँ का दूध सूख जाय जबकि पिता के पास ऊँट या बकरी भाड़े पर ले सकने के पैसे भी न हों' तब वे कहते हैं 'ऐसे मामले में गर्भपात की सहमति देना एक चूक से ज्यादा और कुछ नहीं माना जाएगा जिसका मतलब है कि इसे हत्या के अपराध के रूप में निंदनीय नहीं माना जाएगा।[42]

यदि गर्भावस्था के शुरुआती चार महीने बीत चुकने के बाद जब तक कि यह सिद्ध न हो जाय कि गर्भपात माँ के जीवन को बचाने के लिए जरूरी है जिसकी कुर्बानी बच्चे के लिए नहीं दी जा सकती क्योंकि वही उसकी जिन्दगी का स्रोत है' धार्मिक सत्ताएँ गर्भपात का विरोध करती रहती हैं और गर्भपात कराने पर हर्जाने का दबाव डालती रहती हैं। ऐसे मामले दो बीमारियों में कम बड़ी बीमारी को चुनने की श्रेणी में डाले जाते हैं जोकि धार्मिक न्यायशास्त्र और विधि के सामान्य सिद्धांतों में से एक है। मोरक्को का फौजदारी कानून इसी इस्लामी कानूनी सिद्धांत पर टिका है। अनुच्छेद 453 कहता है : गर्भपात दंडनीय अपराध नहीं है यदि वह माँ के खतरे में पड़े जीवन को बचाने के लिया किया जाता है। इसे खुले तौर पर प्रशासनिक सत्ता को सूचित करके चिकित्सक या सर्जन द्वारा किया जाता है।'[43]

वैवाहिक जीवन में या उससे बाहर, एक अरबी औरत जिन सबसे बड़ी समस्याओं से जूझती है उनमें से एक है—गर्भावस्था और शिशु जन्म। अगर एक गरीब लडकी बिना विवाहित हुए गर्भवती हो जाती है तो उससे अधिक दयनीय और कोई नहीं। वह इसकी कीमत अपनी जान से भी चुका सकती है, चाहे गलती उसकी न हो, चाहे वह सिर्फ एक गरीब असहाय बच्ची हो जिसे एक अमीर ऊँचे वर्ग से आने वाले पुरुष ने बर्बाद किया हो या धोखा दिया हो। एक अमीर परिवार की लडकी इस किस्म की नियति से नहीं गुजरती क्योंकि उसके परिवार वाले जैसे ही ऐसी समस्या पैदा होती है वैसे ही तेजी से उसका कोई हल ढूँढ लेते हैं। संभवतः उसकी शादी किसी निम्न सामाजिक हैसियत के मर्द से करा दी जाती है जो बहादुरी का नकाब पहनकर सामने आता है कि वह एक असहाय लडकी की सहायता के लिए आगे आया है, पर असलियत यह है कि वह एक पैसे वाली लडकी से शादी करके खुश है। बैकल्पिक तौर पर, यदि वह पुरुष जो इस कृत्य का दोषी है वह शादी करने से मना कर देता है और अगर कोई दूसरा योग्य व्यक्ति स्वेच्छा से सामने नहीं आता तो वे उसे चिकित्सक के पास ले जाते है क्योंकि उनके पास पैसा है और वे नाजायज गर्भपात पैसा देकर करवा सकते हैं। एक गरीब कामकाजी औरत के जीवन में गर्भावस्था और गर्भपात एक न खत्म होने वाली मुसीबत की तरह होते हैं चाहे वह शादीशुदा हो तब भी। घर के तमाम थका डालने वाले और दबाव से भरे कामकाज के बीच वह पूरी कोशिश करती है कि वह बारबार और लगातार गर्भवती होने से बच सके। ऐसे वक्त में वह परिवार नियोजन को अमल में लाने के लिए गर्भनिरोधकों के इस्तेमाल को बढ़ावा देने वाली सरकारी योजनाओं के बारे में सुनती है। फिर भी उसके लिए इन साधनों का इस्तेमाल करना आसान नहीं होता और वह तमाम बाधाओं का सामना करती है अपनी आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और यहाँ तक कि धार्मिक पृष्ठभूमि के परिणामस्वरूप। नतीजे के तौर पर अरब देशों में बहुत सारी पत्नियाँ निरंतर तनाव में जीती हैं। वे हमेशा गर्भवती होने के डर में जीती हैं और पाले जाने वाले नए बच्चे के बोझ में।

जैसा कि उम्मीद की जानी चाहिये, अरब समाजों में गर्भ-निरोधक के इस्तेमाल की पूरी

जिम्मेदारी औरत के कंधे पर डाल दी गई है। उससे खुद ही इन सारे मामलों से निपटने की उम्मीद की जाती है कि वह गोलियाँ खरीदे, उन्हें ले, और उनसे पैदा होने वाले दुष्प्रभावों को झेले। या फिर वह क्लिनिक जाकर लूप लगवाए और उसे निकलवाये जब पेट का दर्द तेज हो या रक्तस्राव ज्यादा होने लगे। अगर इन सभी साधनों का इस्तेमाल नाकामयाब हो जाता है और दूसरे बच्चे की समस्या को वह झेलना नहीं चाहती है तो उसके पास नाजायज गर्भपात कराने के अलावा और कोई चारा नहीं होता। फिर उसे हर उस खतरे के लिए तैयार होना होता है जो नामुनासिब परिस्थितियों और अनुपयुक्त चिकित्सा एहतियातों के बतौर सामने उपस्थित हो सकता है। या फिर वह अच्छे चिकित्सक के पास जाती है और जितना वह माँगे उतना पैसा उसे देना होता है जोकि ज्यादा ही होता है क्योंकि गर्भपात अवैध है इसलिए ज्यादा पैसा लिया जाता है। ज्यादातर अरब देशों में गर्भपात की शल्यक्रिया अभी भी एक अवैध प्रक्रिया ही है और यह एक ऐसा क्षेत्र है जिसे अँधेरे में रखा जाता है। कितनी शल्यक्रियाएँ की गईं उनका कोई आँकडा मौजूद नहीं रहता। कुछ अस्पतालों में बस एक कच्चा आकलन होता है जबरिया और जटिल गर्भपात के मामले के नामांकन के नतीजे के तौर पर।

यह देखा जा सकता है कि असाध्य और दूसरी बीमारियों के कारण होने वाली गहन बीमारियों के लिए होने वाली शल्यक्रियाओं का अनुपात बहुत तेजी से गिर रहा है। दूसरी ओर, माँ के मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य के लिए होने वाली शल्यक्रियाओं का अनुपात बढ़ा है। यह प्रत्यक्ष है कि यह कम से कम औपचारिक दृष्टिकोण से गर्भपात से जुड़ी कानूनी शर्तों को पूरा करने के उद्देश्य को प्रदर्शित करता है। आमतौर पर जब, मानसिक और मनोवैज्ञानिक कारण मौजूद होते हैं तो वे मरीज के सामाजिक और आर्थिक पर्यावरण के साथ सीधा जुड़ा करते हैं। ऐसे कारणों को कानून गर्भपात के लिए विधिक कानूनी वजह नहीं मानता है। इसलिए लोग और चिकित्सक मिलकर कानून को धता बता देते हैं पर यह तभी होता है जब अपेक्षित पैसा मौजूद हो।

उपर्युक्त परिणाम स्वरूप, यह भी देखा गया है कि समृद्ध और सम्पन्न परिवारों की महिलाओं के गर्भपातों की संख्या समाज के निचले तबके की गरीब महिलाओं की संख्या से तीन गुनी है, उपलब्ध आँकड़ों के आधार पर। चिकित्सा व्यवसाय निश्चित तौर पर इन आँकड़ों के पीछे की संचालक शक्ति है क्योंकि पैसा एकमात्र साधन है और जरूरतमंद औरत के लिए गर्भपात कराना ही एकमात्र विकल्प होता है।

प्रोफेसर इस्माइल रगब (इन शम्स विश्वविद्यालय से) ने जहाँ तक गर्भपात का सम्बन्ध है चिकित्सा व्यवसाय को दो भागों में विभक्त किया है[44]—एक अल्पसंख्यक वर्ग, जो शल्यक्रिया को करने के लिए तैयार है और हर तरह से कानून की आँखों में धूल झोंकता है अधिक से अधिक पैसा कमाने की फिराक में; दूसरा बहुसंख्यक वर्ग, जो स्वयं इस प्रक्रिया को तो करने से इंकार करता है पर अपने मरीज को विचारार्थ उस चिकित्सक के पास भेजता है जो इस किस्म के काम को बखूबी करने के लिए जाना जाता है, इस बात को जानने के बावजूद कि विचारार्थ भी ऐसे चिकित्सक के पास भेजना अपने आप में गैर कानूनी काम है।

गर्भपात, अरब समाजों में स्त्रियों और यौनाचार से जुड़े अन्य बहुत सारे मामलों की तरह, एक ऐसा मामला है जो अंतर्विरोध द्वारा बहुत नोचा खसोटा गया है और जोकि पितृसत्तात्मक वर्ग समाज में पैवस्त दोहरे नैतिक मानदंडों को प्रदर्शित करता है।

मिस्र में आकलन बताते हैं कि गर्भावस्था के चार मामलों में एक नाजायज गर्भपात पर खत्म होता है। परिणाम हर साल बड़े गंभीर उलझनों की आमद वाला होता है। उलझनें, जिसकी

शिकार सबसे ज्यादा गरीब वर्ग की महिलाएँ होती हैं। नाजायज गर्भपात एकमात्र सबसे बड़ा कारण है वर्तमान मिस्र में गर्भवती माँओं के मरने का।

इसमें कोई संदेह नहीं कि अविवाहित स्त्रियों के साथ स्थिति और भी भयावह है। यह न केवल चिकित्सकीय दृष्टिकोण से बल्कि सामाजिक और नैतिक दृष्टिकोण से भी सच है। सबसे नियमित मामले गरीब घरेलू नौकरानियों के होते हैं जोकि अमीर या मध्य वर्ग परिवारों के लड़के या पति के हमलों का शिकार बनती रहती हैं। एक छोटा वर्ग उन जवान लड़कियों का भी है जिन्होंने पुरुषों की उनसे शादी करने की सौगंध पर यकीन कर लिया जो कभी फलीभूत ही नहीं हुई।

यह तथ्य है कि मिस्र में गर्भपात के बहुसंख्यक मामले अविवाहित स्त्रियों के नहीं हैं क्योंकि लगभग नब्बे फीसदी मामलों में पचीस से पैंतीस साल के बीच की विवाहिता माँएँ शामिल हैं। इनमें अस्सी फीसदी वे माँएँ हैं जिनके पहले से दो या तीन बच्चे हैं पर जिन्हें डर है कि उनका परिवार एक अतिरिक्त संतति के आर्थिक और सामाजिक प्रभावों को झेल नहीं पायेगा। मिस्र में अथवा बाकी अरब देशों में गर्भपात का वैधानिकीकरण, शल्यक्रियाओं की तीव्रता पर कोई उल्लेखनीय प्रभाव नहीं डालेगा जोकि जंगल की आग की तरह फैल रही हैं। पर यह सबकुछ को खुले में ले आने का सुअवसर देगा, दिन की रोशनी में। अभी यह शल्यक्रियाएँ आपराधिक प्रक्रिया के तौर पर गुप्त तरीके से छिपकर, ऊँचे दामों पर कालाबाजारी रूप में की जाती हैं। सैद्धांतिक तौर पर ही सही इसके जरिये गरीब वर्ग को भी संपन्न लोगों की तरह सेवाएँ मिलने की संभावना बनेगी और निश्चित ही जो भी सेवाएँ अभी उपलब्ध है उनसे कहीं बेहतर की ओर तेजी से बढ़ेंगी। लापरवाही से बचाव होगा और जटिलताओं में कमी आयेगी। गरीब महिलाएँ गर्भपात करा सकने में सक्षम होंगी, न्यूनतम चिकित्सा सुविधाओं और साफ-सफाई के साथ। भ्रूण को मिनटों में खींच निकालने वाले यंत्र के बढ़ते हुए इस्तेमाल से, बिना किसी सुन्न कर देने वाली चिकित्सा और बिना किसी दर्द के यह सेवा सच्ची और कारगर साबित होगी।

स्त्रीत्व, सौन्दर्य और प्रेम की बीमार मान्यताएँ

अरब समाजों की सबसे असाधारण कमियों में से एक यह है कि हम आलोचनात्मक रूप से उन मान्यताओं पर सोचने और उनके परीक्षण के अभ्यासी नहीं हैं जो हमें पुरानी पीढ़ियों से विरासत के रूप में मिली हैं और उनमें भी खासतौर पर जो स्त्रियों, यौनाचरण और प्रेम से जुड़ी हैं। बहुतेरे लोग सोचते हैं कि ये मान्यताएँ हम पर जन्नत से उत्तराधिकार के रूप में थोपी गई हैं जोकि वस्तुतः पितृसत्तात्मक और वर्ग-समाज के प्रतिबिम्बों से ज्यादा और कुछ नहीं है; जहाँ एक वर्ग दूसरे पर हुकूमत करता है और जहाँ मर्द औरत पर शासन करता है।

सम्मान और प्रेम के सिद्धांतों में पहला सिद्धांत यह है कि किसी को भी दूसरे को अधीन नहीं बनाना चाहिए। अगर एक अमीर आदमी, गरीब आदमी को उत्पीड़ित करता है तो यह उत्पीड़न, सम्मान की अवधारणा के खिलाफ जाता है। यदि कोई पुरुष स्त्री पर स्वामित्व जताता है जैसे कि वह उसकी संपत्ति हो तो यह सम्बन्ध किसी भी अर्थ में सम्मानित नहीं माना जा सकता है। सम्मान, मानवीय अधिकारों में न्याय और समानता की स्थिति है। एक सम्मानजन्य प्रेम वह प्रेम है जो न्याय और समानता पर आधारित होता है।

सच्चे प्रेम की शर्तों में एक है—आदान-प्रदान। और आदान-प्रदान की आवश्यक शर्त है- संतुलन। दो सहयोगियों के बीच समानता। आदान-प्रदान मालिक और गुलाम के बीच संभव

नहीं होता, ऊँचे और नीचे के बीच स्थापित नहीं होता, जैसे कि पानी बिना किसी विशेष हस्तक्षेप के ऊपर की ओर नहीं जा सकता वैसे ही एक सच्चा प्रेम किसी ऐसे रिश्ते पर आधारित नहीं हो सकता जो किसी भी तरह के उत्पीड़न के चरित्र पर टिका हो। इसलिए यह कहना उचित ही होगा की बहुतेरे स्त्री-पुरुष सम्बन्ध सच्चे प्रेम पर आधारित नहीं होते। प्रेम, जो मिस्र के गानों से उमड़ता और टपकता दिखाई देता है और आहों-पुकारों में धड़कता रहता है, वह सच्चा प्रेम नहीं है। न तो उन भावनात्मक आवेगों को प्रेम कहा जा सकता है जो अरबी साहित्य में स्त्री-पुरुष के बीच में या फिर प्रेम के विरह-विलाप की कहानियों में दिखाया-बताया जाता है। और न ही अंधे, दीवानगी के जुनून में पड़े या रूमानी प्रेम को सच्चे प्रेम की अभिव्यक्ति कहा जा सकता।

प्रेम महानतम अनुभव है जिससे मनुष्य गुजरता है। यहाँ तक कि इसी प्रेम के द्वारा यह संभव होता है कि स्त्री और पुरुष की शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक क्षमताएँ गहनता के चरमोत्कर्ष पर पहुँचती हैं और अपने अस्तित्व में गहरे उतरती हैं।

क्रियाशीलता प्रेम का महत्त्वपूर्ण घटक है। ख्याली प्रेम अथवा (Houb Ozri) बुनियादी तौर पर एक बीमार भाव है और यह क्रियाशीलता के गुण से वंचित रहता है। यह एक ऐसा प्रेम है जो अपने को हानि या नुकसान पहुँचाकर अपने को कामयाब प्रमाणित करता है और क्रियाशीलता की अपेक्षा भावनात्मक प्रतिक्रियाओं पर जीता है।

अरबी औरत जो मानसिक, यौन और मनोवैज्ञानिक दमन के अधीन है उसके पास अपनी क्रियाशीलता के त्याग के अलावा और कोई विकल्प नहीं होता। यह मात्र पुरुष है जिसे क्रियाशील होना है और औरत की भूमिका इतनी ही है की वह उसके क्रियाशील होने की प्रतीक्षा करे।

इसलिए अरब औरतों में जो निष्क्रियता देखी जाती है वह न तो उनका जन्मजात ही और न ही स्वाभाविक चरित्र है बल्कि यह समाज द्वारा उन पर थोपी जाती है। एक औरत को उसके नैसर्गिक लक्षणों से मुक्त करना, उसे उसके मनुष्य होने की जिम्मेदारी से भी मुक्त करना है या दूसरे शब्दों में, उसके मनुष्य होने के उस केन्द्रीय व्यक्तित्व और बुनियादी स्वभाव को छीन लेना है जो उसे जानवर होने से अलग करता है। लिहाजा अपनी आन्तरिकता से मुक्त हुई एक औरत, सिर्फ एक बाहरी त्वचा या लिफाफे के तौर पर ही छूट जाती है। वह अपनी मौलिकता से शून्य या कहें खोखली हो जाती है और सिर्फ बाहरी शारीरिक ढाँचा ही बचा रह जाता है। अतः उसके पास इसके अलावा और कोई दूसरा विकल्प नहीं बचता की वह स्वयं को इस बाहरी शारीरिक आवरण में कैद कर ले। इसको रगड़ कर साफ रखे, ध्यान रखे कि यह छूने में मुलायम रहे, समय-समय पर बेवजह उग आये बालों को हटाती रहे, कभी-कभी इसकी नग्नता की झलक भी देती रहे और फैशन में बदलाव के आधार पर इसे ढँकती-मूँदती भी रहे।

समाज इस तथ्य को उसके दिमाग में लगातार भरते रहने के लिए कुछ भी करता है कि वह एक देह है। और हर उस चीज का विशेष ख्याल रखता है जो इस विशुद्ध शारीरिक खोल से संबंधित है। अखबार, पत्रिकाएँ और विज्ञापन औरत को चर्बी की परत में लिपटे एक गोश्त की तरह, जिसे तरह-तरह की क्रीमों से लगातार मालिश की जरूरत है या फिर होंठों की तरह जोकि हमेशा सटीक रंगों से रंगे गए हों, की तरह ही संबोधित करते हैं।

लेकिन अरबी औरत को इस बाहरी खोखल में भी, इस बाहरी शारीरिक दिखावट में भी अपनी इच्छानुसार कुछ भी करने की इजाजत नहीं है। ये दूसरे हैं जिनको तय करना है कि उसे कैसा दिखना है। ये वे हैं जो पश्चिम की बड़ी-बड़ी राजधानियों में औरतों की जरूरत

के सामानों का उद्योग चला रहे हैं। बगदाद, काहिरा, ट्यूनिश की औरत वह कपड़े नहीं पहनी जिसकी उसे इच्छा है बल्कि वह पहनती है जो पेरिस और न्यूयार्क के पूँजीपति फैशन-उद्योग का बादशाह उसके लिए चुनता है।

पूँजीवादी उत्पादन, महत्त्व और जरूरत से संचालित नहीं होता बल्कि उद्योगों को चलाने वालों के मुनाफे से होता है। एक बड़े वर्ग की जनसंख्या वाले लोगों की अनिवार्य आवश्यकताएँ, द्वितीयक या गौण मामला है। उतनी ही सीमा तक इनकी पूर्ति की जाती है जहाँ वह मुनाफे की मशीन की निरंतर क्रियाशीलता को सुनिश्चित करती हैं और इसकी कार्य-पद्धति में बाधा पहुँचाने वाले जन-आक्रोश के तत्त्व को टाले रखती है। परिणामस्वरूप, विशेषतः, औरतों के लिए तैयार किये जाने वाले असबाब, अरबी देशों की आम जनता के लिए वस्तुतः आवश्यक नहीं होता क्योंकि वे सही मायनों में विलासिता के सामान हैं। उदाहरण के लिए क्या यह दावा करना संभव है कि लाखों औरतें जो अरबी देशों के खेतों और मिलों में पसीना बहाती हैं उन्हें अपने पसीने को सुखाने के लिए, जो उनके काम करने के समय में दिन-रात उनके जिस्म से सूखता ही नहीं है, डीओडरन्ट की जरूरत है?

यही वह बात है जो पागलपन से चीखते हुए विज्ञापनों के समूहगान को इतना जरूरी बनाती हैं। ये विज्ञापन अपने भड़कीले रंगों, उकसाऊ नारों, चित्रों अथवा लेटी, बैठी, खड़ी, पुरुष के गले लगती, उसे चूमती या उसके आँखों में देखती, अर्द्धनग्न औरतों के रेखांकनों के जरिये से कस्बों और शहरों के उन हिस्सों को घेरते हैं जो आँखों के द्वारा आसानी से देखे जा सकते हैं। सस्ते यौनाचार का जमावड़ा जो उन लोगों का ध्यान आकर्षित करने के लिए एकजुट किया जाता है जो उसे खरीद सकने में समर्थ हैं। इस प्रकार से यह छवियाँ उन देशों में प्रचारित की जाती हैं जहाँ लाखों लोग अभी भी रोटी, कपड़ा और मकान के रूप में जीवन की बुनियादी जरूरतों को जुटा सकने में अक्षम हैं। दुनिया के बहुत बड़े पूँजीवादी फैशन घर, निश्चित ही अरबी समाज की उन मनोवैज्ञानिक और यौन जरूरतों का बखूबी अंदाजा लगाते हैं और उन्हें उपयोग में लाते हैं जहाँ नैतिक मान्यताओं की वजह से लोग यौन इच्छाओं से मरहूम कर दिए जाते हैं क्योंकि आदमियों और औरतों के बीच इन्द्रियजन्य और भावनात्मक संतुष्टि को पाप और अशुद्ध माना जाता है। लिहाजा पूँजीपति, समाज को संचालित करने वाले दोहरे नैतिक मापदंडों के लिये ठोस और मजबूत जिम्मेदारी के भाव को साझा करते हैं। इसके लिए एक ओर वे अरबी जनता को धार्मिक और नैतिक मान्यताओं पर दृढ़ रहने की आवश्यकता को मनवाने के लिए कड़ी मेहनत करते हैं जो इस्लामी श्रेणी-क्रम के द्वारा मन में बैठाये और प्रचारित किये जाते हैं और साथ ही धार्मिक रूढ़िग्रस्तता और कट्टरता को जिलाए रखने के लिए विपुल मात्रा में धन-राशि खर्च करते हैं तो दूसरी ओर फिल्मों में, टेलीवीजन में, पत्रिकाओं, विज्ञापनों और किताबों में स्त्री और यौनाचरण को अपने उत्पाद के व्यवसायीकरण के लिए मुख्य-विषय वस्तु की तरह इस्तेमाल करते हैं और पूरी तरह से उन सिद्धांतों और मूल्यों से मुँह मोड़ लेते हैं जो वे पहले से मन में उत्पन्न कराते रहते हैं। यह सब बड़ा अंतर्विरोधी लगता है, हालाँकि इसके पीछे बड़ा ठोस तर्काधार है। धार्मिक रूढ़िग्रस्तता, यौन दमन को उत्पन्न करती है और इसीलिये लोगों का मस्तिष्क यौनाचरण से जुड़े मामलों में तल्लीनता के साथ ग्रस्त हो जाता है। यह दमित यौन ऊर्जा, सबसे निपुणता से वस्तु-उपभोग के भीतर से अपना रास्ता बना सकती है और साथ ही उसके सभी यौन-पहलुओं के साथ भी इतनी सजीवता और सूक्ष्मता से जैसा विज्ञापन अभियानों में दिखाया जाता है और इसीके साथ दूसरी प्रकृति की मनोवैज्ञानिक और यौनगत प्रघटना पैदा होती है जोकि हिंसा, आक्रामकता नशे और शराब की लत के विभिन्न

रूपों और यौन विचलनों में प्रदर्शित की जाती है और सभी अन्य वर्गीय पुरुष प्रभुत्व वाले समाज के गौण उत्पाद के रूप में तथा औद्योगिक उत्पादन के आगामी व्यवसायीकरण के लिए इस्तेमाल की जाती है। इस तरह से यह सुनिश्चित करती है कि मुनाफे को अधिकतम स्तर पर बढ़ाया जाय और बरकरार रखा जाय।

यह ध्यान देने वाली बात है की पूर्वी समाजों के पुरुष अपने ध्यान को महिलाओं की जाँघ, पिंडलियों और कूल्हों पर केन्द्रित करते हैं, जबकि बीसवीं सदी के मध्य तक अमरीकी समाज में स्त्रियों के वक्ष का हिस्सा पुरुष रुचि को उत्तेजित करने के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण अंग माना जाता था। बड़े उत्तेजक स्तनों वाली अभिनेत्रियों के पास सिनेमा के संसार में प्रवेश का अथवा एक मशहूर कलाकार बनने का अच्छा मौका रहता था। आधी सदी के बाद उन लोगों के लिए फैशन की शैली और शिल्प में बदलाव आने लग गया था जो स्त्रियों की पुष्ट जाँघें और स्तनों को घूर-घूर कर थक गए थे। अब लम्बी पोशाकें मशहूर होने लगी थीं। जिनसे कि गले, कंधे और स्तन का एक बड़ा हिस्सा झलकता हुआ दिखाई देता था। स्तनों को इसीलिये अपनी नाप में घटना पड़ा क्योंकि बिना ढँके उनका उभरा हुआ दिखाई देना उन्हें फूहड़ और बदसूरत बना देता था। अब जो नया फैशन धीरे-धीरे सामने आ रहा है वह कमर और उदर के हिस्से को उभारने वाला है जोकि पूर्व की नकल का प्रयास है (भारत, इंडोनेशिया और ऐसे ही अन्य देश)।

दुनिया के पूँजीवादी व्यापारी और उनके लिए काम करने वाले, बदलावों को करते रहने से कभी थकेंगे नहीं। मुनाफे की दौड़ चलती रहनी चाहिए। और इसीलिये महिला शरीर के विभिन्न अंग उघाड़े जाते रहने चाहिए और उन्हें बार-बार उघाड़ते रहने के लिए बार-बार ढंकते भी रहना चाहिए। बेचने के लिए कितना सारा माल मौजूद है और संयोग से इन आधुनिक यौन परामर्शदाताओं की चालाकी को भाड़े पर मुहैया कराने के लिए स्त्री शरीर के कितने सारे अंग मौजूद हैं। पर शोचनीय दशा को प्राप्त मूल निवासी महिलाएँ जो आधुनिकतम मॉडल्स बनने की तड़प में इधर से उधर घूमती हैं और जो उत्सुकतापूर्वक कपड़ों और सजावट में नए फैशन का अंधा अनुकरण करती हैं बहुत कम जानती हैं कि वे अब औरत नहीं रह गयी हैं। उन्होंने स्वयं को वस्तु में बदल जाने की या फिर किसी वस्तु के हिस्से में बदल दिए जाने की अनुमति दे दी है। वे अब पूरी तरह से मनुष्य नहीं हैं। पर पूँजीवादी पुरुष प्रभुत्वशाली समाज के क्रूर और हिंसक दबाव के तले रूपांतरित हो गयी हैं—माल में, एक जोड़ी दस्ताने और जाँघिये में, कंगन या स्तनों में, जाँघों में—या सबसे अच्छा होगा यह कहना—योनि में और गर्भाशय में।

इस तरह के परिणाम ऐसे समाज में बेहद स्वाभाविक हैं जहाँ औरतों ने अपने व्यक्तित्व का अनिवार्य घटक खो दिया है, जो अपनी मानवीय गुणवत्ताओं से हीन हो चुकी हैं और एक पदार्थ, शरीर का अंग या उपकरण में कायांतरित हो चुकी हैं। कभी-कभी वे विज्ञापनों के लिए खरीद और उपभोग के उद्देश्य के लिए इस्तेमाल किये जाने वाला उपकरण होती हैं, कुछ मौकों पर आनंद, हवस और यौनसंतुष्टि का औजार अथवा बच्चों को गर्भ में रखने वाला बरतन या फिर वैवाहिक अवसरों पर खरीदे और बेचे जा सकने वाले असबाब की तरह उनका प्रयोग किया जाता है।

इसके परिणामस्वरूप, सामान्यतः जो वस्तुओं, उपकरणों और माल के साथ होता है वही कमोबेश औरत के साथ भी होता है। उसकी कीमत अधिक होती है जब वह नई होती है दूसरे शब्दों में कहें तो जवान होती है,एक कुँवारी लडकी जिसका पहले कभी इस्तेमाल नहीं

हुआ है। हर बार उसके इस्तेमाल के साथ उसकी कीमत गिरती जाती है जिसकी वजहें होती हैं शादी और मैथुन। इस तरह से वह एक दूसरे दर्जे की औरत होती जाती है। शील और नैतिकता की कसौटियाँ अपने मुख्य लक्षणों को स्त्री के लिए इसी बीमार और विक्षिप्त रवैये से अंकित करती हैं। एक औरत जिसके पास मर्दों और जीवन का अनुभव है वह एक भोली-भाली मासूम सी लडकी के बरक्स केवल कम कीमत की ही नहीं आँकी जाती बल्कि उपेक्षा के भाव से देखी जाती है जैसे कि अनुभवी होना उसका कलक है।

अरबी पुरुष और ऐसे मामलों में अधिकांश पुरुष अनुभवी और बौद्धिक महिला के साथ खडा होना पसंद नहीं करते। इसे ऐसे देखा जाय तो बेहतर होगा कि पुरुष स्त्री को, उनको पहचान लेने की क्षमता से, उनकी असफलताओं अथवा कमजोरियों को जब चाहे देख सकने की सामर्थ्य से डरते हैं। स्त्री बहुत अच्छी तरह से जानती है कि उसका पुरुषत्व असल नहीं है, वह कोई अनिवार्य सत्य की तरह नहीं है बस एक बाहरी खोल है जोकि वर्गीय और लिंगभेदी सामाजिक व्यवस्था द्वारा औरतों के लिए निर्मित है और उन पर थोप दिया गया है। स्त्री का अनुभव और बौद्धिकता इस पितृसत्तात्मक वर्गीय ढाँचे के लिए सबसे बड़ा खतरा है और इसके उलट उस झूठे और बनावटी दर्जे के लिए भी जहाँ पुरुष को स्त्रियों के लिए राजाओं और देवताओं की हैसियत वाला बना कर खड़ा कर दिया गया है। यही वजह है कि अनिवार्य रूप से बहुतेरे पुरुष बौद्धिक और अनुभवी औरतों से डरते हैं यहाँ तक कि नफरत करते हैं। अरबी मर्द उनसे शादी करने से कतराते हैं क्योंकि ये स्त्रियाँ रोजमर्रा व्यवहार में लाई जाने वाली शादी की संस्था में गहरे धँसे शोषण की प्रक्रिया को प्रकट करने में समर्थ हैं।

अगर शादी को औरतों के खिलाफ शोषण और विभेद से बनी संस्था की तरह चलाये रखना है और पति तथा पत्नी के अजनबीपन को जिंदा रखना है, बढ़ाते रखना है और जारी रखना है तब एक ही उत्तर है की भोली-भाली, अनपढ़ और जड़ औरत से शादी कर ली जाय। एक अरब पुरुष जब वह शादी का फैसला करता है तो लगभग स्थिर रूप से एक ऐसी अनुभवहीन बच्चे जैसी मासूमियत से भरी, जड़, अशिक्षित और गुड़िया जैसी जवान कँवारी लड़की को चुनता है जिसे अपने अधिकारों का आभास तक नहीं होता या फिर एक औरत के रूप में अपनी यौन इच्छाओं का या फिर इस तथ्य का कि उसके मस्तिष्क की अपनी जरूरतें, स्वप्न और आकांक्षाएँ होनी चाहिए।

व्यवस्थित तौर पर जब पुरुष शादी के जरिये औरत को खरीदते हैं जो उनकी सेवा-टहल कर सकती है, उनके सुखोपभोग का उपकरण बनी रह सकती है, उनके बच्चे पैदा कर सकती है परिवार के सदस्यों का इंतजार कर सकती है, घर में उनकी देखभाल कर सकती है तो वह अपने से बहुत कम उम्र की लडकी को चुनते हैं ताकि वह लम्बे समय तक अपनी जवानी को बनाए रख सके और उन सारे कामों को निभाना जारी रख सके जिसके लिए पुरुष ने उससे शादी की थी जब तक की वह बूढ़ा न हो जाय। चालीस साल का एक पुरुष बारह या पंद्रह साल की किशोर लडकी के साथ शादी करने में झिझकता नहीं है। ऐसा होना बहुत स्वाभाविक है जहाँ खरीदने और बेचने के कायदे ही शादी के लिए लागू होते हों। वह जो बाजार एक गुलाम को खरीदने या नौकर को किराए पर लाने के लिए जाता है निश्चित ही एक जवान व्यक्ति को जो लगातार बिना थके कठिन मेहनत कर सकने में सक्षम हो उसे ही चुनेगा। जो विचार कर सकने में अक्षम हो और जिसे आसानी से काबू में किया जा सकता हो और जो अपनी कामना-पूर्ति के लिए ढेरों माँगें न करता हो। थोड़ा खाए और ज्यादा चीजों की माँग न करे। लिहाजा मालिक को सुनिश्चित किया जाता है कि उसके पास ऐसा कोई

है जो उत्पादन तो भरपूर करेगा पर उपभोग कम से कम करेगा। और इस सौदेबाजी से उसका मुनाफा बढ़ेगा ही।

यह दर्शाता है कि क्यों अरबी पुरुष औरत को हमेशा जवान रहने वाले शरीर की तरह देखते हैं। उम्र के साथ महिला की कीमत गिरती जाती है। महिलाओं की उम्र, उनकी जवानी, उनकी खूबसूरती की ओर इस रवैये को इस पृष्ठभूमि के सापेक्ष आसानी से समझा जा सकता है। उनकी जवानी उतने सालों तक चलती है जिसमें वे अपने पति को यौन आनंद देने की क्षमता रखती हैं, उसके बच्चों को पालती हैं, परिवार की सेवा करती हैं। सामान्यतः यह तरुणाई की उम्र से बढ़ना शुरू हो जाती है। मतलब की माहवारी की शुरुआत से माहवारी के अंत तक। दूसरे शब्दों में यह परिवेश उसकी उपजाऊ उम्र को पूरी तरह से घेरता है लगभग पंद्रह साल की उम्र से पैंतालीस साल की उम्र तक।

एक महिला की जिन्दगी एक सामान्य मनुष्य की जिन्दगी से कम होती है जो लगभग मात्र तीस साल की होती है। एक बार जब उसकी माहवारी बंद हुई तो उसकी जिन्दगी भी खत्म मान ली जाती है और उसे नाउम्मीदी या निराशा की उम्र में पहुँचा हुआ मान लिया जाता है। (Sim El Ya'as)।

इस तथ्य के बावजूद कि एक औरत का जैविक और मनोवैज्ञानिक संविधान उसे एक पुरुष से अधिक जीवित रहने के लिए क्षमतावान बनाता है जोकि बहुतेरे शोध अध्ययनों से सिद्ध हो चुका है, समाज ने आदेश दे दिया है कि महिला का समर्थ जीवन पुरुष के जीवन का आधा होता है। चालीस से पैंतालीस की उम्र के बीच माना जाता है कि पुरुष मानवीय प्रौढ़ता (शारीरिक और मानसिक) के चरम पर होता है और उम्र के इसी पड़ाव को औरत की जिन्दगी का बंद अध्याय मान लिया जाता है, 'नाउम्मीदी का अध्याय'। यह वह समय होता है जब वह बौद्धिक, शारीरिक और भावनात्मक प्रौढ़ता तथा क्रियाशीलता की चोटी पर होती है और समाज के द्वारा उसे पतन का क्षण कह दिया जाता है। और इस तरह से वह सामाजिक और पारिवारिक दबाव के द्वारा एक बूढ़ी बंजर औरत में बदल दी जाती है, जिसकी जिन्दगी के काम खत्म हो गए हैं और समाज के द्वारा जिसे जीते-जी दफना दिया गया है।

सुन्दरता की कसौटी भी औरत के प्रति इसी संकीर्ण नजरिए की पृष्ठभूमि के सापेक्ष निश्चित की जाती है। एक खूबसूरत औरत, चाँदी जैसे बदन की एक जवान लड़की है चाहे उसका दिमाग बिलकुल खाली हो। उसकी सुन्दरता नाक के आकार और होंठों के घुमाव से मापी जाती है। अगर उसकी नाक की लम्बाई तयशुदा माप से एक मिलीमीटर भी लम्बी हो गयी तो उसे शर्मिंदगी झेलनी पड़ती है और अगर कूल्हों की गोलाई अपेक्षित गोलाई से कुछ मिलीमीटर कम हो गयी तो इसके बरक्स फिर पुरुष की जेब के पैसे के अलावा कुछ और नहीं देखा जाता।

अरबी कला और साहित्य ने महिलाओं की सुन्दरता के सन्दर्भ में ऐसी अवधारणाओं और रवैये को जोर देकर कहने में बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है और निभाते जा रहे हैं। कभी न खत्म होने वाले धारा-प्रवाह गाने, कविताएँ और उपन्यास, लहराते बालों, लम्बी बरौनियों, आकर्षक भरे-पूरे होठों तथा पुष्ट स्तनों वाली लड़की की प्रशंसा में गाये कहे जाते हैं।

चूँकि सुन्दरता पर ऐसे विकृत और अधूरे अर्थों में विचार किया जाता रहा है यह स्वाभाविक है कि स्त्रीत्व और इज्जत की अवधारणा भी समान तर्क का शिकार होती रहती है।

जहाँ तक स्त्रियों और लड़कियों का सम्बन्ध है स्त्रीत्व का अर्थ है कमजोरी, जड़ता, नकारात्मकता और समर्पण। ये सभी वह गुण हैं जो समाज द्वारा औरतों पर आरोपित भूमिकाओं

के साथ ठीक बैठते हैं और अपने पति तथा बच्चों की सेवा के लिए समर्पित पत्नी की भूमिका के लिए भी। स्त्रीत्व औरतों के लिए उन समान लक्षणों को साझा करता है जो बखूबी अनुकूलित और अपने तुच्छ दर्जे के प्रति समर्पित एक आज्ञाकारी और कुशल नौकर में सराहनीय हैं। पुरुषत्व, नरत्व दूसरी ओर नितांत भिन्न गुणों से मिलकर बनता है जो बिलकुल विपरीत हैं और मालिकों वाले लक्षणों के साथ है—सामर्थ्यवान, निर्णायक, नेतृत्वपरक और साहसी।

एक लड़की का गर्व अर्थात् कौमार्य, माचिस की तीली की तरह होता है जो एक बार जल जाने के बाद किसी काम की नहीं। एक बार अगर लड़की ने अपना कौमार्य खो दिया तो अनिवार्य रूप से उसने अपना गर्व भी खो दिया, जिसे कभी भी वापस नहीं पाया जा सकता है। एक पुरुष के गर्व का उसके कौमार्य से कोई लेना-देना नहीं है। इसके विपरीत उसके कौमार्य को सैंकड़ों-हजारों बार जलाया जा सकता है लेकिन फिर भी वह अपना सम्मान न खोएगा न उसका नाश होगा।

यह स्त्री मुक्ति आन्दोलन की खूबी है जो अपने आकार और प्रौढ़ता में बीते दिनों मजबूत हुआ है, जिसने एक नए किस्म की जिम्मेदारी ले ली है विशेषतया नए मूल्यों के निर्माण की जो औरतों के नए विज्ञान पर आधारित है जो उनके वास्तविक शारीरिक, जैविक, मनोवैज्ञानिक और मानसिक लक्षणों के भीतर प्रवेश करने का प्रयास करता है और विकृति के उन कारणों को उजागर करता है जिसने स्त्रियों की प्रकृति और जीवन के हर पहलू को प्रभावित कर रखा है। इसने पुरुष और उसकी प्रकृति के नए विज्ञान का भी अनिवार्य रूप से नेतृत्व किया है और मनुष्य जीवन के दो घटकों को पूरा करने वाले द्वंद्वात्मक जोड़ों स्त्री-पुरुषों का भी। यह अपने साथ बच्चों के पालन-पोषण और शिक्षा के नये विचार लेकर आया है जो अब तक लिंगों के बीच विभेद और दमन के तंत्र पर आधारित हुआ करता था और स्त्री-पुरुष के नमूनों के साथ पितृसत्तात्मक वर्गीय समाज को पालता पोसता था जो की उसके जिंदा रहने के लिए आवश्यक था।

निस्संदेह दुनिया भर में स्त्रीमुक्ति का आन्दोलन, मार्क्सवादी विचार का बहुत ऋणी है और साथ ही साथ सच्चे समाजवादी स्त्री-पुरुषों के लेखन और संघर्ष का भी, उन लड़ाइयों का, जो उन औरतों द्वारा भेदभाव के खिलाफ लड़ी गईं जो विभिन्न सामाजिक व्यवस्थाओं के भीतर और मानवता के इतिहास में हजारों साल से भुगत रही थीं जब से पुरुष ने अपना प्रभुत्व और आतंक घर के बाहर और भीतर महिलाओं पर कायम किया था। स्त्री मुक्ति का यह नया प्राणवान आन्दोलन उन लम्बे सालों का पटाक्षेप है जिनमें लाखों औरतें उत्पीड़ित की गईं, मार डाली गईं, जिंदा जला डाली गई अथवा अँधेरे-मध्य युगों का शिकार रहीं, यूरोप में विधर्मियों के रूप में रेखांकित की गईं और अन्यायपूर्ण तरह से जादूगरी और शैतानी के लिए अपराधी ठहराई गईं अथवा पूर्व के देशों में सामंती समाज की गुलामी की शिकार रहीं। यह अतीत की सभी और आज की दुनिया की औरतों पर आरोपित उत्पीडन और अवमानना का अंत है। यह एक संकेत भी है की औरतों के लिए नया सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलन शोषण के विरुद्ध सभी मानवों के संघर्ष के लिए जबरदस्त प्राण और शक्ति को भी जोड़ेगा।

नए विज्ञान और ज्ञान के नए क्षेत्र स्त्रियों की जैविक और मनोवैज्ञानिक प्रकृति पर प्रकाश डाल रहे हैं। ये नए विचार उनकी शक्ति, चमक और प्रभावशाली ढंग से उनकी अप्रचलित अवधारणाओं और विचारों से जूझने की सामर्थ्य को सामने ला रहे हैं जो औरतों के बुनियादी अपरिवर्तनीय स्वभाव का आग्रह रखते हैं। वे स्वभाव जो उन घरेलू कामकाज, बच्चों को पालने, उन्हें माँ और बीवी के रूप में सीमित मौजूदगी देने और बच्चों को जनने में खुशी का अनुभव

कराने के मामले में उन पर आरोपित है।

समाज की आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक संरचना तथा उसकी मानवीय प्रकृति से सम्बन्ध के बारे में आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धांतों के अनुसार अब लम्बे समय तक यह बात चलती नहीं रहेगी की आतंरिक मानवीय स्वभाव जैसी कोई स्थायी और अपरिवर्तनीय चीज होती है। मानवीय लक्षण अपने गुणों में सापेक्षिक होते हैं और उन परिस्थितियों और परिवेशों में स्वयं को बदलते हैं और स्वयं के लिए स्वीकारते हैं जिनके अन्दर लोग जन्म लेते हैं और जीवन-यापन करते हैं। दूसरे शब्दों में यह एक बड़ा पर्यावरणीय प्रभाव होता है जो किसी समय मानवीय स्वभाव का सनातन और मूलभूत तत्त्व माना जाता था। बहुतेरे वैज्ञानिक अब 'मानवीय स्वभाव' शब्द का निषेध करते हैं और 'मानवीय प्रेरणा' शब्द को तरजीह देते हैं जो उनके अनुसार बचपन और किशोरावस्था के सालों में अपना विकास करते हैं।

स्त्रियों की निष्क्रियता और पुरुषों की आक्रामकता इसलिये उनकी प्रकृति के नैसर्गिक हिस्से नहीं हैं वे मात्र समय आधारित परिस्थितियाँ हैं जो इतिहास और सभ्यता से संबंधित हैं जहाँ परिवेशगत और समाजगत प्रक्रियाएँ बड़ी भूमिका अदा करती हैं। कुछ वैज्ञानिक तो यहाँ तक दावा करते हैं कि जानवरों में भी अन्तर्निहित स्वभाव जैसा कुछ नहीं होता सिर्फ कुछ लक्षणों के समूह होते हैं जो आसपास के हालातों में समय के साथ बदल जाते हैं।

इस तथ्य के ढेरों सबूत हैं कि स्त्री और पुरुष के स्वाभाविक माने जाने वाले लक्षण वस्तुतः समाज, पर्यावरण और विभिन्न तरह के समाजीकरण तथा शैक्षणिक प्रक्रियाओं से ग्रहण किये जाते हैं। और लैंगिक संबंधों के बीच कोई निश्चित अथवा सनातन प्रणाली नहीं है। परिणामस्वरूप, यौन मान्यताएँ और नैतिकताएँ समाज में व्याप्त आर्थिक और सांस्कृतिक संरचनाओं के आधार पर बदलती जाती हैं। कालाहारी रेगिस्तान के San या बुशमैन प्रजाति पर किया गया एक नया शोध यौन व्यवहार और आर्थिक आवश्यकताओं के पारस्परिक संबंधों को बड़ी मजबूती से सामने लाता है। San बड़े छोटे पारिवारिक समूहों में रहते हैं जहाँ कुँओं की बेहद सीमित संख्या है जो जैसे-तैसे ही उनकी आवश्यकता की पूर्ति करते हैं। परिणाम स्वरूप उनके यौन व्यवहारों को संचालित करने वाले कानून बड़े कठोर हैं और साथ ही लैंगिक विवाहेतर सम्बन्ध कठोरतापूर्वक प्रतिबंधित हैं। कारण यह है कि वे अधिक बच्चे नहीं चाहते और कई ऐसे उदाहरण हैं कि दूसरा बच्चा होने पर वे उसकी हत्या कर देते हैं।[45]

मनुष्यों के यौन लक्षण अन्य सभी लक्षणों की तरह सामाजिक, शैक्षणिक और परिवेशगत हालातों के द्वारा अनुकूलित किये जाते हैं। वैज्ञानिकों का मानना है कि प्राकृतिक लक्षण वे हैं जो समाज में सबसे अधिक प्रचलित हैं और बहुसंख्यक आबादी में सामान्य रूप से चिन्हित किये जाते हैं। यह धारणा गलत है। उदाहरण के तौर पर मिस्र और सूडान इस तरह के समाज हैं जो खतने के द्वारा यौन-निष्क्रियता को बहुसंख्यक औरतों और लड़कियों पर थोपते हैं जो शिश्निका (Clitoris) के सम्पूर्ण या आंशिक विच्छेदन के जरिये किया जाता है। तो क्या ऐसे समाजों में यह कहना संभव या उचित होगा की इन दोनों देशों की स्त्रियाँ बुनियादी तौर पर यौनेच्छा से विरत हो गईं। क्योंकि शल्यक्रिया के जरिये वे सभी यौन-जड़ता की अलग-अलग पीड़ाओं से बहुतायत में जूझ रही हैं। इसके अलावा क्या यह भी संभव है कि यौन-निष्क्रियता के द्वारा औरतों का बुनियादी स्वभाव मात्र इसलिये लक्षित किया जाता है क्योंकि पूर्व और पश्चिम में औरतों की बहुसंख्यकता, दमन और नैतिक माहौल के परिणामस्वरूप जिसके साथ वे बड़ी छोटी उम्र से ही घिरी हुई हैं यौन संबंधों के प्रति गर्माहट और सकारात्मक रवैये की कमी महसूस करती हैं।

क्या यह स्थापना ठीक रहेगी की पुरुष परपीड़क और महिलाएँ स्वपीड़क होती हैं। जबकि हम जानते हैं कि ये सारे लक्षण पितृसत्तात्मक परिवार तंत्र और जिनमें बच्चों का लालन-पालन होता उसका परिणाम हैं। पुरुष प्रभुत्ववादी सभ्यता, पुरुष और स्त्री संतति में विभेद करती है। पुरुष बच्चे को शुरू से ही सिखाया जाता है कि कैसे अपने व्यक्तित्व को उजागर किया जाय, सामने लाया जाय उससे प्रभावित किया जाय। और कैसे एक पुरुष की जिन्दगी को सामर्थ्य, जिम्मेदारी, ताकत और मुश्किलात का सामना होने पर सकारात्मक रवैये के साथ तैयार किया जाय। दूसरी ओर एक लड़की शुरुआत से कोने में सिमट जाने, महिला होने के कारण अपने स्व को छिपाये या समाप्त कर डालने के लिए प्रशिक्षित और प्रोत्साहित की जाती है। ऐसे उसे एक औरत की जिन्दगी के लिए तैयार होना होता है, एक जीवन जिसमें उसे निष्क्रिय और कमजोर होना है और पुरुष के प्रभुत्व के प्रति समर्पित होना है तथा उस पर निर्भर होना है।

स्त्री और पुरुष में इस तरह का विभाजन दोनों के व्यक्तित्व को विकृत करता है और असल में मानसिक तौर पर प्रौढ़ होने से रोकता है। एक लड़के की अपने अहंकार और पौरुष के लिए अतिरंजना की प्रवृत्ति आमतौर पर उसे हीन भावना से ग्रस्त कर देगी। वह हमेशा महसूस करेगा कि वह उम्मीद के मुताबिक उस छवि तक उठने में असमर्थ है जो एक सम्पूर्ण पुरुष बनने के लिए उसे दी गयी है। दूसरी ओर एक लड़की के लिए स्वयं को सिकोड़ लेने और निष्क्रिय बना लेने की अतिरंजना उसमें एक श्रेष्ठता मनोग्रंथि का निर्माण करती है जिसका परिणाम यह होता है कि उसमें उसके लिए बनाई गई छवि से और बेहतर हो जाने का भाव पैदा हो जाता है।

श्रेष्ठता की मनोग्रंथि स्त्रियों में स्वपीड़ा की प्रवृत्ति का निर्माण करती है और हीनभावना पुरुषों में परपीड़ा और आक्रामकता का भाव पैदा करती है। ये दोनों ही परिपूरक तंत्र हैं और एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

पितृसत्तात्मक चिकित्सा विज्ञान, अवैज्ञानिक तथ्यों और धारणाएँ से भरा होता है जिसका उद्देश्य औरतों के विरुद्ध भेदभाव को बनाए रखने और इसे एक वैज्ञानिक आड़ की तरह उपलब्ध कराना होता है ताकि इसे अधिक स्वीकारणीय बनाया जा सके। ऐसे ही किस्म के सत्यों का यह ख्याल है कि पुरुष प्रकृति से आक्रामक होता है इसलिए युद्ध, 'मस्तिष्क में आक्रामकता के बिंदु' अथवा चित्त की अंतर्जनित प्रवृत्ति के द्वारा व्याख्यायित किया जाता है। यह अधिक कुछ नहीं बस लोगों को इस बात के लिए सहमत करने का प्रयास है कि वस्तुतः जंग जैविक जरूरत की प्रतिक्रिया और मानवीय स्वभाव की अभिव्यक्ति है जोकि अपरिवर्तनीय है और पुरुष के जीवन का निरंतरता में एक अविभक्त हिस्सा है। इसी से मिलते जुलते विचार स्त्री स्वभाव के अन्तर्निहित हिस्सों को निष्क्रिय रूप में रेखांकित करते हैं और यह स्त्रियों का ध्यान हटाने के उद्देश्य से करते हैं कि निष्क्रियता असल में अनिवार्य रूप से सामाजिक और आर्थिक घटक है जोकि ऐतिहासिक घटना है।

यह जाहिर बात है कि पितृसत्तात्मक समाज, वह पूर्व में हो या पश्चिम में बदलाव के हर प्रयास का विरोध करता है इसके अस्तित्व को बनाए रखने के लिए लड़ाई लड़ता है। पितृसत्तात्मक समाज द्वारा प्रयोग में लाये जाने वाले हथियार समय और देश के आधार पर बदलते जाते हैं।

विकसित पश्चिमी समाजों में कुछ महत्त्वपूर्ण हथियार झूठे वैज्ञानिक सत्यों के शस्त्रागार से निकाले जाते हैं जो मानव लक्षणों के ढलने में सामाजिक और आर्थिक घटकों की महत्त्वपूर्ण भूमिकाओं को पूरी तरह से नजरंदाज करते हैं। ऐसे सिद्धांत यह बताने की कोशिश करते हैं

की अश्वेत, युवाओं और स्त्रियों के क्रांतिकारी आन्दोलन उनमें शामिल लोगों की विकृत मानसिकता का परिणाम हैं बजाय समाज की स्वयं की विकृत संरचना के परिणाम के। यह कुछ और नहीं बस फ्रायड के सिद्धांत का विस्तार है जो मानता है कि सत्ता या राज्य के विरुद्ध विद्रोह, गहरे अचेतन में दबे हुए अंदरूनी भावनात्मक संघर्षों पर काबू न पा सकने की क्षमता की बाहरी अभिव्यक्ति के सिवाय और कुछ नहीं है।

शासक वर्ग के लिए इससे अधिक संतुष्टि देने वाली बात और क्या होगी की दार्शनिक और वैज्ञानिक, लोगों को यह विश्वास दिला रहे हैं कि उनकी तकलीफें और कठिनाइयाँ अवचेतन में गहरे अन्दर चल रहे संघर्षों का परिणाम हैं या फिर युद्ध, नस्लवाद और लैंगिक विभेद, विध्वंस के लिए आक्रामकता, जन्मजात अचेतन प्रवृत्तियों के बाहरी प्रस्तुतीकरण से ज्यादा कुछ और नहीं है जो की कामेच्छा (Libido) से सम्बंधित है और जिसका पूँजीवादी समाज और शोषण के सभी रूपों से कोई लेना देना नहीं है।

इस तरह के झूठे वैज्ञानिक विचार लोगो की समस्याओं और कठिनाइयों का कारण अपने अन्दर अपने शरीर के अन्दर ढूँढने के लिए प्रेरित करते हैं और ऐसे उनको इन समस्याओं की असल समझ और जागरूकता से वंचित कर देते हैं और सामाजिक संरचना को बदलने के उद्देश्य वाले सामाजिक आन्दोलन में भागीदारी की आवश्यकता से भी।

अरब समाज में लोगों के संघर्ष को पीछे करने और सही रास्ते पर आगे बढ़ने से रोकने में सांस्कृतिक और वैज्ञानिक पिछड़ापन अहम भूमिका निभाते हैं। पितृसत्तात्मक तंत्र और इसके मूल्यों के खिलाफ औरतों और युवाओं के विद्रोह को पिछड़ा बनाने में इस्तेमाल होने वाले मुख्य हथियारों में से एक है इस्लाम और उसके सिद्धांतों का दुरूपयोग। इसमें कोई संदेह नहीं है की धार्मिक उन्माद की लहर को, जिसने बीते सालों में बहुतेरे अरब देशों को अपनी चपेट में ले लिया है, शासक और पूँजीवादी सामंतों के द्वारा प्रगति की ओर बढ़ते आन्दोलन को पीछे करने में एक अस्त्र की तरह इस्तेमाल किया है।

जिस नारे के नीचे प्रतिक्रियावादी संचालित होते हैं वह है 'इस्लामी सिद्धांत की वापसी'। यह नारा शोषण के रूपों को बनाए रखने की उनकी इच्छा और लक्ष्य की असल प्रकृति को छिपाने के लिए नकाब का काम करता है जिसमें वे फलते फूलते हैं। वे लोगों को यह विश्वास दिलाने का प्रयास करते हैं कि बीते वक्त से जितनी आर्थिक और राजनीतिक कठिनाइयों तथा विपत्तियों को झेला जा रहा है उसका असल कारण इस्लाम के रास्ते से हट जाना है। यह घोषित करके वे जनता की समस्याओं की असल प्रकृति की अनभिज्ञता का फायदा उठाते हैं कि अरबी जनता की विपुल जनसंख्या के दुःखों का एकमात्र समाधान इस्लाम के खोल में वापसी है। वे बताते हैं कि लाखों की मुफलिसी और तंगी अल्लाह के गुस्से का प्रकटीकरण है उनके खिलाफ, जो इस्लाम और उसकी शिक्षा से दूर हो गए हैं।

धार्मिक संगठन और संस्थाएँ पिछले कुछ सालों में अरब देशों में द्रुतगति से फैले हैं। अरबी जनता की समस्याओं के प्रति झूठे ख्यालों को फैलाने और झूठे समाधानों की वकालत करने वाले विचारों को प्रचारित करने में वे लगातार व्यस्त हैं। वे इस बात को अच्छी तरह से जानते हैं कि वे अभी भी जनता की धर्म और नैतिकता से जुडी सहानुभूतियों का फायदा उठा सकते हैं।

हर दिन धार्मिक अभियान इस्लामी नैतिकता का ढोल पीटते रहते हैं और लगभग उसी समय समानांतर व्यावसायिक अभियान, अर्द्धनग्न औरतों और शराब की बोतलों के साथ बड़े शहरों की दीवारों और स्क्रीन पर लगाए जा रहे होते हैं। काहिरा, बेरूत, बगदाद या किसी

भी अन्य अरब मुल्क की राजधानी में, बेवजह टहलने वाला घुमक्कड़ भी आसानी से समझ सकता है कि दीवारें, औरत की अँगुलियों के बीच में फँसे सुन्दर शीशे के गिलास में चमकती शराब को प्रदर्शित करने वाले या बिस्तर पर लेटी अर्द्धनग्न औरत के फिल्मी पोस्टर वाले विज्ञापनों से भरी पड़ी है। बेहद छिछली कहानियों से भरी, भोंड़ी, उत्तेजक फिल्मों का अबाध प्रवाह जो आकर्षण के लिये बेली नृत्यों या यौन-उत्तेजना के अन्य माध्यमों पर टिकी रहती हैं वे यौन रूप से दमित युवा जनता के लिए खुराक बनती हैं। स्थानीय पूँजीपति अथवा सामंती वर्ग तथा पश्चिमी साम्राज्यवादी नीतियाँ आपस में जितनी निकटता से जुड़ी होती हैं यौनाचार और स्त्री-देह के व्यापारीकरण पर आधारित फिल्मों तथा विज्ञापन की संख्या उतनी ही बढ़ती जाती है। इसके उलट, एक देश जितना समाजवाद के रास्ते पर आगे बढ़ता है और पश्चिमी निर्भरता के आर्थिक-सांस्कृतिक ताने-बाने को तोड़ने के लिए आगे बढ़ता है, उतनी ही संभावना ऐसे अश्लील साहित्यों से पटी पड़ी दीवारों और पोस्टरों से मुक्त हो जाने की बढ़ जाती है। कुछ समय पहले तक मिस्र, सूडान और सीरिया में यह बात सत्य थी पर अब नीतियों में परिवर्तन और अमरीकी प्रभाव के सुदृढ़ीकरण के कारण, व्यावसायिक यौनाचार ने एक बार फिर इन देशों के मुख्य कस्बों और शहरों में घुसपैठ कर ली है।

जहाँ तक अरब दुनिया का सम्बन्ध है, अंतर्राष्ट्रीय एकाधिपत्यवादी पूँजी संकट के दौर में है। कच्चे संसाधनों का उन्नत स्रोत विशेषकर तेल का, क्षेत्र के रणनीतिक भौगोलिक स्थिति तथा राजनीतिक महत्त्व जिसका प्रभाव अफ्रीका, पश्चिमी एशिया तथा भूमध्यसागर तक फैला है, सब मिलकर विदेशी शोषण के विरुद्ध संघर्ष को जटिल बना रहे हैं। कहीं से कोई बचाव नहीं दिखाई पड़ता। हर समय जैसे ही कोई अरब देश साम्राज्यवादी और अंतर्राष्ट्रीय पूँजी के शिकंजे से भाग निकलने का प्रयास करता है वैसे ही चारों ओर से आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक मोर्चों पर लगातार हमले द्वारा दबोच लिया जाता है। जो इस शिकंजे को तोड़ने का दुस्साहसिक प्रयास करते हैं उन्हें प्रतिक्रियावादी या पिछड़ी शक्तियों के साथ गठजोड़ करके और समस्याओं को उकसाकर ऐसे उदाहरणों के संक्रामक स्थिति में पहुँच जाने के पहले जितनी जल्दी हो पीछे खदेड़ दिया जाता है।

जितनी ताकत के साथ यौन और व्यावसायिक विज्ञापनों के अभियान का अनुसरण किया जाता है और तीव्र विदेशी पूँजीवादी उत्पादन का बाजारीकरण होता है, उतनी ही तेजी से ज्ञान, शिक्षा, उपदेश और कानून के रूप में धार्मिक दबाव बढ़ता जाता है। बहुसंख्यक वर्ग को शासक वर्ग की शक्ति का यौन और बौद्धिक रूप से अधीन होना चाहिए जो अपने सामर्थ्य को ईश्वर की सत्ता से जोड़ते हैं। बहुत समय नहीं बीता है जब मिस्र में कुछ धार्मिक नेताओं ने घोषित किया था कि शासक की शक्ति और सत्ता, अल्लाह की शक्ति और सत्ता की अभिव्यक्ति है : ''वह जो अल्लाह की शक्ति और सत्ता का अपमान और उसकी अवहेलना करता है उसे अल्लाह स्वयं सजा देगा। अल्लाह की सत्ता का प्रतिनिधित्व खाड़ी के अमीर (राजकुमार) राज्य के राजा, या गणतंत्र के राष्ट्राध्यक्ष करते हैं। ये सभी लोग निस्संदेह अल्लाह की सत्ता का मूर्त रूप हैं।''[46]

अरबी राजधानियों में जितने शोर-शराबे से अर्द्धनग्न औरतों के चित्रों के साथ शराब की बोतलों का प्रचार, अभियान और प्रदर्शन यह सुनिश्चित करने के लिए किया जाता है कि पश्चिमी शराब की बाजार में बहुत माँग बढ़ गयी है उतने ही लम्बे समय तक और ज्यादा शक्ति के साथ अखबारों, पत्रिकाओं के स्तम्भ, रेडियो प्रसारण और टेलीवीजन कार्यक्रम उनका विरोध करने के अभियान में संलग्न हो जाते हैं। शराब इस्लाम में हराम है और इसलिए शराब

के व्यापक व्यापारीकरण की काट के लिए कुछ किया जाना चाहिए। कभी-कभी विशेष कानून लागू किये जाते हैं और बहुधा इतने अंतर्विरोधी हो जाते हैं कि मजाक बन जाते हैं और इसीलिये अप्रभावी भी। एक उदाहरण के तौर पर, कानून शराब पीने वाले को दण्डित करता है न कि शराब बेचने वाले को। खूब शोर-शराबा होता है ताकि शराब पीने की इच्छा को भड़काया जा सके। शराब को गाली दी जाय ताकि उसे फिर प्यार किया जा सके। क्योंकि भले ही अपराध-बोध अपनी जगह पर हो पर परिणाम तो खरीद-फरोख्त के आधार पर ही तय होता है। बहुतेरे मामलों में कानून कपटपूर्ण तरीके से लागू किया जाता है। शराब की छोटी दुकानें या गुमटियाँ जो छोटे कस्बों में होती हैं उन्हें बंद कराया जाता है उन पर जुर्माना लगाया जाता है या फिर मालिक को सजा दी जाती है। पर शहर के रईस इलाकों में बड़ी दुकानों पर शराब का बिकना धड़ल्ले से जारी रहता है।

इस विषय में क्या किया जा रहा है इसके आदर्श उदाहरणों में से एक है—निषेधाज्ञा का कानून जो मिस्र में 1976 में लागू हुआ।[47] यह कानून बड़े होटलों, सुसज्जित कमरों में शराब पीने की इजाजत देता था इस पूर्वानुमान पर कि ये वे जगहें हैं जहाँ पर्यटक सबसे अधिक आते थे जबकि वस्तुतः ऐसी जगहें पर्यटकों द्वारा इस्तेमाल में न आकर वेश्यावृत्ति के इस्तेमाल में आती थी। स्थिति कोई भी हो चाहे वह पर्यटकों द्वारा या वेश्याओं द्वारा काम में लाये जा रहे हों पर मुद्दा यह है की वे मिस्र के अधिकार-क्षेत्र में हैं, वह एक इस्लामी देश है और इसलिए उसे इस्लामी कानूनों के द्वारा ही संचालित होना चाहिए जैसा कि गरीब कस्बों के घरों और दुकानों पर लागू होता है। यह तो सोचा भी नहीं जा सकता की इस्लाम थोड़े से डॉलर, अधिक पैसा कमाने या पर्यटन को बढ़ावा देने के लिए अपवाद नियम बना सकता है। समझ में आने वाली बात यह है कि प्रामाणिक धार्मिक तर्काधार को, पर्यटन की कीमत पर इस्लाम को सक्रिय और बहाल करने की दिशा में आगे बढना चाहिए न कि इसके उलट।

अंतर्विरोधी होना उस तर्क का सार-तत्त्व है जो शोषण आधारित है। लिहाजा उस एक समय जब स्त्रियों की अर्द्धनग्न तस्वीरें दीवारों, सिनेमा और पत्रिकाओं में ज्यादा से ज्यादा स्थान घेरती जाती हैं बुर्का पहनने वाली औरतों और लड़कियों की तादाद बढ़ती जाती है। स्त्री की शालीनता और कौमार्य के बहाने इस्लामी पोशाक को उन पर थोपे जाने की बढ़ती हुई प्रवृत्ति बीते कुछ सालों से सामने आ गई है। स्त्री के शरीर को ढँका-मुँदा होना चाहिए क्योंकि वे अपवित्र होती हैं और भयावह रूप से प्रलोभित करने वाली होती हैं।

मुझे समझ में नहीं आता की एक अरबी लड़की के लिए यह कैसे संभव है कि वह अपने बालों, शरीर और कामोत्तेजना को छिपाए रहे जबकि वह चारों ओर हर वक्त पुरुषों को आकर्षित करने वाले, क्रीम से अपनी त्वचा को चिकना बनाए रखने वाले, अपने होंठों को भरा-भरा लाल बनाये रखने वाले, बढ़िया भड़काऊ लम्बी जुराबों को पहनने के लिए उकसाने वाले जो उनकी टाँगों की सुन्दरता को दिखायेंगी, अपने बालों को लहरदार, नर्म और मुलायम बनाये रखने के लिए लोशन के इस्तेमालों वाले विज्ञापनों से घिरी हुई हैं।

अधिकांश अरबी लड़कियों और महिलाओं में इस किस्म के तीव्र अंतर्विरोधों के कारण अलग-अलग तरह के मनोवैज्ञानिक विकार पैदा होने लगते हैं जिसे वह देख समझ पा रही हैं। अरबी गाने और साहित्य लगातार उनकी इन्द्रियों को प्रेम और शृंगार के अहसासों और चाहतों के लिए उकसाते रहते हैं। अब यदि वह इस प्रेम के आवाहन के प्रति मुखरित होती है तो सामाजिक दंड और असहमति दभयंकर और दयाहीन है। और जो न्यूनतम उससे कहा जाएगा वह यह कि वह छिछोरी और दुश्चरित्र है। कोई उससे शादी नहीं करता यहाँ तक कि

वह पुरुष भी जिससे वह प्रेम करती है। क्योंकि वह ऐसी लड़की पर भरोसा नहीं कर सकता जो शादी के पहले ही किसी पुरुष से प्रेम करने लगी है भले ही वह पुरुष वह खुद हो।

जितना व्यापक अरबी जनता का शोषण होता है, जितनी बड़ी मात्रा में तेल और अन्य कच्चे संसाधनों का दोहन होता है, जितनी बड़ी मात्रा में बहुराष्ट्रीय और राष्ट्रीय पूँजीपतियों की जेबें मुनाफे से भरती जाती हैं उतना ही अरबी समाज का निचला तबका वंचना और प्रताड़ना में डूबता चला जाता है और जनता द्वारा आर्थिक तंगी तथा समस्याओं का सामना अधिक तीव्र होता जाता है। जब से ऊँची कीमतों वाले पश्चिमी देशों के सामान काहिरा, दमस्कस, बेरूत, ट्यूनिस और अरब दुनिया के अन्य शहरों में पहुँचने लगे हैं, तब से सहकारी दुकानों, कम कीमत वाली दुकानों और स्थानीय बेकरी की दुकानों के सामने मशक्कत करते लोगों की पंक्तियाँ लगातार बढ़ती जाती हैं। वहाँ वह घंटों एक पावरोटी, एक साबुन की बट्टी, चाय के पैकेट और मीटर भर सस्ते कपडे के लिए खड़े रहते हैं। काहिरा की सड़कों पर घूमते हुए आजकल यह असंभव सा है कि आप पश्चिम से आयातित महँगे सामानों के अम्बार को बाजार में पटा न देखें जबकि सैकड़ों मर्द औरतें सहकारी दुकानों, बेकरी और किराने की दुकानों पर भीड़ लगाए रहते हैं।

बड़ी संख्या में लोग तीव्र आर्थिक तंगी महसूस करने लगे हैं जिन्होंने उनकी जीवन शैली को बड़े पैमाने पर प्रभावित किया है। भ्रष्टाचार, घोटाले, चोरी और हिंसा के सभी रूप रोजमर्रा की घटनाएँ हो गए हैं और इस किस्म की घटनाएँ मिस्र के बड़े शहरों और कस्बों में इतनी ज्यादा है कि कुछ अखबार नए न्यायिक तंत्र तक की माँग करने लगे हैं जिसे 'नाइट जज' कहा जाय, जिससे कि सशस्त्र अपराधियों, चोरी और अपहरणकर्ताओं के खिलाफ तुरंत कार्रवाई की जा सके।[48]

हिंसा, चोरी, अपहरण, नशाखोरी यौन व्यापार आदि में बढ़ोत्तरी बड़ी साफ है उनके लिए जो इसे देखना चाहते हैं। पिता शादियों में अपनी बच्चियों को बेचने के लिए झुकते चले जाते हैं। घरेलू नौकरानियाँ ज्यादातार वेश्याओं या क्लबों में नाचने का काम ले लेती हैं जिनका काम पर्यटकों और अमीर अरबियों तथा मिस्रियों का दिल बहलाना होता है। यौन-सम्बन्ध जिनका ध्येय केवल पैसा, भौतिक लाभ और सुरक्षा होता है ऐसी मिसाल बनते जा रहे हैं जो वास्तविक संवेदनाओं, प्रेम, मैत्री और स्नेह की कीमत पर प्रचलित हो गए हैं।

नैतिक और यौन भ्रष्टाचार का यह चौतरफा माहौल दूसरी ओर धार्मिक उन्मादियों की धारा द्वारा समर्थित होता है जो कि असलियत में बेहद अंतर्विरोधी और विरोधाभासी है। जोर-शोर से आवाजें उठाती हैं कड़े इस्लामी कानूनों को लागू करने तथा दुर्दांत दंड को देने, जैसे कि चोर के हाथ काट देना, नाजायज सम्बन्ध के लिए औरत को पत्थरों से मारकर मार डालना, की वकालत की जाती है। ऐसी ही आवाजें सभी फिल्मों से यौन-दृश्यों को हटाने, चुम्बन दृश्यों को हटाने और साथ ही ऐसी फिल्मों के लिए सोलह साल से कम उम्र की पाबंदी लगाने के कठोर नियम बनाने के लिए उठती हैं। वे गुहार लगाते हैं कि वेश्यावृत्ति और नैतिक भ्रष्टाचार के खुले और छिपे तरीकों को ऐसी सजा मिले जो नजीर बन सके और बार-बार यह आग्रह करते हैं कि औरत का स्थान घर तक ही सीमित रखा जाय। लड़कियों पर कड़ी निगरानी रखी जानी चाहिए और उन्हें परिवार के निरंतर नियंत्रण में होना चाहिए। वे जहाँ जाएँ किसी एक पुरुष के साथ जाएँ। कुछ पत्रकारों ने यहाँ तक सुझाव दे डाले की जो औरतें देशों का दौरा करती हैं और नाच घरों में बेली नृत्य का काम करती हैं उन्हें मिस्री नागरिकता से बर्खास्त कर देना चाहिए।[49]

कुछ अरबी लेखकों ने जो इस नृशंस धार्मिक धर्मोन्माद का विरोध करते हैं आग्रह किया है कि चोरों के हाथ काटने के स्थान पर ज्यादा अच्छा हो कि जिंदगियों से गरीबी को काटने पर ध्यान दिया जाय। नाजायज सम्बन्ध के लिए औरत को पत्थर से मार डालने के बजाय यौन-उत्पीड़न को रोका जाय और युवतियों को स्वस्थ शारीरिक तथा मानसिक जीवन जीने की अनुमति दी जाय। ऐसी तार्किक सोच, हालाँकि, धार्मिक कट्टरता और चरमपंथ के समुद्र में बूँद की ही तरह है, तर्क और चिंतन शोषण और साम्राज्यवादी लूट को झेलने वालों की सबसे बड़ी शत्रु है। अखबारों, फिल्मों, टेलीवीजन, रंगमंच और किताबों के जरिये जिस संस्कृति, साहित्य और कला की खुराक दी जाती है वह तर्क की आवाज को दफन कर देने के लिए और लोगों को सत्य से अवगत न होने देने का लक्ष्य सामने रखती है। वह इस बात को नजरंदाज करती है कि कितने ही सारे शिक्षित युवाओं ने नशे, सेक्स और अपराध में लिप्त होकर धीमी मानसिक और नैतिक आत्महत्या को चुन लिया है। अगर हम इज्जत की बात करें तो किसे कम इज्जतदार मानेंगे—एक ऐसी औरत को जो खाना खरीदने के लिए एक आदमी को अपना जिस्म बेचती है या उस राज्य को जो मुट्ठीभर पूँजीपतियों की लाखों की कमाई के लिए तर्क, कारण और नीतियों की सौदेबाजी करने से नहीं चूकता? कौन सजा के लिए ज्यादा उपयुक्त है एक युवा जो नशे की गोलियाँ लेकर अपनी गरीबी से ख्वाबों के संसार में पनाह ढूँढता है या फिर निहित स्वार्थों के कारण इस गरीबी को स्थायी बनाये रखने वाले ताकि वे उन्नति कर सकें।

किसी भी समाज में जिसकी संरचना शोषण आधारित है यह बहुत स्वाभाविक है कि आर्थिक और व्यावसायिक मूल्य धार्मिक तथा नैतिक मूल्यों के साथ टकराने लगते हैं। परिणामस्वरूप, पितृसत्तात्मक वर्गीय समाज, दोगली नैतिकताओं एवं गहरे पैठे अंतर्विरोधों के साथ उलझ जाता है जो जीवन के हर पहलू में शामिल होते हैं। हालाँकि ज्यादातर ये वे हैं जो शासित हैं न कि शासक, स्त्री हैं न कि पुरुष, श्रमिक वर्ग है न कि उच्च वर्ग जो अंतर्विरोधों की कीमत अदा करते हैं और इसके परिणामों को भुगतते हैं जो कि बहुत तीव्रता से पिछड़े और गरीब मुल्कों में मौजूद होते हैं। अरब-क्षेत्र अपने कृषिगत और तेल संसाधनों की खूबी के कारण आर्थिक रूप से धनाढ्य माना जाता है पर यह धन आम जनता के लिए नहीं है बल्कि बहुराष्ट्रीय निगमों और मुट्ठी भर पूँजीपतियों अथवा अरबी अर्द्ध-सामंतों के जरिये बेईमानी से हड़प लिया जाता है। इसलिए एक बड़ा वर्ग अभी भी भुखमरी, गरीबी और आर्थिक सामाजिक पिछड़ेपन में जीता है जो भयावह ढंग से कई क्षेत्रों में बौद्धिक, मानसिक और नैतिक पिछड़ेपन के साथ झलकता है।

स्त्रियों का आर्थिक, यौन और नैतिक दमन समाज के पिछड़ेपन के द्वारा ही रेखांकित किया जाता है। एक गरीब स्त्री अपनी 'गलतियों' के लिए निर्दयतापूर्वक दण्डित की जाती है। धनवान उसे माफ कर सकते हैं चाहे वह नैतिक रूप से भ्रष्ट ही क्यों हो। यहाँ तक कि हर बार वे पाप को गुण बनाकर सामने ला सकते हैं। धन एक तलाकशुदा औरत को बेघर होने, भिखारी होने या वैध अथवा अवैध वेश्या होने से बचा सकता है। पैसा एक औरत की मदद, चिकित्सक के क्लीनिक में अनचाहे भ्रूण से मुक्ति पाने में कर सकता है चाहे गर्भपात आज भी गुनाह माना जाता हो।

अरब औरतें समाज द्वारा संचालित दोहरे मापदंडों के कारण ही दमन का शिकार है। अरब देशों पर थोपे गए आर्थिक शोषण, मात्र उनके संसाधनों की ही चरणबद्ध लूट नहीं है बल्कि उन पर दोहरे मापदंडों को भी थोपने वाले हैं जोकि पूँजीवाद के व्यावसायिक मूल्यों और

अतीतजीवी धार्मिक मूल्यों के अंतर्विरोधों का परिणाम है।

इन दोहरे मापदंडों के कारण समाज में किसी भी दूसरे तबके से ज्यादा औरत ही प्रताड़ना झेलती है। लोगों का ध्यान आकर्षित करने के लिए और उन्हें यौनरूप से उत्तेजित करने के लिए विज्ञापन और फिल्मों के द्वारा स्त्री के शरीर को निर्वस्त्र किया जाता है ताकि माल की खपत बाजार में तेजी से की जा सके। यौनाचार को हर गाने, नाच और नाटक में इस्तेमाल किया जाता है ताकि उसे बेचा जा सके और उस खेल के लिए अनुकूलित किया जा सके जिसमें औरत मोहरा है और उसका नग्न शरीर पुरस्कार। इसलिए स्त्री में नग्नता एक दैनिक जरूरत सी बन गयी है फिर भी धार्मिक नैतिकताएँ लगातार उपदेश करती ही रहती हैं कि उसका शरीर पवित्र है और उसे पूरी तरह से ढँका रहना चाहिए जिसमें से उसका चेहरा और हाथ ही मात्र दिखें।

स्त्रियाँ उपकरण हैं, वस्तु हैं, मात्र औजार। वे व्यावसायिक विज्ञापनों में इस्तेमाल होने वाली, बिना वेतन घर में काम करने वाली या बाहर काम करने वाली, घर के बाहर के वेतन वाले काम के जरिये अन्दर के बिना पैसे वाले काम को संयोजित करने वाली या फिर समाज की प्रजनन संबंधी प्रयोजनों की पूर्ति के लिए बच्चों को जन्म देने के लिए इस्तेमाल होने वालीं या पुरुषों की इच्छा को संतुष्ट करने वाली वस्तु हैं। शायद सबसे बड़ी विकृतियों में से एक जिसे मानवीय नस्ल का इतिहास भुगत रहा है वह यह है कि इसे शासकों द्वारा लिखा गया है न कि शासितों द्वारा। अतः परिणामस्वरूप यह मात्र शासक वर्ग की रुचियों का प्रगटीकरण होकर रह गया है उस मेहनतकश वर्ग के खिलाफ जिन पर वे शासन करते रहे हैं। और साथ ही यह औरतों पर पुरुषों की रुचियों का प्रदर्शन भी रहा है। इसलिए इतिहास ने स्त्रियों से जुड़े तमाम तथ्यों को गलत ढंग से प्रस्तुत किया है। अरब स्त्रियाँ अपनी मानसिक क्षमता में कमजोर नहीं होतीं और न ही निरीह या निष्क्रिय होती हैं जैसा कि पुरुषों और उनके इतिहास ने जोर दे-देकर कहा है। इसके उलट, अरबी स्त्रियों ने अमरीकी और यूरोपीय स्त्रियों के समानतावादी लड़ाइयों की शुरुआत के सैकड़ों साल पहले पितृसत्तात्मक संस्था और वर्गीय शोषण के खिलाफ प्रतिरोध किया था। बीसवीं सदी के मध्य तक अमरीकी औरतों ने यह महसूस करना शुरू भी नहीं किया था वे असल में पुरुषों के इशारों पर नाच रही थीं और न ही वे यह समझ पाई थीं की जब 'पुरुष' शब्द का इस्तेमाल होता है तो यह समूची मानवीय नस्ल से जुड़ा मामला होता है इसलिए नर लैंगिकता में पुरुष ही नहीं स्त्री भी शामिल मान ली जाती है। इसलिए अमरीका में कुछ स्त्री-मुक्ति आन्दोलन अंग्रेजी शब्दकोशों को बदलने की माँग कर रहे हैं। दूसरी ओर इस्लाम के उदय के साथ-साथ अरबी औरतें कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों का हिस्सा हुईं। कुरान द्वारा नर लैंगिकता को शुरुआती चरण में स्त्री और पुरुष दोनों को चिन्हित करने के लिए इस्तेमाल किया गया। अरब स्त्रियों ने इस प्रकार इसका प्रतिरोध किया : 'हम मुसलमान हुए जैसे आप हुए, हमने वही किया जो आपने किया। फिर भी कुरान में आपका उल्लेख है हमारा नहीं। उन दिनों सभी मुस्लिम (मर्द) कहलाते थे। इसके बाद अल्लाह ने कुरआन में जिक्र करना शुरू किया इन्नल् मुसलिमीनः (नर), वल् मुस्लिमात् (मादा), वल् मुश्मिनीन (नर), वल् मुश्मिनात् (मादा)'[50]

अरबियों का इतिहास महिलाओं के प्रतिरोध के उदाहरणों से भरा पड़ा है जो गवाह है उस मजबूती और पहल का जो उन्होंने अपने संघर्ष के अलग-अलग समयों में दिखाई। इतिहास में गहरे जाकर इसका शोध करना और इसके पीछे असल कारण को समझना जरूरी है कि अरब विकास के निश्चित समयांतरालों पर स्त्रियों के असाधारण साहस और तत्परता को दिखाने का कारण क्या है? यदि यह किया जा सका तो हमें उन वजहों में गहरे अन्दर प्रवेश करने

का मौका मिलेगा जिसने स्त्रीत्व और सौन्दर्य की अवधारणा को विकृत करने में भूमिका निभाई और जिसने एक औरत को अपने अस्तित्व, शरीर और मन से युक्त मनुष्य से एक खोखले मसखरे में बदल दिया जो क्रिस्टियन डिओर और रेवलॉन के रंगों से अपना चेहरा पोतती हैं, मिनी-स्कर्ट से अपनी जाँघें या स्तन दिखाती हैं। अपनी ऊँची एड़ी वाली सैंडिलों पर दायें बायें ऐसे झूमती चलती हैं जैसे किसी बीमारी से ग्रस्त हों, तमाम तरह की जुगतों से अपने वक्ष और कूल्हों को बाँधती-लपेटती हैं, अपनी आँखों को मस्कारा, आइलाइनर, या फिर कृत्रिम बरौनियाँ लगाकर बर्बाद करती हैं और इस तरह से वह जोकर, बेवकूफाना रूप, मासूमियत के हाव-भाव और चंचलता वाले भेष के स्वांग को धर कर 'सम्पूर्ण-स्त्री' बन जाती हैं।

एक औरत की वास्तविक सुन्दरता वह है जो अपने पति को प्रसन्न भर करने के लिए कि कहीं ऐसा न हो जाय कि वह उसे दूसरी औरत के लिए तलाक दे दे या छोड़ दे, दूसरे के व्यक्तित्व की नकल नहीं करती जो एक अदद पति को पाने के लिए ऐसा भेष नहीं बनाती जो उसका अपना न हो। जो अपने व्यवहार, इच्छाओं और अपने सुख की अवधारणाओं को समाज के नियमों को संतुष्ट करने के लिए मात्र इस आशय से कि वे उससे लड़ेंगे नहीं या उसे असामान्य कहकर कलंकित नहीं करेंगे, विकृत करने से मना कर देती है। सौन्दर्य, खासकर दिमाग से, शारीरिक स्वास्थ्य से और अपने अस्तित्व की सम्पूर्णता से आता है। यह अपनी पहचान नितम्बों के आकार, या शारीरिक गढ़न की वक्रता के नीचे की चर्बी के भराव या प्रसाधन सामग्रियों की परतों जो अंदरूनी चिंताओं और आत्मविश्वासहीनता को ढँकने के लिए मौजूद रहती हैं, से नहीं आता।

अब तक अरब समाज में ऐसी शिक्षित औरतों और लड़कियों की संख्या बड़ी कम है जो अपने बौद्धिक विकास को अपने नाखूनों और बरौनियों से अधिक महत्त्व देती हैं। लिहाजा यह यह नहीं दर्शाता की औरतों के पास कमतर दिमाग है पर यह आमतौर पर उस पालन-पोषण का प्रगटीकरण है जिसे लड़कियों को बहुत शुरुआती दौर में समझा दिया जाता है और जो स्त्रियों को सतही तथा छिछली शै में ढलने के लिए प्रेरित करता है। एक अरबी लड़की को बचपन से ही अपने कपड़ों, शरीर रंग-रूप पर अतिरिक्त ध्यान देना सिखाया जाता है बनिस्बत अपनी वैचारिक क्षमता के विकास के।

बहुतेरी लड़कियाँ अपने ऊपर थोपी गई सुन्दरता और स्त्रीत्व के मानकों को पूरा करने की हताश इच्छा में विक्षिप्त या अन्य तरह के मनोवैज्ञानिक विकारों से संतप्त हो जाती हैं। एक लडकी महसूस करती है की उसकी जिन्दगी और भविष्य उसकी नाक और बरौनियों के झुकाव पर निर्भर करती है। बरौनी की लम्बाई में एक मिलीमीटर की भी कमी भयंकर समस्या और उसके जीवन का मूलभूत संकट बन सकती है।

समाज और परिवार के लिए स्त्री में विद्वता का होना उसके स्त्रैण चरित्र को विकृत कर देता है। खेल और शारीरिक मजबूती का विकास उसके सौन्दर्य को खत्म कर देता है। लंबा कद, उन्नत मस्तक, चौड़े कंधे, बड़ी-फैली आँखें, पुरुषत्व की ओर झुकाव को इंगित करती हैं। एक सम्पूर्ण स्त्री कद में छोटी, सर नीचा कर धीमा चलने वाली और उनींदी सी अधखुली आँखों वाली होनी चाहिए।

माध्यमिक विद्यालयों की कुछ किताबों के अनुसार लड़कियों में लम्बापन अशोभनीय है। दसवीं में पढ़ाई जाने वाली किताबों में से एक में जो लड़के और लड़की दोनों को पढाई जाने वाली किताब है उसने बताया कि किशोरावस्था में कद बढ़ने की उम्र में यह पुरुषों के लिए जरूरी है कि वे लम्बे और गठीले हों जबकि लड़की को बिलकुल लंबा नहीं होना चाहिए।[51]

एक लड़की जो कद में लम्बी है वह मिस्र में हाईस्कूल के विद्यार्थियों को पढ़ाये जाने वाली किताबों के इस वाक्य को पढ़कर हीन भावना से ग्रस्त हो जाती होगी इसे समझना कठिन नहीं होगा, इसका अंदाजा भी आसानी से लगाया जा सकता है की कद में छोटा लड़का जिसके कंधे दबे हुए हैं इस वाक्य को पढ़कर कैसी प्रतिक्रिया देगा।

इस तरह से हम देखते हैं कि शिक्षा कैसे शुरुआती उम्र से ही स्त्रियों पुरुषों दोनों के व्यक्तित्व को विकृत करती है। इससे कोई लेनादेना नहीं है कि यह शैक्षणिक प्रक्रिया, विद्यालयों, घरों, मीडिया के जरिये और सांस्कृतिक संगठनों के द्वारा मुहैया कराई जा रही है।

इस पर विश्वास करना संभव नहीं है कितनी मात्रा में नुकसान हुआ या विकृति घटी जब तक कि हम मानसिक, मनोवैज्ञानिक और आवयविक विकारों का अध्ययन नहीं करते जिसके साथ बड़ी संख्या में किशोर बीमार होते हैं।

हालाँकि, लड़कियों और औरतों पर प्रभाव डालने वाली समस्याएँ ज्यादा व्यापक कठोर और घातक हैं—खासतौर से अरब समाज के लिए यह बात सही है जो संक्रामक चरण से गुजर रहा है और बिना पश्चिम की वास्तविक समझ के उसकी नकल में सांस्कृतिक और सामाजिक पिछड़ेपन से आधुनिकता में स्थानांतरित हो रहा है। लेकिन आधुनिकता की प्रक्रिया, इन समाजों को इस्लाम के नाम पर या पूर्वी नैतिक मान्यताओं की सड़ी-गली परम्पराओं से लिपटा रहने से नहीं बचा सकती।

मिस्री समाज ऐसे प्रचलनों का उदाहरण बनता जा रहा है जहाँ पश्चिमी देशों और उनके अनुभवों से बहुत कुछ लिया जा रहा है या बहुत कुछ नकल किया जा रहा है। और इन सबके साथ ही ढेरों पारंपरिक विचार और आचरण भी बनाए-बचाए रखे जाते हैं। कभी-कभी अपने मूलतत्त्व में आधुनिकता के कई पहलू और अभिव्यक्तियाँ पुरानी परम्पराओं से अधिक पिछड़े होते हैं। इसके लिए उच्च वर्ग की बीवियों और मध्य वर्ग की बीवियों को उदाहरण के तौर पर हम देख सकते हैं जो शादी के बाद अपने पति के नाम को स्वीकार कर लेती हैं। यह बिलकुल उलट है स्थानीय रिवाजों में जहाँ पत्नी विवाह से पहले के नाम को ही विवाह के बाद भी रखे रहती है। अरबी देशों में पुराने समय की हैसियत के कुछ पहलुओं में से एक यह तथ्य भी है कि औरत अपना नाम सिर्फ इसलिए नहीं बदलती क्योंकि वह किसी की पत्नी हो चुकी है।

ऐसा बहुत बार होता है जब मैं खुद को ताना मारने से नहीं रोक सकी थी जब ऐसी किसी पार्टी या समारोह में गयी जहाँ धनाढ्य तबके के स्त्री-पुरुषों का जमावड़ा था। वहीं अचानक संयोग से मैंने स्त्रियों को उनके पतियों के नाम से बुलाये जाते हुए देखा वे अपने पतियों का नाम उस अकड़ और गुमान से लेती थीं जैसे कि उनकी कीमत मात्र पति के होने पर ही निर्भर थी और अमरीकी एवं यूरोपीय स्त्रियों की तरह नकल करने में वे अपनी संस्कृति, समझ और आधुनिकता का प्रमाण दे रही थीं। मेरी कटूक्ति यह जानकर और कर्कश हो गयी की ये वे औरतें थीं जो सरकारी स्त्री संस्थानों की प्रमुख थीं और जो स्त्रियों की स्वतन्त्रता और अधिकारों के बारे में सार्वजनिक भाषण दिया करती थीं।

अधिकांश अरब समाजों में, 'आधुनिक यूरोपीय' औरत से जुड़ी यह सोच कि विकास छोटी से छोटी मिनी स्कर्ट से अपनी ज्यादा से ज्यादा जाँघे दिखाने, सिगरेट को लम्बे समय तक पीते रहने, ऑन द राक्स व्हिस्की के गिलास को गटक लेने या आधुनिक नाचों के पागलपन से भरी आवाजों पर दीवानेपन और जूनून से ठुमके लगाने से हासिल हो जाएगा, शहरों और कस्बों की सामान्य घटना बनता जा रहा है।

हालाँकि इस काँपती, झिलमिलाती सतह के नीचे एक कसमसाती औरत है—मानसिक, भावनात्मक और यौन रूप से दमित। एक औरत जो अपने मस्तिष्क को मोटे और लगभग अभेद्य नकाब में छिपाए रहती है, इसके बावजूद उसके कंधे और जाँघे उघड़ी हुई हैं। एक औरत जो अब भी विश्वास करती है कि उसके जीवन का सबसे बड़ा संघर्ष एक पुरुष से शादी करना है, उसकी सेवा करना है, उसकी आज्ञा मानना है और उसके बच्चों को जन्म देना है—वह भी अगर हो सके तो पुरुष।

(चूँकि यह हिन्दी अनुवाद अंग्रेजी भाषा से किया गया है तो पुस्तक में प्रयुक्त अरबी शब्दों, नाम और किताबों के सटीक उच्चारण और लिप्यंतरण में कहीं-कहीं त्रुटि और दोष संभव है। अनुवादक इस सन्दर्भ में मात्र अपना पक्ष स्पष्ट कर रहा है कि ऐसी भूलें और त्रुटियाँ किसी भी तरह से सुविचारित और किसी भी पूर्व-धारणा से ग्रस्त नहीं हैं।)

...अगले अंक में जारी

संदर्भ :

1. सूरह अल अहजाब, कुरआन...आयत 4-5
2. मोरोक्को परिवार संहिता, 1957, अनुच्छेद 83, पैरा 3, फ्रांसीसी से अनूदित
3. अल शेख मुहम्मद मेंहदी शम्स अल दीन, अल इस्लाम वा तंजीम अल ओसरा , अल इत्तिहाद अल आलामी ली तंजीम अल वलिदेया, IPPF का मध्य पूर्व और उत्तरी अफ्रीका का क्षेत्रीय कार्यालय, 1974, खंड 2, पृष्ठ 77
4. मोरोक्को परिवार कानून, अनुच्छेद 76, ट्यूनीशिया का परिवार कानून भी, तीसरी किताब का अनुच्छेद 35 'statut Personel' अगस्त 1950, फ्रांसीसी से अनूदित
5. अल शेख मुहम्मद मेंहदी शम्स अल दीन, अल इस्लाम वा तंजीम अल ओसरा, IPPF का मध्य पूर्व और उत्तरी अफ्रीका का क्षेत्रीय कार्यालय, 1974, खंड 2 , पृष्ठ 77
6. उपर्युक्त, पृष्ठ 79
7. द इजिप्शियन क्रिमिनोलोजिकल मैगजीन, मार्च 1965, देखिये लेख—समीर अल गंजौरी, परिवार और यौन नैतिकताओं के खिलाफ होने वाले अपराध
8. मोहम्मद नियाजी हेताता, जरायम अल बगा (दार अल शाब प्रिंटर्स, काहिरा 1961) पृष्ठ 9
9. उपर्युक्त, पृष्ठ 10
10. उपर्युक्त, पृष्ठ 13
11. उपर्युक्त, पृष्ठ 17
12. उपर्युक्त, पृष्ठ 19
13. अहसान अब्दुल कुद्दूस द्वारा प्रकाशित अल अहम के अंक में, 9 दिसंबर 1976, पृष्ठ, 3 'अल सीद फिर बह अल असरार' शीर्षक से
14. टी. ई. जेम्स, 1952, पृष्ठ, 21
15. सलाह हाफिज, अल तारीख अल गिन्सी लिल इंसान, अल किताब अल दह्बी (रोज अल यूसुफ, काहिरा 1973) पृष्ठ 82
16. इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, उद्धृत, खंड 22, 'वेश्यावृत्ति...'
17. अल अहम, काहिरा, 27 मार्च 1974, इस शीर्षक के अंतर्गत पहला पृष्ठ—अखबार अल सुब्ह (सुबह की खबर)
18. अल अहम में प्रस्ताव प्रकाशित हुआ—दैनिक अखबार, 18 अप्रैल 1975, पृष्ठ 11, शीर्षक—एक पुरानी समस्या फिर वापस आ गई। क्या गर्भ निरोध हराम है?
19. कुरआन, सूरह अल इसरा, आयत 31
20. अल गजाली, इहया उलूम अल दीन, (काहिरा, 1939) पृष्ठ, 22
21. कुरआन, सूरह अल अनकबूत, आयत 60
22. उपर्युक्त, आयत 62
23. कुरआन, सूरह अल इसरा, आयत 30

24. होगाग अल बुखारी, खंड 7, पृष्ठ. 196
25. अहमद अल शरबसी, अल इस्लाम वा तंजीम अल ओसरा, (IPPF, 1974) खंड 2, पृष्ठ 11 (इंटरनेशनल प्लांड पैरेंटहुड फेडरेशन)
26. शाही अल बुखारी, खंड 7, पृष्ठ 42, शाही मोस्सलम, 10/12; अल तरमाजी 15/74; तरतीब मुसनद इब्न हनबल 16/219
27. शाही मोस्सलम, 10/14, अल नवावी की व्याख्या के साथ
28. अल गजाली, अल इहया, खंड 2, (अल मख्तब अल तौगरेय प्रकाशन, मिस्र) पृष्ठ 51, 52
29. हशियत अल देस्सुकी वा शर्ह अल दरदर अल मत्न खलील, खंड 2, पृष्ठ 266
30. किताब अल बह, अल जकार, मत्बात अंसार अल सुनना अल मोहमदिया, 1948, खंड 3, पृष्ठ 81-82
31. किताब अल रूदाह, अल बहेया शर्ह अल लामास अल दिमिशकेया, मत्बात दर अल किताब अल अरबी, मिस्र, खंड 2, पृष्ठ 68
32. किताब दईम अल इस्लाम, दर अल मारेफ, मिस्र, खंड 2, पृष्ठ 210
33. नाजरात अल इस्लाम इला तंजीम अल नस्ल, पृष्ठ 80
34. अल रमली, निहायत अल मोहताज, खंड 2, पृष्ठ 416
35. कुरआन, सूरह अल बकरा, आयत 185, अजहर फतवा, 10 फरवरी, 1953
36. अबू बक्र अल राजी, अल हावी, अध्याय 24
37. अली इब्न अब्बास अल मेगौसी, कमल अल साना अल तिबी, (चिकित्सा की सम्पूर्ण विधियां), अध्याय 28
38. इब्न सीना, अल कानून फिल तिब, खंड 2, पृष्ठ 375
39. डॉ. अली शाबन, मनि अल हमल फिल इस्लाम, आलेख दस्तावेज में शामिल—अल इस्लाम वा तंजीम अल ओसरा (IPPF, 1974) खंड 2, पृष्ठ 211,
40. अल महाली, लिब्न हज्म, खंड 2, पृष्ठ 35 -40
41. दलील अल मोदारिबीन फि तंजीम अल ओसरा, परिवार नियोजन की सर्वोच्च परिषद्, काहिरा, (परिवार नियोजन परिषद्) खंड 1, (पहला संस्करण दिसम्बर 1971) पृष्ठ 80
42. मुहम्मद अल मकी अल नसीरी, अल इस्लाम वा तंजीम अल ओसरा, (IPPF, 1974) खंड 2, पृष्ठ 65
43. उपर्युक्त, पृष्ठ 66
44. डॉ. इस्माइल रगाब का एक आलेख, अल गनीन अल मोशवाह वाल हम्ल अल खता, हेल्थ पत्रिका में, संख्या 33, 23 जनवरी 1973, पृष्ठ 44-47
45. 'द हार्मलेस पीपुल', एलिजाबेथ टॉमस (सकूर और वारबर्ग, 1959)
46. अल अहराम, काहिरा, 24 जुलाई 1975. नेशनल कॉग्रेस ऑव द अरब सोशलिस्ट यूनियन, मिस्र में 23 जुलाई 1975 को दिए गए आदरणीय शेख अल बाकूरी के भाषण का एक अंश
47. अल अहराम, काहिरा, 17-18 मई 1976
48. अल अखबार, काहिरा, 25 अगस्त 1975
49. अल अहराम, काहिरा, 14 मई 1976 और 17 मई 1976, 'मुकाफिरत', यूसुफ इदरीस, नगीब महफूज
50. अल तबकात अल कुबरा, मुहम्मद इब्न साद, खंड-3 पृष्ठ-145 और कुरान 'सूरा अल अहजाब' आयत-35
51. देखें, 'टेक्स्टबुक ऑव साइकोलॉजी फॉर द थर्ड इयर स्टूडेंट्स ऑफ हाई-स्कूल (कला और साहित्य), अब्दुल अजीज अल कूजी, सैयद गुनैम (शिक्षा मंत्रालय, काहिरा, 1976-77, अध्याय-2 पृष्ठ-132)

●●●

इस अंक के लेखक

1.	कुमार अम्बुज	:	मो. : 09424474678
2.	अरुण कमल	:	मो. : 09931443866
3.	नित्यानंद तिवारी	:	मो. : 09810435834
4.	वैभव सिंह	:	मो. : 09711312374
5.	रविभूषण	:	मो. : 09431103960
6.	बलराज पाण्डेय	:	मो. : 09473663348
7.	सूरज पालीवाल	:	मो. : 09421101128
8.	रोहिणी अग्रवाल	:	मो. : 09416053847
9.	संजीव कुमार	:	मो. : 09818577833
10.	विभु प्रकाश सिंह	:	मो. : 07565864805
11.	ए. अरविंदाक्षन	:	मो. : 09895018088
12.	विन्ध्याचल यादव	:	मो. : 08004130639
13.	आशुतोष कुमार	:	मो. : 09953056075
14.	आशीष त्रिपाठी	:	मो. : 09450711824
15.	घनश्याम कुमार 'देवांश'	:	मो. : 09582532508
16.	अष्टभुजा शुक्ल	:	मो. : 06394866331
17.	रामकीर्ति शुक्ल	:	मो. : 09451585423
18.	अवधेश प्रधान	:	मो. : 08400925082
19.	रणजीत साहा	:	मो. : 09811262257
20.	प्रेम सिंह	:	मो. : 09873276726
21.	रामशंकर द्विवेदी	:	मो. : 09839617349
22.	सुबोध शुक्ल	:	मो. : 09455009714